अष्टषष्टितमः सर्गः

विद्याधर्युवाच

ततः प्राचीनमभ्यासं बोधधारणयाऽमले ।
कुर्वः प्रकटतां तेन जगदेष्यति शैलगम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

युक्तियुक्ते तयेत्युक्ते विद्याधर्या धरोरसि ।
बद्धपद्मासनोऽथाहं समाधावुदितोऽभवम् ॥ २ ॥
सर्वार्थभावनात्यागे चिन्मात्रैकान्तभावितः ।
अत्यजं तमहं पूर्वकथार्थकलनामलम् ॥ ३ ॥
अथ चिद्व्योमतां प्राप्तः परां दृष्टिमहं गतः ।
शरत्समयसम्प्राप्तौ व्योम निर्मलतामिव ॥ ४ ॥

अड़सठवाँ सर्ग

[आधिभौतिक भ्रान्तिका निरास करके समाधिसे जो आतिवाहिक भावकी स्थिति होती है, वह सत्य है, यह वर्णन]

विद्याधरीने कहा—हे भगवन्, चूँकि दृढाभ्यासनामक समाधिरूप यत्नके बिना देहादिमें आधिभौतिकताकी (स्थूलताकी) भ्रान्ति निवृत्त नहीं हो सकती और आतिवाहिक भावका भी (सूक्ष्मभावका भी) आविर्भाव नहीं हो सकता। आतिवाहिक भावके बिना दूसरे सर्गकी स्थिति भी साक्षिप्रत्यक्षसे नहीं देखी जा सकती, इसलिए निर्मल परमात्मामें सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणासे अपना हम प्राचीन आतिवाहिक भावका अभ्यास पुनः करें, उसी उपायसे शिलाके अन्तर्गत जगत् प्रकट होगा, जिसका मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ १ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—इस तरह उस पर्वतके ऊपर उस विद्याधरीके युक्तियुक्त वचन कहनेपर मैं पद्मासन जमाकर समाधिके लिए उद्यत हो गया ॥२॥

और उस समाधिमें सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी कल्पनाका त्याग हो जानेपर चिन्मात्र एकरूप होकर मैंने उस पूर्वकथार्थकी—आधिभौतिक देहादिकी भावना और उसके संस्कारमलका भी बिलकुल त्याग कर दिया ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर चिदाकाशरूपताको प्राप्त होकर मैं दिव्य दृष्टिको ऐसे प्राप्त हुआ, जैसे शरत्कालमें आकाश निर्मलताको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ततः सत्यावधानैकघनाभ्यासेन देहके ।
ममाधिभौतिकभ्रान्तिर्नूनमस्तमुपागता ॥ ५ ॥
उदयास्तमयोन्मुक्ता सततोदयमप्यपि ।
महाचिद्व्योमता स्वच्छा प्रोदितेव तदाऽभवत् ॥ ६ ॥
अथ पश्याम्यहं यावत्स्वस्यैवामलतेजसा ।
वस्तुतस्तु न चाकाशं नोपलः परमेव तत् ॥ ७ ॥
परमार्थघनं स्वच्छं तत्तथा भाति तादृशम् ।
तथा भावनया ह्यात्मा मदीयो दृष्टवांस्तथा ॥ ८ ॥
यथा स्वप्ने सुमहती दृष्टा गेहगता शिला ।
व्योमैव केवलं तद्वत्सुशुद्धं चिन्नभःशिला ॥ ९ ॥
स्वयं स्वप्नान्वितोऽन्यस्य स्वप्नपुंस्त्वं गतो नरः ।
स्वप्नेऽज्ञानप्रबुद्धस्य यादृक्तादृकस्वरूपतः ॥ १० ॥

इसके अनन्तर सत्य परमात्माके दृढ़ अभ्याससे देहमें मेरी आधिभौतिकता-भ्रान्ति निश्चितरूपसे अस्त हो गई ॥ ५ ॥

और उस समय उदय एवं अस्तसे रहित, नित्य अनावृत स्वप्रकाशरूपा, अतिनिर्मल, महाचिदाकाशरूपता एक तरहसे प्रकट हो गई ॥ ६ ॥

इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेजसे देखने लगा, तो मुझे वस्तुतः न तो वह आकाश दीख पड़ा, और न वह पत्थर ही वहाँ दीख पड़ा । उस समय सब कुछ मुझे परमार्थमय ही दीख पड़ा ॥ ७ ॥

उस तरहका वह परमार्थघन स्वच्छ परतत्त्व ही भासित हो रहा है । तथा वह परमतत्त्व ही मेरा आत्मा है—स्वरूप है । उसीने पत्थरकी भावनासे वह पत्थर देखा ॥ ८ ॥

जैसे स्वप्नमें अपने घरके भीतर विशाल एक पत्थरके रूपसे देखी गई शिला केवल चिदाकाशरूप ही है, वैसे ही विशुद्ध केवल चिदाकाश ही वहाँ पत्थर शिलाके रूपसे स्फुरित हो रहा था ॥ ९ ॥

यदि यह व्यवहार स्वप्नरूप ही है, तो फिर वहाँ अपनी या दूसरे किसीकी जाग्रदवस्थारूपताका प्रतिभास कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे ।

स्वप्नस्थानां शिरश्छिन्नं येषां ते संसृतौ स्थिताः ।
कालेन ज्ञानलाभेन विना कुर्वन्तु किं किल ॥ ११ ॥
बोधः कालेन भवति महामोहवतामपि ।
यस्मान्न किञ्चनाप्यस्ति ब्रह्म तत्त्वादृतेऽक्षयम् ॥ १२ ॥
अतस्तच्चिद्घनं स्वच्छं ब्रह्माकाशं शिलाकृति ।
दृष्टं मया तथा तत्र न तु पृथ्व्यादि सत् क्वचित् ॥ १३ ॥
भूतानामादिसर्गे यच्छुद्धं यत्पारमार्थिकम् ।
वपुस्तदेव ह्येतेषां ध्यानलभ्यमवस्थितम् ॥ १४ ॥

जैसे स्वप्नमें ही, अज्ञानवश 'मैं स्वप्नसे जग गया' ऐसा मान रहे किसी अन्य पुरुषके स्वप्नदृश्य पुरुषरूपताको प्राप्त हुआ स्वप्नयुक्त पुरुष स्वयं अपनेको स्वरूपतः जैसा 'मैं प्रबुद्ध हूँ' ऐसा प्रतिभासित होता है, ठीक वैसा ही वह व्यवहार है ॥१०॥

स्वप्नमें स्थित जिन पुरुषोंका सिर कट चुका है वे स्वप्न-संसारमें स्थित होकर ज्ञानके बिना क्या कर सकते हैं, ऐसे ही संसारमें स्थित जीव कालवश ज्ञानप्राप्तिके बिना क्या कर सकते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके पहले क्या कर सकते हैं, इसलिए स्वप्नमें आहत हुए पुरुषोंका जागरणके उपायभूत देहके न रहनेसे अगत्या यही कहना पड़ता है कि स्वप्नमें ही उनकी जागरणता है ॥ ११ ॥

इसलिए मूलाज्ञानरूपी निद्राके उच्छेदसे स्वरूपका प्रतिबोध ही इस जीवका मुख्य प्रतिबोध है । इसके विपरीत तो यही कहना पड़ेगा कि स्वप्नमें ही व्यर्थ जागरणका अभिमान है, यह कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे ।

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, महामोहशाली (अज्ञानरूपी निद्रायुक्त) पुरुषोंको जो समय पाकर बोध होता है यानी ज्ञानरूप जागरण होता है वही उनका मुख्य प्रबोध है—जागरण है, क्योंकि ब्रह्मतत्त्वके सिवा अक्षय कोई दूसरा पदार्थ जागरण या स्वप्नमें नहीं है ॥ १२ ॥

यही कारण है कि मैंने स्वरूपबोधके पहले जिसकी आकृति शिलामय देखी थी, उस स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशको मैंने चेतनघन सद्रूप देखा, पृथ्वी आदिके विकारके रूपसे कहीं नहीं देखा ॥ १३ ॥

भूतोंकी आदि सृष्टिमें स्थित जो शुद्ध और जो पारमार्थिक ब्रह्मरूप है वही तत्त्वज्ञानियोंके ध्यानसे लभ्य इन सभी प्राणियोंका शरीर स्थित है ॥ १४ ॥

ब्राह्मं वपुर्हि भूतानामात्मीयं यत्पुरातनम् ।
तदेवाद्य मनोराज्यं सङ्कल्प इति कथ्यते ॥ १५ ॥
सत्तातिवाहिको देहस्तत्परं परमार्थतः ।
प्रत्यक्षं परमं यत्तत्तदाद्यं कचनं चितः ॥ १६ ॥
उद्यत्प्रथममध्यक्षं जीवस्य प्रथमं वपुः ।
मनःप्रत्यक्षमित्युक्तं तत्तेनाद्यैव दुर्धिया ॥ १७ ॥
योगिप्रत्यक्षमित्युक्तं मनःप्रत्यक्षमित्यपि ।
तत्स्वमेव चितो रूपं गतमेवाऽन्यतां मुधा ॥ १८ ॥

जो ब्रह्मका आत्मीय पुरातनरूप है वही भूतोंका अपना पारमार्थिकरूप है वह मनोराज्य या सङ्कल्प तुल्य ही है । उसीको इस समय मूढ़ लोग जगतके नामसे कहते हैं ॥ १५ ॥

ठीक है, एसा ही सही, लेकिन वह आतिवाहिक देह कौन है, जिसके सद्भावमें सम्पूर्ण जगतका दर्शन और चित्स्वभावका स्फुरण होता है, उसको कहते हैं—'सत्ता०' इत्यादिसे ।

वह मायाशबल ब्रह्म ही सत् कहा जाता है । उसमें चितिकी जो जगतके संस्कारसे युक्त अंशकी सत्ता है, उसीको आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर कहते हैं । और उसका जो वह नित्य अपरोक्ष शुद्ध चिदंश है वही उसका स्वरूप-स्फुरण है ॥ १६ ॥

तब आपने यह पहले कैसे कहा है कि मन जीवका आतिवाहिक शरीर है, है, इसपर कहते हैं—'उद्यत्' इत्यादिसे ।

सृष्टिके आकारसे उदित हो रहा वही चित्सत्तारूप प्रथम प्रत्यक्ष चिदाभासात्मक जीवका हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टिरूप आतिवाहिक शरीर होता है और वही फिर समष्टिभावको अपनी दुर्बुद्धिसे भूलकर शीघ्र ही जब व्यष्टिभावको प्राप्त कर लेता है तब सर्वजनप्रत्यक्ष मन, इस नामसे कहा जाता है । इसीलिए तो हमने आपसे पहले यह कहा है कि जीवका आतिवाहिक शरीर मन है ॥ १७ ॥

इस प्रकार स्वयं वही चितिका रूप अज्ञानके कारण व्यर्थ ही अन्यरूपताको प्राप्त हो गया है । समष्टिरूपसे वह योगियोंको प्रत्यक्ष है, इसलिए वह योगि-

इदमद्यतनं नाम प्रत्यक्षमसदुत्थितम् ।
असत्प्रत्यक्षमेवेति विद्धि प्रत्यक्षमङ्ग तत् ॥ १९ ॥
अहो नु चित्रा मायेयं प्राक्प्रत्यक्षे परोक्षता ।
निर्णीताऽस्मिंस्त्वनध्यक्षे प्रत्यक्षकलनाऽऽगता ॥ २० ॥
आतिवाहिकदेहत्वं प्रत्यक्षं प्रथमोदितम् ।
सत्यं सर्वगतं विद्धि मायैव त्वाधिभौतिकम् ॥ २१ ॥
अनुभूतापि नास्त्येव हेम्नः कटकता यथा ।
तथाऽऽतिवाहिकस्याऽऽधिभौतिकत्वं न विद्यते ॥ २२ ॥
भ्रममभ्रमतां यातमभ्रमं भ्रमतां गतम् ।
वेत्ति जीवो विचारेण विनाऽहो नु विमूढता ॥ २३ ॥

प्रत्यक्ष और व्यष्टिरूपसे सर्वजनसाधारणको प्रत्यक्ष है, इसलिए मनःप्रत्यक्ष भी कहा गया है ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस समय जो यह मनःप्रत्यक्ष है वह आधिभौतिक देह आदिकी कल्पना द्वारा अत्यन्त असद्रूपसे ही उदित हुआ है, अतः इसे आप असत् प्रत्यक्ष ही समझिये । और उस योगिप्रत्यक्षको आप सत् यानी याथात्म्यकी स्फूर्ति होनेसे मुख्य प्रत्यक्ष जानिये ॥ १९ ॥

तब सभी लोगोंको उस प्रत्यक्षमें परोक्षताका अनुभव तथा अन्यत्र प्रत्यक्षताका अनुभव कैसे होता है, इसपर कहते हैं—'अहो' इत्यादिसे ।

अहो, परमेश्वरकी यह माया विचित्र है, प्राक् प्रत्यक्षमें (साक्षी चेतनकी समष्टि मनकी प्रत्यक्षतामें) परोक्षता हो रही है और इस अनध्यक्ष (अप्रत्यक्ष) मनमें प्रत्यक्षकी कल्पना आ गई है ॥ २० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चित्में सर्वप्रथम स्फुरित होनेसे सूक्ष्म शरीर ही प्रत्यक्ष होता है, उसीको आप सत्य और सर्वगत समझिये । यह आधिभौतिक स्थूल शरीर तो माया ही (मिथ्या ही) है ॥ २१ ॥

जैसे अनुभव करनेपर सुवर्णमें कटकता एकदम नहीं है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें आधिभौतिकता (स्थूल शरीरता) भी वस्तुतः नहीं है ॥ २२ ॥

हे श्रीरामजी, विचार न रहनेके कारण यह जीव भ्रममें अभ्रमरूपता और अभ्रममें भ्रमरूपता प्राप्त है, यह समझता है । अहो, यह कैसी मूढ़ता है ॥२३॥

आधिभौतिकदेहोऽयं विचारेण न लभ्यते ।
आतिवाहिकदेहस्तु किल लोकद्वयेऽक्षयः ॥ २४ ॥
आधिभौतिकचिद्रूढा ह्यातिवाहिकदेहके ।
मरौ मरीचिकास्वेव यथा मिथ्यैव वारिधीः ॥ २५ ॥
जाताधिभौतिकी संविदातिवाहिकचित्क्रमे ।
देहदृष्टिवशात्प्रौढा स्थाणौ पुरुषधीरिव ॥ २६ ॥
शुक्तौ रजतता तापे जलतेन्दौ यथा द्विता ।
आधिभौतिकता तद्वन्माययैवातिवाहिके ॥ २७ ॥
यदसत्तत्कृतं सत्यं यत्सत्यं तदसत्कृतम् ।
अहो नु मोहमाहात्म्यं जीवस्याऽस्याऽविचारजम् ॥ २८ ॥
योगिप्रत्यक्षमेवास्ति किञ्चिदस्ति तु मानसम् ।
यस्माल्लोकद्वयाचारस्ताभ्यामेव प्रसिद्ध्यति ॥ २९ ॥

बहुत विचारकर देखनेसे यह आधिभौतिक स्थूल शरीर उपलब्ध नहीं होता और आतिवाहिक—सूक्ष्म शरीर तो मोक्षपर्यन्त इस लोक और परलोकमें भी समस्त व्यवहारका निर्वाहक होनेसे अक्षय है ॥ २४ ॥

सूक्ष्म शरीरोपहित चितिमें आधिभौतिकताकी प्रथा यानी स्थूल शरीर-रूपताकी बुद्धि मिथ्या ही ऐसे प्रादुर्भूत हुई है, जैसे मरुभूमिकी मृगतृष्णामें जलबुद्धि व्यर्थ ही प्रादुर्भूत होती है ॥ २५ ॥

सूक्ष्मशरीरोपहित चितिक्रममें उत्पन्न हुई आधिभौतिकी बुद्धि यानी स्थूलबुद्धि स्थूलशरीरकी दृष्टिकी वशसे ऐसे प्रौढ़ हो गई है, जैसे स्थाणुमें पुरुषबुद्धि ॥ २६ ॥

शुक्तिमें जैसे रजत, मृगतृष्णामें जैसे जल और जैसे चन्द्रमामें दो चन्द्रकी बुद्धि मिथ्या है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरमें स्थूलबुद्धि भी माया ही—मिथ्या ही है ॥ २७ ॥

अहो ! इस जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए मोहके माहात्म्यको तो जरा देखिये, उसने जो असत् है उसे सत्य और जो सत्य पदार्थ है उसे असत् बना दिया है ॥ २८ ॥

वास्तवमें तो योगियोंकी प्रत्यक्ष-भूत चिति-स्फूर्ति ही सत्य है और मानस

आद्यं प्रत्यक्षमुत्सृज्य यः सत्येऽस्मिन्कृतस्थितिः ।
प्रत्यक्षे मृगतृष्णाम्बु पीत्वा स सुखमास्थितः ॥ ३० ॥
यत्सुखं दुःखमेवाहुः क्षणनाशानुभूतिभिः ।
अकृत्रिमनाद्यन्तं यत्सुखं तत्सुखं विदुः ॥ ३१ ॥
प्रत्यक्षेणैवमध्यक्षं प्रत्यक्षं प्रविचार्यताम् ।
यदाद्यं तत्सदध्यक्षं तत्प्रत्यक्षेण दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

स्पन्द तो कुछ* है, क्योंकि दोनों लोकोंका सारा व्यवहार इन्हीं दोनोंसे (स्फूर्ति और स्पन्दनसे) सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

जो सर्वसाधारणको प्रत्यक्ष है, एकमात्र उसीमें सब कुछ छोड़-छाड़कर योगसे स्थिरता सम्पादन करनी चाहिए, केवल पामरजनोंके प्रसिद्ध ऐहिक स्थूलादिके प्रत्यक्षमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'आद्यम्' इत्यादिसे ।

जो मनुष्य इस आद्य सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्षको छोड़कर इस स्थूल शरीर प्रत्यक्षमें सत्यबुद्धि करके स्थित है वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर सुखसे स्थित है ॥ ३० ॥

इसी तरह योगियोंके अनुभवसिद्ध सर्वसाधारण जो सुख है उसीमें परम-पुरुषार्थरूपता जाननी चाहिए, पामरजनप्रसिद्धमें नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'यत्सुखम्' इत्यादिसे ।

क्षणभरमें ही नाशके अनुभवसे तत्त्वज्ञानी महानुभाव लोग जो विषयसुख है उसको दुःखरूप ही कहते हैं तथा अकृत्रिम, अनादि, अनन्त जो सुख है उसीको वास्तविक सुख बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तको ही दृढ़ करनेकी इच्छा करते हुए फिर कहते हैं—'प्रत्यक्षेण' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह साक्षी चेतन द्वारा आप प्रत्यक्ष विचार कीजिये तथा स्वयं अपने अनुभवसे देखिये, जो सबका आदि साक्षीचित्का प्रत्यक्ष है वही वास्तविक सुख है ॥ ३२ ॥

---

* प्रत्यक्षचितिके अधीन इसकी सिद्धि होनेसे वह मानस स्पन्द कुछ है, अतः उसकी प्रत्यक्षचितिसमसत्ता नहीं है, इसलिए वस्तुतः वह भी मिथ्या ही है, यह तात्पर्य है ।

लोकत्रयानुभवदं त्यक्त्वा प्रत्यक्षमैहिकम् ।
मायात्मकं यो गृह्णाति नास्ति मूढतमस्ततः ॥ ३३ ॥
आतिवाहिकमेवैषां भूतानां विद्यते वपुः ।
अत्राऽऽधिभौतिकव्याप्तिरसत्यैव पिशाचिका ॥ ३४ ॥
अजातसङ्कल्पमयं प्रत्यक्षं सत्कथं भवेत् ।
स्वयमेव नयत् सत्यं तत्स्यात्कार्यकरं कथम् ॥ ३५ ॥
यत्र प्रत्यक्षमेवासदन्यत् किं तत्र सद्भवेत् ।
क्व तत्सत्यं भवेद्वस्तु यदसिद्धेन साध्यते ॥ ३६ ॥
प्रत्यक्ष एव भावत्वे नष्टे क्वेवानुमादयः ।
उह्यन्ते वारणा यत्र तत्रोर्णायुषु का कथा ॥ ३७ ॥

तीनों लोकके अनुभव देनेवाले सूक्ष्मचित् प्रत्यक्षको छोड़कर जो ऐहिक स्थूल प्रत्यक्षको ग्रहण करता है, उससे बढ़कर और कोई दूसरा भारी मूर्ख नहीं है ॥ ३३ ॥

सम्पूर्ण भूतोंका जो सूक्ष्म शरीर है वही वास्तवमें सत् है। इसमें जो स्थूलशरीरकी प्राप्ति है वह असत्य पिशाचिका ही है ॥ ३४ ॥

जहां मिथ्या सङ्कल्पमयका जन्म ही दुर्लभ है वहां उसकी सत्ता तो अत्यन्त दुर्लभ है ही, फिर उस असत् पदार्थमें अर्थक्रियाकी सामर्थ्य तो उससे भी और बहुत दूर है, यह कहते हैं—'अजात०' इत्यादिसे।

जो अनुत्पन्न और सङ्कल्पमय है वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है तथा जो स्वयं ही सत् नहीं है वह कार्यकारी कैसे हो सकता है ॥ ३५ ॥

नेत्र आदि प्रमाणसे जो सिद्ध हुए प्रपञ्चका (जगतका) आप कैसे अपलाप करते हैं, इसपर कहते हैं—'यत्र' इत्यादिसे।

जब कि प्रत्यक्षसाधक चक्षु आदि इन्द्रियां ही योगियोंकी दृष्टिमें असत् हैं तब फिर उनसे सिद्ध अन्य पदार्थ क्या सत हो सकते हैं। क्योंकि जिस वस्तुकी सिद्धि असत्से की जाती है वह कहां सत होती है ? कहनेका तात्पर्य यह है कि असत्से सिद्ध हुए पदार्थकी सत्ता कहींपर भी देखनेमें नहीं आती ॥ ३६ ॥

जब साक्षात् अर्थोंकी साधक चक्षु आदि इन्द्रियोंकी ऐसी दशा है, तब

अतः प्रमाणसंसिद्धं दृश्यं नास्त्येव कुत्रचित् ।
अनन्यदिदमस्तीव तत्तद्ब्रह्मघनं घनम् ॥ ३८ ॥
स्वप्ने द्रष्टुः खमेवाद्रिर्गृहे नान्यस्य वै यथा ।
तथा तद्भावनवतोरावयोः सा शिलैव चित् ॥ ३९ ॥
अयं शैल इदं व्योम जगदेतदिदं त्वहम् ।
इति चिन्मय आत्मान्तः खं चमत्कुरुते स्वयम् ॥ ४० ॥
पश्यत्येतत्प्रबुद्धात्मा नाप्रबुद्धः कदाचन ।
श्रोतुः कथार्थसंवित्तिर्नाश्रोतुर्भवति क्वचिद् ॥ ४१ ॥

भला तन्मूलक अनुमान आदि प्रमाणोंके विषयमें क्या पूछना ? यह कहते हैं— 'प्रत्यक्ष एव' इत्यादिसे ।

जब प्रत्यक्षमें ही भावत्व नष्ट है यानी जब प्रत्यक्षकी ही सत्ता सिद्ध नहीं है तब उसके अधीन अनुमान आदि प्रमाणोंकी कहां गति है । जहां बड़े-बड़े हाथी बह जाते हैं वहां भेड़ोंकी क्या कथा है ॥ ३७ ॥

इसलिए जो कुछ हमने कहा है उसका फलित यही है कि प्रमाणसिद्ध दृश्य प्रपञ्च कहीं भी नहीं है। जो यह सद्रूप एक 'अस्तीव' (है-जैसा) भासित हो रहा है वह सैंधव (नमक) के टुकड़ेके समान चिद्घन ब्रह्म ही है ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे स्वप्नमें पर्वत देखनेवालेका प्रसिद्ध स्वप्न उस समय भी शून्यरूप ही है, क्योंकि उसी घर और उसी समयमें जाग रहे या सो रहे किसी अन्य पुरुषको वह पर्वत नहीं है, वैसे ही शिलाकी भावनासे युक्त हम दोनोंको यह दृश्य भी शिला चिद्रूप ही है ॥ ३९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह शैल, यह आकाश, यह जगत् और यह मैं— इत्यादि सब कुछ चिन्मय आत्मा ही चिदाकाशरूपसे स्वयं अपने स्वरूपमें भासता है ॥ ४० ॥

इस तरह सब कुछ चिन्मय आत्मा ही भासता है, कोई दूसरा नहीं, यह प्रबुद्धात्मा ही देखता है, अप्रबुद्धात्मा कभी नहीं देखता । हे श्रीरामजी, महाभारत आदि कथाका अर्थज्ञान सुननेवालेको ही होता है, जो कथा नहीं सुनता उसको उसका अर्थज्ञान भी कभी नहीं होता ॥ ४१ ॥

अप्रबुद्धमिति भ्रान्तिरेवेयं सत्यतां गता ।
क्षीबस्य सुस्थिरा एव नृत्यन्ति तरुपर्वताः ॥ ४२ ॥

सर्वत्राप्रतिहतमेकरूपबोधं
प्रत्यक्षं शिवमनुबुध्य चित्स्वरूपम् ।
प्रत्यक्षान्तरमिह पेलवं श्रयन्ते
ये मूढास्तृणतनुभिः शठैरलं तैः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रमाणाप्रतिसिद्ध्या दृश्यानुपपत्तिवर्णनं नामाष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

जगदङ्गमनाभासमदृश्यं दृश्यवत्स्थितम् ।
परया दृश्यते दृष्ट्या तद्ब्रह्मैव निरामयम् ॥ १ ॥

अप्रबुद्धको (अज्ञानीको) ही यह जगत्की भ्रान्ति सत्यरूपताको प्राप्त है । हे श्रीरामजी, मदिरा पीकर मतवाले बने हुए पुरुषको ही सुस्थिर ये वृक्ष तथा पर्वत आदि नाचते दिखाई देते हैं ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो लोग योगिप्रत्यक्ष सर्वत्र अप्रतिहत, एकबोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्स्वरूपका बोध करके भी बाधित हुए उस चक्षुः आदि अन्य प्रत्यक्षका—तुच्छ होते हुए भी प्रमाणरूपसे—आश्रय लेते हैं वे मूढ़ आत्मवञ्चक तृणके समान नगण्य हैं, उनसे मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ४३ ॥

अड़सठवाँ सर्ग समाप्त

उनहत्तरवाँ सर्ग

[शिलाकी सृष्टिके अन्दर प्रवेश और वहाँके ब्रह्माका दर्शन तथा सत्कारपूर्वक बैठाये गये वसिष्ठमुनिसे ब्रह्माजीका सम्भाषण—यह वर्णन]

शिलाके पेटमें जगत्की संभावनार्थ उसकी सत्ता एवं स्फूर्ति देनेवाले अधिष्ठानभूत ब्रह्मको दिखलाते हैं—'जगदङ्ग०' इत्यादिसे ।

तत्र शैलसरित्स्रोतोलोकालोकान्तरभ्रमाः ।
भान्ति ते परमादर्शे महाव्योमनि बिम्बिताः ॥ २ ॥
सा प्रविष्टा ततः सर्गं तमनर्गलचेष्टिता ।
अहमप्यविशं तत्र सङ्कल्पात्मा तया सह ॥ ३ ॥
यावत्सा तत्र वैरिञ्चं लोकमासाद्य सोद्यमा ।
उपविष्टा विरिञ्चस्य पुरः परमशोभना ॥ ४ ॥
वक्त्ययं मुनिशार्दूल पतिर्मे पाति मामिमाम् ।
विवाहार्थमनेनाहं जनिता मनसा पुरा ॥ ५ ॥
पुराणः पुरुषोऽप्येष मामप्यद्य जरागताम् ।
न विवाहितवांस्तेन विरागमहमागता ॥ ६ ॥
विरागमेषोऽप्यायातो गन्तुमिच्छति तत्पदम् ।
यत्र न द्रष्टृता नैव दृश्यता न तु शून्यता ॥ ७ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, जिसके समस्त जगत् एक तरहके अवयव-से हैं, ऐसे सूर्य आदि ज्योतियोंसे अगम्य तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका अविषय परब्रह्म ही दृश्य-सा बनकर स्थित है, वह निरामय परब्रह्म समाधिकी दिव्यदृष्टिसे दीख पड़ता है [यह जगत् परब्रह्मकी ज्योतिसे ही प्रकाशित हो रहा है, अतः जगत् भी वास्तवमें निर्विकार ब्रह्मरूप ही है] ॥ १ ॥

पर्वत, नदियों, झरने तथा लोकालोकान्तर आदिके जितने भ्रम हैं वे सब उसी ब्रह्ममें दीख पड़ते हैं । ये महाकाशरूपी उत्कृष्ट दर्पणमें प्रतिबिम्बित हैं ॥२॥

श्रीरामजी, तदनन्तर अबाध गतिवाली वह विद्याधरी उस शिलाके पेटमें स्थित जगतमें प्रविष्ट हो गई, सङ्कल्परूप मैं भी उसके साथ उसके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ३ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर उद्यमशील तथा परम शोभावाली वह विद्याधरी वहाँके ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माजीके सम्मुख बैठ गई और बैठकर मुझसे कहने लगी—'हे मुनिश्रेष्ठ, ये मेरे पति हैं, ये मेरी रक्षा करते हैं, विवाहके लिए इन्होंने ही मेरा मनसे उत्पादन किया था, यद्यपि अब ये पुरुष बूढ़े हो गये हैं और मैं भी बूढ़ी हो गई हूँ, तथापि आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया, इसीसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इन्हें भी वैराग्य आ गया है, ये उस परम पदमें जानेकी इच्छा रखते हैं, जहाँ न तो कोई द्रष्टृता है, न दृश्यत्व

महाप्रलय आसन्नो जगत्यस्मिंश्च सम्प्रति ।
ध्यानान्न च चलत्येष शैलमौनादिवाऽचलः ॥ ८ ॥
तस्मान्मामेनमपि च बोधयित्वा मुनीश्वर ।
आमहाकल्पसर्गादौ परमे पथि योजय ॥ ९ ॥
इत्युक्त्वा मामसौ तस्य बोधायेदमुवाच ह ।
नाथायं मुनिनाथोऽद्य सद्म सम्प्राप्तवानिदम् ॥ १० ॥
एषोऽन्यस्मिन् जगद्गेहे ब्रह्मणस्तनयो मुनिः ।
पूजयैनं गृहायातं गृहस्थगृहपूजया ॥ ११ ॥
बुद्ध्यतामर्घ्यपाद्येन पूज्यतां मुनिपुङ्गवः ।
महन्महत्सपर्याभिर्महात्मभ्यो हि रोचते ॥ १२ ॥
तयेत्युक्ते महाबुद्धिर्बुबुधे स समाधितः ।
स्वसंवित्तिद्रवात्मत्वादावर्त इव वारिधौ ॥ १३ ॥

है और न शून्यत्व ही है ।' श्रीरामजी, वह विद्याधरी जबतक यह मुझसे कह रही थी, तबतक इस जगत्में महाप्रलयकाल समीप आ रहा था । फिर उस विद्याधरीने कहना आरम्भ किया—भगवन्, अभी भी ये अपने ध्यानसे विचलित नहीं होते, पर्वतके सदृश अपनी मुनिवृत्तिसे मानो ये अचल पर्वत ही लगते हैं ॥ ४–८ ॥

हे मुनीश्वर, इसलिए मुझे और इन्हें भी बोध देकर उस परब्रह्मके मार्गमें लगानेकी कृपा कीजिये, जो वैज्ञानिक प्रलयतकके सारे संसारोंका मूलभूत कारण है ॥ ९ ॥

हे श्रीरामजी, उस विद्याधरीने वैसा मुझसे कहकर फिर उस ब्रह्माजीको जगानेके लिए यह कहने लगी—हे स्वामिन्, आज अपने इस घरमें ये सब मुनियोंके श्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी पधारे हैं, ये मुनि दूसरे जगद्रूप घरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं । हे नाथ, गृहस्थ पुरुषोंके घरमें होनेवाली समुचित पूजासे अपने घरपर पधारे हुए इनका सत्कार कीजिए ॥ १०, ११ ॥

हे स्वामिन्, आप यह जानिये कि ये मुनिश्रेष्ठ पूज्य हैं, इसलिए अर्घ्य, पाद्य आदिसे इनकी पूजा कीजिये । जो बड़े-बड़े आपके सदृश महात्मा हैं, उन्हें उत्तम पूजासे प्राप्त होनेवाला महाफल ही रुचता है ॥ १२ ॥

श्रीरामजी, जब उस विद्याधरीने वैसा कहा, तब महामेधावी वह मुनि

शनैरुन्मीलयामास नयने नयकोविदः ।
मधुः शिशिरसंशान्तावनौ कुसुमे यथा ॥ १४ ॥
शनैः प्रकटयामासुस्तान्यङ्गान्यस्य संविदम् ।
मधुपल्लवजालानि नवानीव नवं रसम् ॥ १५ ॥
सुरसिद्धाप्सरःसङ्घाः समाजग्मुः समन्ततः ।
यथा हंसालयो लोलाः प्रातर्विकसितं सरः ॥ १६ ॥
ददर्शासौ पुरः प्राप्तं मां च तां च विलासिनीम् ।
उवाचाथ वचो वेधाः प्रणवस्वरसुन्दरम् ॥ १७ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

करामलकवद्दृष्टसंसारासारसार हे ।
ज्ञानामृतमहाम्भोद मुने स्वागतमस्तु ते ॥ १८ ॥

समाधिसे समुद्रमें आवर्तके समान उठे, वे अपनी आत्माके पहचाननेके निमित्त द्रवीभूत हो गये थे ॥ १३ ॥

तदनन्तर धीरेसे उस नीतिज्ञ विद्वान्‌ने अपने नेत्र उस तरह खोले, जैसे मधुमास (वसन्त) शिशिरमें शान्त भूमिपर पुष्परूपी अपनी आँखें खोलता है ॥१४॥

बादमें धीरे-धीरे उसके वे समस्त हाथ, पैर आदि अङ्ग—अपने-अपने ज्ञानको ऐसे प्रकट करने लगे यानी अपनी-अपनी चेतनासे युक्त ऐसे होने लगे, जैसे वसन्त सम्बन्धी पल्लव नवीन रसको प्रकट करते हैं यानी नवीन रससे युक्त होने लगते हैं ॥ १५ ॥

अनन्तर, देव, सिद्ध और अप्सराएँ चारों तरफसे ऐसे आ धमकी, जैसे प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंसे युक्त सरोवरपर चञ्चल हंसपंक्तियां ॥ १६ ॥

श्रीरामजी, उस ब्रह्माने सामने उपस्थित हमको और विलासिनी उस रमणीको देखा । देखनेके बाद उन्होंने यह वचन कहा । उनका वचन ॐकार पूर्वक स्वरोचारके कारण बड़ा ही रम्य लगता था ॥ १७ ॥

शिलोदर जगत्‌के ब्रह्माजीने कहा—हे हाथमें आंवलेके सदृश असार संसारके तत्त्वको जाननेवाले, हे ज्ञानरूपी अमृत बरसानेवाले महामेघ, हे मुने आपका स्वागत हो ॥ १८ ॥

पदवीमसि सम्प्राप्त इमामतिदवीयसीम् ।
दूराध्वसुपरिश्रान्त इदमासनमास्यताम् ॥ १९ ॥
इत्युक्ते तेन भगवन्नभिवादय इत्यहम् ।
वदन्मणिमये पीठे निविष्टो दृष्टिदर्शिते ॥ २० ॥
अथामरर्षिगन्धर्वमुनिविद्याधरोदिताः ।
प्रस्तुताः स्तुतयः पूजा नतयः स्थितिनीतयः ॥ २१ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण सर्वभूतगणोदिते ।
शान्ते प्रणतिसंरम्भे तस्योक्तं ब्रह्मणो मया ॥ २२ ॥
किमिदं भूतभव्येश यदियं मामुपागता ।
वक्ति ज्ञानगिराऽस्मांस्त्वं बोधयेति प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
भवान् भूतेश्वरो देव सकलज्ञानपारगः ।
इयं तु काममूर्खा किं ब्रूते ब्रूहि जगत्पते ॥ २४ ॥

हे मुने, आप इस अतिदूरातिदूरवर्ती स्थानमें पधारे हैं, अतः लम्बे मार्गके कारण खूब थक गये होंगे, आप इस आसनपर विराजिए ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, उस जगत्‌के ब्रह्माजीके वैसा कहनेपर 'हे भगवन्, आपको अभिवादन करता हूँ' यों कहते हुए मैं नेत्रके इशारेसे दर्शित मणिमय आसनपर बैठ गया ॥ २० ॥

अनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि, विद्याधर आदि द्वारा गायी गई उनकी स्तुतियाँ आरम्भ हुईं, फिर पूजा हुई और फिर नमस्कार हुए। अनन्तर यथायोग्य परस्पर व्यवहारकी नीति सम्पन्न हुई ॥ २१ ॥

अनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें देव, गन्धर्व आदि भूतगणोंके द्वारा वाणीसे किया गया प्रणामसमारोह जब शान्त हो गया, तब मैंने उन ब्रह्माजीसे कहा ॥ २२ ॥

हे भूतभव्यके स्वामिन्, यह विद्याधरी यत्नपूर्वक मेरे पास आकर कहती है कि तुम हम लोगोंको बोध वचनोंसे उपदेश दो। क्या उसका यह कहना उचित है या अनुचित ॥ २३ ॥

हे देव, आप सब प्राणियोंके स्वामी हैं, समस्त ज्ञानोंके पारङ्गत हैं, अतः यह काममुग्धा स्त्री क्या कह रही है ? इसे हे जगत्पते, आप कहिए ॥ २४ ॥

कथमेषा त्वया देव जायार्थं जनिता सती।
नेह जायापदं नीता नीता विरसतां कथम् ॥ २५ ॥

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

मुने शृणु यथावृत्तमिदं ते कथयाम्यहम्।
यथावृत्तमशेषेण कथनीयं यतः सताम् ॥ २६ ॥
अस्ति तावदजं शान्तमजरं किञ्चिदेव सत्।
ततश्चित्कचनैकान्तरूपिणा कचितोऽस्म्यहम् ॥ २७ ॥

हे देव, आपने अपनी भार्या बनानेके निमित्त इसे क्यों उत्पन्न किया ? उत्पन्न करके क्यों अपनी पत्नी नहीं बनायी, फिर यहाँ उसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये ॥ २५ ॥

आपका आशय ठीक है कि यद्यपि मैं और यह दोनों उपदेशके लिए योग्य नहीं हैं, तथापि इसने अपनी ही वासनासे मुझे अज्ञानी और अपना उपदेशाधिकार समझकर आपसे उपदेशार्थ प्रार्थना की है, तथा यद्यपि मैंने इसके जन्ममात्रका सम्पादन किया है, तथापि 'पत्नी बनानेके लिए मैं उत्पादित की गई हूँ, मैं इनकी भार्या हूँ' इत्यादि भी अपनी वासनासे ही इसने समझ रक्खा है, इसलिए वासनामात्रस्वरूप होनेके कारण अब मैं जब विदेहकैवल्यको प्राप्त करूँगा, तब उसके साथ-साथ स्वकल्पित प्रपञ्चका भी तत्काल ही प्रलय हो जायगा, यों विस्तारके साथ उत्तर देनेकी इच्छासे कहते हैं—'मुने' इत्यादिसे।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे मुने, आप सुनिये, मैं जैसा वृत्तान्त है, वैसा ही आपसे कहता हूँ, क्योंकि सज्जनोंके सम्मुख जैसी घटना घटी हो, उसे अवश्य पूरी तरह कहनी ही चाहिए ॥ २६ ॥

सबसे पहले उपोद्घातसङ्गतिसे 'अप्रतिहत ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म—ये चारों जगदीश्वरके साथ-साथ ही सिद्ध हैं' इस पुराणप्रसिद्धिके अनुसार अपनी उत्पत्तिके सम्बन्धमें तात्त्विक परिज्ञान बतलानेके लिए तथा अपनी उत्पत्तिका स्वरूप बतलानेके लिए कहते हैं—'अस्ति' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजी, ऐसी एक कोई मुख्य वस्तु है, जो अज, शान्त, अजर तथा त्रिकालमें बाधित नहीं होनेवाली है। इसीका नाम चिति है। इस चितिके एकमात्र प्रकाशनस्वरूपसे मैं उत्पन्न (आविर्भूत) हुआ हूँ ॥ २७ ॥

आकाशरूप एवाहं स्थित आत्मनि सर्वदा ।
भविष्यति स्थिते सर्गे स्वयंभूरिति नाम मे ॥ २८ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽस्मि न च पश्यामि किञ्चन ।
चिदाकाशश्चिदाकाशे तिष्ठाम्यहमनावृतः ॥ २९ ॥
यदयं त्वं ममाहन्ते यदिदं कथनं मिथः ।
तत्तरङ्गास्तरङ्गाग्रे रणतीवेति मे मतिः ॥ ३० ॥
एवंरूपस्य मे कालवशतोऽविशदाकृतेः ।
सा कुमार्याश्चिदाभासमात्रस्यान्तः स्वभावतः ॥ ३१ ॥
ममानन्या तवान्यस्य चान्येवेह विभाति या ।
सोदितानुदितेवान्तर्ममाहमिति वासना ॥ ३२ ॥

उक्त तत्त्वज्ञानसे बाधित अपनी उत्पत्ति और अपना नाम आपके लिए कैसे सिद्ध हो सकता है, इसपर कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं चिदाकाशरूप ही हूँ, सदा अपने ही स्वरूपमें स्थित हूँ, और व्यवहार करनेवाली प्रजाके सर्गके उत्पन्न होकर स्थित हो जानेपर उनकी दृष्टिसे मेरा नाम स्वयंभू होता है ॥ २८ ॥

तात्त्विक दृष्टिसे तो न मैं उत्पन्न हुआ हूँ और न कुछ देखता ही हूँ । सभी प्रकारके आवरणोंसे निर्मुक्त होकर चिदाकाशस्वरूप मैं चिदाकाशमें ही स्थित हूँ ॥ २९ ॥

तब हम दोनों तत्त्वज्ञानियोंका परस्पर जो प्रश्नोत्तरादि व्यवहार हो रहा है, वह कैसा है, इसपर कहते हैं—'यदयम्' इत्यादिसे ।

भद्र, जो यह तुम, मेरे आगे हो और तुम्हारे आगे मैं हूँ, तथा यह जो अपना परस्पर प्रश्नोत्तररूप संभाषण है, वह तो उस तरहका है, जिस तरहका कि एक ही समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरा तरङ्ग हो और वही एक समुद्र तरङ्गों द्वारा परस्पर आघातोंसे ध्वनि करता हो, यह मेरा सिद्धान्त है ॥ ३० ॥

भद्र, इस प्रकार समुद्रसे जनित तरङ्गोंके सदृश थोड़ी मात्रामें कल्पित अपनी और दूसरेकी दृष्टिसे देखे जानेवाले भेदरूप तथा समयवश अपने स्वरूपके थोड़े-से विस्मरणके कारण अस्वच्छस्वरूप हुए चिदाभासरूपी मुझमें जो स्वभावसे 'मैं और मेरी' यों वासना हुई, वह वासना ही इस कुमारीको और तुम्हें अन्य-सी

अनाशसत्तानुदितस्त्वहमात्माऽऽत्मनि स्थितः ।
स्वभावादच्युताकारः स्वात्मारामः स्वयं प्रभुः ॥ ३३ ॥
तस्या अहमिति भ्रान्तेर्वासनाया जगत्स्थितेः ।
सम्पन्नेयमधिष्ठातृदेवता देहरूपिणी ॥ ३४ ॥
वासनाया अधिष्ठातृदेवतैवमियं स्थिता ।
न तु मे गृहिणी नापि गृहिण्यर्थेन सत्कृता ॥ ३५ ॥
स्ववासनावेशवशेन भावं
गृहिण्यहं ब्रह्मण इत्युपेत्य ।
एषा स्वयं व्यर्थमिताऽतिदुःखं
यस्मात्किलैषैव हि वासनाऽन्तः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने सर्गप्राप्तिर्नाम
एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

भासती है, परन्तु मुझको तो अनन्य ही भासती है, वह वासना हम दोनों पुरुषोंकी दृष्टिसे उदित है और उदित नहीं भी है ॥ ३१, ३२ ॥

अपनी दृष्टिसे आप कैसे हैं, इसपर कहते हैं—'अनाश०' इत्यादिसे ।

भद्र, मैं तो अविनाशी सत्तावाला हूँ, क्योंकि मैं कभी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, आत्मरूप मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ । स्वभावसे ही मेरा आकार अविनाशी है, मैं स्वात्माराम तथा स्वयं प्रभु हूँ ॥ ३३ ॥

जब आप ऐसे विशुद्ध हैं, तब यह कैसे उत्पन्न हुई और असलमें यह है क्या ? इसपर कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

हे वसिष्ठजी, उक्त विशुद्धस्वरूप मुझको पूर्वपूर्वके अहङ्कारके संस्कारसे उत्पन्न स्मृति-जैसी जो अहम्भ्रान्ति, जगत्स्थिति और वासना हुई, उसकी अधिष्ठात्री देवता ही यह शरीररूप होकर स्थित है ॥ ३४ ॥

भद्र, यह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी ही बैठी है, न तो यह मेरी गृहिणी है और न गृहिणीके निमित्तसे इसका मैंने उत्पादन ही किया है ॥ ३५ ॥

तब यह आपको अपना पति क्यों कहती है, इसपर कहते हैं—'स्ववासना०' इत्यादिसे ।

सप्ततितमः सर्गः

अन्यजगद्ब्रह्मोवाच

अथाहंचिन्मयाकाशस्त्वन्याकाशमयीं स्थितिम् ।
परां ग्रहीतुमिच्छामि तेनेहोपस्थितः क्षयः ॥ १ ॥
महाप्रलयकालेऽस्मिंस्त्यक्तुमेषा मयाऽधुना ।
मुनीन्द्र नूनमारब्धा तेन वैरस्यमागता ॥ २ ॥

चूँकि यही भीतरकी समस्त जगत्की वासना है, इसलिए अपनी वासनाके आवेशवशसे यह 'मैं ब्रह्माकी पत्नी हूँ' इस तरहकी भावनाको अपने ही मनकी इच्छासे प्राप्त हुई है और उसे प्राप्त कर निरर्थक ही अत्यन्त दुःखको प्राप्त हो गई है ॥ ३६ ॥

उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सत्तरवाँ सर्ग

[वासना देवीके वैराग्यके कारणका और जगत्के प्रलय एवं मिथ्या विभ्रमरूपत्वका वर्णन]

आपने इसका पत्नीके निमित्त निर्माण क्यों किया, इस प्रश्नका उत्तर देकर अब इसको वैराग्यकी ओर क्यों ले गये, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आरम्भ करते हैं—'अथाहम्' इत्यादिसे ।

अन्य जगत्के ब्रह्माजीने कहा—हे वसिष्ठजी, मैंने अपने सङ्कल्पसे कल्पित दो परार्ध वर्ष आयुके बिता दिये, अब चिदाकाशरूप मैं सबसे ऊँची निरतिशयानन्दात्मक ब्रह्माकाशरूप कैवल्यस्थिति लेनेकी इच्छा कर रहा हूँ, इस कारणसे मेरी वासनासे बने इस जगत्में नित्य, नैमित्तिक, दैनंदिन और आत्यन्तिक—ये चारों तरहके प्रलय भी उपस्थित हो गये हैं ॥ १ ॥

हे मुनीन्द्र, इस महाप्रलयकालमें अब इसका मूलोच्छेद कर अपनी सत्तासे गिरानेके लिए मैंने आरम्भ किया है, इसलिए इसे वैराग्य हो गया है यानी यह विनाशोन्मुख हो गई है ॥ २ ॥

आकाशत्वाद्यदाद्योऽयं पराकाशो भवाम्यहम् ।
तदा महाप्रलयता वासनायाश्च संक्षयः ॥ ३ ॥
तेनैषा विरसीभूता मन्मार्गं परिधावति ।
नानुगच्छति को नाम निर्मातारमुदारधीः ॥ ४ ॥
इहाद्यायं कलेरन्तश्चतुर्युगविपर्ययः ।
प्रजामन्विन्द्रदेवानामद्यैवान्तोऽयमागतः ॥ ५ ॥
अद्यैव चायं कल्पान्तो महाकल्पान्त एव च ।
ममायं वासनान्तोऽद्य देहव्योमान्त एव च ॥ ६ ॥
तेनेयं वासना ब्रह्मन् क्षयं गन्तुं समुद्यता ।
क्वेव पद्माकराशोषे गन्धलेखावतिष्ठताम् ॥ ७ ॥
यथा जडाब्धिलेखाया जायते लहरी चला ।
वासनायास्तथैवेच्छा मधोदेत्यपकारणम् ॥ ८ ॥

उसमें युक्ति बतलाते हैं—'आकाशत्वा०' इत्यादिसे ।

यह मैं जब कि चित्ताकाशस्वरूपका त्याग कर आद्य चिदाकाशरूप हो रहा हूँ, तब महाप्रलयका स्वरूप और वासनाका विनाश ध्रुव है ॥ ३ ॥

इसीलिए यह विरक्त होकर मेरे मार्गकी ओर दौड़ रही है, ऐसा उदार-बुद्धि कौन जीव है, जो अपने जनकके पीछे दौड़ता न हो ॥ ४ ॥

भद्र, आज ही यहाँ कलिका समाप्तिकाल और चतुर्युगीका विनाश उपस्थित है एवं मनु, इन्द्र, देव आदि प्रजाका भी यह विनाश आ गया है ॥ ५ ॥

चारों प्रकारके प्रलय आज एक ही साथ प्राप्त हैं—यह कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

आज ही मेरे कल्पका विनाश है, महाकल्पका भी विनाश आज ही है, वासनाविनाश आज ही है और आज ही देहाकाशका भी विनाश है ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्, इसलिए आत्मदर्शन आदि कारणोंको लेकर ही यह विद्याधरीरूप वासना विनाशकी ओर जानेके लिए उद्यत हुई है । तालाबके सूख जानेपर गन्धलेखा कहाँ स्थित रह सकती है ॥ ७ ॥

अपने विनाशके कारण आत्मदर्शनमें इसकी इच्छा क्यों हुई, इस प्रश्नका उत्तर—उसका वैसा स्वभाव ही है, यह—युक्तिपूर्वक कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

आभिमानिकदेहाया वासनायाः स्वभावतः ।
अस्या आत्मावलोकेच्छा स्वयमेवोपजायते ॥ ९ ॥
आत्मतत्त्वं तु पश्यन्त्या धारणाभ्यासयोगतः ।
दृष्टोऽनया भवत्सर्गो वर्गव्यग्रनिरर्गलः ॥ १० ॥
अनयाऽम्बरसञ्चारपरयाऽद्रिशिरःशिला ।
दृष्टा स्वजगदाधारभूताऽस्माकं तु खात्मिका ॥ ११ ॥
एतद्यस्मिन् जगद्यत्र तद्‌दृषत्वं जगद्गिरौ ।
अस्मज्जगत्पदार्थेषु सन्त्यन्यानि जगन्त्यपि ॥ १२ ॥

भद्र, जैसे जड़ समुद्रलेखासे चञ्चल लहरी उत्पन्न होती है, वैसे ही वासनासे भी अपने विनाशकी हेतु आत्मदर्शनेच्छा योंही स्वभाववश उत्पन्न होती है, उसमें दूसरा कोई भी बाहरी कारण नहीं है ॥ ८ ॥

केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासनाको स्वभावसे स्वयं ही आत्मदर्शनकी इच्छा उत्पन्न होती है ॥ ९ ॥

तब इसने हम लोगोंका जो ब्रह्माण्ड देखा, उसमें क्या कारण है, इसपर कहते हैं—'आत्म०' इत्यादिसे ।

आत्माके दर्शनके लिए किये गये धारणाभ्यासरूप योगका फल अन्यान्य ब्रह्माण्डमें गमन आदि सिद्धि है ही, इसलिए उसकी परीक्षा करनेकी इच्छा ही वहाँ जानेमें कारण हुई । वहाँ जाकर इसने आपका वह सर्ग देखा, जिसमें धर्मादिके अनुष्ठानमें व्यग्र एवं निरर्गल प्रजा रहती है ॥ १० ॥

पूर्वोक्त शिलाका दर्शन भी इसको उसी सिद्धिके बलसे हुआ, यह कहते हैं—'अनया०' इत्यादिसे ।

आकाशमें विचरण करनेमें तत्पर इस विद्याधरीने अपने जगत्‌की आधारभूत पर्वतके शिखरकी शिला भी उसी सिद्धिकी सामर्थ्यसे देखी, जो कि हम लोगोंकी दृष्टिसे केवल आकाशरूप ही है ॥ ११ ॥

हम लोगोंके अनेक जगद्रूप पदार्थोंके अन्दर—जिस जगद्रूप पर्वतके ऊपर यह जगत् है और जिसमें उक्त पत्थरकी शिलारूपता है—ऐसे ऐसे अनेक दूसरे भी जगत् हैं ॥ १२ ॥

वयं तानि न पश्यामो भेदद्दृष्टौ स्थिता इमे ।
बोधैकतां गतास्त्वाशु पश्यामस्तानि वीक्षणात् ॥ १३ ॥
घटे पटे वटे कुड्ये खेऽनलेऽम्भसि तेजसि ।
जगन्ति सन्ति सर्वत्र शिलायामिव सर्वदा ॥ १४ ॥
जगन्नाम मुधा भ्रान्तिः किल स्वप्नपुरोपमा ।
मिथ्यैवेयं क्व नामासौ चिद्रूपाऽस्त्यथ नास्ति च ॥ १५ ॥
परिज्ञाता सती येषामेषा चिन्नभसैकताम् ।
गता तेन विमुह्यन्ति शिष्टास्तु भ्रमभाजनम् ॥ १६ ॥
अथान्यधारणाभ्यासात्स्वविरागवशोदितम् ।
साधयन्त्यऽर्थमात्मीयं दृष्टस्त्वमनया मुने ॥ १७ ॥

परन्तु हम लोग चूंकि भेददृष्टिमें यानी व्युत्थानदशामें बैठे हैं, इसलिए उनको नहीं देखते, परन्तु समाधिसे बोधके साथ एकरूप होकर योगदृष्टिसे देखनेसे देख सकते हैं ॥ १३ ॥

भद्र, घटमें, पटमें, वटमें, भीतमें, आकाशमें, वायुमें, जलमें, तेजमें, सर्वत्र—सभी जगह, शिलोदरके सदृश, अनेक जगत् विद्यमान हैं ॥ १४ ॥

जगत् नामकी तो एक निरर्थक भ्रान्ति ही है, और वह है ठीक स्वप्ननगरके जैसी। यह जगत्की माया भी मिथ्या है, इसलिए मिथ्या भ्रमका अस्तित्व ही कहाँ रहा। यदि उसका अस्तित्व है, तो वह अधिष्ठान चितिरूप होकर कुछ और ही है, न कि प्रतीयमान जड़रूप ॥ १५ ॥

यह मायाभ्रान्ति परिज्ञात होकर जिनकी दृष्टिमें चिदाकाशरूप बन जाती है, उनके लिए तो वह सदाके लिए चली ही गई समझनी चाहिए और बाकी जो लोग बच गये, उनको तो भ्रमके ही पात्र समझ लीजिए ॥ १६ ॥

अथ 'किमिदं भूतभव्येश०' इत्यादिसे अपने पास आनेकी सामर्थ्यमें जो हेतु पूछा, उसका उत्तर कहते हैं—'अथा०' इत्यादिसे।

हे मुने, अब आप यह सुनिये कि आपके पास यह किस कारणसे आयी। बात ऐसी है—पूर्वोक्त वैराग्यप्राप्तिके अनन्तर अपने विरागवशसे इसको आत्मीय यानी अभीष्ट आत्मज्ञानकी अनुकूल गुरूपसदन, श्रवण, मनन आदिकी इच्छा उत्पन्न हुई। और उसे आपके उपदेशसे सिद्ध करनेकी इच्छा रखकर इसने

इति मायेव दुष्पारा चिच्छक्तिः परिजृम्भते ।
इत्थमाद्यन्तरहिता ब्राह्मी शक्तिरनामया ॥ १८ ॥
प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते नेह कार्याणि कानिचित् ।
द्रव्यकालक्रियाद्योता चितिस्तपति केवलम् ॥ १९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्ध्यादिकं त्विदम् ।
चिच्छिलाङ्कमेवैकं विद्ध्यनस्तमयोदयम् ॥ २० ॥
चिदेवेयं शिलाकारमवतिष्ठति बिभ्रती ।
अङ्गमस्या जगज्जालं मरुतः स्पन्दनं यथा ॥ २१ ॥
विज्ञानघनमात्मानं जगदित्यवबुध्यते ।
अनाद्यन्तापि साद्यन्ताऽचित्त्वादिति गतापि चित् ॥ २२ ॥

दूसरे (पूर्वोक्त जगत्सृष्टिके दर्शनमें हेतुभूत धारणासे भिन्न) खेचरसिद्धि, ब्रह्माण्डान्तरमें गमन आदि सिद्धियोंकी हेतुभूत चूडालाख्यायिकामें वर्णित धारणाओंके अभ्याससे आपके सङ्कल्पसे कल्पित आपका समाधिस्थान जानकर वहाँ यह पहुँच गई और पहुँचकर अदृश्य होते हुए भी आपको इसने देख लिया ॥ १७ ॥

हे मुने, वर्णित रीतिसे जीवचितिकी शक्तिरूप अविद्या ऐन्द्रजालिक मायाके सदृश चारों ओर फैली हुई है और ब्राह्मी मायाशक्ति, जो आदि एवं अन्तसे शून्य है, इसी प्रकार चारों ओर फैली हुई है, वह विद्यारूप है, क्योंकि उसमें आवरणशक्ति न रहनेके कारण वह निरामय है ॥ १८ ॥

हे मुनिवर, यहाँ कोई भी कार्य कभी न तो उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं, केवल चिति ही द्रव्य-सी, काल-सी एवं क्रिया-सी प्रकाशित होकर तपती है ॥ १९ ॥

भद्र, ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन, बुद्धि आदि हैं, वे सबके-सब केवल चितिरूपी शिलाकी प्रतिकृतियाँ हैं, अतः उनका न उदय है और न अस्त ही है, यह आप जानिये ॥ २० ॥

शिलाकी आकृति धारण कर रही यह चिति ही स्थित है, इसी चितिके समस्त जगत् ऐसे अङ्ग हैं, जैसे वायुके स्पन्दन ॥ २१ ॥

चितिका यह जो उलटा ज्ञान होता है, उसमें चितिस्वभावका परिज्ञान न होना ही कारण है, यह कहते हैं—'विज्ञान०' इत्यादिसे ।

चिच्छिलेयमनाद्यन्ता साद्यन्तास्तीति बोधतः ।
साकारापि निराकारा जगदङ्गेति संस्थिता ॥ २३ ॥
यद्वत्स्वप्ने चिदेव स्वं रूपं व्योमैव पत्तनम् ।
वेत्ति तद्वदिदं वेत्ति पाषाणं जगदङ्गकम् ॥ २४ ॥
न सरन्तीह सरितो न चक्रं परिवर्तते ।
नार्थाः परिणमन्त्यन्तः कचत्येतच्चिदम्बरम् ॥ २५ ॥
न महाकल्पकल्पान्तसंविदः संविदम्बरे ।
सम्भवन्ति पृथग्रूपाः पयसीव पयोन्तरम् ॥ २६ ॥
जगन्ति सन्त्येव न सन्ति शान्ते
चिदम्बरे सर्वगतैकमूर्तौ ।

विज्ञानघन आत्माको जगत् समझना चितिका ही कार्य है। स्वयं अनादि एवं अनन्त होती हुई भी असली चित्स्वभावके अपरिज्ञानसे देश-वस्तुसे जनित परिच्छिन्न भावको भी प्राप्त चिति ही हो जाती है ॥ २२ ॥

यह जो चितिरूपा शिला है, वह वास्तवमें आदि-अन्तसे रहित होती हुई भी भ्रमसे आदि-अन्तसे युक्त बन जाती है और निराकार होती हुई भी साकार होकर जगत्-रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है ॥ २३ ॥

जैसे स्वप्नमें चिति अपने ही आकाशवत् निर्मल स्वरूपको नगररूप समझ लेती है, वैसे ही इस जाग्रत्-कालमें भी चिति पाषाणको अपना जगत्-रूप अङ्ग समझ लेती है ॥ २४ ॥

जागरणमें भी स्वप्नके तुल्य बाधकी समानता दिखलाते हैं—'न सरन्ति' इत्यादिसे ।

भद्र, यहाँ न नदियाँ बहती हैं, न नक्षत्रचक्र घूमता है, न अर्थोंका परिणाम हो रहा है, किन्तु अपने भीतर केवल चितिरूप आकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ २५ ॥

जैसे जलमें विद्यमान दूसरा जल यानी समुद्रमें विद्यमान तरङ्ग आदि पृथक् स्वरूपका नहीं होता, वैसे ही संविदाकाशमें प्रतीत महाकल्प और कल्पके अन्तकी संवित् भी पृथक् स्वरूपकी नहीं हो सकती ॥ २६ ॥

ऐसी परिस्थितिमें अध्यारोपदृष्टिसे देखनेपर अनन्त जगत् सदा सर्वत्र

नभोन्तराणीव महानभोन्त-
श्चित् सन्ति सत्तानि पराम्बराणि ॥ २७ ॥
वसिष्ठ तद्गच्छ मुने जगत्स्वं
त्वं चासने सम्प्रति शान्तिमेहि ।
बुद्ध्यादिरूपाणि परं व्रजन्तु
वयं बृहद् ब्रह्मपदं प्रयामः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिलान्तर्जगत्पितामह-वाक्यानि नाम सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

चितिसत्तासे विद्यमान हैं, थोड़ा-सा भी इनका अपलाप नहीं किया जा सकता और अपवाददृष्टिसे देखनेपर तो चितिके स्वरूपसे भिन्न कोई वस्तु कहींपर भी समर्थित नहीं हो सकती, यह बात हुई, यह कहते हैं—'जगन्ति' इत्यादिसे ।

जैसे महाकाशके भीतर दूसरे दूसरे घटादि आकाश महाकाशकी सत्तासे विद्यमान हैं और स्वतः अलग विद्यमान नहीं हैं, वैसे ही ये जगत् स्वतः शून्यरूप होते हुए भी चितिकी सत्तासे विद्यमान हैं और अपनी सत्तासे अविद्यमान भी हैं ॥ २७ ॥

हे वसिष्ठमुने, अब आप अपने भुवनमें चले जाइए, और वहाँ एकान्तमें कल्पित अपने पूर्वके आसनपर समाधि लगाकर विक्षेप-रहित सुखका अनुभव कीजिये, ये मेरे कल्पित बुद्धि आदि जगत्के पदार्थ भी प्रलय प्राप्त कर परम अव्यक्तकी ओर चले जायँ । हम लोग भी हिरण्यगर्भकी उपाधिभूत मूल अज्ञानका बाधकर कैवल्यपदमें जा रहे हैं ॥ २८ ॥

सत्तरवाँ सर्ग समाप्त

एकसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मलोकजनैः सह ।
बद्धपद्मासनोऽनन्तसमाधानगतोऽभवत् ॥ १ ॥
ओङ्कारार्धोर्धमात्रान्तः शान्तनिःशेषमानसः ।
लिपिकर्मार्पिताकार आसीदाशान्तवेदनः ॥ २ ॥
तमेवानुसरन्ती सा तथैव ध्यानगा सती ।
वासनाऽऽसीदशेषांशा शान्ता चाकाशरूपिणी ॥ ३ ॥
परमेष्ठिन्यसङ्कल्पे तस्मिंस्तानवमेयुषि ।
सर्वगानन्तचिद्व्योमरूपोऽपश्यामहं यदा ॥ ४ ॥

एकहत्तरवाँ सर्ग

[कल्पनाके कारणभूत ब्रह्माजीके सङ्कल्पका ज्यों-ज्यों विनाश होता गया, त्यों-त्यों उनके कल्पित समस्त पदार्थोंका प्रलय भी हो गया—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र, ऐसा मुझसे कहकर भगवान् ब्रह्माजी, ब्रह्मलोकमें रहनेवाले समस्त जनोंके साथ, पहले पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें तत्पर हो गये ॥ १ ॥

भद्र, ओंकारकी उत्तरार्धभूत जो आधी मात्रा है, उसमें विद्यमान नाद, बिन्दु आदि भागोंमें क्रमशः उन्होंने अपने चित्तका लय किया, इससे उनकी जितनी वासनाएँ थीं, वे सब विलीन हो गईं, जब कि उनकी समस्त वासनाएँ विनष्ट हो गईं, तब वे ऐसे मालूम पड़ने लगे, जैसे चित्रमें उनका आकार चित्रित किया गया हो यानी उस समय उनके आकारमें तनिक भी चञ्चलता नहीं थी ॥२॥

वह विद्याधरी भी ब्रह्माजीका अनुसरणकर ध्यानमग्न हो गई और फिर स्मरणहेतु समस्त बीजभूत संस्कारोंसे रहित होकर शान्तस्वभाव हो आकाशरूपिणी हो गई ॥ ३ ॥

यह उनका भीतरी रहस्य आपने कैसे जाना, इस प्रश्नपर कहते हैं—'परमेष्ठि०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप अर्थोंके साथ प्रणवकी मात्राओंके विलय-

यावत्सङ्कल्पनं तस्य विरसीभवति क्षणात् ।
तथैवाऽऽशु तथैवोर्व्याः साद्रिद्वीपपयोनिधेः ॥ ५ ॥
तृणगुल्मलताशालिसमुद्भवनशक्तता ।
समस्तैवास्तमागन्तुमारब्धा च शनैः शनैः ॥ ६ ॥
किल तस्य विराडात्मरूपस्याङ्गैकदेशताम् ।
सा बिभर्ति मही तेन तदसंवेदनोदयात् ॥ ७ ॥
विचेतना सा विरसा बभूव परिजर्जरा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव जराविधुरतां गता ॥ ८ ॥
यथाऽस्माकमसंविचेरङ्गाली विरसा भवेत् ।
तथा विरिञ्चिसंवित्तेर्धरा वैधुर्यमागता ॥ ९ ॥

क्रमसे वासना-सङ्कल्पशून्य होकर जब ब्रह्माजी उत्तरोत्तर सूक्ष्मभावको प्राप्त होने लगे, तब मैं भी समाधिसे सर्वत्रव्यापक असीम चिदाकाशरूप बन गया और ब्रह्माजीकी उस तरहकी स्थिति साक्षात् देखने लगा ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीका सङ्कल्प धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उस क्षणसे लेकर नीरस होता गया, त्यों-त्यों तत्क्षणमें ही पर्वत, द्वीप एवं समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता, धान आदिकी उत्पादन-सामर्थ्य एवं सभी जल आदिकी अपनी अपनी सामर्थ्य विनाशकी ओर जाने लगी ॥ ५, ६ ॥

समस्त शरीरमें जिसको वेदना है, ऐसे मरणासन्न विद्वान्‌को सङ्कल्पके उपसंहारमें जैसे अङ्गोंमें नीरसता हो जाती है, वैसे ही विराट् पुरुषके सङ्कल्पके उपसंहारमें भी विराट्-शरीरके अवयव पृथ्वी आदिमें भी नीरसता हो जाती है, यह जानना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'किल' इत्यादि ।

पृथ्वी विराट् आत्माके स्वरूपकी एकदेशता ही धारण करती है, यानी पृथ्वी विराट् आत्माकी अङ्ग है, इसलिए जब विराट् आत्माके संवेदनका उपसंहार हो गया, तब पृथ्वी अचेतन तथा नीरस होकर चारों ओरसे ऐसे जर्जर हो गई, जैसे मार्गशीर्षके अन्तमें बल्ली जरासे अविधुर-भावको—जर्जरभावको प्राप्त होती है ॥ ७, ८ ॥

आशयस्थ दृष्टान्तको प्रकट करते हैं—'यथा०' इत्यादिसे ।

जैसे हम लोगोंके अङ्ग संवेदनाके उपसंहारमें नीरस हो जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माजीकी अङ्गभूत पृथ्वी संवेदनके उपसंहारमें नीरस हो गई ॥ ९ ॥

सम्पन्ना संहतानेकमहोत्पातभरावृता ।
दुष्कृताङ्गारनिर्दग्धनरकोन्मुखमानवा ॥ १० ॥
दुर्भिक्षाकाण्डदौस्थित्यदैन्यदारिद्र्यदुर्भगा ।
दुःशीलाशेषवनिता निर्मर्यादनरावृता ॥ ११ ॥
पांसुप्रमन्दनीहारधूलिधूसरसूर्यका ।
द्वन्द्विमूर्खमहादुःखिव्यसनिव्याधिताकुला ॥ १२ ॥
अग्निदाहजलापूरयुद्धप्रोच्छिन्नमण्डला ।
अवृष्ट्यवग्रहोन्नष्टकष्टचेष्टितपामरा ॥ १३ ॥
अशङ्कितमहोत्पातपतत्पर्वतपत्तना ।
शिशुश्रोत्रियमुन्यार्यगुणिनाशरुदज्जना ॥ १४ ॥
अशङ्कितस्थलीमध्यसञ्जाताऽगाधकूपका ।
वर्णसङ्करनारीणामासक्तजनभूमिपा ॥ १५ ॥

किस किस प्रकारसे पृथ्वी जर्जर हुई, इसे बतलाते हैं—'सम्पन्ना०' इत्यादिसे ।

पहले तो वह पृथ्वी एक साथ अनेक बड़े-बड़े उत्पातोंके भारसे आक्रान्त हो गई, फिर उसमें पापरूपी अङ्गारोंसे परितप्त नरकोंकी ओर प्रवृत्तिशील मनुष्य होने लगे ॥ १० ॥

अकालके अकाण्डताण्डव, राजाओं एवं चोरोंके उपद्रवोंसे जनित दीनता तथा दरिद्रतासे उसका सारा वैभव मिट्टीमें मिल गया। उसमें समस्त स्त्रियां अपने सतीत्वसे भ्रष्ट हो गई और मनुष्योंकी सारी मर्यादा नष्ट हो गई ॥११॥

उस समय उस पृथ्वीमें पांसुके सदृश मन्द नीहार एवं धूलिसे सूर्य भी धुँधला हो गया। शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका निराकरण करनेमें महामूर्ख अतएव महादुःखी, व्यसनी एवं व्याधियोंसे पीड़ित जनोंसे वह आक्रान्त हो गई ॥ १२ ॥

उसमें अग्निदाह, जलके पूर एवं युद्धोंसे मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न हो गये। तथा वह अतिवृष्टि एवं अनावृष्टिसे कष्टपूर्वक जीवनयापनके व्यापारोंसे पामर हुए मनुष्योंसे भर गई ॥ १३ ॥

अशङ्कित महान् उत्पातोंसे उस समय वहां पर्वत, नगर अपने-आप गिरने लगे, बच्चोंके, श्रोत्रिय ब्राह्मणोंके, मुनियोंके, आर्योंके एवं गुणीजनोंके विनाशसे लोग रुदन करने लगे ॥ १४ ॥

जलकी दुर्लभताके कारण स्थलियोंके बीचमें निःशङ्क वहां जहां तहां अगाध

अट्टशूलाखिलजना शिवशूलचतुष्पथा ।
केशैकशूलवनिता पात्रशूलजनेश्वरा ॥ १६ ॥
दुःखशूलसमाचारा द्वन्द्वशूलाखिलप्रजा ।
अधर्मशूलवनिता पानशूलजनेश्वरा ॥ १७ ॥
अधर्मशूलवलिता कुशास्त्रशतशूलिनी ।
दुर्जनाखिलवित्ताढ्या विपद्विहतसज्जना ॥ १८ ॥
अनार्यवसुधापाला तदनादृतपण्डिता ।
लोभमोहभयद्वेषरागरोगरजोरता ॥ १९ ॥

कूप लोगोंने खन दिये थे। वर्णसंकरोंके निमित्त नारियोंमें वहां साधारणजन, एवं राजा आदि सब गोत्रादिका विचार किये बिना ही विवाहमें आसक्त होने लग गये ॥ १५ ॥

भद्र, उस समय वहाँ सम्पूर्ण मनुष्य धान आदिके क्रय-विक्रय आदि व्यवहारसे ही अपना निर्वाह करने लग गये, चौमुहानियोंपर शुल्क ही जीवन-साधन बन गया, स्त्रियोंका जीवन-साधन केश (जननेन्द्रिय) ही हो गये, और कर ही राजाओंका उपजीव्य (जीवन-साधन) बन गया अथवा अपने अपने वर्ण और आश्रमके उचित व्यवहारोंका अतिक्रमण ही सभी मनुष्योंका व्यसन बन गया चौराहोंपर शृगाल ही क्रन्दन करने लगे, स्त्रियोंका केशविन्यास ही व्यसन बन गया, समस्त राजे वेश्या, नर्तकी आदिमें ही अपना समय निकालने लगे ॥ १६ ॥

जनोंके आचरण दुःखरूप शूलरोगसे आक्रान्त हो गये, समस्त प्रजा शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे आक्रान्त हो गई, अधर्मरूप शूलरोगवाली स्त्रियां बन गई और राजवर्ग मद्य आदिके पानमें ही नरत हो गया ॥ १७ ॥

सारी पृथ्वी अधर्मरूपी शूलरोगसे ग्रस्त जनोंसे चारों ओर व्याप्त तथा सैकड़ों कुशास्त्रोंसे यानी वेदबाह्य विचारोंसे रोगपीड़ित होकर क्रन्दन करने लग गई। उस समय वहां चोर आदि दुर्जन ही धनोंसे पूर्ण हो गये और सज्जन अनेकविध विपत्तियोंसे घिर गये ॥ १८ ॥

उस समय अनार्य ही समस्त पृथ्वीके रक्षक बन गये, पण्डितगण अनार्यों द्वारा विताडित होने लगे, सारी भूमिमें लोभ, मोह, भय, द्वेष, राग और रोगरूप धूलि उड़ने लगी ॥ १९ ॥

अप्यन्यगामिपुरुषा रुषाभिहतसद्द्विजा ।
अनारतपराक्रन्दपरापर्यन्तपामरा ॥ २० ॥
दस्यूत्सन्नपुरग्रामदेवद्विजसमाश्रया ।
आपातमधुरारम्भदुःखदोदरभङ्गुरा ॥ २१ ॥
आलस्योल्लासविलसत्कार्यवैधुर्यधर्मिणी ।
सर्वापदुपतापान्ता क्रमेणोत्सन्नदिग्गणा ॥ २२ ॥
भस्मशेषपुरग्रामा निर्जनाखिलमण्डला ।
रोरूयमाणभस्माभ्रकुण्डलोड्डामराम्बरा ॥ २३ ॥
दुर्भगाडम्बरारम्भरोदनोरुरवोदरी ।
मुष्टिप्रमाणजनता जनतापानुषङ्गिणी ॥ २४ ॥

श्रीरामजी, क्या कहा जाय, सारी पृथ्वी परधर्ममें प्रवृत्त पुरुषोंसे व्याप्त हो गई, उसमें धर्मोपदेशक ब्राह्मण क्रोधसे आक्रान्त हो गये और निरन्तर दूसरोंको दुःख देनेमें (रुलानेमें) तत्पर असीम दुष्टजनोंका उत्थान हो गया अर्थात् उस समय पृथ्वीमें सभी पुरुष अपना अपना धर्म-कर्म छोड़कर दूसरोंके धर्म-कर्मोंमें प्रवृत्त हो गये, स्वधर्मका उपदेश देनेवाले सज्जन पुरुष क्रोधसे आक्रान्त हो गये तथा साधारण पामर पुरुष निरन्तर दूसरोंको रुलानेमें ही तत्पर हो गये ॥ २० ॥

नगर, गांव तथा देवता और ब्राह्मणोंके मन्दिरोंको दस्युओंने छिन्न-भिन्न कर दिया एवं अन्यायोपार्जित धनसे अपना कुटुम्बपोषण करनेमें आपाततः मधुर और परिणाममें (परलोकमें) दुःखद उदरवाले अल्पायु पुरुष दिखलाई पड़ने लग गये ॥ २१ ॥

आलस्यदोषसे सब धार्मिक पुरुषोंने अपना-अपना नियमित सन्ध्यावन्दन आदि कार्य छोड़ दिया । परिणाममें सब अनेकविध आपदाओं एवं रोगोंसे घिर गये तथा क्रमसे दिशाओंके मण्डलके मण्डल छिन्न-भिन्न होने लग गये ॥ २२ ॥

नगर और गांव केवल भस्मावशेष रह गये, सम्पूर्ण मण्डल (जिले) उजड़ गये और शब्द करनेवाले भस्म एवं मेघोंके ववण्डरोंसे आकाशमें भयङ्कर हलचल पैदा हो गई ॥ २३ ॥

सारी पृथिवीका पेट अभागी प्रजाओंके बड़े-बड़े समारोह एवं रोनेके शब्दसे

नीरसाशेषदेशान्ता सर्वर्तुगुणवर्जिता ।
इत्यस्य पार्थिवे धातौ ब्रह्मणो गतवेदने ॥ २५ ॥
पृथिवी पृथुवैधुर्या सम्पन्नाऽऽसन्ननाशतः ।
अथ तत्संविदुन्मुक्तो जलधातुः क्षयोन्मुखः ॥ २६ ॥
यदा विक्षुभितात्मासीत्तदा नियतिलङ्घनात् ।
समुत्सार्यार्यमर्यादामर्णवा विवृतार्णसः ॥ २७ ॥
प्रवृत्ता विकृतिं गन्तुमुन्मत्ता इव राविणः ।
वीचिविक्षोभविन्यासैर्वेलाविपिनलावकाः ॥ २८ ॥
कल्लोलवलनावर्तविवर्तोद्वर्तिताश्रयाः ।
महाभ्रभ्रमदुत्तुङ्गतरङ्गाचनभोदिशः ॥ २९ ॥

युक्त बन गया, सारी जनता चोरी करनेमें प्रवीण बन गई तथा सभी मनुष्योंको प्रतिक्षण सन्तापोंका ही सामना होने लगा ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय पृथ्वीमें ऋतुओंने अपना-अपना गुण-स्वभाव छोड़ दिया और उसके सभी प्रदेशोंकी सीमाएँ नीरस हो गयीं। इस तरह ब्रह्माजीके विराट् शरीरको बनानेवाला पार्थिव भाग जब चैतन्यमें मिल गया, तब पृथ्वीकी विशालता समीपवर्ती प्रलयके कारण विलीन हो गई, तदनन्तर चेतनरूप संविद्से निर्मुक्त जल भी विनाशकी ओर उन्मुख हो गया ॥ २५, २६ ॥

जब जलधातुका स्वरूप कुपित हो गया, तब उसने भी अपना नियम तोड़ दिया और नियम तोड़नेके कारण समुद्र अपनी प्राचीन आर्यमर्यादाको तिलाञ्जलि देकर अन्धाधुंध विस्तृत जलसे लबालब भर गये ॥ २७ ॥

फिर उन्मत्तोंके सदृश शब्द कर रहे समुद्र विकृतभाव धारण करने लग गये और अपनी बड़ी-बड़ी तरङ्गोंके नाना प्रकारके विक्षोभोंसे तटस्थ जङ्गलोंका उच्छेद करने लग गये ॥ २८ ॥

समुद्रोंमें बड़ी-बड़ी अतर्कित तरङ्गें उठने लग गयीं, मत्त और भयङ्कर महान् आवर्त भी होने लगे—इससे उसमें रहनेवाले जलचरोंमें हलचल पैदा हो गई। सारे आकाशमण्डल एवं दसों दिशाएँ ऊँचे-ऊँचे घूम रहे जलतरङ्गरूप वर्तुलाकार महामेघोंसे व्याप्त हो गई ॥ २९ ॥

बृहद्गुलुगुलावर्तगर्जनोद्द्रवकन्दराः ।
सीकरौघमहारम्भघनसंवलिताचलाः ॥ ३० ॥
चलच्चलचलद्वीरमकराघूर्णितान्तराः ।
उल्लसन्मकराक्रान्तद्रुमकाननितोदराः ॥ ३१ ॥
दरीविदारणभ्रष्टसिंहाहतजलेचराः ।
ऊर्म्युदस्तमहारत्नभरतारकिताम्बराः ॥ ३२ ॥
उत्फालमकरच्छन्नखेचरबृहद्घनाः ।
परस्परोर्मिसंघट्टभाङ्कारकटुटाङ्कृताः ॥ ३३ ॥
तरत्तरलमातङ्गफूत्काराधौतभास्कराः ।
अन्योन्यवेल्लनव्यग्रप्रविदीर्णाद्रिभित्तयः ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े गुडगुड शब्द करनेवाले आवर्तों द्वारा किये गये महान् गर्जनसे उनकी पर्वत-कन्दराएँ भयङ्कर शब्द करने लगीं और जलकणोंको (जलधाराको) बरसानेवाले महामघोंसे पर्वत भी डूबने लग गये ॥ ३० ॥

सभी समुद्रोंका भीतरी भाग अपना-अपना उत्तम वेग बतलाकर दूसरोंपर विजय पानेके निमित्त आगे-आगे दौड़ रहे वीर मगरोंसे घूर्णित (विक्षुब्ध) हो गया तथा उल्लासी मगरोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंसे महारण्य-सा बना दिया गया ॥ ३१ ॥

गुफाओंको तोड़-फोड़ देनेके कारण उनमेंसे सिंह निकल भागे और भागकर उन्होंने समुद्रमें स्थित जलचरोंको हत-आहत कर दिया तथा अपनी तरङ्गों द्वारा फेंके गये महारत्नसमूहोंसे समुद्रोंने आकाशमण्डलको तारोंसे युक्त बना दिया ॥ ३२ ॥

समुद्रोंसे उछले हुए मगरोंने आकाशगामी जीवों और बड़े-बड़े मेघमण्डलोंको आच्छादित कर दिया और तरङ्गोंके परस्पर आघातोंसे समुद्रोंमें कठोर भाङ्कार शब्द होने लगा ॥ ३३ ॥

ऊँचे हाथियोंके सदृश तथा अतिचपल मगरोंके फूत्कारसे सूर्यका मण्डल भी धुल जाने लगा और परस्पर कुटिल गतिकी व्यग्रतासे समुद्रतरङ्गोंने बड़ी-बड़ी पर्वत-भित्तियोंको भी तोड़-फोड़ दिया ॥ ३४ ॥

तटपर्वतलुण्टाकतरङ्गकरमण्डलाः ।
गर्जद्गिरिदरीगेहविशदुन्मत्तवारयः ॥ ३५ ॥
भूपाः परपुराक्रान्ता लग्ना इव हतारयः ।
ताराखरणद्गेहविद्रावितनमश्चराः ॥ ३६ ॥
प्रलुण्ठितवनव्यूहलूनकाननिताम्बराः ।
सपक्षपर्वताकारतरङ्गापूरिताम्बराः ॥ ३७ ॥
महारवमरुच्छिन्नकल्लोलाचलचालिताः ।
चञ्चत्तीरगिरिव्रातपतत्तटरटज्जलाः ॥ ३८ ॥
उल्लसद्विपुलावर्तप्रोत्क्षिप्तमकरोत्कराः ।
विमज्जन्निस्तलावर्तनिगीर्णगिरिकन्दराः ॥ ३९ ॥

समुद्रोंने अपनी विशाल तरङ्गोंसे तीरस्थ पर्वतोंको चूर्णित कर दिया, गर्जना करते हुए पर्वतोंके गुफारूपी घरोंपर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया तथा उनका जल उन्मत्त-सा बन गया ॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण समुद्रोंकी गतियाँ कुछ विचित्र ही हो गईं, वे शत्रुओंके नगरोंपर आक्रमण करनेवाले नष्टशत्रु राजाओंके सदृश मालूम पड़ने लग गये, क्योंकि इन्होंने भी अपनी उन्नत तरङ्गोंसे विरोधी दवाग्निको आहतकर ऊँचे स्वरसे अपने-अपने घरोंसे देवताओंको भगा दिया और उनके नगरोंपर मानो अपना अधिकार कर लिया ॥ ३६ ॥

पहले तो इन्होंने वनसमूहोंको उखाड़ फेंका, फिर उनको ऊपर उठाया, इससे आकाशमण्डल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो उसका जङ्गल काट दिया गया हो । तथा उसे पंखयुक्त पर्वतमालाओंके सदृश अपनी तरङ्गमालाओंसे ठसाठस भर दिया ॥ ३७ ॥

भयङ्कर शब्द करनेवाले प्रचण्ड वायुओंने तरङ्गोंको विभक्त कर देनेके कारण पर्वतोंके सदृश समस्त समुद्रोंको विचलित कर दिया था तथा रत्नोंके प्रकाशसे चमकीले तीरस्थ पर्वतोंके गिरनेके कारण गिर रहे तटोंसे उनका जल भीषण ध्वनि कर रहा था ॥ ३८ ॥

उल्लासयुक्त अनेक बड़े-बड़े आवर्तोंके द्वारा समुद्र मगर आदि जलचरोंको ऊपरकी ओर फेंक रहे थे तथा अगाध आवर्तोंसे अनेक पर्वत और उनकी गुफाओंको अपने उदरमें निगल जा रहे थे ॥ ३९ ॥

दरीदलनसंप्राप्तदृषद्दशनदन्तुराः ।
शृङ्गलम्बिदरिप्रान्तमग्नवीचिजलेभकाः ॥ ४० ॥
व्यालोलवलनाक्रान्तविटपिप्रोतकच्छपाः ।
यमेन्द्रवसुधावाहैरुत्कर्णैर्भयविह्वलैः ॥ ४१ ॥
श्रूयमाणपतच्छैलतटीकटकटारवाः ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमग्नोन्मग्नद्रुताद्रयः ॥ ४२ ॥
लीलालूनवनव्यूहशीतलासारवारयः ।
प्रज्वलद्वडवावह्निज्वालावलिमिलज्जलाः ॥ ४३ ॥
सरसेन विभोर्नाशैर्विशङ्कितमहानलाः ।
मिलच्छिखरिमालाग्रजलमातङ्गयोधिनः ॥ ४४ ॥

समुद्रोंने बड़ी-बड़ी गुफाओंका विदलन कर दिया था, इससे उनमेंसे निकले हुए स्फटिक आदि पत्थरोंके दाँतोंसे वे दन्तुर यानी हँसते हुए-से प्रतीत हो रहे थे और शिखरोंके ऊपर विद्यमान लम्बी-लम्बी गुफाओंके प्रान्तोंमें समुद्रोंके तरङ्ग और जलचर प्राणी घुस गये थे ॥ ४० ॥

चञ्चल वर्तुलाकार तरङ्गोंके द्वारा आक्रान्त वृक्षोंके ऊपर शाखाओंमें समुद्रोंके कछुएँ एक तरहसे गूँथ-से गये थे तथा इन्होंने यम, इन्द्र और पृथ्वीके वाहन महिष, ऐरावत एवं दिग्गजोंको भयविह्वल बनाकर उनका कान खड़ा कर दिया था यानी उनको भी चकित कर दिया था ॥ ४१ ॥

उस समय उनमें गिर रहे पर्वततटोंके कटकट शब्द सुनाई पड़ने लगे। तथा उनमें बड़े-बड़े मत्स्योंके पुच्छोंकी छाटसे ही छिन्न-भिन्न होकर पर्वत शीघ्र नीचे-ऊपर डूबने-उतराने लगे ॥ ४२ ॥

लीलासे काटे गये अरण्यसमूहोंमें समुद्रोंकी कहीं तो शीतल जलधाराएँ बहने लगीं और कहीं जल रही बड़वाग्निकी ज्वालापंक्तियोंसे मिश्रित होकर अत्यन्त ही गरम बहने लगीं ॥ ४३ ॥

भद्र, सभी समुद्रोंमें एक अजीब-सा दृश्य उपस्थित हो गया, समुद्रजलसे अपने आश्रयभूत इन्धनोंके विनाशकी आशङ्कासे महानल (बड़ावाग्नि) भयग्रस्त होकर छिप जाने लगे और पर्वतमालाओंके ऊपर जलमातङ्ग स्थलमातङ्गोंके साथ भिड़कर युद्ध करनेमें व्यस्त हो गये ॥ ४४ ॥

नृत्यन्तीव तरङ्गौघैर्जलावलनवेधिनः ।
जलाचलाचलान्योन्यसंघट्टस्फोटपण्डिताः ॥ ४५ ॥
बृहद्गिरिवनव्रातप्राणिमण्डलमण्डिताः ।
उद्दामरवनेभेन्द्रभेरीवादनभासुरैः ॥ ४६ ॥
असुरैरिव पातालं कल्लोलैरलमाकुलाः ।
अथोदपतदुन्नासदिङ्नागवदनध्वनिः ॥ ४७ ॥
पातालतलताल्वन्तविस्फोटामोटनोद्भटः ।
चञ्चलाचलकीलोर्वी चचाल क्षणचालिता ।
लोला शैवालवल्लीव व्यालोलाम्भोधिलङ्घिता ॥ ४८ ॥
अथ दुर्वारनिर्घोषनिर्वाताडम्बरान्विता ।
प्रस्फोटेव पतन्ती द्यौर्दिशां प्रतिरवारवैः ॥ ४९ ॥

अपने जलोंके द्वारा पर्वतोंको एक-दूसरे पर्वतोंके साथ टकरा देनेमें समुद्र बड़े ही कुशल हो गये और इस तरहकी कुशलता प्राप्तकर जालोंके नानाविध घुमावके द्वारा वे मानों नृत्य कर रहे थे, ऐसी प्रतीति हो रही थी ॥ ४५ ॥

समुद्रोंमें कोई अनोखी ही शोभा उस समय मालूम होने लगी थी, उनमें बड़े-बड़े पर्वत, वनोंके समूह तथा अनेक प्राणी डूब रहे थे, यानी इन सबका समुद्रोंमें जमघट हो जानेसे कुछ अपूर्व ही शोभा मालूम पड़ रही थी तथा उड़ रहे उत्तम मृत हाथियोंके फूले हुए शरीररूपी नगारे समुद्र अपनी तरङ्गोंसे बजा रहे थे ॥ ४६ ॥

असुरोंसे पातालोंके सदृश सारे समुद्र प्रलयकारी तरङ्गोंसे व्याकुल हो उठे—यों सागरोंके विक्षोभके अनन्तर उन समुद्रोंमें तैर रहे मृतक दिग्गजोंकी सूँड़के आगेके भागसे एक विलक्षण ध्वनि सुनाई पड़ने लगी ॥ ४७ ॥

वह ध्वनि विलक्षण थी, पतालतलरूप तालुके भीतर विदारण हो जानेसे वह ध्वनि मिलकर जोर पकड़ रही थी यानी घन थी, फिर पृथ्वीको बराबर जकड़ रखनेके लिए स्थापित हुए महापर्वत आदि कीले हिल गये और एक क्षणमें अपने स्थानसे च्युत हो गई। अनन्तर क्षणभरमें चञ्चल समुद्रतरङ्गोंसे हिलायी गई वह पृथ्वी ऐसे प्रतीत होने लगी, जैसे चञ्चल शवालकी लता हो ॥ ४८ ॥

इसके बाद प्रलयकारी मेघोंके शब्दोंसे विलक्षण आडम्बरोंसे युक्त होकर

आवर्तवलनाकाराः केतवः पेतुरम्बरात् ।
हेमरत्नमया मुक्ताः सिन्दूरभुजगा इव ॥ ५० ॥
ककुब्भ्यो नभसो भूमेरुदगुर्दग्धदिक्तटाः ।
चलज्वालाजटाटोपा विविधोत्पातपङ्क्तयः ॥ ५१ ॥
पृथ्व्यादीन्यसुरादीनि ब्रह्मोन्मुक्तानि सर्वतः ।
द्विविधानि महाभूतान्यलं सङ्क्षोभमाययुः ॥ ५२ ॥
चन्द्रार्कानिलशक्राग्नियमाः कोलाहलाकुलाः ।
परिपातपरा आसन् ब्रह्मलोकगतेश्वराः ॥ ५३ ॥
कम्पैः कटकटारावपतत्पादपपङ्क्तयः ।
भूमेरन्वभवन् भूरिदोलान्दोलनमद्रयः ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्ष मानो गिरने लगा और दिशाओंको प्रतिध्वनिके शब्दोंसे तोड़ने-फोड़ने लगा ॥ ४९ ॥

आकाशमण्डलसे आवर्तोंकी गोलाईके सदृश वर्तुलाकार उत्पातजनक धूमकेतु गिरने लगे, उनका वर्ण सुवर्ण, रत्न, मोती एवं सिन्दूर वर्णके साँपोंके सदृश था ॥ ५० ॥

दिशातटोंको दग्ध कर देनेवाली तथा चंचल ज्वालारूप जटाओंके आरोपसे युक्त अनेक प्रकारकी उत्पातोंकी पंक्तियां दिशाओंसे, आकाशसे एवं पृथ्वीसे आने लगीं ॥ ५१ ॥

भद्र, मैंने पहले जिन ब्रह्माजीका वर्णन किया है, उन्होंने जब अपना विधारणसङ्कल्प उपसंहृत किया, तब उपेक्षित असुर आदि एवं पृथ्वी आदि दोनों तरहके भी महाभूत सब ओर विक्षुब्ध हो उठे ॥ ५२ ॥

चन्द्र, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि एवं यम—ये सब बड़े कोलाहलसे ग्रस्त हो गये, उनका अधिकारप्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया, वे अपने-अपने स्थानसे च्युत होने लग गये ॥ ५३ ॥

भू-कम्पनोंसे कटकट शब्दके साथ वृक्षोंके समूह गिरने लगे और अनेक तरहके झूलोंके सदृश आन्दोलनकी गतियां पर्वतोंको अनुभूत होने लगीं ॥ ५४ ॥

भूकम्पलोलकैलासमेरुमन्दरकन्दराः ।
पेतुः कल्पतरून्मुक्ता रक्तस्तबकवृष्टयः ॥ ५५ ॥

लोकान्तराद्रिपुरवारिधिकाननान्त-
मुत्पातकल्पपवनेन मिथो हतानाम् ।
कोलाहलैर्जगदभूत्प्रविकीर्णशीर्णं
पूर्णार्णवे त्रिपुरपूर इवाऽभिपाती ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने कल्पक्षोभवर्णनं नाम एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

भूकम्पके कारण कैलास, सुमेरु और मन्दरकी कन्दराओंमें भारी चञ्चलता पैदा हो गई और कल्पतरु वृक्षसे रक्तरूप पुष्पगुच्छोंकी वृष्टि होने लगी ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामजी, लोकान्तर पर्वत, नगर, समुद्र, अरण्य—यह सब जगत् पूर्ण समुद्रमें उत्पातयुक्त कल्पपवनके बहनेसे एक दूसरेसे टक्कर खा रहे मनुष्योंके कोलाहलसे ऐसे शीर्ण-विशीर्ण हो गया, जैसे रुद्रबाणकी अग्निके दाहसे चारों ओरसे गिर रहा त्रिपुरनगर (दैत्यसमूह) छिन्न-भिन्न हो गया था ॥ ५६ ॥

एकहत्तरवां सर्ग समाप्त

द्विसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाकृष्टवति प्राणान् स्वयंभुवि नमोभवः ।
विराडात्मनि तत्याज वातस्कन्धस्थितः स्थितिम् ॥ १ ॥

ते हि तस्य किल प्राणास्तेन क्रान्तेषु तेष्वपि ।
ऋक्षचक्रे स्थितिं कोऽन्यो धत्ते भूतैकधारिणीम् ॥ २ ॥

वातस्कन्धे समाक्रान्ते ब्रह्मणा प्राणमारुते ।
समं गन्तुं परित्यज्य संस्थितिं क्षोभमागते ॥ ३ ॥

निराधाराः सवाताग्निदाहोल्मुकवदापतन् ।
व्योम्नस्तारास्तरोः पुष्पनिकरा इव भूतले ॥ ४ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माजीके प्राणनिरोधसे वायुके क्षयका और प्रसङ्गवश पूछी गई विराट्की स्थितिका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब विराट्स्वरूप ब्रह्माजीने अपनी प्राणवायुओंका निरोध किया, तब वातस्कन्धनामसे स्थित आकाशमें उत्पन्न वायुने अपनी ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेकी मर्यादा छोड़ दी ॥ १ ॥

वे वातस्कन्ध नामसे स्थित वायु ही विराट्रूप ब्रह्माके प्राण हैं, इसलिए जब उनका उन्होंने उपसंहार ही कर लिया, तब उन्हें छोड़कर सूक्ष्म भूतोंको धारण करनेवाली मर्यादाको ग्रहमण्डलमें कौन रख सकता है ॥ २ ॥

इसी हेतुसे ब्रह्माजीने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्धका अपनेमें उपसंहार करना आरम्भ किया, तभी साथ-साथ उपसंहारसे एक बन जानेके लिए पूर्वोक्त मर्यादाका त्यागकर ग्रह आदिमें क्षोभ उत्पन्न हो गया, और क्षोभके कारण—जैसे वायु बहनेके समय अग्निदाह होनेपर अङ्गारे गिरते हैं, वैसे ही—निराधार होकर आकाश-मण्डलसे तारे भूमिपर टूटकर गिरने लग गये, इनकी शोभा वृक्षसे गिरे फूलोंकी-सी प्रतीत हो रही थी ॥ ३,४ ॥

कालपाकचलन्मूला जगत्खण्डफलालयाः ।
प्रशान्तपवनाधारा विमानावलयोऽपतन् ॥ ५ ॥
प्रलयोन्मुखतां याते ब्राह्मे सङ्कल्पनेन्धने ।
सिद्धानां गतयः शेमुरिद्धानामर्चिषामिव ॥ ६ ॥
प्रभ्रमन्त्योऽम्बरे कल्पमारुतस्तनुतूलवत् ।
स्वशक्त्यपचये मूकाः सिद्धसन्ततयोऽपतन् ॥ ७ ॥
सङ्कल्पद्रुमजालानि सेन्द्रादिनगराणि च ।
पेतुर्भूकम्पलोलस्य शिरांस्यमरभूभृतः ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

चिति सङ्कल्पमात्रात्मा विराड् ब्रह्मा जगद्वपुः ।
किमङ्गं यस्य भूलोकः किं स्वर्गः किं रसातलम् ॥ ९ ॥

इस भूखण्डमें जो पुण्यफल कमाया जाता है, उसको भोगनेके लिए स्थान एक विमान है। इन विमानोंका उपभोग करनेमें कारणभूत कर्मरूप मूल काल-विपाकसे कट गया और आधारभूत पवनके शान्त हो जानेसे वे टूटकर आकाशसे गिर जाने लगे ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीका सङ्कल्परूप इन्धन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब दीप्त ज्योतियोंके सदृश सिद्धोंकी गतियां (सिद्धियां) भी शान्त हो गईं ॥ ६ ॥

खेचर आदि सिद्धियां विनाशी एवं तुच्छ हैं, इसको सूचित करते हुए कहते हैं—'प्रभ्रमन्त्यो०' इत्यादिसे ।

जब अपनी शक्तिका विनाश हो गया, तब प्रलयके पवनोंसे छोटे तूलके सदृश आकाशमण्डलमें उड़ती हुईं, शब्दोच्चारणमें भी असमर्थ सिद्धोंकी पंक्तियोंकी पंक्तियां आकाशसे गिरने लगीं ॥ ७ ॥

कल्पवृक्षोंके समूह, इन्द्र आदिके साथ उनके नगर और भूकम्पसे चञ्चल हुए सुमेरु पर्वतके शिखर गिरने लगे ॥ ८ ॥

ब्रह्माजीकी स्थूल देह तो ब्रह्माण्डरूप विराट् है, इस विराट् शरीरके भीतर सत्यलोकनिवासी चतुर्मुखदेह तो उस विराट्के मनसे कल्पित एक प्रातिभासिक रूप है, यह चार मुखवाली देह ब्रह्माजीकी स्थूल देह नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसा माननेपर तो उसकी स्थिति विराट्देहके भीतर हो नहीं

कथमेतानि चाङ्गानि ब्रह्मंस्तस्य स्थितानि च ।
कथं वा सोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः ॥ १० ॥

ब्रह्मा सङ्कल्पमात्रात्मा निराकृतिरिदं स्थितम् ।
जगदित्येव जातो मे निश्चयः कथयेतरत् ॥ ११ ॥

वसिष्ठ उवाच

आदौ तावदिदं नासन्न सदास्ते निरामयम् ।
चिन्मात्रपरमाकाशमाशाकोशैकपूरकम् ॥ १२ ॥

सकती, आजतक किसीकी भी स्थूल देहमें दूसरी स्थूल देह देखी या सुनी नहीं गई है। इस स्थितिमें प्रातिभासिक मानसिक चतुर्मुख देहमें, जो एक तरहसे स्वप्न-सी है, प्राणोंके उपसंहारसे विराट्देहके स्तम्भक प्राणस्थानीय वायु आदिका विनाश कैसे हो सकता है, क्योंकि स्वप्नदेहमें प्राणोपसंहारसे मरण दीखनेपर जाग्रत्-शरीरमें प्राणका उपसंहार होकर किसी भी मनुष्यकी स्थूलदेहका विनाश नहीं देखा जाता, इस आशयसे श्रीरामजी शङ्का करते हैं—'चिति' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, चतुर्मुख ब्रह्माजी तो चितिके सङ्कल्पस्वरूप मन हैं और वे विराट् एवं ब्रह्माण्डशरीर हैं, यह बात प्रसिद्ध है, इस सङ्कल्पस्वरूप चतुर्मुखके भूलोक आदि अवयव ही नहीं हो सकते, क्योंकि अमूर्त (निराकार) मनके साकार अङ्ग नहीं होते । यदि होते हैं, तो भूर्लोक कौन-सा अङ्ग है ? स्वर्ग कौन-सा अङ्ग है एवं रसातल कौन-सा अङ्ग है ॥ ९ ॥

हे ब्रह्मन्, यदि यह माना जाय कि चतुर्मुख साकार हैं, तो अल्पनापवाले ब्रह्माजीके ये अतिविस्तृत पृथ्वी आदि अङ्ग बनकर कैसे स्थित हो सकते हैं। यदि कहें कि ब्रह्मा भी अतिविस्तृत हैं, तब वे अपने ही शरीररूप इस ब्रह्माण्डके अन्दर सत्यलोकमें कैसे रह सकते हैं ॥ १० ॥

अपि च, हे भगवन्, मेरा व्यक्तिगत निश्चय तो यह है कि यह सङ्कल्पमात्रस्वरूप ब्रह्माजी निराकार हैं और यह जगत् साकार है। इसलिए यदि इस विषयमें इसमें अन्य कोई दूसरा तरीका हो, तो मुझसे कहिए ॥ ११ ॥

जब पहले जो प्रश्न किया गया है कि स्थूलदेह मनोमयदेहरूप और

तत्स्वामाकाशतां चैतच्चेत्यमित्यवबुध्यते ।
स्वरूपमत्यजन्नित्यं चित्त्वाद्भवति चेतनम् ॥ १३ ॥
विद्धि तच्चेतनं जीवं सघनत्वान्मनः स्थितम् ।
एतावति स्थितिजाले न किञ्चित्साकृति स्थितम् ॥ १४ ॥
शुद्धं व्योमैव चिद्व्योम स्थितमात्मनि पूर्ववत् ।
यदेतत्प्रतिभातं तु तदन्यन्न शिवात्ततः ॥ १५ ॥
अथ तन्मन आभोगि भाविताहंकृति स्फुरत् ।
सङ्कल्पात्मकमाकाशमास्ते स्तिमितमक्षयम् ॥ १६ ॥

पृथ्वी आदि उसके अवयव कैसे हैं ? इसका अनुभव करानेके लिए मूलवस्तुके दिग्दर्शन द्वारा भूमिका बांधते हैं—'आदौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामजी, पहले तो न कोई असत् वस्तु थी और न सत् वस्तु ही थी, किन्तु सभी तरहके सदादि विकारोंसे रहित चिन्मात्ररूप परमाकाश ही था, वही सब तरहकी अभिलाषाओं और दिशाओंको एकमात्र पूर्ण करनेवाला था ॥ १२ ॥

इसी परमाकाशने अपने असली स्वरूपका अपरित्यागकर यानी स्वयं विकारको न प्राप्त होकर ही अपनी अवकाशरूपताकी ऐसे कल्पना की, जैसे चन्द्रने द्वितीय चन्द्ररूपकी । इसीसे उसने चेत्यको अपनेसे भिन्न वस्तु समझी और चिद्रूप होनेसे वह चेतन भी हुआ ॥ १३ ॥

हे श्रीरामजी, बोध्य, बोध और बोद्धारूप त्रिपुटीके मननसे घनीभूत बन जानेके कारण मनका वेष धारणकर स्थित हुआ वह चेतन जीव ही है, यह आप जानिये । त्रिपुटी तकका जितना अध्याससे उत्पन्न हुआ स्थितिजाल है, उतनेके हो जानेपर भी उनमें कुछ भी परस्पर अलग-अलग हो जानेवाला साकाररूप नहीं है, किन्तु विशुद्ध चिदाकाश ही है । यह चिदाकाश ही पहलेकी नाईं अपने स्वरूपमें ही विद्यमान है । इसलिए यह जो दिखाई पड़नेवाला जगत् है, वह शिवस्वरूप परमात्मासे अलग कुछ भी नहीं है ॥ १४, १५ ॥

तदनन्तर विशाल वह मन अहङ्कारकी भावनाकर जब स्फुरित होता है, तब 'अहम्' रूप धारण करता है, परन्तु सङ्कल्पात्मका वह भी निश्चल और अविनाशी चिदाकाश ही है ॥ १६ ॥

तत्सङ्कल्पचिदाभासनभोऽहमिति भावितम् ।
असत्तमेवानुभवत्सन्निवेशं खमेव खे ॥ १७ ॥
वेत्ति भावितमाकारं पश्यत्यनुभवत्यपि ।
सङ्कल्पकात्मकं शून्यमेव देह इति स्थितम् ॥ १८ ॥
शून्यमेव यथाकारि सङ्कल्पनगरं भवान् ।
पश्यत्येवमजो देहं खे खमेवानुभूतवान् ॥ १९ ॥
संविदो निर्मलत्वात्स यावदित्थं तथाविधम् ।
अनुभूयानुभवनं स्वेच्छयैवोपशाम्यति ॥ २० ॥
यदा तत्त्वपरिज्ञानमस्मदादेस्तदाततम् ।
इदं संवरणं विद्धि शून्यं सत्यमिव स्थितम् ॥ २१ ॥

अहङ्कारकी कल्पनाके बाद स्थूल देहकी कल्पना भी उसकी अवस्तुभूत ही है, यह कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

सङ्कल्पात्मक चिदाभासरूप आकाश, जो कि अहंरूप भावनासे भावित किया गया है, उक्त स्थूलदेहके रूपका अनुभव करता है । वास्तवमें यह असत् ही है, इसलिए इसके अवयव भी आकाशमें आकाशरूपके सदृश ही हैं ॥ १७ ॥

यही जिस आकारकी भावना करता है, उसे जानता है, देखता है और अनुभव भी करता है, वास्तवमें सङ्कल्पात्मक शून्य ही देहके रूपमें स्थित है ॥ १८ ॥

यदि देह शून्य है, तो वह साकार कैसे अनुभूत होगी, इसपर कहते हैं—'शून्य०' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आप शून्यस्वरूप सङ्कल्पनगरको साकार देखते हैं, वैसे ही ब्रह्मा भी शून्यमें शून्यरूप आकाशको देहरूप ही देखता है, क्योंकि उसने ऐसा ही अनुभव किया है ॥ १९ ॥

प्रलय और मोक्ष आदिकी कल्पना भी ऐसी ही असत् है, यह कहते हैं—'संविदः' इत्यादिसे ।

संवित् आत्मा स्वयं तो निर्मल है, इसलिए इस प्रकारके जगत्का जबतक अनुभव करनेकी इच्छा रखता है, तबतक उस प्रकारका अनुभवकर फिर उसे अपनी इच्छासे स्वयं ही शान्त कर देता है ॥ २० ॥

कब शान्त हो जाता है, उसे कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे ।

यथाभूतपरिज्ञानादत्र शाम्यति वासना ।
अद्वैताभिरहङ्कारात्ततो मोक्षोऽवशिष्यते ॥ २२ ॥
एवमेष स यो ब्रह्मा स एवेदं जगत् स्थितम् ।
विराजो ब्रह्मणो राम देहो यस्तदिदं जगत् ॥ २३ ॥
सङ्कल्पाकाशरूपस्य तस्य या भ्रान्तिरुत्थिता ।
तदिदं जगदाभाति तद्ब्रह्माण्डमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
सर्वमाकाशमेवेदं सङ्कल्पकलनात्मकम् ।
वस्तुतस्त्वस्ति न जगत् त्वचामत्ते च न कचित् ॥ २५ ॥

जब हमलोगोंको तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब विस्तृत यह प्रपञ्च, जो शून्यरूप होते हुए भी सत्य-सा बनकर स्थित है, उपसंहृत (शान्त) हो जाता है ॥ २१ ॥

असलमें जो सत्यरूप ब्रह्म वस्तु है, उसका ठीक ठीक परिज्ञान हो जानेपर इसी जन्ममें मिथ्या वासना नष्ट हो जाती है। फिर अद्वैतभावकी प्राप्ति और अहङ्कारका विलय हो जाता है, इसके बाद केवल मोक्ष ही मोक्ष बच जाता है ॥ २२ ॥

ठीक यही बात रहे, परन्तु इससे क्या मेरे प्रश्नका उत्तर हो गया, इसपर कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

भद्र, श्रीरामजी, इस रीतिसे जो यह ब्रह्मा है, वही यह स्थित जगत् है। सारांश यह कि विराट् ब्रह्माका जो देह है, वही यह जगत् है ॥ २३ ॥

सङ्कल्पाकाशरूपी ब्रह्माजीकी जो भ्रान्ति उठी है, वही यह जगत् भासता है और वही ब्रह्माण्ड कहा जाता है, इसलिए भ्रान्तिसे ही ब्रह्माण्डमें स्थूल देहता है। विचारसे तो उसकी मनोमयता ही है, इसलिए उसके अङ्गोंके उपसंहारसे उपसंहार हो गया, यह पूर्वोक्त बात सिद्ध हो गई ॥ २४ ॥

अथवा जाग्रदुन्मुखतामें स्वप्नके देहाङ्गोंके उपसंहारसे जैसे स्वप्नके भूमि आदि लोकोंका उपसंहार हो जाता है, वैसे ही उन पृथ्वी आदिका उपसंहार हुआ, क्योंकि दोनों ही सङ्कल्पाकाशरूप हैं, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे।

क्व चिन्मात्रेऽमले व्योम्नि कथं वा केन वा जगत् ।
किं जायते किमत्रास्ति कारणं सहकारि यत् ॥ २६ ॥
अतोऽलीकमिदं जातमलीकं परिदृश्यते ।
अलीकं स्वदतेऽलीकमेवं पश्यति शून्यकम् ॥ २७ ॥
जगदादिकया भासा चिन्मात्रं स्वदते स्वतः ।
आत्मनाऽऽत्माम्बरेऽद्वैते स्पन्दनेनेव मारुतः ॥ २८ ॥
इदं किञ्चिन्न किञ्चिद्वा द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
चिदाकाशं जगद्विद्धि शून्यमच्छं निरामयम् ॥ २९ ॥
शान्ताशेषवि षोऽहं तेन राघव संस्थितः ।
सन्नेवासन्निवातस्त्वमेवमेवाऽऽस्व निर्ममः ॥ ३० ॥

सभी कल्पनात्मक यह जगत् द्रष्टाकाशस्वरूप ही है, अतः वस्तुतः कहीं न जगत्की सत्ता है और न कहीं त्वत्ता-मत्ताकी यानी अहन्ता और ममताकी ही सत्ता है ॥ २५ ॥

जगत् अवास्तव है, यह कैसे आपने जाना, इस प्रश्नपर उसकी असंभाव्यता है, इसलिए, यों उत्तर देते हैं—'क्व' इत्यादिसे ।

चैतन्यरूप जो निर्मल आकाशवस्तु है, उसमें कहाँ, कैसे और किस हेतुसे जगत्की सत्ता हो सकती है, उसमें उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है और उस उत्पत्तिमें सहकारी कारण कौन हो सकते हैं यानी ब्रह्मचैतन्यमें विचारनेपर जगत्की सर्वथा ही असंभावना है ॥ २६ ॥

इसलिए यह असत् ही उत्पन्न हुआ है, असत् ही देखा जाता है और असद्रूप ही जगत् प्रिय-अप्रियरूपसे प्रकाशता है । इस तरह निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही भ्रान्तिसे जगत्-रहित आकाशको असत् जगत्के रूपमें देखता है ॥ २७ ॥

इसीको विस्पष्टरूपमें कहते हैं—'जगदादि०' इत्यादिसे ।

चिन्मात्र ब्रह्म ही धर्मी जगत् एवं उत्पत्ति आदि धर्मोंके भाससे स्वयं स्वतः प्रियाप्रियरूपसे प्रकाशित होता है । जैसे वायुसे स्पन्दन होता है, वैसे ही अपनेसे ही अद्वैत चिदाकाशमें जगत्के रूपमें स्पन्दित होता है ॥ २८ ॥

यह न द्वैतरहित है, न अद्वैतरहित है और न द्वैताद्वैतसे ही रहित है । उस चिदाकाशको ही आप जगत् जानिये, जो स्वयं स्वच्छ एवं विकारशून्य है ॥ २९ ॥

हे राघव, इस कारण मैं सभी तरहके विशेषणोंसे निर्मुक्त होकर स्थित हूँ ।

निर्वासनः शान्तमना मौनी विगतचापलः ।
सर्वं कुरु यथाप्राप्तं कुरु मा वाऽत्र किं ग्रहः ॥ ३१ ॥

अनादिनित्यानुभवो य एकः
स एव दृश्यं न तु दृश्यमन्यत् ।
सत्यानुभूतेऽननुभूतयो याः
सुविस्तृता दृश्यमहादृशस्ताः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने निर्वाणवर्णनं नाम द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

मैं परमार्थतः सत् हूँ और व्यवहारमें असत् देहादिरूप भी हूँ, आप भी मेरे जैसे परमार्थमें सद्रूप और व्यवहारमें असत् देहादिरूप बनकर ममताशून्य हो स्थित हो जाइए ॥ ३० ॥

श्रीरामभद्र, आप समस्त वासनाओंको छोड़ दीजिये, मनका सन्ताप छोड़िये, व्यर्थके वाग्जालमें मत फँसिये, अपनी अब सारी चपलताओंको तिलाञ्जलि दे दीजिये, यह सब करके आप जो कुछ प्रारब्धवश या शास्त्रवश प्राप्त हो जाय, उसे कीजिये या न कीजिये, इसमें किसी तरहका कोई आग्रह नहीं है अर्थात् इसके बाद समाधिसे उठकर जाग्रत्-दशामें यथाप्राप्त व्यवहारोंको कीजिये या समाधिमें स्थित हो कुछ न कीजिये, इसमें कोई आग्रह नहीं है ॥ ३१ ॥

इसलिए समस्त दृश्य ब्रह्मरूप ही है, भ्रान्तिके आकारमें परिणत हुए उसके नानाविध अज्ञान ही दृश्योंके अनुभव हैं, यह निचोड़ अबतकके वचनोंसे हाथ लगा, यों उपसंहार करते हैं—'अनादि०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, जो अद्वितीय, अनादि, अविनाशी अनुभवरूप साक्षिचेतन है, वही यह दृश्य है, इससे भिन्न दूसरा कोई भी दृश्यनामका पदार्थ नहीं है। अनुभवैकरसरूप ब्रह्ममें जो अनेक तरहके अज्ञान हैं, वे ही चित्र-विचित्र भ्रान्तियोंको पैदा कर विस्तृत दृश्यानुभवरूप बन जाते हैं ॥ ३२ ॥

बहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

बन्धमोक्षजगद्बुद्धिर्न शून्या नाऽपि सन्मयी ।
नास्तमेति न चोदेति किमप्याद्यमसौ किल ॥ १ ॥
उपदिष्टमिदं ब्रह्मंस्त्वया बुद्धमलं मया ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ २ ॥
सर्गादिसम्भ्रमदृशः शून्यतादिदृशस्तथा ।
न काश्चन विभो सत्या असत्याश्च न काश्चन ॥ ३ ॥

तिहत्तरहवाँ सर्ग

[ज्ञानको दृढ बनानेके लिए शुद्ध ब्रह्ममें जगत्के आरोप-क्रमका और ब्रह्माजीके पृथ्वी आदि कौन अङ्ग हैं—इस प्रश्नके उत्तरका पुनः वर्णन]

'भूर्लोक ब्रह्माजीका कौन-सा अङ्ग है, भूर्लोक आदि उसके अङ्ग कैसे हो सकते हैं, सत्यलोकमें उसका निवास कैसे'—ये जो तीन प्रश्न किये गये हैं, उनके उत्तरके लिए उपोद्घातरूपसे वर्णित—शुद्ध ब्रह्ममें जगत्के अध्यारोप-प्रकारको—फिर क्रमशः और तात्पर्यसे ठीक ठीक जाननेकी इच्छासे श्रीरामजी तात्पर्यतः अपना ज्ञात अंश बतलानेके लिए सिंहावलोकन न्यायसे आगेके वचनोंसे निकले निचोड़का स्मरण दिलाते हैं—'बन्ध०' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—हे पूज्यवर, बन्धबुद्धि, मोक्षबुद्धि और जगद्बुद्धि न तो शून्य है और न सन्मय ही है यानी न सत्य अर्थवाली ही है। जिसका अस्त नहीं होता और जिसका उदय भी नहीं होता, ऐसा कोई भी यह आद्य पदार्थ है, यह मैंने जाना। जो आद्य पदार्थ है, वह सबका साक्षी है, अतः उसका न तो उदय हो सकता है और न अस्त ही हो सकता है, इसलिए यह सर्वसाक्षीरूपा बुद्धि ही विषयोंका परिमार्जन करनेपर कोई भी वाणी एवं मनसे अगम्य आद्य (ब्रह्म) है, यही आपने तात्पर्यवृत्तिसे उपदेश दिया है और यह मैंने अच्छी तरह समझ भी लिया है [तब क्या अब उपदेशसे विरत हो जाऊँ ? नहीं, यह कहते हैं—'भूयः' से] भगवन्, इस विषयमें आप फिर मुझको उपदेश दीजिये, क्योंकि अमृत सुन रहे मुझको अभी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१,२॥

हे प्रभो, सृष्टि आदिके परिज्ञान तथा शून्यता आदिके परिज्ञान न तो कोई

एवं स्थिते तु यत्सत्यं तत्सर्वं बुद्धवानहम्।
तथापि भूयो बोधाय सर्गानुभव उच्यताम् ॥ ४ ॥

वसिष्ठ उवाच

यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत् स्थावरजङ्गमम्।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं देशकालक्रियादिमत् ॥ ५ ॥
तस्य नाशे महानाशे महाप्रलयनामनि।
ब्रह्मोपेन्द्रमरुद्रुद्रमहेन्द्रपरिणामिनि ॥ ६ ॥
शिष्यते शान्तमत्यच्छं किमप्यजमनादि सत्।
यतो वाचो निवर्तन्ते किमन्यदवगम्यते ॥ ७ ॥

सत्य हैं और न कोई असत्य ही हैं यानी न उनके विषय अबाधित हैं और न बाधित ही हैं, क्योंकि तत्-तत् व्यवहार करनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिसे ब्रह्म ही उस तरहसे स्थित रहता है। उनकी अर्थक्रियाके विषयमें भी किसीको विवाद नहीं है। असत् कार्यपक्ष माना नहीं जा सकता, सर्वशक्तिमान् ब्रह्ममें सर्वशून्यता बनानेकी शक्ति भी हो सकती है तथा मायासे सब तरहके विरोधोंका परिमार्जन भी हो सकता है ॥ ३ ॥

मायाशबल (युक्त) ब्रह्मकी महिमाके सदृश मैंने मायाके अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्यमुक्त ब्रह्मतत्त्व भी जान लिया है, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे महाराज, यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी है और जो कुछ सत्य वस्तु है उसे पूरी तरहसे मैंने जान भी लिया है, तथापि विपुल बोधार्थ फिर मुझसे सृष्टिका अनुभव (अध्यारोप) कैसे होता है, यह आप कहिए ॥ ४ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमरूप, नाना प्रकारके धर्मोंसे पूर्ण एवं देश, काल, क्रिया आदिसे युक्त पूरा जगत् दिखाई देता है; उसका महाप्रलयशब्दसे कहे जानेवाले महानाशमें यानी प्राकृत प्रलयमें—(जब कि स्थूल भूतोंका सूक्ष्मभूतोंमें नाश हो जानेपर भूतसूक्ष्मोंके साथ अव्याकृतमें प्रवेश हो जाता है, तब) जिसमें कि ब्रह्मा, उपेन्द्र, मरुद्, रुद्र, महेन्द्र आदिके शरीरोंका अन्तिम भावविकार हो जाता है—शान्त, अतिस्वच्छ, अज, अनादि एवं सद्रूप कोई वस्तु बच जाती है। उससे सभी वाणी भी निवृत्त हो जाती

सर्षपापेक्षया मेरुर्यथाऽतिविततकृतिः ।
तथाऽऽकाशमपि स्थूलं शून्यं सद्यदपेक्षया ॥ ८ ॥
शैलेन्द्रापेक्षया सूक्ष्मा यथेमे त्रसरेणवः ।
तथा सूक्ष्मतरं स्थूलं ब्रह्माण्डं यदपेक्षया ॥ ९ ॥
अमानकलिते सौम्ये काले परिणते चिरम् ।
शान्ते तस्मिन् परे व्योमन्याद्ये ह्यनुभवात्मनि ॥ १० ॥
असङ्कल्पो महाशान्तो दिक्कालैरमिताकृतिः ।
अन्तर्महांश्चिदाकाशो वेत्तीव परमाणुताम् ॥ ११ ॥
असत्यामेव तामन्तर्भावयन् स्वमवत्स्वतः ।
ततः स ब्रह्मशब्दार्थं वेत्ति चिद्रूपतां तताम् ॥ १२ ॥

है यानी किसी तरहकी वाणी उसे कह नहीं सकती, इसे छोड़कर दूसरा कोई भी जानने लायक पदार्थ नहीं है ॥ ५–७ ॥

भद्र, जैसे सरसोंकी अपेक्षा विशाल आकारवाला सुमेरु पर्वत अति स्थूल है, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा परमसूक्ष्म सद्रूप आकाश भी उसकी अपेक्षा अतिस्थूल है ॥ ८ ॥

पर्वतराज सुमेरुकी अपेक्षा ये त्रसरेणु जैसे सूक्ष्म हैं, वैसे ही अन्यकी अपेक्षा अतिस्थूल यह विशालतम ब्रह्माण्डमण्डल उसकी (ब्रह्मकी) अपेक्षा अतिसूक्ष्म (अणुतर) है ॥ ९ ॥

कालमानको बतलानेवाली सूर्यस्पन्दन आदि उपाधियोंका विनाश हो जानेके कारण प्रलयकाल मानकलनासे रहित हो जाता है, इस तरहका प्रलयकाल ब्रह्माजीकी जो दो परार्ध आयु निश्चित है, उसीके समान उतने समयतक रहता है। इतने लम्बे समयतक प्रलय रहकर जब चला जाता है, तब साक्षीरूप परमशान्त, सबके आदि उस महा चिदाकाशमें मायारूप आवरणसे युक्त, भीतर सुषुप्त-प्राय चिदाकाश स्वप्नोमुखके सदृश अपने भीतर परमाणुरूपताका (अपने भीतर विलीन जगत्संस्काररूप परमाणुरूपताका) मानो अनुभव करता है अर्थात् पर्यालोचन करता है। असलमें यह तो सङ्कल्पशून्य, महाशान्त है । इसकी आकृति दिशा, एवं काल आदिसे नापी नहीं जा सकती ॥ १०, ११ ॥

वह परमाणुरूपता असत्य ही है, फिर भी उसकी अपने अन्दर स्वप्नके

चिद्भावोऽनुभवत्यन्तश्चित्त्वाच्चिदणुतां निजाम् ।
तामेव पश्यतीवाथ ततो द्रष्टेव तिष्ठति ॥ १३ ॥
यथा स्वप्ने मृतं पश्यत्येक एवात्मनाऽऽत्मनि ।
मृत एव मृतेर्द्रष्टा तथा चिदणुरात्मनि ॥ १४ ॥
ततश्चिद्भाव एषोन्तरेक एव द्वितामिव ।
पश्यन् स्वरूप एवास्ते द्रष्टृदृश्यमिव स्थितः ॥ १५ ॥
चिद्भाव शून्य एवातिनिराकारोऽप्यणुं तनुम् ।
पश्यन् दृश्यमिवोदेति द्रष्टेव च तदा द्विताम् ॥ १६ ॥

समान पहले भावना करता है, फिर अपनेमें ब्रह्मशब्दार्थकी भावना करता है यानी मैं ही सबको बढ़ानेवाला हूँ, यों भावना करता है और साथ-साथमें अपनी असीम चिद्रूपताकी भी भावना करता है ॥ १२ ॥

अपने ब्रह्मशब्दार्थकी जो भावना करता है, उसमें कारण उसकी चित्स्वभावता ही है, यह कहते हैं—'चिद्भावः' इत्यादिसे ।

चितिस्वरूप आत्मा अपने भीतर विलीन हुए अपने सूक्ष्म जगत्संस्कारका जो अनुभव करता है, इसमें कारण उसकी चितिरूपता ही है, इसीसे उसे ही मानो देखता है । इसके बाद स्वयं वह द्रष्टा-सा बनकर स्थित हो जाता है ॥ १३ ॥

एक वस्तुमें विरुद्ध दृश्य-द्रष्टाके धर्म नहीं हो सकते, यदि यह शङ्का हो, तो इसका समाधान यह है कि स्वप्नके सदृश विरोधका पर्यालोचन न होनेसे वैसा हो सकता है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे एक ही पुरुष स्वप्नमें अपने आप अपनी आत्मामें अपनेको मृत देखता है, इससे यह बात आ गई कि मृत ही मरणका द्रष्टा है, ठीक वैसे ही अणुचित अपनी आत्मामें उक्त अणुता देखती है यानी स्वयं दृश्य और द्रष्टा हो जाती है ॥ १४ ॥

ऐसी कल्पना करनेपर भी वास्तवमें ऐक्यकी क्षति नहीं होती, यह कहते हैं—'तत०' इत्यादिसे ।

तदनन्तर यह चिदाकाश स्वरूपतः एक होते हुए भी अपने भीतर द्वैत-सा देखता है और यों देखता हुआ द्रष्टा एवं दृश्य-सा बनकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है ॥ १५ ॥

यद्यपि यह चितिरूप आकाश शून्यरूप है यानी आकारसे एकदम ही

प्रकाशमणुमात्मानं पश्यंस्तदनुभावतः ।
उच्छूनतां चेतयते बीजमङ्कुरतामिव ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यद्रष्टृदर्शनदृग्दशः ।
अर्थान्तरस्वभावेन तिष्ठन्त्यनुदिताभिधाः ॥ १८ ॥
चिदणुर्यत्र भातोऽसौ देशो मितिमुपागतः ।
यदा भातस्तदा कालो यद्भानं तत्क्रिया स्मृता ॥ १९ ॥
उपलब्धं विदुर्द्रव्यं द्रष्टृताऽप्युपलब्धृता ।
आलोकनं दर्शनता दृगालोकनकारणम् ॥ २० ॥

रहित है, फिर भी अपनी अणुरूप तनुता जब देखता है, तब दृश्य-सा एवं द्रष्टा-सा बनकर द्वैतभाव धारण करता है ॥ १६ ॥

वह द्रष्टारूप आत्मा मायाके बलसे अपनेको प्रकाशस्वभाव उक्त परमाणुरूप (परिच्छिन्नस्वरूप) देखता हुआ उसका अनुभव करता है और उसीकी सामर्थ्यसे अपनी उपचयरूपताका ऐसे सङ्कल्प करता है, जैसे बीज अपनी अङ्कुरताका ॥१७॥

उसी समय यद्यपि उसमें आवश्यक देश, काल आदिके विभागोंकी कल्पना भी हो जाती है, परन्तु वाग् आदिकी अभिव्यक्ति न होनेसे उसकी अभिधा-शक्तिका आविर्भाव नहीं होता, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे ।

उसी समय देश, काल, क्रिया, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन, ज्ञान-साधन एवं ज्ञानरूप चक्षु आदि अन्य अर्थोंके स्वभावसे स्थित होते हैं, परन्तु उनकी अभिधाशक्तिका उदय नहीं रहता ॥१८॥

उसकी जो विभागकल्पना हुई, उसमें प्रकार बतलाते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे।

जहाँ यह चितिरूप अणु प्रतीत हुआ, वहाँ देशका भी भान हो ही गया तथा जब उसका भान हुआ, तब काल भी उसमें आ गया और जो ज्ञान हुआ, तो वह क्रिया हो गई ॥ १९ ॥

उसी समय त्रिपुटीका विभाग करनेवाली उपाधियोंकी, साक्षीकी एवं उसके प्रकाशमें हेतुभूत पदार्थकी कल्पना भी हो जाती है, यह कहते हैं—'उपलब्धम्' इत्यादिसे ।

जिसका ज्ञान होता है, वह द्रव्य कहा जाता है, जो दृष्टृता है, वह उपलब्धृता भी है, आलोकन ही दर्शन है और आलोकनमें (देखनेमें) जो कारण है, वह दृग् है ॥ २० ॥

एवमुच्छूनता भाति मितानन्ताऽथ वा क्रमात् ।
असत्यैव नभस्येव नभोरूपैव निष्क्रमा ॥ २१ ॥
चिदणोर्भासनं भातं तत्प्रदेशेन देहगम् ।
येन पश्यति तच्चक्षुः सङ्ग्रहोऽक्षदृशामिति ॥ २२ ॥
चिदणुप्रतिमासेऽन्तः प्रथमं नामवर्जितम् ।
तन्मात्रशब्दमेतेषामेतदाकाशरूपि तत् ॥ २३ ॥
चिदणुप्रतिमाकाशपिण्ड एव घनस्थितिः ।
अनुसन्धानविवशश्चेतितीन्द्रियपञ्चकम् ॥ २४ ॥

इसी तरह कर्ता, कार्य, कारण, भोक्ता, भोग्य आदि त्रिपुटी-विशेष, उनके साक्षी और निमित्तोंकी भी कल्पना सर्वत्र जान लेनी चाहिये, इसे कहते हैं— 'एवमु०' इत्यादिसे।

इसी तरह उसकी विपुलता दिखाई पड़ती है, असीमरूपता या संख्यासे इयत्ता भी क्रमसे उसमें देशादि परिच्छेदोंसे जानी जाती है। वास्तवमें तो विपुलता या असीमता आदि असत्यरूप ही है। उसमें कोई क्रम नहीं है। तथापि इसे आकाशमें आकाशरूपताके सदृश जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥

अब इसमें रूपादित्रिपुटीके सिद्ध हो जानेपर चक्षु आदि करणोंके विभागकी भी कल्पना अगत्या सिद्ध हो जाती है, यह संक्षेपसे बतलाते हैं—'चिदणो' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुको यानी जीवको सूर्य आदिके प्रकाशका जिस गोलकच्छिद्रसे भान होता है या जिस अतीन्द्रिय—करणसे वह देखता है, वे दोनों ही देहगत चक्षु हैं, यही न्याय श्रोत्र आदि सब इन्द्रियदृष्टियोंमें लागू है, यह संक्षेपसे जान लेना चाहिये २२ ॥

श्रोत्र (कान) आदि जो पांच इन्द्रियां हैं, उन्हींके विषयोंमें नामरूपभेदकल्पनाके पहलेकी जो अवस्था है, वह तन्मात्रशब्दसे कही जाती है, यह कहते हैं—'चिदणु०' इत्यादिसे ।

चितिरूप अणुका प्रतिभास होनेपर भीतर सर्वप्रथम (पूर्वकी) जो इन श्रोत्र आदि पांचोंके शब्दादि विषयोंकी नामरूपशून्य अवस्था है, वह तन्मात्रशब्दसे कही जाती है, उसका स्वरूप अतिसूक्ष्म है ॥ २३ ॥

उस क्रमसे चितिरूप अणुका प्रतिभारूप जो आकाश है, वही घनस्थिति

एवं चिदणुसन्धानं दृश्यपोषमुपैत्यलम् ।
तदेव ज्ञानमित्युक्तं बुद्धिरित्यभिधीयते ॥ २५ ॥
ततो मनस्तदारूढमहङ्कारपदं गतम् ।
देशकालपरिच्छेद इत्यङ्गीकृत आत्मना ॥ २६ ॥
चिदणोरस्य भावस्य प्रत्यग्रं यत्र वेदनम् ।
स तत्रोत्तरकालेन पूर्वाभिख्यां करिष्यति ॥ २७ ॥
अन्यस्मिन्नेकदेशे सा ऊर्ध्वाभिख्यां करिष्यति ।
एवं दिगभिधानादि कल्पयिष्यति स क्रमात् ॥ २८ ॥

होकर स्थूल देहरूप बन जाता है, फिर उसमें रूप आदिके अनुसन्धानवशसे पांच इन्द्रियां प्रकाश करती हैं ॥ २४ ॥

अब चार अन्तःकरणोंकी कल्पनाका प्रकार दिखलाते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इस तरह अणुरूप चितिका ज्ञान दृश्य पदार्थोंके बार-बार अनुभवसे खूब पुष्ट हो जाता है । फिर इसीका नाम ज्ञान एवं बुद्धि पड़ जाता है । इन्द्रियोंसे अनुभूत विषयोंका स्मृति-समयमें जो ज्ञान होता है वह चित्त कहा जाता है और अध्यवसायसमयमें जो ज्ञान होता है वह बुद्धि कही जाती है ॥ २५ ॥

तदनन्तर सङ्कल्पविकल्पदशामें वह मन बन जाता है, अभिमानसे—अहंभाव एवं ममभावसे—अभिमानी होकर अहङ्कार पदको प्राप्त हो जाता है । इस रीतिसे आत्माने देशकालका भी विभाग किया है ॥ २६ ॥

काल और देशमें पूर्ववत् जो कल्पना होती है, वह उत्तरकालकी कल्पनाको लेकर ही प्रवृत्त होती है, यह कहते हैं—'चिदणो०' इत्यादिसे ।

इन प्रसिद्ध शब्द आदि विषयोंका जिस देश या कालरूप आधारमें जो सर्वप्रथम विज्ञान होता है यानी जिस चिदणुरूप जीवको जिस देश या कालरूप आधारमें शब्दादि विषयोंका विज्ञान होता है, वही जीव देश या कालरूप आधारका उत्तरकालसे भिन्न पूर्वदेश या पूर्वकाल—यों नामकरण कर देगा, यही नियम प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीवके लिए लागू है ॥ २७ ॥

वही चितिरूप जीव दूसरे देश-कालमें ज्ञान होनेपर उनका 'ऊर्ध्व' नाम रख लेगा, इसी प्रकार दिशामें पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदि नामोंकी वह क्रमशः कल्पना कर लेगा ॥ २८ ॥

देशकालक्रियाद्रव्यशब्दानामर्थवेदनम् ।
भविष्यति स्वयमसावाकाशविशदोऽपि सन् ॥ २९ ॥
इत्थं स्वानुभवेनैष व्योम्नैव व्योमरूपभृत् ।
आतिवाहिकनामान्तर्देहः सम्पद्यते चितेः ॥ ३० ॥
एष एव चिरं कालं तत्र भावनया तया ।
गृह्णाति निश्चयं पूर्णमाधिभौतिकमात्मनः ॥ ३१ ॥
व्योम्ना व्योम्न्येव रचितो निर्मलेनेति विभ्रमः ।
असता सत्समास्तीर्णस्तापनद्या जलं यथा ॥ ३२ ॥

इस तरह देश, काल और वस्तुओंकी एवं उनके नामोंकी कल्पना बतलाई गई, अब जिन्हें शब्दशक्तिका ज्ञान है, ऐसे पुरुषोंको शब्दश्रवण होनेपर तत्-तत् अर्थोंका जो विज्ञान होगा, उस विज्ञानके रूपमें भी वह आत्मा ही हो जायगा, यह कहते हैं—'देश०' इत्यादिसे।

भद्र, तदनन्तर यद्यपि आकाशके सदृश अतिनिर्मल ही यह आत्मा है, तथापि सङ्कल्पवश यह आत्मा ही स्वयं देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि शब्दोंके अर्थोंके ज्ञानके रूपमें हो जायगा ॥ २९ ॥

इसी रीतिसे अपने ही सङ्कल्पके प्रभावसे यह आकाशके सदृश निर्मलरूप धारण करनेवाला चिदाकाश अपने आप ही चितिके अन्दर सर्वप्रथम आतिवाहिक शरीर, फिर देहेन्द्रियादि विभाग, फिर नाम, यों समस्त जगत्के स्वरूपमें विवर्तित हो जाता है ॥ ३० ॥

यों समस्त जगत् केवल मानसिक कल्पना स्वरूप होनेके कारण आतिवाहिक शरीरका अवयव ही सिद्ध होता है, फिर भी उसमें आधिभौतिकताकी प्रतीति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—'एष' इत्यादिसे।

यही चिदणु जीव दीर्घकालकी उक्त भावनासे अपनेमें पूर्णरूपसे आधि-भौतिकताका निश्चय कर लेता है ॥ ३१ ॥

निर्मल चिदाकाशने चिदाकाशमें ही अपने असत्सङ्कल्पसे उक्त प्रकारके विभ्रमकी रचना की है, यह सत्के सदृश होकर ऐसे चारों ओर फैला है, जैसे ताप-नदीका जल ॥ ३२ ॥

सङ्कल्पनामुपादत्ते स्वदेहे गगनाकृतिः ।
शिरःशब्दार्थदां काञ्चित् पादशब्दार्थदां क्वचित् ॥३३॥
उरःपार्श्वादिशब्दार्थमयीं क्वचिदनाविलाम् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गशब्दाद्यर्थमयीमपि ॥ ३४ ॥
नियताकारकलनां देशकालादियन्त्रिताम् ।
विषयोन्मुखतां यातामिन्द्रियव्रातवेधिताम् ॥ ३५ ॥
सोऽणुः पश्यत्यथाकारमात्मनः स्वात्मकल्पितम् ।
हस्तपादादिकलितं चित्तादिकलनान्वितम् ॥ ३६ ॥
एवं संपद्यते ब्रह्मा तथा संपद्यते हरिः ।
एवं संपद्यते रुद्र एवं संपद्यते क्रमिः ॥ ३७ ॥
न च किञ्चन संपन्नं यथास्थितमवस्थितम् ।
शून्यं शून्ये विलसितं ज्ञप्तिर्ज्ञप्तौ विजृम्भिता ॥ ३८ ॥

वह गगनरूप चिदणु—जब अपनी देहकी कल्पना करनी होती है, तब इस तरहकी कल्पना करता है—कहीं कोई कल्पनाएँ सिरशब्दके अर्थको देनेवाली, कोई पैर शब्दके अर्थको देनेवाली, कोई छाती, पसली आदि शब्दोंके अर्थोंको देनेवाली हैं। वह कहीं निर्मल कल्पना, कहीं भाव, अभाव, ग्रहण, त्याग आदि शब्दोंके अर्थोंकी कल्पना, कहीं नियत कालकी कल्पना, कहीं देशकालसे नियन्त्रित कल्पना, कहीं विषयोन्मुख कल्पना और कहीं इन्द्रियोंसे युक्त कल्पना करता है। यों शरीरोंके अवयवोंकी एवं बाह्य अर्थोंके हानादि व्यवहारोंकी कल्पना करते रहता है ॥३३—३५॥

तदनन्तर वह चिदणु अपनी कल्पनासे ही कल्पित अपने हाथ, पैर आदिसे युक्त तथा चित्त आदिकी कल्पनासे युक्त मनुष्य आदिका आकार देखता है ॥३६॥

जब ईश्वरोंकी देहोंकी भी कल्पना उसके सङ्कल्पसे होती है, तब फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

इसी तरह अपनी ही कल्पनासे चिदणु—जीव ब्रह्मा बन जाता है, नारायण बन जाता है, रुद्र बन जाता है तथा कीट भी बन जाता है ॥ ३७ ॥

सभी तरहकी यह कल्पना मिथ्या ही है, यह कहते हैं—'न च' इत्यादिसे।

वास्तवमें तो यह कुछ भी बना नहीं है, किन्तु यह अपने असली स्वरूपमें ही स्थित है, शून्यमें शून्यका ही विलास है और चिति चितिमें ही बढ़ी है ॥३८॥

देशकाल आदि नियमित लक्ष्यकी ओर अभिमुख, तथा इन्द्रियोंके समूह से वेधित कल्पनाको जीव धारण करता है

प्रतिकन्दः शरीराणां बीजं त्रैलोक्यवीरुधाम् ।
सार्गार्गलप्रदो मुक्तेः संसारासारवारिदः ॥ ३९ ॥
कारणं सर्वकार्याणां नेता कालक्रियादिषु ।
सर्वाद्यः पुरुषः स्वैरमित्यनुत्थित उत्थितः ॥ ४० ॥
नास्य भूतमयो देहो नास्यास्थीनि शरीरके ।
अवष्टब्धुमसौ मुष्ट्या शक्यते नतु केनचित् ॥ ४१ ॥
तेनाब्धिमेघसंग्रामसिंहगर्जोर्जितात्मना ।
अपि सुप्तनरेणेव नूनं मौनवता स्थितम् ॥ ४२ ॥
जाग्रतः स्वप्नसंदृष्टयोद्धारभटिवेदनम् ।
यथास्मृति गतं नासन्न सत्तद्वदसौ स्थितः ॥ ४३ ॥
बहुयोजनलक्षौघप्रमाणोऽपि बृहद्वपुः ।
परमाण्वन्तरे भाति लोमान्तस्थजगत्त्रयः ॥ ४४ ॥

व्यष्टियोंके सदृश समष्टिरूप हिरण्यगर्भ भी उसी तरह अपनी कल्पनासे ही बना है, यह कहते हैं—'प्रतिकन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, व्यष्टि शरीरोंका जो नियत कन्द (मूल) है, त्रैलोक्यरूप बल्लियोंका जो बीज है, वह भी वही है । मुक्तिके द्वारकी प्रतिबन्धक विषय-सृष्टिरूप अर्गला (शृङ्खला) देनेवाला तथा संसाररूप मूसलाधार वृष्टि करनेवाला मेघ भी वही है ॥ ४० ॥

सब कार्योंका कारण, काल, क्रिया आदिका नियामक, सबका आदिभूत हिरण्यगर्भ भी अपनी इच्छासे वही बन बैठा है उत्थित न रहते हुए भी वह उत्थित है ॥ ३९ ॥

न तो इसका भौतिक शरीर है और न इसके शरीरमें हड्डियां ही हैं, अतः इसे कोई मुट्ठीसे नहीं पकड़ सकता ॥ ४१ ॥

जैसे स्वप्नमें मेघ, संग्राम और सिंहोंकी भीषण गर्जनासे युक्तस्वरूप रहनेपर भी सुप्त पुरुष वस्तुतः चुपचाप ही स्थित रहता है, वैसे ही विराट् पुरुष भी प्रपञ्चशून्य अपने स्वरूपमें स्थित है ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें देखे गये योद्धाओंके कोलाहलका ज्ञान जाग्रदवस्थामें स्मृतिपथमें आया हुआ न तो अत्यन्त असत् है और न सत् ही है, वैसे ही जगत्का यह प्रपञ्च स्थित है ॥ ४३ ॥

एकमात्र मायासे उन हजारों वस्तुओंकी, जिनकी हम कभी संभावना नहीं कर

कुलशैलगुणौघात्मा जगद्वृन्दात्मकोऽपि सन् ।
कुलायं धानकामात्रमपि नो पूरयत्यजः ॥ ४५ ॥
जगत्कोटिशताभोगविस्तीर्णोऽप्यणुमात्रकम् ।
वस्तुतो व्याप्तवानेष न देशं स्वप्नशैलवत् ॥ ४६ ॥
स्वयंभूरेष कथितो विराडेष स उच्यते ।
ब्रह्माण्डात्मा जगद्देहो वस्तुतस्तु नभोमयः ॥ ४७ ॥
सनातन इति प्रोक्तो रुद्र इत्यपि संज्ञितः ।
इन्द्रोपेन्द्रमरुन्मेघशैलजालादिदेहकः ॥ ४८ ॥
तेजोऽणुमात्रं प्रथितं चेतित्वात्प्रथमं वपुः ।
क्रमेण स्फारसंविच्चिर्महानहमिति स्थितः ॥ ४९ ॥

सकते, इस संसारमें उत्पत्ति दीखती है, यह कहते हैं—'बहुयोजन०' इत्यादिसे ।

अनेक लाखों योजनके समूहोंतक विशाल प्रमाणवाला, बृहत्-शरीर भी यह त्रैलोक्य रोमके सूक्ष्म भागके अन्तमें स्थित सिर्फ एकमात्र मायासे ही परमाणुके अन्दर भी भासता है ॥ ४४ ॥

सात महाकुल पर्वतों तथा गुणोंके समूहोंका आश्रय एवं ब्रह्माण्डोंका समूहमय होकर भी ब्रह्मदेव बटके बीजमात्र छिद्रको भी नहीं पूर्ण कर सकते ॥ ४५ ॥

सैंकड़ों करोड़ लम्बे जगत्के विस्तारसे विस्तृत आकारवान् होते हुए भी ब्रह्मदेव अणुमात्रस्वरूप हैं । स्वप्नके पर्वतोंके समान वस्तुतः इन्होंने देशको व्याप्त नहीं कर रखा है ॥ ४६ ॥

यही ब्रह्माण्डात्मा स्वयंभू कहे गये हैं तथा जगत्-शरीर विराट् भी यही कहे जाते हैं । लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः ये चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ४७ ॥

सनातन पुरुष भी यही कहे गये हैं, इन्हींकी रुद्र संज्ञा पड़ी है तथा हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ तथा शैलसमूहोंकी देह भी यही हैं ॥४८॥

अब पूर्वोक्तको संक्षिप्तकर कहते हैं—'तेजः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, परम सूक्ष्म चिति पहले सबको चेतित करनेसे चित्त-शरीर हुई और वही चित्तात्मा वर्णित क्रमसे विस्पष्ट चित्ति होकर यानी महा-ज्ञानसम्पन्न होकर 'मैं महान् ब्रह्माण्डात्मा हूँ' इस तरह जगत्के शरीररूपसे स्थित हो गया ॥ ४९ ॥

स्पन्दसंवेदनात्तेन स्पन्द इत्यनुभूयते ।
यः स एवानिलाभिख्यो वातस्कन्धात्मना स्थितः ॥५०॥
प्राणापानपरिस्पन्दो वेदनादनुभूयते ।
तेन यः सोऽयमाकाशे वातस्कन्ध उदाहृतः ॥ ५१ ॥
चित्ताद्ये कल्पितास्तेन बालेनेव पिशाचिकाः ।
तेजःकणा असन्तोऽपि त एते धिष्ण्यतां गताः ॥५२॥
प्राणापानपरावर्तदोला तदुदरोदिता ।
वातस्कन्धाभिधां धत्ते जगत्तद्धृदयं महत् ॥ ५३ ॥
प्रतिच्छन्दशरीराणां प्रथमं बीजमेष सः ।
जगद्गतानां सर्वेषामाकल्पव्यवहारिणाम् ॥ ५४ ॥
प्रतिच्छन्द्याद्यदेतस्मादुत्थिता जगदात्मना ।
देहास्तदा यथा बाह्यमन्तरेषां तथा स्थितम् ॥ ५५ ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं । उनके जो प्राण हैं उन्हींकी संज्ञा अनिल पड़ी हुई है । वे वातस्कन्धरूपसे स्थित हैं ॥ ५० ॥

स्पन्दकी संवित्से वे स्पन्दका अनुभव करते हैं, यह जो ऊपर कहा गया है उसका सर्वानुभवप्रसिद्धि द्वारा समर्थन करते हैं—'प्राणा०' इत्यादिसे ।

स्पन्दकी संवित्से जो वे प्राण और अपानके स्पन्दका अनुभव करते हैं उसी उनके प्राणके स्पन्दको उनके ब्रह्माण्डाकाशमें हमने वातस्कन्धके नामसे पहले कहा है ॥ ५१ ॥

विराट्ने अपने चित्तसे जिनकी कल्पना की वे ही ये तेजके कण, बालक द्वारा अपने चित्तसे कल्पित पिशाचकी नाईं, असद्रूप होते हुए भी सूर्य, चन्द्र, ग्रह, और नक्षत्र आदिकी स्थानताको प्राप्त हुए हैं यानी तद्रूपताको प्राप्त हुए हैं ॥५२॥

उसके उदरमें जनित जो प्राण तथा अपानके आवर्तनरूपी झूला है, वही उसकी उदरता 'वातस्कन्ध' संज्ञाको धारण करती है । महान् जगत् उसीका हृदय (हृदयगत अस्थि आदि) है ॥ ५३ ॥

जगत्के अन्दर कल्पपर्यन्त व्यवहार करनेवाले समस्त जीवोंमें प्रत्येक जीव-भेदकी इच्छासे कल्पित व्यष्टिशरीरोंके प्रथम बीज यही ब्रह्मदेव हैं ॥ ५४ ॥

इनसे उत्पन्न प्रत्येक जीवकी इच्छासे प्रकटित हुए जो जगद्रूपसे अनेक देह हैं उनके भी बाहर और भीतर ये ठीक वैसे ही स्थित हैं ॥ ५५ ॥

चितिस्तस्याऽऽद्यबीजस्य पूर्वमेव यथोदिता ।
तथैवाद्यापि जीवेऽन्तस्तथोदेति तदीहिता ॥ ५६ ॥
श्लेष्मपित्तानिलास्तस्य चन्द्रार्कपवनास्त्रयः ।
ग्रहा ऋक्षगणास्तस्य प्राणाष्ठीवनसीकराः ॥ ५७ ॥
तस्यास्थीन्यद्रिजालानि मेदसो जातिका घनाः ।
शिरः पादौ त्वचं देहान्पश्यामस्तस्य नो वयम् ॥५८॥
वपुर्विराजो जगदङ्ग विद्धि
सङ्कल्परूपस्य हि कल्पनात्म ।
आकाशशैलावनिसागरादि
सर्वं चिदाकाशमतः प्रशान्तम् ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० विराडात्मवर्णनं नाम त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥७३॥

जैसे आद्य बीज हिरण्यगर्भकी इच्छारूपा चिति पहले ही उत्पन्न हो गई, वैसे ही आज भी उसकी अभिलषित चिति ही प्रत्येक जीवके भीतर उदित हो रही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे एक प्रथम बीजसे अनेक वृक्ष तथा बीजोंकी परम्परा उदित होती है वैसे ही हिरण्यगर्भरूप चेतनकी इच्छासे प्रत्येक जीवसे ब्रह्माण्डपरम्परा उदित होती है ॥ ५६ ॥

चन्द्र, सूर्य और पवन—ये तीनों उस हिरण्यगर्भके कफ, पित्त और वायुरूप हैं और दूसरे जो ग्रह तथा नक्षत्र समूह हैं वे उसके प्राणष्ठीवनके सीकर हैं यानी प्राण द्वारा बाहर निकले हुए थूकके कफबिन्दु हैं ॥ ५७ ॥

पर्वतसमूह उसके अस्थि हैं, सारे मेघ उसकी चर्बीकी जाति-जैसे हैं, उसके सिर, पैर और त्वचारूप देहावयवोंको—ऊपर-नीचेके कपालों तथा ब्रह्माण्डोंके आवरणोंको—दूरीके कारण हम लोग नहीं देख पाते ॥ ५८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संसारको आप विराट् पुरुषका शरीर समझिये। वह भी कल्पनात्मक उस विराट्की एकमात्र कल्पनारूप ही है। वह न तो कोई बाह्यसाधनसे साध्य है और न वस्तुतः मनकी कल्पनारूप कुछ है। इसलिए

चतुःसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

तस्मिन् कल्पे तु सङ्कल्पे तस्य यद्वपुरास्थितम् ।
शृणु तत्र व्यवस्थेयं विचित्राचारहारिणी ॥ १ ॥
परमं यच्चिदाकाशं तद्विराडात्मनो वपुः ।
आद्यन्तमध्यरहितं लघुत्वस्य वपुर्जगत् ॥ २ ॥

आकाश, तथा पर्वत, पृथिवी तथा सागर आदि सबके सब प्रशान्त चिदाकाश-रूप ही हैं ॥ ५९ ॥

तिहत्तरवां सर्ग समाप्त

चौहत्तरवाँ सर्ग

[जो लोक उस ब्रह्माके अङ्गभूत हैं जो उसके पृथक्-पृथक् अवयव हैं तथा जिस तरह ये सब इसके अन्दर स्थित हैं—इन सबका वर्णन]

उस ब्रह्माका कौन अङ्ग यह भूलोक है और कौन अङ्ग स्वर्ग अथवा पाताल है ? इस विभागप्रश्नका, 'कथं वासोऽन्तरे तस्य' इस प्रश्नका तथा 'कथं वा तन्मनोमात्रं निराकृतिरिदं स्थितम्' इस प्रश्नका भी विस्तारके साथ उत्तर देनेके लिए अब महाराज वसिष्ठजी श्रोताको सावधान कर रहे हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस शिलाके उदरमें देखे गये ब्रह्मकल्पात्मक उस विराट्के सङ्कल्पमें जो ब्रह्माण्डात्मक शरीर स्थित है उसकी विचित्र आचारोंसे चित्तको हर लेनेवाली जो यह जन्म, कर्म, अवयव आदिकी व्यवस्था है, वह आप सुनिये ॥ १ ॥

उस विराट्का ब्रह्म ही वास्तविक स्वरूप प्राथमिक और अकल्पित है । उस विराट्का शरीर तो उसकी दृष्टिसे अत्यन्त ही लघुतर है, यह कहते हैं—'परमम्' इत्यादिसे ।

आदि, अन्त और मध्यसे रहित जो परम चिदाकाश है, वही विराडात्माका प्रथम कल्पनारहित शरीर है तथा उसका कल्पित यह जगद्रूप शरीर तो अत्यन्त ही लघु है ॥ २ ॥

सङ्कल्परहितो ब्रह्मा स्वाण्डं सङ्कल्पनात्मकम् ।
वपुषः परितो भास्वत्पश्यत्याकाशमेव तत् ॥ ३ ॥
ब्रह्मात्मैष स्वसङ्कल्पं स्वमण्डमकरोद्‌द्विधा ।
तैजसं तैजसाकारः पुष्टः पुष्टं विहङ्गवत् ॥ ४ ॥
अण्डस्यैकं नभोदूरं गतं संबुद्धवानसौ ।
भुवोऽधःसंस्थितं भागं व्यतिरिक्तं च नात्मना ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभाग ऊर्ध्वस्थो विराजः शिर उच्यते ।
अधोभागोऽस्य पादाख्यो नितम्बो मध्यमात्रखम् ॥ ६ ॥

आदि, मध्य और अन्तसे रहित चिदाकाश ही उसका स्वरूप है, यह आप कैसे जानते हैं, इसपर कहते हैं—'सङ्कल्परहितो' इत्यादिसे ।

चूँकि वह ब्रह्मा अपने सङ्कल्पित ब्रह्माण्ड-शरीरसे बाहर सङ्कल्परहित होकर यानी सङ्कल्प-शून्य साक्षी चिदाकाशमात्र होकर सङ्कल्पनात्मक अपने अण्डको चारों तरफ देखता है । वास्तवमें तो वह ब्रह्माण्ड भी प्रकाशमय चिदाकाश-रूप ही है ॥ ३ ॥

उस विराडात्माका सिर, पैर और नितम्ब बतलानेके लिए सर्वप्रथम ब्रह्माण्डके ऊपर तथा नीचेके भागको उसका कपाल (खोपड़ी) तथा पैर बतलाते हैं—'ब्रह्मात्मैव' इत्यादिसे ।

लिङ्गसमष्टिके अभिमानी चिदाकार पुष्ट उस ब्रह्मात्माने अपने सङ्कल्परूप सुवर्णमय अण्डका ऐसे दो भाग किया, जैसे अपने पुष्ट अण्डका पक्षी दो भाग करता है ॥ ४ ॥

उस अणुके ऊपरके एक भागको उसने ऊर्ध्वगत आकाश समझ लिया तथा नीचेका भाग जो स्थित था उसे उसने भूलोक मान लिया । अर्थात् उस अणुके दोनों भागमें जो ऊपरका भाग था वही आकाश तथा नीचेका जो भाग था वह पृथ्वी आदि लोक कल्पित हुआ । यद्यपि उस विराट् पुरुषने उन दोनोंमें आकाश तथा भूलोक आदिकी कल्पना की, लेकिन फिर भी अपनेसे अतिरिक्त न तो उसने आकाशकी कल्पना की और न इस भूलोककी ही कल्पना की । ब्रह्माण्डके सबसे ऊपरका जो हिस्सा है वह उस विराट् पुरुषका सिर कहलाता है तथा नीचेका जो हिस्सा है वह उसका पैर कहा जाता है एवं इन दोनोंके

दूरं विमुक्तयोः सन्धिः खण्डयोरिति विस्तृता ।
अनन्ता व्योमलेखा सा श्यामा शून्येति दृश्यते ॥ ७ ॥
द्यौस्तालुविपुलं तस्य तारारुधिरबिन्दवः ।
संविद्वातलवा देहे सुरासुरनरादयः ॥ ८ ॥
देहान्तःकृमयस्तस्य भूतप्रेतपिशाचकाः ।
लोकान्तराणि रन्ध्राणि सुषिराण्यस्य देहके ॥ ९ ॥
ब्रह्माण्डखण्डमस्याधो विस्तृतं पादयोस्तलम् ।
जानुमण्डलरन्ध्राणि पातालकुहराण्यधः ॥ १० ॥
जलैश्चलचलायन्ती सुषिरानेकरन्ध्रिका ।
भूरन्तर्मण्डली लोला समुद्रद्वीपवेष्टना ॥ ११ ॥

बीचका जो अन्तरिक्ष—आकाश है, वह उस विराट् पुरुषका नितम्ब कहलाता है ॥ ५,६ ॥

बहुत दूर विभक्त हुए उन कपालखण्डोंकी अति विस्तृत जो मध्य सन्धि है वह अनन्त—शून्य श्यामवर्ण आकाशकी रेखाके रूपमें लोगोंको दिखाई देती है ॥ ७ ॥

अन्तरिक्ष उस विराट् पुरुषका विशाल तालु है, तारागण रुधिरके बिन्दु हैं तथा देहमें सुर, असुर और नर आदि बुद्धि तथा प्राणकी वृत्तियोंके भेद हैं ॥८॥

भूत, प्रेत, पिशाच आदि उसके शरीरके भीतर रहनेवाले रक्त-मांस आदि अपवित्र पदार्थों के लोलुप ये कीड़े हैं, सूर्य और चन्द्र आदि लोक उसके शरीरके छिद्र हैं तथा याम्यादि नरकके लोकान्तर उसके चक्षु आदि शरीर के नीचेके सूराख हैं ॥ ९ ॥

इस भूमण्डलके नीचेका ब्रह्मण्डखण्ड उसके पैरका विस्तृत तलवा है और नीचे जो पाताल गर्त हैं वे उसके जानुमण्डलके छिद्र हैं ॥ १० ॥

जलोंसे चलायमान सूराखोंसे पूर्ण, अनेक छिद्रोंवाली, काम, रोग, जरा, मरण आदिसे व्याकुल तथा सातों समुद्र एवं सभी द्वीप जिसके वेष्टन हैं—करधनी एवं कटिसूत्रकी जगहपर हैं, ऐसी पृथिवी उस विराट् पुरुषकी मध्यस्थ वस्ति, जाँघ एवं नितम्बमण्डली है ॥ ११ ॥

जलैर्गुडगुडायन्त्यो नद्यो नाड्यः सरिद्रसः ।
जम्बूद्वीपं हृदम्भोजमस्य हेमाद्रिकर्णिकम् ॥ १२ ॥
कुक्षयः ककुभः शून्या यकृत्प्लीहादयोऽचलाः ।
मृद्व्यः स्निग्धाः पटाकारा मेदसो जालिका घनाः ॥ १३ ॥
चन्द्रार्कौ लोचने तस्य ब्रह्मलोको मुखं स्मृतम् ।
तेजः सोमोऽस्य कथितः श्लेष्मा प्रालेयपर्वतः ॥ १४ ॥
अग्निलोकस्तथौर्वाग्निः पित्तमस्यातिदुःसहम् ।
वातस्कन्धमहावाताः प्राणापाना हृदि स्थिताः ॥ १५ ॥
कल्पद्रुमवनान्यस्य सर्पवृन्दानि च क्वचित् ।
लोमजालान्यनन्तानि वनान्युपवनानि च ॥ १६ ॥
ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डं तु समस्तद्गुरुमस्तकम् ।
ब्रह्माण्डप्रान्तरन्ध्रार्चिरस्य दीप्ता शिखोत्थिता ॥ १७ ॥

जलोंसे गुड़-गुड़ शब्द करनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ी हैं तथा नदियोंका जल उसके शरीरका रस है और हेमाद्रिकर्णिकासहित जम्बूद्वीप उसका हृदयकमल है ॥ १२ ॥

शून्य दिशाएँ उसके कुक्षिभाग हैं, सभी पर्वत उसके यकृत्-प्लीहादि हैं और मेघसमूह उसके कोमल तथा चिकने पटाकार चर्वीके समूह हैं ॥ १३ ॥

चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं, ब्रह्मलोक उसका मुख कहा गया है, सोम उसका वीर्य तथा हिमालयपर्वत श्लेष्मा (कफ) कहा गया है ॥ १४ ॥

अग्निलोक तथा पृथिवीके अन्दरकी अग्नि इसका अतिदुःसह पित्त है। वातस्कन्धोंमें प्रसिद्ध जो आवह, निवह, प्रवह आदि महावात हैं वे इसके हृदयमें स्थित प्राण और अपान हैं ॥ १५ ॥

कल्पवृक्षोंके वन, पाताल आदिमें प्रसिद्ध साँपोंके झुण्ड तथा वन एवं उपवन इस विराट् पुरुषके अनन्त रोम हैं ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डके खण्डका सम्पूर्ण ऊर्ध्वभाग इसका विशाल मस्तक है। ब्रह्माण्डके ऊर्ध्वप्रान्तके छिद्र प्रसिद्ध दीप्त ज्योति ही इसकी प्रदीप्त शिखा खड़ी है* ॥१७॥

* देखिये यह श्रुति—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु'।

स्वयमेष मनस्तेन मनो नास्योपयुज्यते ।
आत्मैव भोक्तृतामेति किल कस्य कथं कुतः ॥ १८ ॥
स्वयमेवेन्द्रियाण्येष तेनान्यत्राऽस्तिता कृता ।
यतस्तत्कल्पनामात्रमेवेन्द्रियगणः किल ॥ १९ ॥
अवयवावयविनोरिवेहेन्द्रियचित्तयोः ।
न मनागपि भेदोऽस्ति चैक्यमेकशरीरयोः ॥ २० ॥
तस्य तान्येव कार्याणि जगतां यानि कानिचित् ।
सङ्कल्पा एव पुंवृत्त्या चलन्त्यारुपितद्धिताः ॥ २१ ॥

इस प्रकार अपने विराट् शरीरकी कल्पना करनेवाले उस विराट् पुरुषका कौन मन और कौन इन्द्रियाँ हैं, इसपर कहते हैं—'स्वयमेष' इत्यादिसे ।

चूँकि समस्त समष्टि मनके आत्मा ये विधाता स्वयं मनरूप ही हैं, इसलिए इनकी सभी कल्पनाओंमें किसी दूसरे मनका इन्हें उपयोग नहीं करना पड़ता । मनरूप विधाताको भी किसी दूसरे मनकी आवश्यकता होनेपर अनवस्था हो जायगी । जब यह निश्चित है कि एकमात्र आत्मा ही भोक्तृताको प्राप्त होता है तब भला किसका * कहाँसे कैसे संभव हो ॥ १८ ॥

इसी तरह इन्हें इन्द्रियोंका भी उपयोग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे स्वयं इन्द्रियरूप हैं । इसलिए इन इन्द्रियोंकी अस्तिता इनसे अन्योंमें—हम लोगोंमें कल्पित है । और वे सब इन्द्रियाँ वस्तुतः एकमात्र कल्पनारूप ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है † ॥ १९ ॥

तब इन्द्रिय और मनमें भेदव्यवहार क्यों होता है, इसपर कहते हैं—'अवयवा०' इत्यादिसे ।

अवयव और अवयवीके सदृश एक शरीरधारी इन्द्रिय और चित्त (मन) में तनिक भी भेद नहीं है, इन दोनोंमें एकता ही है ॥ २० ॥

यही कारण है कि सम्पूर्ण जगत्की क्रिया भी उसीकी क्रिया है, इसलिए क्रियाके विषयमें अलग प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह कहते हैं—'तस्य' इत्यादिसे ।

---

* अर्थात् मनका ।

† इन्द्रियोंकी कल्पनामें इन्द्रिय ही निमित्त हैं, ऐसा तो कभी कह नहीं सकते, क्योंकि ऐसा माननेपर अनवस्था होने लगेगी, यह तात्पर्य है ।

जागते तस्य विज्ञेये नान्येऽस्य मृतिजन्मनी ।
स एवेदं जगत्यस्मत्सङ्कल्पात्मास्य नेतरत् ॥ २२ ॥
तत्सत्तया जगत्सत्ता तन्मृत्यैव जगत्मृतम् ।
यादृशी स्पन्दमरुतोः सत्तैका तादृशी तयोः ॥ २३ ॥
जगद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव ।
जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम् ॥ २४ ॥
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः ।
सङ्कल्पमात्रमेवैते शुद्धचिद्व्योमरूपिणः ॥ २५ ॥

संसारके जो कुछ कार्य हैं वे सबके सब एकमात्र उसीके कार्य हैं अर्थात् संसारकी सम्पूर्ण क्रियाएँ उसीकी क्रिया हैं, क्योंकि ब्रह्माके सङ्कल्प ही सब जीवोंके रूपसे अपनेमें भेदका आरोप करके जगत्के समस्त व्यवहारके रूपमें चलते हैं ॥ २१ ॥

तब तो हम लोगोंका मरण और जन्म भी उसीका मरण और जन्म है। ऐसी स्थितिमें द्विपरार्ध कालतक उसके जीवनकी जो प्रसिद्धि है, उसमें विरोध होने लगेगा, इस आशङ्कापर कहते हैं—'जागते' इत्यादिसे।

समष्टि जगत्के यानी समस्त जगत्के जन्म और मरणको ही उस ब्रह्माका जन्म और मरण समझना चाहिए, हमारे-जैसे व्यक्तिविशेषके जन्म और मरणको उस ब्रह्माका जन्म और मरण नहीं जानना चाहिए, क्योंकि जगत्में समष्टिरूप वही है तथा हम लोगोंका जो सङ्कल्प है तद्रूप भी वही है। उस ब्रह्माका समष्टि तथा व्यष्टिसे अतिरिक्त और कोई दूसरा रूप ही नहीं है ॥ २२ ॥

क्यों यह सब कुछ ब्रह्म ही है ? इसपर कहते हैं—'तत्सत्तया' इत्यादिसे।

उसकी सत्तासे जगत्की सत्ता तथा उसके मरणसे यानी अभावसे जगत्का मरण यानी अभाव है। जैसी स्पन्द और वायुकी सत्ता एक है वैसी ही ब्रह्म और जगत्की सत्ता एक है ॥ २३ ॥

वायु और उसके स्पन्दके समान जगत् और विराट् पुरुषकी सत्ता एक ही है। जो जगत् है वही विराट् है और जो विराट् है वही जगत् कहा गया है ॥ २४ ॥

जगत्, ब्रह्मा और विराट्—ये तीनों एक अर्थके वाचक शब्द हैं तथा

श्रीराम उवाच

सङ्कल्पात्स विराडेव खमेवाकृतिमागतम् ।
अस्तु नाम स्वदेहान्तः कथं ब्रह्मैव तिष्ठति ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा ध्यानेन देहान्तस्तिष्ठसि त्वं यथा स्थितम् ।
तथास्ते निजदेहेऽन्तः सङ्कल्पात्मा पितामहः ॥ २७ ॥
नृणां तथा च मुख्यानां जीवो ब्रह्मपुरोदरे ।
उत्पत्तिपुत्रिकादेहः प्रतिबिम्बोपमोऽस्ति सः ॥ २८ ॥

ये दोनों यानी विराट् और जगत् शुद्ध चिदाकाशरूप परमात्माके सङ्कल्प-मात्र ही हैं * ॥ २५ ॥

'अस्तु नाम' यहाँतकके पदसे महाराज वसिष्ठजीका कथन स्वीकार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी अवशिष्ट प्रश्नका स्मरण कराते हैं—'सङ्कल्पात्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, सङ्कल्पसे चिदाकाशरूप वह विराट् ही साकारताको प्राप्त हुआ, यह तो मैंने स्वीकार कर लिया, किन्तु कृपाकर यह कहिये कि वह ब्रह्मा अपने शरीरके भीतर रहते कैसे हैं * ॥ २६ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, मानसपूजा करते समय ध्यान लगाकर हृदयमें कल्पित रत्नमण्डपके भीतर स्थित देवमें प्रविष्ट होकर उस देवताकी छत्र, चामर, व्यजन, दर्पण, ताम्बूल आदिसे परिचर्या कर रहे अपनेको उस देवताके समीपमें स्थित जैसे आप अनुभव करते हैं, वैसे ही सङ्कल्पस्वरूप पितामह भी अपने शरीरके भीतर स्थित रहते हैं ॥ २७ ॥

किंच, स्थूल देहात्मक अपने हृदयपुण्डरीकमें लिङ्गदेहात्मक अपनी अव-स्थिति सभी विवेकियोंको अनुभवसिद्ध है, यह कहते हैं—'नृणाम्' इत्यादिसे ।

विवेकी पुरुषोंका जीव अपने स्थूल शरीरके भीतर हृदयपुण्डरीकमें अव-स्थित रहता है । वह सबकी देह उत्पन्न हुई प्रतिमा-जैसी है, यही कारण है कि दर्पणके अन्तर्गत प्रतिबिम्बके सदृश वे ब्रह्माजी हैं ॥ २८ ॥

* 'बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध जो सङ्कल्प है वह भी तो निःस्वरूप ही है, इसलिए बहुत छान-बीन करनेपर भी हमें एकमात्र ब्रह्म ही शेष मिलता है ।

* अर्थात् 'कथं वासोऽन्तरे तस्य स्वस्यैव वपुषः स्थितः' इस मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये ।

यत्र त्वमपि देहान्तः कर्तुं शक्तोऽस्यलं स्थितम् ।
सङ्कल्पात्मा विभुस्तत्र ब्रह्मा किं न करिष्यति ॥ २९ ॥

बीजान्तः स्थावरं ह्यास्ते पदार्थे यत्र जङ्गमः ।
किं नास्ते तत्र देहेन्तर्निजचित्कल्पनात्मिका ॥ ३० ॥

साकारो गगनात्माऽस्तु निराकारं खमस्तु वा ।
आस्ते बहिरथान्तश्च भिन्ने बाह्यान्तरे बहिः ॥ ३१ ॥

आत्मारामः काष्ठमौनी न जडोऽपि दृषज्जडः ।
अहं त्वमित्यादिमयो विराडात्मनि तिष्ठति ॥ ३२ ॥

कैमुतिक न्यायसे अपने शरीरके अन्दर विधाताकी स्थिति बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादिसे ।

जब कि आप भी अपने स्थूल शरीरके भीतर अपनी स्थिति भलीभाँति कर सकते हैं, तब भला सर्वसमर्थ सङ्कल्पात्मा ब्रह्मदेव अपनी स्थिति क्यों नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

जब स्थावरोंमें भी अपने बीजसे अन्य शरीर धारण करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है, तब भला सर्वशक्तिसम्पन्न चितिकी कल्पनारूप ब्रह्ममूर्तिके विषयमें क्या कहना है, यह कहते हैं—'बीजान्तः' इत्यादिसे ।

जब स्थावर पदार्थ भी बीजके भीतर स्थित रहते हैं तब भला जंगम सर्वशक्तिमान् ब्रह्माजी अपनी देहके भीतर क्यों नहीं स्थित रह सकते, जो स्वयं चितिकी कल्पनारूप हैं ॥ ३० ॥

ऐसी स्थितिमें ब्रह्माजी चाहे ब्रह्माण्डाकारसे साकार होते हुए भी चिदाकाशस्वरूप बने रहें अथवा समष्टि मनके रूपसे निराकार चिदाकाशस्वरूप स्थित रहें, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि वे दोनों पक्षमें बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । बाह्य तथा आभ्यन्तर जो कल्पनाएँ हैं वे दोनों ही स्वरूपसे बाहर स्थित हैं अतः वे भिन्न हैं अर्थात् इन्हींका भेद होता है, आन्तर सद्रूपकी जो आपने कल्पनाकर रखी है उसका भेद नहीं होता ॥ ३१ ॥

अच्छा तो वह विराट् पुरुष बाहर और भीतर किस प्रकारका है और वस्तुतः किस स्वभावमें वह स्थित रहता है, यह कहते हैं—'आत्मारामः' इत्यादिसे ।

आवेष्टितोज्झितलतातृणदारुपुंव-
दुच्छब्दमम्बुरयवच्च विरोपिताङ्गः ।
नानाविधेऽपि विहरन्नपि कार्यजाले
तज्ज्ञः शिलाजठरशान्तमनस्क एव ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विराडात्मवर्णनं नाम चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

वही विराट् पुरुष बाहर ब्रह्माण्डरूपसे स्थित है तथा भीतर 'अहं, त्वम्' इत्यादि व्यष्टि एवं समष्टिभूतभौतिकमय है । लेकिन अपने स्वरूपमें तो आत्माराम होकर भी वह काष्ठवत् मौनी तथा पत्थरके समान जड़ होकर भी वस्तुतः वह चिदेकरसरूप होनेके कारण जडरूपसे स्थित नहीं है ॥ ३२ ॥

केवल ऐसी स्थिति विराट् पुरुषकी ही है, यह बात नहीं है, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानियोंकी भी ऐसी ही स्थिति है, यह दिखलानेके लिए उसी स्थितिका दृष्टान्तों द्वारा साफ-साफ वर्णन करते हैं—'आवेष्टित०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, न केवल विराट् पुरुष, किन्तु सभी तत्त्वज्ञानी पुरुष लता, तृण, काष्ठपुरुष या प्रतिमाके समान पहले रत्न आदिसे आबद्ध हो पुनः मुक्त हो जानेपर भी कुपित नहीं होते, बल्कि चुपचाप स्थित रहते हैं तथा जलके प्रवाहके सदृश अवरुद्ध और छिन्न-भिन्न अङ्ग होनेपर भी अपनी प्राक्तन शान्त स्थितिको नहीं छोड़ते एवं नाना प्रकारके कार्यसमूहमें विहार करते हुए भी शिलाके उदरके समान क्रोधादिरहित शान्तचित्त ही स्थित रहते हैं—क्रोध, हर्ष, विषाद आदिसे तनिक भी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ ३३ ॥

चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथाग्रस्थब्रह्मलोको ब्रह्मणि ध्यानशालिनि ।
निक्षिप्ताक्षः शनैर्दिक्षु दृष्टवानहमग्रतः ॥ १ ॥
द्वितीयमर्कं मध्याह्ने पश्चादभ्युदितं स्फुटम् ।
दिग्दाहमिव दिग्वक्त्रे वनदाहमिवाचले ॥ २ ॥
बह्निलोकमिव व्योम्नि वडवाग्निमिवार्णवे ।
ततोऽपश्यमहं दीप्तं सूर्यं नैर्ऋतदिङ्मुखे ॥ ३ ॥
सूर्यं याम्ये ककुब्भागे सूर्यमग्निककुब्मुखे ।
सूर्यमैन्द्रककुब्भागे सूर्यमीशानदिङ्मुखे ॥ ४ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग

[ब्रह्माके ध्यानमें तत्पर होनेपर बारह सूर्योंकी उत्पति तथा सारे संसारको जला रही प्रलयाग्निका वर्णन]

प्रासङ्गिक प्रश्नको समाप्तकर अब एकमात्र प्रस्तुत आख्यायिकाका अनुसन्धान करते हैं—'अथा०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जब ब्रह्मदेव ध्यानमें लवलीन हो गये तब इन्द्रके सहित उनके नगर तथा सुमेरु पर्वतके शिखरपत्तन देखनेके बाद मैंने धीरेसे दिशाओंकी ओर अपनी आँखें दौड़ायीं, तब मैंने अपने सामने पश्चिम दिशाकी ओर साफ उदित हुए—दिशाओंके मुंहमें दाहके सदृश तथा पर्वतके ऊपर वनदाहके समान, मध्याह्नकालके सूर्यसे भिन्न एक दूसरे ही सूर्य भगवान्‌को देखा ॥ १, २ ॥

इसके बाद आकाशमें अग्निलोकके तुल्य तथा सागरमें वडवानलके समान प्रदीप्त हुए एक और सूर्यको मैंने नैर्ऋत्यदिशामें उदित देखा ॥ ३ ॥

तदनन्तर दक्षिण दिशामें, उसके बाद अग्निकोणमें, फिर पूर्वदिशाकी ओर, उसके बाद पुनः मैंने ईशानकोणमें उदित हुए—इस तरह भिन्न-भिन्न सूर्य मैंने देखे ॥ ४ ॥

कुबेरकुकुभि सूर्यं सूर्यं वायव्यदिक्तटे ।
सूर्यं वरुणदिग्भागे तेन विस्मयवानहम् ॥ ५ ॥
यावद्विचारयाम्याशु विधिवैधुर्यमाकुलम् ।
उदभूद्भूतलात्तावदर्क और्व इवार्णवात् ॥ ६ ॥
एकादशेऽखिलार्काणां प्रतिबिम्बमिवोत्थितम् ।
उदभूत्त्रयमर्कानामन्तरे दिग्गणाम्बरे ॥ ७ ॥
तद्धि रौद्रं वपुस्तत्र तन्मध्ये लोचनत्रयम् ।
तद्द्वादशपरीमाणं दीप्तं वृन्दं विवस्वताम् ॥ ८ ॥
सर्वदिक्कं ददाहोच्चैः शुष्कं वनमिवाऽनलः ।
अथोदभूज्जगत्खण्डशोषणग्रीष्मवासरः ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद उत्तरदिशामें, वायव्यकोणमें तथा पश्चिम-दिशामें भिन्न-भिन्न सूर्यदेव भगवान्‌को देखकर मैं आश्चर्यचकित हो गया ॥ ५ ॥

इतनेमें व्याकुल होकर ज्यों ही मैं दैवकी प्रतिकूलताको विचारने लगा त्यों ही झट भूतलसे सूर्य ऐसे प्रादुर्भूत हुआ, जैसे सागरसे और्व—वड़वानल ॥ ६ ॥

दिग्गणोंके मध्याकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ । उस ग्यारहवें सूर्यमें, दर्पणमें प्रादुर्भूत हुए प्रतिबिम्बकी तरह, तीन अन्य सूर्य उदित हुए * ॥ ७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस ग्यारहवें सूर्यमें वे तीनों सूर्य भगवान् रुद्रके शरीर हैं । उस भगवान् रुद्रके शरीरके मध्यमें तीन नेत्र हैं । बारह सूर्योंके आकारके बराबर परिमाणवाला प्रदीप्त सूर्योंका समूह होकर वह रौद्र शरीर सभी दिशाओंको खूब जोरसे ऐसे जलाने लगा, जैसे सूखे जंगलको अग्नि । तदनन्तर जगत्खण्डको शुष्क बना देनेवाला ग्रीष्म ऋतुका दिन प्रकट हुआ ॥ ८, ९ ॥

---

* दसों दिशाओंके बीचमें उदित हुए सूर्यके अन्दर उदित तीन सूर्यस्वरूप एक ही ब्रह्मा, विष्णु और शिवात्मक रुद्रका यह एक रौद्र शरीर है । वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः' इस गायत्रीसे प्रकाशित होता है । एकमात्र यही कारण है कि वह चौबीस अक्षरोंसे प्रसूत चौबीस हजार श्लोकोंके पूर्वरामायणके सारसंग्रहस्वरूप आदित्यहृदयमें 'ब्रह्मेशानाच्युतेशाय रौद्राय वपुषे नमः' इस श्लोकसे तीन मूर्तियोंके मूलभूत परमशिवके रूपसे नमस्कृत हुआ है, सभी विद्वान् लोग उसीको सर्वोत्कृष्ट उपास्य देव कहते हैं, यह एक ज्ञातव्यविषय है ।

अनग्निरग्निदाहो द्रागदृश्योल्मुकगुल्मकः ।
अनग्निनाऽग्निदाहेन तेन तामरसेक्षण ॥ १० ॥

अङ्गानि दावदग्धानि खिन्नानीव ममाभवन् ।
प्रदेशं तमथ त्यक्त्वा दूरमारूढवानहम् ॥ ११ ॥

दृढहस्ततलाघातहतकन्दुकवद्भ्रमः ।
अपश्यं गगनस्थोऽहमुदितं चण्डतेजसम् ॥ १२ ॥

तपन्तं द्वादशादित्यगणं दिक्षु दशस्वपि ।
बृहत्तत्र सताराव्ज्वालेव भगणं चलम् ॥ १३ ॥

महाकुहकुहाशब्दं क्वथत्सप्ताब्धिडम्बरम् ।
सज्वालोल्मुकनीरन्ध्रलोकान्तरपुरान्तरम् ॥ १४ ॥

ज्वालाघनपटाटोपसिन्दूरीकृतपर्वतम् ।
दीप्यमानमहागारस्थिरविद्युत्ककुत्पटम् ॥ १५ ॥

हे कमलनयन, इसके बाद झट बिना अग्निके ही अग्निका दाह तथा अदृश्य उल्मुकोंके गुल्मक उत्पन्न हुए। अग्निरहित उस सौराग्निके दाहसे मेरे सभी अङ्ग दावाग्निसे दग्ध अतएव खिन्न-से हो गये। उसके बाद उस प्रदेशको छोड़कर मैं बहुत दूर आकाशमें आरूढ़ हो गया ॥ १०, ११ ॥

और प्रबल हथेलीके आघातसे मारे जा रहे गेंदकी तरह आकाशमें जाकर वहाँ स्थित हो मैंने उदित हुए प्रचण्डतेजयुक्त तप रहे बारह सूर्यसमूहको दसों दिशाओंमें भी देखा। तथा उन दिशाओंमें तारोंके सहित आकाशको व्याप्त कर देनेवाली ज्वालाके समान चंचल वर्तुलाकार बृहत् नक्षत्रचक्र देखा ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वहाँ मैंने महाकुहकुह शब्दोंसे युक्त सातों समुद्रको खूब खौलाकर काढ़ा बना रहे तथा ज्वालासहित उल्मुकोंसे सारे लोक और समस्त नगरोंके भीतरी भागको अच्छी तरह परिपूर्ण कर देनेवाले बारह सूर्य-समूहको देखा ॥ १४ ॥

उस सूर्यमण्डलने ज्वालासदृश घन रक्तवस्त्राडम्बरोंसे सारे पर्वतोंको सिन्दूरी रङ्गका कर दिया था तथा देदीप्यमान लोकपालोंके घरोंमें स्थिर बिजलीकी तरह उसने समस्त दिशामण्डलको बना दिया था ॥ १५ ॥

स्फुरत्कटकटाटोपचटत्पत्तनमण्डलम् ।
विदधद् भूतलोद्भूतधूमदण्डैः शिलाघनैः ॥ १६ ॥
काचस्तम्भसहस्राढ्यं भुवनस्थानमण्डपम् ।
क्वथद्भूतमहाभूतताराक्रन्दातिघर्घरम् ॥ १७ ॥
भूतलोकपुरापातस्फुटच्चटचटोद्भटम् ।
ताराविसरणोद्घातघृष्टरत्नधरातलम् ॥ १८ ॥
सर्वस्थलालयचलद्दह्यमानजनव्रजम् ।
क्षीणाक्रन्दक्वथद्भूतगणदुर्वासदिक्तटम् ॥ १९ ॥
उत्तप्ताम्बुदशाखिन्नजलेचरमहार्णवम् ।
सर्वदिक्कानलप्लोषक्षीणाक्रन्दपुरान्तरम् ॥ २० ॥

चट-चट शब्द करते हुए नगरोंके मण्डलको उसने स्फुरित हो रहे कट-कट शब्दोंके आडम्बरोंसे युक्त कर दिया था। शिलाके समान घनीभूत, भूतलपर उद्भूत हुए दण्डाकार धूमोंसे भुवनस्थानमण्डलको हजारों काचके खम्भोंसे वह परिपूर्ण बना रहा था। क्वाथरूपमें परिणत हो रहे समस्त प्राणियों तथा पृथिवी आदि महाभूतोंके ऊँचे आक्रन्दनसे उसमें अतिघर्घर शब्द हो रहा था ॥ १६, १७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह बारह आदित्योंका मण्डल, जिसका मैंने अवलोकन किया, चारों ओरसे समस्त प्राणियोंके लोकों एवं उनके अन्तर्गत नगरोंके पतनसे फट रहे पदार्थोंके चटचटाशब्दोंसे उद्भट—प्रचण्ड था। अश्विनी आदि तारा-समूहोंके पतनके अभिघातोंसे धरातलके रत्नोंको वह घिस रहा था ॥ १८ ॥

सभी स्थानोंमें अपने-अपने घरोंके भीतर उसके तापसे जल रहा जन-समुदाय इधर-उधर जोरोंसे भाग रहा था। मरे हुए तथा आक्रन्दनपूर्वक खूब पकाये जा रहे प्राणिसमुदायसे वह सारे दिक्तटोंको दुर्गन्धयुक्त बना रहा था ॥ १९ ॥

सारे महासागरोंके जलजन्तुओंको, जो उनके उदरमें रह रहे थे, सन्तप्त हुए जलोंसे व्याकुल कर रहा था। सारी दिशाओंमें व्याप्त अग्निके दाहसे उसने भिन्न-भिन्न अनेक नगरोंके प्राणियोंको मारकर उन्हें रोदनसे शून्य बना रहा था—उनमें रोनेवाला कोई एक भी प्राणी न रह जाय, ऐसा उन्हें कर रहा था ॥ २० ॥

विदलद्दग्धदिग्दन्तिदन्तोत्तम्भितभूधरम् ।
धराधरदरीरन्ध्रधूममण्डलकुण्डलम् ॥ २१ ॥
पतत्पर्वतनिष्पिष्टप्लुष्टपत्तनमण्डलम् ।
पचत्पचपचाशब्दशब्दिताद्रीन्द्रकुञ्जरम् ॥ २२ ॥
तापतप्तोन्नमद्भूतज्वरितार्णवपर्वतम् ।
हृदयस्फोटनिःसारपतद्विद्याधराङ्गनम् ॥ २३ ॥
आक्रन्दरोदनश्रान्तमूर्द्धनिःसरणामरम् ।
नाकलोकज्वलज्जालापातालोत्तप्तभूतलम् ॥ २४ ॥
शुष्कार्णवसदापक्वविवर्तोग्रजलेचरम् ।
और्वेणाबिन्धनाभावात्प्रोड्डीयेव सहस्रधा ।
गतेन नृत्यतोत्थाय गृहीतगगनाङ्गनम् ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मैंने बारह आदित्योंका वह समुदाय देखा, जो विदलित हो रहे तथा दग्ध हो चुके दिग्गजोंके दाँतोंरूपी खम्भोंसे दिगन्तपर्वतोंको अग्रभागमें धारण करा रहा था तथा पर्वतोंकी कन्दराओंके छिद्रोंको धूममण्डलोंसे कुण्डलमय बना रहा था यानी परिपूर्ण कर रहा था ॥ २१ ॥

वह जले हुए नगरोंके मण्डलोंको गिर रहे पर्वतोंके द्वारा पीस-पीसकर खूब चूर्णरूपमें परिणत कर रहा था और पचपच शब्दोंसे शब्दमय हो रहे महा-पर्वतोंके हाथियोंको वह खूब पकानेमें संलग्न था ॥ २२ ॥

सन्तापसे सन्तप्त होकर उछलते हुए प्राणियों द्वारा सभी सागरों एवं पर्वतोंको वह ऐसा बना रहा था, मानो उन्हें ज्वर आ गया हो । हृदय फटनेसे सारहीन हो जानेके कारण विद्याधरों एवं उनकी अङ्गनाओंको गिरानेमें वह बराबर तत्पर हो रहा था ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय कुछ लोग जोर-शोरसे खूब चिल्लाने तथा रोनेसे थक गये थे एवं कुछ योगी लोग उस समय ब्रह्मरन्ध्रको फाड़कर उसके द्वारा अपने प्राणोंको निकाल देनेसे अमर भी हो चुके थे । स्वर्गलोकमें जलती हुई ज्वालाओं द्वारा पातालपर्यन्त सारा भूतल उस समय खूब सन्तप्त हो रहा था ॥ २४ ॥

सूखे समुद्रोंमें उसके द्वारा लगातार सदा पकते रहनेके कारण नक्र आदि

अथोदभूज्ज्वलज्ज्वालाकिंशुकांशुकशोभितः ॥ २६ ॥
ताण्डवायेव कल्पाग्निस्तरलोल्मुकमाल्यवान् ।
तारं पटपटाटोपी रटद्भट इवोद्भटः ॥ २७ ॥
ज्वालोद्भुजो धूमकचो जगज्जीर्णकुटीनटः ।
जज्वलुर्वनजालानि पुराणि नगराणि च ॥ २८ ॥
मण्डलद्वीपदुर्गाणि जङ्गलानि स्थलानि च ।
सर्वखानि महाकाशमाशा दश दिवः शिरः ॥ २९ ॥
श्वभ्ररूपारघट्टाट्टपट्टनोदारदिक्तटः ।
शृङ्गाणि सिद्धवृन्दानि गिरयः सागरार्णवाः ॥ ३० ॥

जल-जन्तु परस्पर खूब टक्कर खा रहे थे, इसलिए वे सबके सब देखनेमें उस समय बड़े भीषण प्रतीत हो रहे थे। जलरूपी इन्धन न मिलनेसे वड़वानल मानो उड़कर स्वयं आकाशमें चला गया। वहाँ पहुँचते ही हजारों तरहसे नृत्य करते हुए उसने अप्सराओंको जिससे उछलकर पकड़ लिया, वह बारह आदित्योंका मण्डल मैंने वहाँ देखा ॥ २५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके अनन्तर प्रलयाग्निरूपी नट जगद्रूपी जीर्ण कुटीमें ताण्डव नृत्य करनेको तैयार हो गया वह जल रही ज्वालारूपी किंशुक पुष्पके वर्णकी तरह वस्त्रोंसे सुशोभित था, बड़े वेगसे फट रहे बाँस आदिके कारण पटपट आदि शब्दोंके आडम्बरसे युक्त था यानी वह उनसे नाना तरहके बाजोंका आडम्बर रखनेवाला था। चंचल उल्मुकरूप माला पहिने हुए था, प्रचण्ड एवं वीरोचित शब्दोच्चारण कर रहे भटकी तरह अलङ्कृत दीखता था, प्रज्वलित ज्वाला-रूपी अपनी लम्बी भुजाओंसे समन्वित तथा धूमरूपी केशोंसे वह विभूषित था। उस प्रलयकी अग्निसे वनोंके समूह, ग्राम, समस्त नगर, मण्डलोंके द्वीप-दुर्ग, जंगल, स्थल, पाताल आदि पृथिवीके समस्त छिद्र, पृथिवीके ऊपरका महाकाश, दसों दिशाएँ, भूलोकके ऊपरका हिस्सा—ये सबके सब जलने लगे ॥२६–२९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कहीं सुन्दर गर्तोंसे शोभित, कहींपर अरघट्टयन्त्रोंसे अलंकृत तथा कहीं ऊँची अट्टालिकाओंसे युक्त अनेक नगरोंसे रमणीय दिशाओंका तट, पर्वतोंके शिखर, उन शिखरोंपर बास करनेवाले सिद्धोंके समूह, उन सिद्ध समूहोंसे युक्त अनेक पर्वत, सागर, महासागर, तालाब, तलैया, नदी, देव, असुर, नर, उरग

सरः सरस्यः सरितो देवासुरनरोरगाः ।
आशाः शनशनाशब्दैः पुरुषैश्च शिवार्चिषाम् ॥ ३१ ॥
आसन् क्ष्वेडाकुराक्षस्यो ज्वालाजालोज्ज्वलोर्ध्वजाः ।
भमद्भमिति भाङ्कारैर्भीषणैर्भूरिभस्मभिः ॥ ३२ ॥
ज्वालाः श्वभ्राद्रिभूमीनां गुहाभ्यः परिनिर्ययुः ।
ज्वालोदरस्था अरुणाः समस्ता भूतजातयः ॥ ३३ ॥
स्थलपद्मोदरालीनामाजहुः श्रियमश्रियः ।
सद्यो निःसृतरक्ताभैः सिन्दूराम्भोदसुन्दरैः ॥ ३४ ॥
धगद्धगिति गायद्भिर्ज्वालाजालैर्जगद्गतैः ।
आसीद्रक्तांशुकैः कीर्णं सन्ध्याभ्रैरिव वा नभः ॥ ३५ ॥

(सर्प) और पुरुषोंके साथ सभी दिशाएँ—ये सबके सब भगवान् रुद्रके नेत्रोंकी ज्वालाओंके शनशना शब्दोंसे जलने लगे ॥ ३०, ३१ ॥

भंभं भांकार भयंकर शब्दोंसे बहुत ज्यादा धूलि फेंकती हुई ये सभी दिशाएँ, दुष्ट राक्षसियोंकी तरह, परस्पर धूलि एवं जल फेंक-फेंककर क्रीड़ा करनेमें तत्पर हो गईं, ये सभी अपने मस्तकके ऊपर ज्वाला-समूहोंसे उज्ज्वल केश धारण किये हुए थीं यानी ज्वालाजालरूपी चमकीले केश इनके माथेपर विराजमान थे ॥ ३२ ॥

उत्तम गर्तोंसे युक्त पर्वतभूमियोंकी गुफाओंसे ज्वालाएँ खूब निकलने लगीं। उन ज्वालाओंके उदरमें स्थित समस्तभूत जातियां लाल रङ्गकी हो गईं ॥३३॥

सम्पत्तिरहित उन सब दिशाओंने तत्काल निकले हुए रक्तके सदृश ज्वाला-जालोंसे, जो सिन्दूरी रङ्गके मेघोंकी तरह सुन्दर थे, स्थल कमलके उदरमें लीन शोभाको धारण किया। धक्-धक् शब्दोंसे गाते हुए सारे संसारमें व्याप्त ज्वालाओंके जालोंसे आकाश मानो रक्त वस्त्रोंसे या सन्ध्याकालीन मेघोंसे आकीर्ण हो गया। अथवा यह भी कह सकते हैं कि ज्वालासमूहोंसे आवृत वह सारा आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उड़कर वहां चले गये विकसित किंशुकके वनोंसे ढँका हो। हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसी ही दशा सम्पूर्ण सागरोंकी भी हो गई, बड़वानलसे संवृत्त सारे सागर भी ऐसे हो गये, मानो उनमें अशोकके वन खिल गये हों, या

उत्फुल्लकिंशुकवनैरुड्डीनैरिव वाऽऽवृतम् ।
और्वेण चाऽऽवृता आसन् फुल्लाशोकवना इव ।
इव स्थलाब्जवलिता राविरा इव चार्णवाः ॥ ३६ ॥
नानावर्णज्वलज्ज्वालाधूमविन्यास बन्धवान् ।
रूढं वह्निमिवाधातुं चित्रसौधतलाश्रयम् ॥ ३७ ॥
अनन्त इव विन्यासवनयौवनपावकः ।
उदयास्तमयादिभ्यो विन्ध्यो विधुरतामगात् ॥ ३८ ॥
अङ्गारकल्पविटपैर्ज्वालावनविवल्गनैः ।
शनैरीषदिव क्षुब्धैः सह्योऽसह्यत्वमाययौ ॥ ३९ ॥
मध्यमध्यकचत्कार्ष्ण्यभ्रमद्धूमालिमालितम् ।
वलज्ज्वालाब्जमलिनं दृष्टं सर इवाम्बरम् ॥ ४० ॥
खेऽद्रीणां शिखरे व्योम्नि शिखाशिखरशेखराः ।
ननृतुर्नीरसा नाशनर्तक्यः केतुकुन्तलाः ॥ ४१ ॥

स्थल कमलोंसे वे संवलित हो गये हों। अथवा प्रातःकालीन सूर्यके समूहोंसे वे व्याप्त हो चुके हों ॥ ३४–३६ ॥

युवावस्थाको प्राप्त दावानल चित्रलिखित कोठोंपरकी मिथ्या अग्निको मानो यथार्थ अग्नि बनानेके लिए नाना वर्णोंकी प्रज्वलित हो रही ज्वालाओं तथा धूम-विन्यासोंकी श्रेणिवाला होता हुआ, हजार फणाओंकी श्रेणिवाले सर्पराजके समान, विस्तारको प्राप्त हो गया, अनेक सूर्योंके उदय और अस्तमय आदिसे विन्ध्याचल भी विधुरताको प्राप्त हो गया ॥ ३७, ३८ ॥

तथा दक्षिण देशमें प्रसिद्ध सह्यनामक पर्वत भी ज्वालायुक्त वनोंकी गर्जना-सहित अङ्गारके समान क्षुब्ध हुए विटपोंसे कुछ धीरेसे मानो असह्यताको प्राप्त हो गया ॥ ३९ ॥

बीच-बीचमें जिनकी कुछ कालिमा प्रकाशित हो जाती थी ऐसे धूमरूपी भ्रमरोंसे मालित तथा धूमसंवलित ज्वालारूपी कमलोंसे मलिन हुआ आकाश सरोवरके तुल्य देखा गया ॥ ४० ॥

ज्वालारूपी चूड़ामणिसे अलङ्कृत तथा धूमोंके आवर्त एवं धूमकेतु नामक उत्पातविशेषरूपी केशपाशोंसे भूषित मृत्युरूपी नर्तकी (वेश्याएँ) पर्वतोंकी

तलाहितानलज्वाला ब्रह्माण्डोर्ध्वैकपाटभूः ।
तर्जनप्रोत्पतद्भूतधानौघा भ्राष्ट्रभूमिका ॥ ४२ ॥
क्वणच्छ्रेणी मृज्जलाग्निर्नानावर्णाननारुणा ।
हृत्प्रकोष्ठे जगल्लक्ष्म्याः सौवर्णीवाभवत्तदा ॥ ४३ ॥
शैलाश्चटचटास्फोटैर्वृक्षाः कटकटारवैः ।
देशा हलहलोल्लासैरलं विदलनं ययुः ॥ ४४ ॥
अब्धयः क्वथिताकाराः फेनिलोल्लासमांसलाः ।
वीचीकरतलाघातांश्चक्रुरर्कमुखे मुखे ॥ ४५ ॥
अन्योन्यवेल्लितोल्लोलभूतलाकारपर्वतम् ।
जह्वुर्वीचीकरैर्देहे जडाः प्रकुपिता इव ॥ ४६ ॥

कन्दराओं तथा शिखरोंपर एवं पर्वतादिसे शून्य आकाशप्रदेशमें भी करुणादि रससे शून्य होकर नाचने लगीं ॥ ४१ ॥

ब्रह्माण्डका ऊर्ध्वभाग ही जिसका कपाट है ऐसी पृथिवी अपने अधोभागमें स्थापित अग्निकी ज्वालाओंसे व्याप्त होती हुई भाड़की वह खपड़ी तैयार हो गई, जहाँपर भूने जा रहे दानोंकी जगह अत्यन्त क्लेशयुक्त शब्दसहित गिरते हुए एकमात्र प्राणियोंके समूह ही विद्यमान थे ॥ ४२ ॥

उस प्रलयकालमें अपनी छाती पीट-पीट कर रो रही जगत्-लक्ष्मीके हृदयपर स्थापित हुए हाथमें—अनेक द्वीपोंकी खोदी गई मृत्तिकाओं, सातों समुद्ररूपी जलों तथा उनमें व्याप्त अग्नियोंसे, काच एवं उसकी कान्तिसे युक्त सुवर्णकी जगहपर स्थित नानावर्णोंके मुखों एवं मणियोंसे लाल हुई यह पृथिवी सुवर्ण-विरचित मनोहर शब्द कर रहे—कंकणोंकी पंक्ति-सी हो गई ॥ ४३ ॥

उस समय सभी पर्वत चटचटाशब्दों, सभी वृक्ष कटकटाशब्दों तथा सभी देश हलहलाशब्दोंके साथ अच्छी तरह विदलनको प्राप्त हो गये ॥ ४४ ॥

इसी तरह सागर भी मुँह पीट-पीटकर एक तरहसे रोने लग गये, यह उत्प्रेक्षा करते हैं—'अब्धयः' इत्यादिसे ।

क्वथित आकारवाले (जिनके जल खूब खौल गये थे ऐसे) तथा फेनिल होनेके कारण उन फेनोंके उल्लाससे परिपुष्ट हुए सारे समुद्र स्वीय जलमें पड़े सूर्य-प्रतिबिम्बरूप तिलकसे समन्वित अपने मुखमें तरङ्गरूपी करतलोंसे आघात पहुँचाते हुए मानो रोने लग गये तथा पुनः वे सबके सब आपसमें सम्बद्ध होकर तरङ्गोंके

आशाकाशाशिनामेषां गुहागुहगुहारवान् ।
पपाठ शब्द आग्नेयो ज्वालातटतटोद्भवः ॥ ४७ ॥
लोकपालपुरापाततप्ताङ्गाररराद्रिभित्तयः ।
दिशो दशापि वैवश्यं ययुरुन्मत्तवृत्तयः ॥ ४८ ॥
काञ्चनद्रवसाद्रीन्द्रद्रुमागारगुहागृहः ।
शनैश्चार्वाकृतिर्मेरुरासीद्धिम इवातपे ॥ ४९ ॥
क्षणेनैवानलात्तस्माद्धिमवान् जतुवद्द्रुतः ।
सर्वान्तःशीतलः शुद्धो दुर्जनादिव सज्जनः ॥ ५० ॥

आघातसे मिट्टी तथा पत्थर आदिको बिलकुल बराबर कर देनेके कारण भूतल-रूपताको प्राप्त हुए पर्वतका तरङ्गरूपी अपने हाथोंसे ऐसे ग्रास करने लग गये, जैसे कि मूर्ख प्राणी देहमें प्राप्त मिट्टी तथा पत्थर आदिका ग्रास करने लग जाते हैं ॥ ४५, ४६ ॥

कहींपर सारी दिशाओं तथा सारे आकाशको ग्रास कर जानेवाले या उन्हें पूर्ण कर देनेवाले इन सागरोंके गुहामुखसे निकले हुए 'गुहगुह' इस तरहके शब्दोंका प्रदेशान्तरमें गिरितटके संघट्टनसे उत्पन्न अग्निका शब्द पाठ करने लगा यानी अपने गुरुजीके द्वारा कहे गये शब्दोंका अनुकरण जैसे शिष्यध्वनि करती है वैसे ही गुहामुखसे निःसृत 'गुहगुह' शब्दोंका अनुकरण वह आग्नेय शब्द करने लगा ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, और सुनिये—उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी निवृत्तिसे वृष्टिशून्य दसों दिशाएँ भी लोकपालोंके नगरोंके गिरनेसे दाहमें सन्तप्त हुए अंगारोंसे परिपूर्ण पर्वतोंकी भित्तियाँ होती हुई उन्मत्तवृत्ति होकर व्याकुलताको प्राप्त होने लगीं ॥ ४८ ॥

समीपके अनेक पर्वतों, इन्द्र, कल्पद्रुम, आगारों तथा गुहागृहोंके सहित, सुन्दर आकारवाला सुवर्णद्रवरूप सुमेरु पर्वत उस समय धीरेसे ऐसे गल गया, जैसे आतपमें हिम ॥ ४९ ॥

सम्पूर्ण शीतल अन्तःकरणसे युक्त एवं शुद्ध हिमालय पर्वत तो उस प्रलयकी आगसे एक ही क्षणमें लाहके सदृश ऐसे पिघल गया, जैसे दुर्जनसे सज्जन ॥ ५० ॥

तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः।
आसीत्त्यजत्युदारात्मा न नाशेप्युत्तमं गुणम् ॥ ५१ ॥
नश्यन्नपि महान् ह्लादं न खेदं सम्प्रयच्छति।
चन्दनं दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम् ॥ ५२ ॥
न कदाचन संयाति वस्तूत्तममवस्तुताम्।
प्रलयानलनिर्दग्धमपि हेम न नष्टवत् ॥ ५३ ॥
द्वे हेमनभसी तस्मिन्न नष्टे प्रलयानले।
तयोरेव वपुः श्लाघ्यं सर्वनाशेऽप्यनाशयोः ॥ ५४ ॥
नभो विभुतयाऽनाशि हेमाऽऽकृष्टतयाऽक्षयम्।
सत्वमेकं सुखं मन्ये न रजो न च वा तमः ॥ ५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस महाभयंकर प्रलयकालीन दशामें भी मलयाचल तो अपने निर्मल सौरभसे युक्त ही स्थित रहा। [इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है,] उदारात्मा महापुरुष तो नाशके समय भी अपने उत्तम गुणको नहीं छोड़ते ॥ ५१ ॥

महान् पुरुष तो नष्ट होते हुए भी आनन्द प्रदान करते हैं, किसीको दुःख नहीं देते, [हे श्रीरामचन्द्रजी, देखिये न,] स्वयं दग्ध होनेपर भी वह चन्दन जीवन धारण कर रहे प्राणियोंके आनन्दके लिए ही ज्यों-का-त्यों स्थित रहा ॥ ५२ ॥

उत्तम वस्तु कभी भी अवस्तुताको यानी निकृष्टताको नहीं प्राप्त होती, [देखिये न] प्रलयकालीन अग्निसे जल रहा भी सोना सर्वथा नाशको नहीं प्राप्त हुआ ॥ ५३ ॥

जो वस्तु कभी नष्ट नहीं होती वही इस जगत्में सार है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिए, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'द्वे हेमनभसी' इत्यादिसे।

उस प्रलयकालीन अग्निमें सुवर्ण और आकाश ये दो ही नष्ट न हुए। उन्हीं दोनोंका शरीर प्रशंसनीय है, क्योंकि सबका नाश हो जानेपर भी उनका नाश नहीं हुआ ॥ ५४ ॥

आकाश तो विभु यानी व्यापक होनेसे अविनाशी है और सुवर्ण दोषरहित होनेसे यानी दोषोंसे निचोड़कर शोधितरूप होनेसे अक्षय है। इसलिए हे

चलदुच्चवनानीव विकीर्णाङ्गारवर्षणः ।
दग्धाब्दाद्रिर्महाधूमज्वालोऽभूद्वह्निवारिदः ॥ ५६ ॥
रसविस्मरणार्तानां शून्यानां स्फारदेहिनाम् ।
शुष्काणां व्योमविटपिपत्राणां पात्ररूपिणाम् ॥ ५७ ॥
वारिदानां सवारीणां दग्धानां प्रलयार्चिषा ।
ज्ञस्येवाङ्ग न दोषाणां दृष्टं भस्मापि न क्वचित् ॥ ५८ ॥
न लङ्घयति कैलासं यावदुल्लसितोऽनलः ।
तावत्तं कल्पकुपितो रुद्रो नेत्राग्निनाऽदहत् ॥ ५९ ॥
दाहस्फुटद्द्रुमस्थूलशिलाचटचटारवाः ।
लकुटोपललोष्टौघैरयुध्यन्तेव भूभृतः ॥ ६० ॥

श्रीरामजी, रज और तमसे निचोड़कर निकाले गये यानी जिसमें रज और तम बिलकुल नहीं है ऐसे शुद्ध एक सत्त्वको ही ब्रह्मसुखकी अभिव्यक्ति होनेसे मैं सब सुखोंका सार समझता हूँ । मैं रज अथवा तमको सुखोंका सार नहीं समझता ॥ ५५ ॥

मेघरूपी पर्वतोंको जलानेवाला महाधूमकी ज्वालासहित प्रलयाग्निरूपी वारिद (मेघ) इधर-उधर चल रहे उच्च जंगलोंकी नाईं आकाशमें स्फुरित होता हुआ बिखरे हुए अङ्गारोंकी वृष्टि करनेवाला हो गया ॥ ५६ ॥

सभी तरहके जलोंके बिलकुल सूख जानेके कारण यानी संस्कारमात्र भी अवशेष न रह जानेके कारण स्मृतिके अभावसे अत्यन्त ही दुःखी, अतः शून्य-स्वरूप विशाल शरीरधारी अण्डज आदि चार तरहके जीवोंका तथा सर्वथा शुष्क हो जानेसे आकाशके वृक्षके पत्तोंके पात्रस्वरूप, प्रलयाग्निकी ज्वालासे दग्ध हुए जलसहित मेघोंका हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए तत्त्वज्ञानीके दोषोंकी नाईं, कहीं भस्म भी न दीख पड़ा ॥ ५७, ५८ ॥

जबतक उल्लसित हुई वह प्रलयाग्नि कैलास पर्वतको न लांघ सकी, इतनेमें ही कल्पान्तके लिए कुपित हुए रुद्र भगवान्‌ने अपनी नेत्राग्निसे उस कैलासको जला दिया ॥ ५९ ॥

उस दाहका भी वर्णन करते हैं—'दाह०' इत्यादिसे ।

दाहसे तड़कते हुए वृक्षोंके तथा महाशिलाओंके चटचट शब्दोंवाले उस

ज्वालाघनघटाटोपसावतंसचलान्तिमाः ।
बभूवुर्व्योमविकसत्स्थूलपद्मवना इव ॥ ६१ ॥
सर्गः कदाचिदेवासीदित्यगात्स्मरणीयताम् ।
कल्पान्तः स्मारयन्मूर्खानगादस्मरणीयताम् ॥ ६२ ॥
तापोपतापपरमाः परमारणतत्पराः ।
वह्नयोऽपह्नवं चक्रुर्जगतामसतामिव ॥ ६३ ॥
ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गाः
कचदनलोल्मुकगुल्ममण्डलाभाः ।
प्रलयसमयवायवोऽनलान्ता-
द्दलदमरावलयो लये लिहन्तः ॥ ६४ ॥

कैलास पर्वतके नीचेके सभी पर्वत लकुटों तथा पत्थरके ढेलोंके समूहोंसे मानो युद्ध करने लगे—युद्ध करते हुएके समान प्रतीत होने लगे ॥ ६० ॥

और सुनिये—ये सभी पर्वत ज्वालाओंके घनघटाटोपोंसे अवतंससहित चंचल अग्र शिखरोंवाले होते हुए आकाशमें विकसित हो रहे महाकमलोंके अनेकों जंगल-जैसे हो गये ॥ ६१ ॥

'कभी तो सृष्टि अवश्य रही ही होगी' इस प्रकार सृष्टि स्मरणीय दशाको प्राप्त हो गई । मूर्खोंको जगत्‌की असारताका स्मरण दिलाते हुए कल्पान्त प्रत्यक्ष आ गया ॥ ६२ ॥

ताप और उपतापमें परम यानी सबसे बढ़े-चढ़े तथा दूसरोंको मारनेमें तत्पर प्रलयकालके पवनोंने सम्पूर्ण भुवनोंका, शशशृङ्ग आदि असद्रूप पदार्थोंकी तरह, सर्वथा अत्यन्ताभाव कर दिया ॥ ६३ ॥

उस प्रलयके प्रवृत्त होनेपर वज्रपातोंसे प्राणियोंके अङ्गोंको पीड़ित करनेवाले तथा प्रकाशमान अग्निके उल्मुकोंसे संयुक्त होनेके कारण गुल्म * मण्डलोंके सदृश शोभायमान प्रलयसमयके पवन—देवताओंकी पंक्तियोंको विदलित

* गुल्म—ऐसा पौधा जो एक जड़से कई होकर निकले और जिसमें कड़ी लकड़ी या डंठल न हो । जैसे—ईख, शर आदि । अर्कप्रकाशमें गुल्मगणके अन्तर्गत बरियारा, पाठा, तुलसी, काकजंघा, चिरचिरा आदि पौधे लिये गये हैं ।

व्यालोलस्फुटदानलद्रुमवनप्रोद्भूतभस्मोष्मणा
दत्ताभ्राभ्रमदुल्मुकाहतिवहत्साङ्गारगौरार्चिषः ।
भ्रश्यत्पावकशृङ्गमध्यविलसज्ज्वालावलीश्यामला
निःशेषाग्निनिकाशसुस्तवजवा वेगेन वाता ववुः ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने महाकल्पान्ताग्निवर्णनं नाम पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

करते हुए अग्निके बीचसे निकलकर सारी दिशाओंको चाटते हुए-से—बहने लगे ॥ ६४ ॥

चंचल ज्वालापल्लवोंसे तड़कते हुए अग्निमय वृक्षोंके वनोंमें उत्पन्न भस्मसहित उष्णतासे आकाशको व्याप्त करनेवाले, † भ्रमण करते हुए उल्मुकोंके अभिघातसे निकल रही अङ्गारसहित पीली ज्वालाओंसे युक्त, कज्जलरूपसे गिर रही तथा पावककी शृङ्गप्राय शिखाके मध्यमें विलास करती हुई कज्जलयुक्त ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंसे श्यामवर्ण एवं सम्पूर्ण जगत्में अग्नियोंको प्रकाशित करनेसे स्तुतियोग्य वेगवाले पवन बड़े वेगसे बहने लगे ॥ ६५ ॥

पचहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

---

† अथवा—मेघोंको उत्पन्न करनेवाले ।

षट्सप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ कल्पान्तमरुति वहत्यवधुताचले ।
बलेनाम्भोधिकल्लोलैर्नभस्यावर्तकारिणि ॥ १ ॥
समुद्रेषु विमुद्रेषु मर्यादोल्लङ्घने घने ।
अधनेषु धनिष्वम्बुदारिद्र्योपद्रवद्रुते ॥ २ ॥
भूतले भूतलेशांशवर्जिते वह्निभर्जिते ।
पातालमपि पाताले गते किमपि कालतः ॥ ३ ॥
दिवि वा विद्यमानायां विशीर्णे सर्गवर्गके ।
लोके व्योमगतालोके शोकौकसि ककुब्गणे ॥ ४ ॥
कुतोऽप्याकाशकुहराद्दृप्तदैत्यगणा इव ।
पुष्करावर्तका मेघाश्चक्रुर्गुलुगुलारवम् ॥ ५ ॥
ब्रह्मविस्फोटितस्वाण्डकुड्यविस्फोटनोद्भटम् ।
अन्योन्यास्फालनोत्फालमत्तार्णवरवाविलम् ॥ ६ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग

[पश्चिम दिशामें, ऊपरके भागमें पुष्करावर्तक (प्रलयमेघ) का उदय तथा आग्नेय दिशामें अग्निका उपसंहार—यह वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर जब पर्वतोंको कम्पित कर देनेवाला तथा समुद्रतरङ्गोंके द्वारा बलपूर्वक आकाशमण्डलमें आवर्त पैदा कर देनेवाला कल्पान्त पवन बह रहा था, समुद्र अपने चिह्नोंसे रहित हो गये थे, मेघ अपनी मर्यादा एकदम नष्ट कर चुके थे, तथा जलकी दरिद्रतारूप दुःखसे जब भाग चुके थे, धनी अधनी हो गये थे, भूतल अपने अंशसे रहित हो चुका था और अग्निसे भून गया था, कालप्रभावसे पाताल भी किसी [अनिर्वचनीय] पातालको यानी विनाशको प्राप्त हो चुका था, समस्त सृष्टिवर्ग जीर्ण-शीर्ण हो गया था, विद्यमान अन्तरिक्ष लोक भी आकाशगत प्रकाशमें मिल चुका था तथा जब सारी दिशाएँ शोकसे व्याप्त हो चुकी थीं; तब किसी एक आकाशके गर्तसे क्रुद्ध दैत्यगणोंके सदृश निकलकर पुष्करावर्तक नामधारी मेघ गुलगुल ध्वनि (गर्जन) करने लग गये ॥ १–५ ॥

यद्यपि उनकी वह ध्वनि दूरसे वैसी सुन पड़ती थी, लेकिन वस्तुतः वह

लोकार्णवपुरोद्गीर्णघनकोलाहलोल्बणम् ।
एतत्कुलाचलस्कन्धबद्धोग्ररवघर्घरम् ॥ ७ ॥
ब्रह्माण्डशङ्खजठरपूरणावर्तमन्थरम् ।
स्वर्लोकरोदःपातालतलतोऽतिसगुल्मकम् ॥ ८ ॥
समस्तदूरदिग्भित्तिहेलाहेलनघर्घुलम् ।
महाप्रलयसम्पन्नापानकापानतर्षुलम् ॥ ९ ॥
प्रसृतप्रलयाख्येन्द्रमत्तैरावतबृंहितम् ।
आकल्पक्षुब्धमेघाब्धिनिर्ह्रादमिव संभृतम् ॥ १० ॥

अत्यन्त भयङ्कर थी, ब्रह्माजीने अपने अण्डेका जब भेदन किया था, तब ब्रह्माण्डकी भित्तिके विस्फोटसे जैसी उन्नत दहलानेवाली ऊँची ध्वनि निकली थी, ठीक वैसी ही उनकी ध्वनि थी, परस्पर आस्फालनों द्वारा उछलते हुए मत्त समुद्रोंकी ध्वनिके सदृश वह बीभत्स थी ॥ ६ ॥

लोक, समुद्र एवं नगरोंमें प्रतिध्वनिके रूपसे उत्पन्न घन कोलाहलोंके कारण वह सही नहीं जा सकती थी तथा पूर्वमें वर्णित कुलाचल पर्वतोंके कन्धोंपर सम्बद्ध दाहके उग्रशब्दोंके साथ मिल जानेके कारण वह घर्घर ध्वनि बड़ी ही भयानक लगती थी ॥ ७ ॥

भद्र, उस शब्दने समस्त ब्रह्माण्डरूपी शङ्खके उदरको भर दिया था, भरनेपर ब्रह्माण्डभित्तियोंके प्रतिरोधके कारण हुए अनेक आवर्तनोंसे वह बड़ा ही निविड़ बन गया था, इसीलिए मानो स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं पातालतलतक उसकी अनेक शाखाएँ फैल गईं ॥ ८ ॥

दूर-दूरकी सम्पूर्ण दिशारूपी असीम भित्तियोंको वह ध्वनिरूप शब्द लीलासे लेखन द्वारा मानो खोद रहा था, महाप्रलयमें मिश्रित होकर सात समुद्रोंका काढ़ा बन गया था, काढ़ा हो जानेके कारण समुद्र एक तरहसे पानक (पना) या मद्य बन गये थे, इन समुद्रोंके मद्यको वह मानो पी जानेकी ज्यादा इच्छा कर रहा था ॥ ९ ॥

वह ध्वनि क्या थी, विजय पानेके लिए प्रस्थान किये हुए महाप्रलयनामक इन्द्रके मत्त ऐरावत हाथीकी गर्जना-सी थी। और सुनिये—वह शब्द क्या था, कल्पकालतक रोके जानेसे क्षुब्ध हुए मेघरूपी समुद्रोंका दीर्घकालसे संचित एक ही समयमें निकला हुआ निर्घोष-सा था ॥ १० ॥

महाप्रलयसंक्षुब्धक्षीरोदमथनारवम् ।
ब्रह्माण्डोग्रारघट्टेऽस्मिन्वार्यन्त्रमिव सारवम् ॥ ११ ॥
अथास्मिन्सति कल्पाग्नौ स्थितिमेति कथं घनः ।
इति विस्मितवानस्मि दृशं दिग्नवकेऽत्यजम् ॥ १२ ॥
यावन्न क्वचिदेवात्र पश्याम्याशासु केवलम् ।
तरन्ति तरलास्फालमुल्मुकाशनिवृष्टयः ॥ १३ ॥
तेन ज्वलनतापेन बहुयोजनकोटिषु ।
पदार्था भस्मतां यान्ति दूरे दिक्षु दशस्वपि ॥ १४ ॥
अनन्तरं क्षणाद्व्योम्नि दूरेऽहमनुभूतवान् ।
ऊर्ध्वतः शीतलं वातमधस्तादनलोपमम् ॥ १५ ॥
एतावति नभोमार्गे दूरे कल्पाम्बुदाः स्थिताः ।
यस्तेषामग्नितापानां विषयो न च सद्दृशाम् ॥ १६ ॥

महाप्रलयके कारण विक्षुब्ध हुए क्षीरसागरके मथनका वह भयानक शब्द था, ब्रह्माण्डरूप जो महान् उग्र अरघट्टयन्त्र है, उसमें लगे हुए जलधारायन्त्रका एक तरहसे वह शब्द था ॥ ११ ॥

श्रीरामजी, वर्णित मेघध्वनि मैंने सुनी, सुननेके बाद मैं आश्चर्यके मारे चकित हो गया और आश्चर्यचकित होकर मैंने यह सोचा कि इस महान् कल्पाग्निमें भी मेघकी स्थिति कैसे हो सकती है। यों सोचके नीचेकी दिशाको छोड़कर बाकी नव दिशाओंकी ओर ताका ॥ १२ ॥

मैंने उन दिशाओंमें मेघ नहीं देखे, किन्तु केवल यही देखा कि उनमें तरल एवं आस्फालित उल्मुकरूपी वज्रोंकी वृष्टियाँ हो रही हैं ॥ १३ ॥

उस अग्निके तापसे दसों दिशाओंमें भी अनेक करोड़ों योजन दूरतकके सारे पदार्थ भस्म हो रहे हैं ॥ १४ ॥

तदनन्तर मैंने क्षणभरमें अतिदूर आकाशमें ऊपरसे शीतल वायुका और नीचे अग्निके सदृश गरम वायुका त्वचासे अनुभव किया ॥ १५ ॥

आकाशमार्गमें वे मेघ इतने दूर प्रदेशमें स्थित थे कि उस प्रदेशमें न तो नीचेके अग्निताप ही जा सकते थे और न उसे जीवित प्राणी ही अपनी आंखोंसे देख सकते थे ॥ १६ ॥

अथ वारुणदिग्भागादाययौ कल्पमारुतः ।
यस्मिंस्तृणवदुह्यन्ते विन्ध्यमेरुहिमालयाः ॥ १७ ॥
तेन ज्वालाचलाः प्रान्तोड्डीनाङ्गारविहङ्गमाः ।
लोलोल्मुकवनाक्रान्ता जग्मुरग्निदिशं द्रुतम् ॥ १८ ॥
सन्ध्याभ्रसदृशाकारास्तेरुरङ्गारवारिदाः ।
भ्रेमुर्भस्मभराभ्राणि पूताङ्गाररजांसि खे ॥ १९ ॥
सज्वालविलसद्वातो दुष्टोऽनलदृशं व्रजन् ।
हेमाद्रीणां सपक्षाणामनीकं द्रवतामिव ॥ २० ॥
धराद्रिमण्डलाभोगे सौम्याङ्गारभरात्मनि ।
ज्वालावलिगणे जाते भाते तेजसि भास्वताम् ॥ २१ ॥
अर्णवेष्वनलार्णस्सु क्वथनोत्फालवारिषु ।
वनेष्वस्मृतपर्णेषु दीप्ताग्नितरुधारिषु ॥ २२ ॥

तदनन्तर पश्चिमदिशासे कल्पकी वायु बहने लगी, उस वायुमें विन्ध्य, मेरु, हिमालय आदि बड़े-बड़े पर्वत भी तृणके सदृश उड़े जा रहे थे ॥ १७ ॥

उस वायुके द्वारा अगल-बगल उड़ रहे अङ्गाररूपी पक्षियोंसे युक्त ज्वालारूपी पर्वत आग्नेय दिशाकी ओर तत्काल जाने लगे, चञ्चल लुआठे ही उनमें जङ्गल प्रतीत हो रहे थे ॥ १८ ॥

आकाशमण्डलमें संन्ध्याकालके अभ्रोंके सदृश आकारवाले अङ्गाररूपी मेघ बरस रहे थे तथा उसमें भस्मसमूहरूपी जलधारी मेघ एवं वायुसे शोधित अङ्गारोंकी धूलि उड़ रही थी ॥ १९ ॥

भद्र, वह ज्वाला युक्त एवं के अनेक तरहके विलासोंसे पूर्ण कुपित पवन अग्निदिशाकी ओर ऐसे जा रहा था, जैसे पंखवाले उड़ रहे हेमाद्रि आदि पर्वतोंका समूह ॥ २० ॥

श्रीरामजी, जब अतिविस्तृत भूमण्डल और पर्वतमण्डल ज्वालारहित अङ्गारोंका ढेर बन गया, तथा ज्वालाकी पंक्तियोंका समूह धूलिशून्य होनेके कारण चमकते हुए बारह सूर्योंका स्पष्ट तेजरूप बन गया [तब कल्पन्तका मेघ भी आ धमका] ॥ २१ ॥

जब समुद्र अग्निरूपी जलसे लबालब तथा काढ़ेके सदृश उछलते हुए जलसे

अग्निज्वाला के साथ विलासकारी वह दुष्ट वायु अग्नि दिशा की ओर ऐसे जाता था जैसे पंखसहित हेमाद्रि आदि पर्वतों का समूह

ब्रह्मलोकस्थनाथेषु ब्रह्मलोकपुरेषु च ।
साङ्गनाबालवृद्धेषु दग्धेषु निपतत्सु खम् ॥ २३ ॥
कल्पान्तानलपद्मिन्या ब्रह्मग्रावसरोवरे ।
ज्वालापल्लवशालिन्याः सबीजायाः सटोल्मुकैः ॥ २४ ॥
अनिलात्मसु मूलेषु नागेषु च नगेषु च ।
आपातालं निमग्नेषु महत्यङ्गारकर्दमे ॥ २५ ॥
उष्ट्रसैन्यमिवाऽऽलक्ष्य गतिमन्निकटं नभः ।
आययावञ्जनश्यामः कल्पाम्बुदगणः क्वणन् ॥ २६ ॥
स्थिरकल्पानलज्वालातुल्यविद्युन्मयाचलः ।
एककोणकविश्रान्तसप्तार्णवपयोभरः ॥ २७ ॥
भित्तिभासुरनीहारभारनिर्वारदिक्तटः ।
ब्रह्माण्डकुड्यनिबिडमण्डलास्फोटपण्डितः ॥ २८ ॥

पूर्ण हो गये और सारे जङ्गल पत्तोंके स्मरणसे शून्य (पत्रशून्य) एवं प्रदीप्त अग्निरूपी वृक्षोंके आधार बन गये [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २२ ॥

जब भार्या, बालक एवं वृद्धोंके साथ ब्रह्मलोकस्थ अधिपति तथा ब्रह्मलोकके नगर जलकर आकाशमें गिरने लगे [तब कल्पान्तके मेघ आने लगे] ॥ २३ ॥

भद्र, कल्पान्तकी अग्नि एक तरहसे कमलिनी ही प्रतीत हो रही थी, उसकी ज्वालाएँ ही पल्लवोंकी शोभा धारण कर रही थीं, पत्थरोंसे शून्य ब्रह्माण्ड-रूपी सरोवर ही उसका उत्पत्तिस्थान था, इस तरहकी बीजयुक्त कमलिनीके केसर-सदृश विस्फुलिङ्गोंसे घटित उल्मुकोंके द्वारा जब वायुरूप यानी वायुप्रधान सांप एवं पर्वतरूप मूल पातालपर्यन्त अङ्गाररूपी कीचड़में फँस गये, तब मशकमें जल ढोनेवाली ऊँटोंकी सेनाके सदृश विस्पष्ट (शीघ्र) संचरणशील आकाशको देखकर कल्पान्तके मेघ, जो काजलके सदृश काले-काले थे, गरजते निकट आ धमके ॥२४—२६॥

भद्र, वह जो मेघमण्डल आया, वह सुस्थिर कल्पान्तकी अग्निकी ज्वालाओंके सदृश अतिभयानक विद्युन्मय पर्वतोंसे सुशोभित लग रहा था । उसने अपने एक कोनेमें ही सात समुद्रोंका असीम जल-भण्डार भर लिया था ॥ २७ ॥

समस्त दिशाओंके तट भासुर नीहारसमूहोंसे छिद्ररहित भित्तियोंके सदृश मालूम पड़ रहे थे, वह समस्त ब्रह्माण्डकी भित्तियोंके घनमण्डलोंको तोड़-फोड़ देनेमें अतिदक्ष मालूम हो रहा था ॥ २८ ॥

तथा भित्ति के समान तुषार समूहों से दिशाओं को पूर्ण करनेवाला और ब्रह्माण्ड के अन्त पर्यन्त भूतल को विदीर्ण करने में दक्ष मेघमंडल था

कल्पान्तक्षुभिताम्भोधिर्वर्तुलावर्तवृतिमान् ।
तडिज्जलचरः सारनिर्ह्रादः खमिवागतः ॥ २९ ॥
मृतो दग्धो निशानाथस्ततो द्विगुणशीतलः ।
अन्यमाकारमाश्रित्य परं लोकमिवागतः ॥ ३० ॥
हेमसम्भाररूपेण हिमालयमिवाखिलम् ।
जाड्यस्तम्भितनिःशेषजलकाष्ठाचलं दधत् ॥ ३१ ॥
अथ ब्रह्माण्डविस्फोटकठिनं घटिताम्बरम् ।
प्राग्द्रुतोद्भटतौषारकाष्ठा वृष्टिः पपात ह ॥ ३२ ॥
अग्निदाहवनाकाशविद्युदुन्मेषभीषणा ।
चटद्गडगडास्फोटस्फुटद्ब्रह्माण्डमण्डला ॥ ३३ ॥
प्रथितोत्थितसीत्कारशतक्ष्वेडाक्षयारवा ।
शीतसीकरनीहारभित्तिबन्धमयाम्बरा ॥ ३४ ॥

उस मेघको देखकर यही कहना पड़ता था कि कल्पान्तसे क्षुब्ध होकर समुद्र ही आकाशमें आ धमका है। क्योंकि उसमें वर्तुलाकार द्वादश आदित्योंकी परिधि ही उसका वेष्टन-सा था, बिजली ही उसमें जलचर-सी मालूम पड़ती थी और उसमें भी गम्भीर ध्वनि हो रही थी ॥ २९ ॥

उसे देखकर यह भी मालूम पड़ रहा था कि मृत या दग्ध चन्द्रमा ही परलोकमें जाकर पुनः पहलेकी अपेक्षा द्विगुण शीतल होकर दूसरा रूप लेकर इस आकाशमण्डलमें आया है ॥ ३० ॥

सुवर्णके समूहके सदृश विद्युत्-समूहोंका रूप धर लेनेके कारण वह उस हिमालयका मानो स्वरूप धारण कर रहा था, जिस हिमालयने अपनी जड़ताके कारण काष्ठके सदृश समस्त जलको अचलरूपसे स्तम्भित कर दिया है ॥ ३१ ॥

श्रीरामजी, तदनन्तर वर्षा होने लगी, इसने समस्त आकाशमण्डलको ब्रह्माण्डके विस्फोटके सदृश अतिकठोर वज्रतुल्य निर्घातसे छा दिया। इसने तो अखिल दिङ्मण्डलको पहलेसे ही पिघले हुए उद्भट तुषारसे व्याप्त कर दिया था ॥ ३२ ॥

भद्र, यह वृष्टि अग्निदाहके सदृश वन तथा आकाशमण्डलमें विद्युत्के प्रकाशसे अतिभीषण लग रही थी, तथा अपनी चटचटाहट एवं गड़गड़ाहटसे सारे ब्रह्माण्डको तोड़ रही थी ॥ ३३ ॥

उत्पन्न हुए अनेक महान् सीत्कारके सैकड़ों शब्दोंसे उसने सिंहनादके शब्दोंको

रोदोमण्डपवैदूर्यस्तम्भसम्भारभासुरैः ।
धारासारैर्धराधुर्यशैलशातकशालिनी ॥ ३५ ॥
धराचटचटास्फोटस्फुटदङ्गारपत्तना ।
गर्जितोर्जितसंपातपतल्लोकान्तराकुला ॥ ३६ ॥
सा बभूवाथ साङ्गारजगद्गेहविलासिनी ।
कृतप्रत्युद्गमा बाष्पश्रियोऽज्वलनया भुवः ॥ ३७ ॥
ज्वालालवोल्ललनडम्बरमम्बरं त-
द्व्यूढस्थलाब्जदलजालमिवालमासीत् ।
ज्वालाभ्रमद्भ्रमरपङ्क्तिनिभास्तदासं-
स्तत्र स्फुरच्छिशिरसीकरपक्षपुञ्जाः ॥ ३८ ॥
उद्यद्बृहच्चटचटारवपूरिताशो
भीमोऽभवत्सलिलदानलसन्निपातः ।

भी मात कर दिया था और शीतल जलकण एवं नीहारसे उसने आकाशको भी भित्तिबन्धनमय बना दिया था ॥ ३४ ॥

भद्र, पृथ्वी एवं आकाशरूप मण्डपके लिए निर्मित वैदूर्यमणिके (लहसुनियाके) स्तम्भोंके समूहके सदृश भासुर धारासम्पातोंसे वह पृथ्वीका भार ढोनेवाले पर्वतोंको भी तोड़ देनेवाला टंक-प्रहार कर रही थी ॥ ३५ ॥

पृथ्वीको चट-चट शब्दके साथ विदारित करनेके कारण उसने अङ्गारोंके समूह भी फोड़ दिये थे । गर्जनाके साथ प्रबल जलके पातोंसे लोकान्तरोंको गिरानेमें भी वह व्याकुल हो रही थी ॥ ३६ ॥

भद्र, तदनन्तर अङ्गारोंसे युक्त जगत्-रूपी घरमें विलास करती हुई वह वृष्टि वाष्पशोभाकी सखीके सदृश ज्वलनरहित पृथ्वीपर आकर मिल गई ॥ ३७ ॥

भद्र, वह गगनमण्डल, जो कि ज्वालाओंके खण्डोंके विलासोंसे भरा था, उस समय ऐसा मालूम पड़ने लगा, जैसे कि उसमें स्थल-कमलोंके अनेक समूह उगे हुए हों तथा उस आकाशमण्डलमें स्फुरित हो रहे, शीतल जलकणरूप पंखोंके समूहोंसे युक्त मेघ ऐसे मालूम पड़ने लगे थे, जैसे कि ज्वालाओंमें घुम रही भ्रमरपंक्तियाँ हों ॥ ३८ ॥

श्रीरामजी, उस समय बड़े भयङ्कर चटचट शब्दोंसे दिशाओंको भर

दुर्वारवैरिविषमो महतां बलानां
सङ्ग्राम उग्र इव हेतिहतोग्रहेतिः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्तडम्बरवर्णनं नाम षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथावनिपयस्तेजःपवनानां युगक्षये ।
जाते परमसङ्क्षोभे बभूवास्मिन् जगत्त्रयम् ॥ १ ॥
तापिच्छविपिनोड्डीतिनिभभस्माभ्रभासुरम् ।
महार्णवमहावर्तवृत्तिधूमविवर्त्तनम् ॥ २ ॥

देनेवाला जो मेघों और अग्नियोंका समागम हुआ, वह एक दूसरेसे पराजित न हो सकनेवाले वैरियोंके विषम—अतएव महान् उग्र, कुशल सेनाओंके परस्पर तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंसे विनाशित उग्र शस्त्रयुक्त यानी परस्पर घात-प्रतिघातयुक्त—संग्रामके सदृश अति भयङ्कर लगता था ॥ ३९ ॥

छिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

सतहत्तरवाँ सर्ग

[पुष्करावर्तक मेघकी वृष्टिधारासे जर्जर एवं सात समुद्रोंके विक्षोभसे धोये गये जगत्‌का पुनः वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—भद्र, युगक्षयमें जब पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—इन चार महाभूतोंका परम विक्षोभ हो गया, तब तीनों जगतकी जो स्थिति हुई, उसे कहता हूँ, आप सुनिये ॥ १ ॥

श्रीरामजी, उस समय तीनों जगत् उड़ रहे तमालवनके सदृश उड़ रहे भस्मरूप अभ्र-से भासुर हो गये तथा महासमुद्रोंके भ्रमणशील महावर्तोंके सदृश भ्रमणशील धूमोंसे व्याप्त हो गये ॥ २ ॥

नीलज्वालालवोल्लासं हेलाटिमिटिमारटि ।
कृतभस्माभ्रसम्भारपूर्णलोकान्तरान्तरम् ॥ ३ ॥
उच्छलद्दीर्घरुत्कारैच्छमच्छममयात्मकैः ।
तूर्यमुन्नमदासारविसारिजयघोषणम् ॥ ४ ॥
भ्रमद्भस्माभ्रधूम्राभ्रं बृहत्कल्पाभ्रसंभ्रमम् ।
बाष्पाभ्रविभ्रमोद्भ्रान्तसीकरोग्राभ्रवृन्दवत् ॥ ५ ॥
ब्रह्माण्डभित्तिभाङ्कारभीषणैर्मातरिश्वनः ।
प्रसरैरम्बरोड्डीनदग्धेन्द्रादिपुरोत्करम् ॥ ६ ॥
जलानलानिलोल्लासस्फुटत्कोटिगताश्मनाम् ।
प्रविघट्टनटङ्कारैर्जडीभूताक्षकश्रुति ॥ ७ ॥

गीले काष्ठ आदिके जलनेसे उनमें कुछ धूम्रयुक्त नील ज्वालाएँ उठ रहीं थीं, इन नील ज्वालांशोंके विलासरूपी क्रीड़ाओंसे उनमें टिम-टिमशब्द हो रहे थे उन्होंने अपने भस्मरूपी अभ्रोंके महान् ढेरोंसे लोकान्तरोंके मध्यको भी भर दिया था ॥ ३ ॥

भद्र, उस त्रिलोकीमें चारों ओर घनघोर वृष्टिका व्यापक जयघोष हो रहा था, वृष्टिके कारण आर्द्र लकड़ियोंसे छम-छम दीर्घ ध्वनि निकल रही थी, इससे यह प्रतीत हो रहा था कि मानो तुरही ही जयघोष कर रही हो ॥ ४ ॥

हे श्रीरामजी, समस्त त्रिलोकीमें पांच तरहके मेघ छा गये अर्थात् वह सारी त्रिलोकी भ्रमणशील भस्मरूपी मेघोंसे युक्त तथा धूमरूपी मेघोंसे व्याप्त हो गई। उसमें महाकल्पके मेघोंका सौन्दर्य छा गया। बाष्परूपी मेघोंके विभ्रमसे वह समन्वित हो गई। उद्भ्रान्त सीकरोंरूपी मेघोंने उसमें अपना एक अच्छा स्थान बना लिया ॥ ५ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिकी अन्तिम सीमातक हो रहे भाङ्कार शब्दोंसे अति भीषण वायुके गमनोंसे आकाशमण्डलमें उड़ाये गये दग्ध इन्द्रादिनगरोंके समूहसे वह व्याप्त हो गया था ॥ ६ ॥

उस समय वहां यह हालत रही कि जल, अग्नि एवं वायुका जो विविध ताण्डव हो रहा था उससे बड़े-बड़े पत्थर ऊपरकी ओर उड़े जा रहे थे, इनका जो परस्पर आघात हो रहा था और जो उससे टङ्कारध्वनि निकल रही थी, उससे सबकी श्रोत्रेन्द्रियां (कान) जड़ हो गईं थीं ॥ ७ ॥

नभःस्तम्भनिभाबन्धधारानीरन्ध्रवर्षणैः ।
कर्षणैः कल्पवह्नीनां छमच्छमघनध्वनि ॥ ८ ॥
गङ्गा तरङ्गिका येषां तादृशैः सरितां गणैः ।
अभ्रैरिव नभोभीमैः पूर्यमाणाखिलार्णवम् ॥ ९ ॥
तापिच्छपत्रवृन्दस्थपुष्पगुच्छसमोपमैः ।
तपद्भिरर्कैरालीढपीठकल्पाभ्रमण्डलम् ॥ १० ॥
वहद्गिरिसरिद्व्यूहशिखरिद्वीपपत्तनम् ।
कल्पानिलघनक्षोभकृतपर्वतकुट्टनम् ॥ ११ ॥
ग्रहतारागणैरुग्रैर्व्यग्रैर्विग्रहदुर्ग्रहैः ।
पतद्भिर्द्विगुणालातलतामावर्तपातिभिः ॥ १२ ॥
आवहोत्थजलाद्रीन्द्रसंघट्टास्फोटघट्टितम् ।
महाप्रलयपर्यस्तपर्वतप्रान्तकुट्टिमम् ॥ १३ ॥

आकाशमें खम्भोंके सदृश जलकी अन्धाधुन्ध—अविच्छिन्न-धाराओंके वर्षण द्वारा जो कल्पान्त अग्नियोंका विदारण (विनाश) हो रहा था, उससे वहाँ छम-छम शब्दोंकी घन ध्वनि हो रही थी ॥ ८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीके सारे समुद्र नदियोंके समूहोंसे—जिनमें गङ्गाजी एक तरङ्ग-सी प्रतीत हो रही थीं तथा जो आकाशमण्डलके भयङ्कर मेघोंके सदृश थे—परिपूर्ण हो रहे थे ॥ ९ ॥

उस समय त्रिलोकीमें जो कल्पान्त मेघ बरस रहे थे, उन मेघोंके आधार पीठका तमालवृक्षके पत्तोंके नीचे लगनेवाले पुष्पगुच्छोंके सदृश तप रहे सूर्य मानो आस्वाद ले रहे थे ॥ १० ॥

उस समय पर्वतोंके ऊपरसे जो नदियोंके समूह बह रहे थे, उनसे बड़े-बड़े पर्वत, द्वीप एवं नगर भी बह जाने लगे और कल्पान्त पवनके भयङ्कर क्षोभसे बड़े-बड़े पर्वत चूर्णित होने लग गये ॥ ११ ॥

ग्रह और तारोंका समूह बड़ा ही उग्र एवं व्यग्र प्रतीत हो रहा था, ये एक दूसरेपर प्रहार करनेमें तुले हुए थे, अतएव ये वर्तुलाकारमें परिणत होकर अन्तमें गिर भी रहे थे, इसलिए आकाशमण्डलमें भी इन्होंने पृथ्वीकी अपेक्षा द्विगुण अलातलताको पैदा कर दिया था ॥ १२ ॥

भद्र, सारे त्रैलोक्यमें उस समय चारों ओर बहनेवाले प्रचण्ड पवनके कारण

घनसीकृतबाष्पाभ्रैः कल्पाभ्रैरपि मेदुरैः ।
अन्धीकृतार्कजालांशुतमोनिबिडमन्थरम् ॥ १४ ॥
विशीर्णवसुधापीठखण्डखण्डैर्गलत्तटैः ।
उह्यमानैर्लुठच्छैलपतनैः सङ्कटार्णवम् ॥ १५ ॥
ऊर्म्युद्यदुपलच्छिन्नघनैर्घस्मरमारुतैः ।
समुद्रघोषैर्निर्घातगम्भीरैर्भग्नदिक्तटम् ॥ १६ ॥
ब्रह्माण्डकुड्यक्रोडाग्रकुट्टकैः कटुटांकृतैः ।
कल्पाभ्रविटपास्फोटैर्घट्टितैकार्णवारटि ॥ १७ ॥
स्वर्गपातालभूलोकखण्डखण्डैर्विमिश्रितैः ।
यथास्वभावं तिष्ठद्भिर्मरुबुध्नैर्वृताम्बरम् ॥ १८ ॥

उत्पन्न हुए जलके पर्वताकार बड़े-बड़े तरङ्गोंके आघातोंसे पर्वत टूट-फूट जा रहे थे और पर्वतप्रान्तोंको कूट-कूटकर पवन प्रलयमें ले जा रहा था ॥ १३ ॥

घने जलकणोंसे मुक्त बाष्पके मेघोंसे तथा कल्पकालीन नीलवर्णके मेघोंसे सारी त्रिलोकीमें सूर्योंके किरणसमूह आवृत हो गये थे, इससे सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार हो गया था ॥ १४ ॥

श्रीरामभद्र, पर्वतोंका आधारपीठ जो भूतल था वह तो एकदम जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिए पर्वततट गल रहे थे, इधर उनको प्रलय-का पवन उड़ा रहा था—इस स्थितिसे लुढ़क रहे पर्वतोंके पतनोंसे त्रिलोकीमें सारे समुद्र महान् सङ्कटमें फँसे-से मालूम हो रहे थे ॥ १५ ॥

उठ रही तरङ्गोंसे ऊपर आकाशकी ओर फेंक दिये गये पत्थरों द्वारा मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रलय-पवनोंने उनकी सारी दिशाओंके तटोंको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्माण्डभित्तिरूपी वक्षःस्थलमें चोट पहुँचानेवाले, कठोर टंकारसहित प्रलय-कालीन मेघके समान विटपरूपी हाथोंके आस्फोटों द्वारा परस्पर एकत्रित महासागरमें छाती पीट-पीटकर वह सारा त्रैलोक्य रोने लग गया ॥ १७ ॥

जलके अभावसे मरुस्थलके समान हो गये अधोभागवाले अन्तरिक्षमें स्थित हो रहे यानी उड़ रहे स्वर्ग, पाताल और भूलोकके सम्मिलित अनेक खण्डोंसे वह तीनों लोक आकाशको ढँकने लग गया ॥ १८ ॥

मृतार्धमृतदग्धार्धदग्धाङ्गैर्देवदानवैः ।
अन्योन्यदर्शनाद्भ्रातवेल्लितैर्भ्रामितायुधम् ॥ १९ ॥

कल्पान्तपवनोद्भ्रान्तैर्लोकान्तरजरत्तृणैः ।
आरब्धार्जुनवाताख्यास्तम्भमुद्भूतभस्मभिः ॥ २० ॥

उह्यमानशिलाजालप्रहारविलुठत्तटैः ।
पतल्लोकान्तरैः स्फारदुष्कालकटुटांकृतम् ॥ २१ ॥

वातोद्व्यूहगिरिव्रातगुहाभाङ्कारभासुरम् ।
पतद्भिर्विहितावर्तलोकपालपुरीपुरैः ॥ २२ ॥

तीनों लोकमें प्रलयकालीन वायु द्वारा वेल्लित हुए मरे, अधमरे, जले तथा अधजले अङ्गोंवाले देव और दानव, सबके ऊपर एक-सी विपत्ति आनेपर भी परस्पर वैरदृष्टि रखनेके कारण* एक दूसरेको देखकर मारनेके लिए हथियार घुमाने लगे ॥ १९ ॥

'अर्जुन वात' यह एक वातरोग विशेषका नाम है। जिसे यह रोग होता है उस रोगीको यह रोग आकाशमें ले जाकर खूब नचाता है। परन्तु उस रोगमें अर्जुनकी वर्णता नहीं है, अतः उसका नाम आलम्बनशून्य न रहे, इस मतलबसे कल्पान्त पवनोंके द्वारा उड़ाये गये लोकान्तरके जीर्णतृणोंने स्वोद्भूत भस्मों द्वारा वातको सफेद बनाकर उस त्रिलोकीमें अर्जुनवातनामक रोगका एक स्तम्भ खड़ा कर दिया यानी उसे आलम्बनयुक्त कर दिया ॥ २० ॥

कल्पान्त पवनसे उड़ाये जा रहे शिला-समूहोंसे जो प्रहार हो रहा था उससे लोकान्तरोंके तटप्रान्त लुढ़क रहे थे और वे गिर भी रहे थे, इससे महादुष्काल-जनित कठोर शब्दोंसे वह सारा त्रैलोक्य व्याप्त हो गया था ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण जगत् कल्पान्तके प्रचण्ड पवनोंके संघट्टनोंसे उत्पन्न पर्वतोंकी गुफाओंके भाङ्कार शब्दोंसे भासुर तथा गिर रहे वर्तुलाकारमें परिणत लोकपाल-नगरों एवं अन्य नगरोंसे पूर्ण हो गया ॥ २२ ॥

---

* ज्ञानके बिना, हजारों विपत्तियोंके उपस्थित होनेपर भी अज्ञानियोंकी वैरदृष्टि कभी शान्त नहीं होती। वह वैरदृष्टि विपत्तियोंसे भी बढ़कर महाविपत्स्वरूप है, इसलिए प्रत्येक प्राणीको चाहिए कि वह ज्ञानप्राप्तिके लिए कुछ भी उठा न रखे, यह इसका गूढ़ अभिप्राय है।

कृतकर्कशनिर्ह्रादैरसुरैरिव मारुतैः ।
उह्यमानवनव्यूहप्रोतवातायनैर्वृतम् ॥ २३ ॥
पुरमण्डलदैत्याग्निसुरनागविवस्वताम् ।
निकुरम्बं दधद्व्योम्नि मशकानामिवोच्चयम् ॥ २४ ॥
नश्यन्नगवराभोगैर्भागैर्भग्नसुरालयैः ।
आवर्तघर्घरारावैर्जलमूर्ध्वमधोऽनलम् ॥ २५ ॥
कुर्वज्जलाद्रिनिष्पेषैर्दिक्पालपुरकुट्टनम् ।
निपतद्देवदैत्येन्द्रसिद्धगन्धर्वपत्तनम् ॥ २६ ॥
कुट्टनं पर्वतादीनां प्रशान्ताङ्गाररूपिणाम् ।
वातैः कुर्वत्पदार्थानामसारं रजसामिव ॥ २७ ॥
पुराण्यमरदैत्यानां भ्रमद्भित्तीनि शातयत् ।
रतैः खणखणायन्ति पयांसीव पयस्वताम् ॥ २८ ॥

असुरोंके समान घोर कर्कश शब्द करनेवाले वायुओंके द्वारा उड़ाये जा रहे वनसमूहमें संसृष्ट शीघ्रगति घोड़े आदिसे सारा जगत् आवृत हो गया ॥ २३ ॥

उस समय त्रैलोक्य आकाशमण्डलमें—नगर, जिले, दैत्य, अग्नि, असुर, नाग एवं आदित्योंके समूहोंको—ऐसे धारण कर रहा था, जैसे मच्छरोंके समूहको ॥ २४ ॥

भद्र, उस समय तीनों जगत्का स्वरूप इस तरह दिखाई दे रहा था—बड़े-बड़े विशाल पर्वत नष्ट हो रहे थे, और देवमन्दिर भी टूट रहे थे—इससे जो उनके अनेक विभाग निकले वे उलटे-पुलटे हो गये यानी दोने या कठवतके समान ठीक विपरीत हो गये, इसलिए घरघर शब्दोंके साथ ऊपरकी ओर तो जल भर गया और नीचेकी ओर निर्बाध अग्नि जलने लगी ॥ २५ ॥

उस समय जलके पर्वताकार तरङ्गोंके आघातोंसे दिक्पालोंके नगर कूटे जा रहे थे और देव, दैत्य, इन्द्र, सिद्ध तथा गन्धर्वोंके नगर छिन्न-भिन्न होकर पतनोन्मुख हो रहे थे ॥ २६ ॥

प्रशान्त अङ्गारोंके सदृश भासमान पर्वत आदि बड़े-बड़े पदार्थोंका वायुओंके द्वारा ऐसे निःसारतापूर्वक कुट्टनं हो रहा था, जैसे कि धूलिका ॥ २७ ॥

जिनकी भित्तियाँ घूम रही थीं, ऐसे देव और दैत्योंके नगरोंको, जो मेघोंके

पूर्णाम्बरं पतल्लोकलोकसप्तकमन्दिरैः ।
चक्रावृत्त्या भ्रमद्भूपैरमरैः सागरैरिव ॥ २९ ॥
डीनोड्डीनैः परिवृतं विचलद्वातवेल्लितैः ।
दग्धादग्धैः पदार्थैः खे शीर्णपर्णगणैरिव ॥ ३० ॥
हेमस्फटिकवैदूर्यसुसारमणिमन्दिरैः ।
दिवः पतद्भिराकीर्णमुग्रज्झणझणस्वनैः ॥ ३१ ॥
उत्पेतुर्धूमभस्माब्दाः पेतुर्वारा पुरोत्कराः ।
उन्ममज्जुस्तरङ्गौघा ममज्जुर्भूतलाद्रयः ॥ ३२ ॥
आवर्तघर्घरारावा मिथो विदलनोद्यताः ।
जुघूर्णुरर्णवाकीर्णपर्णवत्प्रौढपर्वताः ॥ ३३ ॥
क्रन्दच्छिष्टामरगणं चलत्सज्जीवभूतकम् ।
भ्रमत्केतुशतोत्पातं दुष्प्रेक्ष्यमभवज्जगत् ॥ ३४ ॥

जलके सदृश रत्नोंसे खनखन ध्वनि कर रहे थे, उस समय सारा जगत् छिन्न-भिन्न करने लग गया ॥ २८ ॥

सारा आकाशमण्डल तो गिर रहे लोगोंसे युक्त सातों लोकोंके घरोंसे तथा सागरोंके सदृश चक्रोंके आकारमें घूम रहे देवताओंसे व्याप्त हो गया ॥ २९ ॥

आकाशमण्डलमें जीर्णशीर्ण पत्तोंके समूहोंके सदृश चञ्चल वायुओंके द्वारा वेल्लित अतएव गिर रहे, उड़ रहे दग्ध, अर्धदग्ध आदि पदार्थोंसे तीनों लोक व्याप्त थे—ऐसे पदार्थोंकी उस समय जगत्‌में भरमार दिखाई दे रही थी ॥ ३० ॥

भद्र, आकाशसे झनझन शब्दपूर्वक गिर रहे सुवर्ण, स्फटिक, वैदूर्यमणि एवं नीलम आदिके मन्दिरोंसे तीनों जगत् उस समय पूर्ण हो गये ॥ ३१ ॥

उस समय धूम और भस्मके मेघ उठने लगे, वृष्टिके जलसे पुरोंके समूह आ गिरने लगे, बड़ी-बड़ी तरङ्गें उठने लगीं और भूतल, पर्वत आदि डूबने लगे ॥ ३२ ॥

आवर्तके सदृश घरघर ध्वनि करनेवाले और परस्पर विदलन करनेमें उद्यत प्रौढ पर्वत, समुद्रमें बिखरे पत्तोंके सदृश, घूर्णित हो रहे थे ॥ ३३ ॥

भद्र, शिष्ट और देव गण उसमें क्रन्दन कर रहे थे, थोड़े-से जीवनसे युक्त दयाके पात्र प्राणी रेंग रहे थे, सैंकड़ों धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे, इससे जगत् अत्यन्त दुष्प्रेक्ष्य हो रहा था ॥ ३४ ॥

मृतार्धमृतया भूतसन्तत्याऽनिललोलया ।
अभून्नीरन्ध्रमाकाशं जीर्णपर्णसवर्णया ॥ ३५ ॥

जगदासीत्पतच्छृङ्गस्थूलधारौघनिर्भरम् ।
वहद्वहद्गिरिपुरव्रातपूर्णसरिच्छतम् ॥ ३६ ॥

शाम्यच्छमशमाशब्दशतशाखहुताशनम् ।
चलाब्धिवलनान्दोललोलशैललसत्तटम् ॥ ३७ ॥

तृणराशिसरिन्न्यायमिश्रद्वीपार्णवोत्कटम् ।
अत्यन्तदूरचिद्व्योमक्षणज्वालासहावनम् ॥ ३८ ॥

वर्षशाम्यद्धुताशोत्थभस्मामोदपतत्सुरम् ।
भूतपूर्वजगद्भूतं परिविस्मृतसर्गकम् ॥ ३९ ॥

पवनोंके द्वारा उड़ाये गये मृत और अर्धमृत जीव-समूहोंसे, जो ठीक जीर्ण पत्तोंके समान थे, सारा आकाशमण्डल पूर्ण हो गया ॥ ३५ ॥

उस समय सम्पूर्ण त्रैलोक्य पर्वतशिखरोंके सदृश मोटी-मोटी गिर रही जल-धाराओंके निर्भरोंसे आक्रान्त होकर पर्वतों तथा नगरोंके समूहोंको भी बहा देनेवाली परिपूर्ण सैकड़ों नदियोंसे बहने लग गया ॥ ३६ ॥

उस समय जगत्में अनेक शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त अग्नि शमशम शब्द-पूर्वक शान्त हो रही थी और चञ्चल समुद्रोंके विविध विचलन-आन्दोलनोंसे लोल हुए पर्वतोंके कारण जगत्के तट सुशोभित हो रहे थे ॥ ३७ ॥

उस कालमें समस्त जगत् नदियोंमें मिली हुई तृणराशिके सदृश समुद्रमें मिले हुए बड़े-बड़े द्वीपोंके कारण बड़ा ही विकट लग रहा था। [तत्त्व-ज्ञानसे प्रदीप्त चिदाकाशरूप अग्निसे एक क्षणमें नष्ट हो जानेवाले जगत्का प्रलयकालमें जो देरसे दाह हुआ, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'अत्यन्त'से] तत्त्वज्ञानकी दुर्लभताके कारण अत्यन्त दूर चिदाकाशमें सारे जगत्की स्थिति क्षणभर भी ज्वाला सहनेमें समर्थ नहीं थी ॥ ३८ ॥

भद्र, उस समय त्रिलोकीमें वृष्टि शान्त हो जानेके कारण अग्निसे उत्पन्न भस्मकी गन्धसे देवगण गिरने लग गये और पहले उसमें जो चराचर भूतगण थे उनकी इस समय तो विस्मृति ही होने लगी ॥ ३९ ॥

निरर्गलोल्लसन्नादं सर्गलोपशमक्रमम् ।
सर्गलोपोल्लसच्छेषं सर्गलोपविवर्जितम् ॥ ४० ॥
अनारतविपर्यासकारिमारुतनिर्वृतम् ।
बीजराशिरिवाजस्रं पूर्यमाणं पुनःपुनः ॥ ४१ ॥
उल्मुकान्योन्यनिष्पेषवह्निचूर्णसुवर्णजैः ।
रजोभिर्विवृतैर्हेमकुट्टिमाकाशकोटरम् ॥ ४२ ॥
भूमण्डलबृहत्खण्डैर्भ्रष्टैः सद्वीपसागरैः ।
पूर्णसप्तमपातालं लुठत्पातालमण्डलैः ॥ ४३ ॥
आसप्तमसुतालान्तमामहीतलपर्वतम् ।
आव्योमैकार्णवीभूतं पूर्णं प्रलयवायुभिः ॥ ४४ ॥

भद्र, उस समय निरर्गल नादका उल्लास हो रहा था, त्रिलोकीमें सृष्टिका लोप हो जानेसे क्रमशः उसमें शान्ति मालूम पड़ने लगी, वास्तवमें सृष्टिके लोपसे परमात्माका ही विलास होने लगा। यदि तत्त्वदृष्टिसे देखें तो सारा जगत् उत्पत्ति एवं विनाशसे शून्य ही है ॥ ४० ॥

अथवा सदा ही सृष्टि और सृष्टिलोपसे युक्त है, इस आशयसे कहते हैं—'अनारत०' इत्यादिसे।

भद्र, अथवा यह जगत् निरन्तर परिवर्तनकारी वायुसे निर्वृत है एवं निरन्तर बीजराशिके सदृश बार-बार पूरा हो जानेवाला है ॥ ४१ ॥

भद्र, अधिक क्या कहें, सारे जगत्में लुआठोंके एक दूसरेके साथ हुए आघातोंसे अग्निचूर्ण और सुवर्णजनित फैली हुई अपार धूलियोंसे आकाशका कोटर सुवर्णकुट्टिम-सा बन गया ॥ ४२ ॥

उस समय सातवें पातालतक जगत् अपने स्थानसे च्युत द्वीप एवं सागरोंसे युक्त भूमण्डलके बड़े-बड़े खण्डोंसे एवं लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलसे पूर्ण हो गया ॥ ४३ ॥

नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वततक और ऊपर आकाश-मण्डलतक प्रलयवायुओंके द्वारा सारा जगत् पूर्णरूपसे एक समुद्राकार हो गया ॥ ४४ ॥

एकार्णवोऽथ ववृधे शनैः शीघ्रं सरिच्छतैः ।
भुवने जलकल्लोलैः कोपो मूर्खाशये यथा ॥ ४५ ॥
मुसलोपमया पूर्वं ततः स्तम्भनिभाङ्गया ।
ततस्तालद्रुमाकारधारयाऽऽसारसारया ॥ ४६ ॥
ततो नदीप्रवाहोग्रजलपातैकपातया ।
सप्तद्वीपमहीपीठसममेदुरमेधया ॥ ४७ ॥
वह्निर्विदाहकृद्वृष्टया शममभ्याययौ तथा ।
शास्त्रसज्जनसङ्गत्या गाढमापत्पदं यथा ॥ ४८ ॥
ऊर्ध्वाधरस्थपरिवृत्तपदार्थजात-
मन्तःकणैः खणखणायितशैलमज्जम् ।
ब्रह्माण्डकोटरमभूद्विधुरं कुबाल-
लीलाविलोलमिव बिल्वफलं विशुद्धम् ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पुष्करावर्त्तवृष्टिविसंष्ठुलजगद्वर्णनं नाम सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

हे श्रीरामजी, तदनन्तर वह अकेला महासमुद्र धीरे-धीरे शीघ्रगामी सैकड़ों नदियोंके द्वारा जलकल्लोलोंसे भुवनमें ऐसे बढ़ने लगा, जैसे मूर्खके चित्तमें कोप ॥४५॥

भद्र, तदनन्तर पहले तो मुसलके आकारमें, फिर खम्भेके आकारमें और फिर तालवृक्षके आकारमें उत्तरोत्तर अतिस्थूल घनघोर वृष्टिकी धाराएँ गिरने लगीं ॥ ४६ ॥

तदनन्तर नदीप्रवाहके उग्र जलपातके सदृश जलपात करनेवाली तथा सातों द्वीपोंसे युक्त भूपीठके सदृश महास्थूल धाराओंसे वृष्टि होने लगी ॥ ४७ ॥

उक्त महावृष्टिसे दाह करनेवाली अग्नि ऐसे शान्त हो गई, जैसे शास्त्र एवं सज्जनोंकी सङ्गतिसे करोड़ों दुःखोंसे निबिड़ आपदाओंका स्थान (अज्ञान) शान्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

हे श्रीरामजी, जिसमें ऊपर और नीचेके भ्रमणशील अनेक पदार्थ थे, भीतर जलकणोंके कारण शैलरूपी मज्जा खनखन ध्वनि कर रही थी, ऐसा समस्त

अष्टसप्ततितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

वातवर्षहिमोत्पातपातभग्ने धरातले ।
जडवेगोऽगमद्वृद्धिं कलाविव महीपतिः ॥ १ ॥
गङ्गाप्रवाहपतितधारापातविवर्धितः ।
सरित्सहस्रैः सहसा मेरुमन्दरभासुरैः ॥ २ ॥
आदित्यपथसम्प्राप्तकन्दरो जडमन्थरः ।
एकार्णवः समुच्छून आसीन्मूर्ख इवेश्वरः ॥ ३ ॥
विपुलावर्तवृत्त्याऽऽत्तविवृत्ताद्रिजरत्तृणः ।
स्फुरत्तुङ्गतरङ्गाग्रनिगीर्णादित्यमण्डलः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डरूपी कोटर इस प्रकार विनष्ट हो गया, जिस प्रकार बालकोंकी कुत्सित (तोड़-फोड़ कारक) क्रीड़ाओंसे चञ्चल हुआ विशुद्ध बिल्वफल विनष्ट हो जाता है ॥ ४९ ॥

सतहत्तरवाँ सर्ग समाप्त

अठहत्तरवाँ सर्ग

[नदीके रूपमें गिरनेवाली घनघोर वृष्टिधाराओंसे चारों ओरसे आकाशको पूर्ण कर रहा जो एक महासमुद्र बढ़ा, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, जब धरातल वायु, वर्षा, हिम और अनेक तरहके उत्पातोंके आगमनसे नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रका जलवेग ऐसे वृद्धिको प्राप्त हुआ, जैसे कलिमें राजा ॥ १ ॥

वह समुद्र आकाशगङ्गाके प्रवाहोंमें पतित मेघधाराओंके गिरनेसे खूब बढ़ा या उस तरहकी मेघधाराओंसे जनित हजारों नदीधाराओंसे खूब बढ़ा। अकस्मात् उत्पन्न हुई मेरु एवं मन्दर पर्वतके सदृश भासुर तरङ्गोंसे बहाये जा रहे पर्वत-कन्दराओंको उसने आदित्यके मार्गमें पहुँचा दिया। थोड़ेमें यही कहना है कि मूर्ख राजाके सदृश जलसे मन्थर वह समुद्र बहुत ही उन्नत हो गया ॥ २, ३ ॥

सर्गसमाप्तिपर्यन्त उसी एकार्णवका वर्णन करते हैं—'विपुला०' इत्यादिसे।

मेरुमन्दरकैलासविन्ध्यसह्यजलेचरः ।
गलितावनिपङ्कान्तर्लीनव्यालमृणालकः ॥ ५ ॥
अर्धदग्धद्रुमवनव्यूहशैवलसङ्कटः ।
त्रैलोक्यभस्मसंसृष्ट आसीत् कर्दमकुत्सितः ॥ ६ ॥
नभःस्तम्बबृहद्घनोत्तालभास्करपुष्करः ।
धाराजालमहाम्भोदविलीननलिनीदलः ॥ ७ ॥
डिण्डीरपर्वतप्रान्तनदद्धुन्मत्तवारिदः ।
भ्रमदिन्द्रानिलार्केन्दुपुरपत्तनपूरणैः ॥ ८ ॥
काष्ठवत्प्रोह्यमाणोग्रसुरासुरजनोत्करः ।
शनैः क्रमोच्छूनतया लिहन्नादित्यमण्डलम् ॥ ९ ॥

इस बढ़े हुए समुद्रने अपने आवर्तस्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको जीर्ण तृणके समान पकड़कर चक्करमें डाल दिया तथा चंचल उत्तुङ्ग तरङ्गोंके अग्रभागोंसे वह आदित्यमण्डलको भी निगल गया ॥ ४ ॥

उसमें मेरु, मन्दर, कैलास, विन्ध्य और सह्य पर्वत तो जल-चर-से हो गये और उसमें जो पृथ्वी गल गई थी, उसके कीचड़में भीतर लीन शेषादि सर्प कमलदण्डसे मालूम हो रहे थे ॥ ५ ॥

उस समुद्रमें अर्धदग्ध वृक्षोंसे युक्त वनसमूह तो शैवाल-सा लग रहा था और त्रिलोकीके भस्मसे उत्पन्न कीचड़से वह कुत्सित भी प्रतीत हो रहा था ॥६॥

आकाश तो ठहरे कमलनाल। इन नालोंमें जो बड़ी कर्णिकाएँ थीं उनमें बीजभूत किरणोंके द्वारा उत्ताल हुए बारह आदित्य ही उसमें कमल-से प्रतीत हो रहे थे और धारासमूहरूपी महामेघ ही उसमें जलके ऊपर संलग्न होनेके कारण विलीनप्राय कमलिनीके पत्ते थे ॥ ७ ॥

उसमें उत्पन्न झरनोंके बड़े-बड़े पर्वतोंके प्रान्तभागमें उन्मत्त मेघ शब्द कर रहे थे और घूम रहे इन्द्र, वायु, सूर्य, चन्द्र, ग्राम एवं नगरोंके समूहोंसे वह भर गया था ॥ ८ ॥

उसमें उग्र सुर, असुर और मनुष्योंके समूह काठके सदृस बह रहे थे। वह समुद्र धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ता हुआ आदित्यमण्डलको एक तरहसे चाटने लग गया ॥ ९ ॥

तरत्तारतरारावधाराधरसमुद्भवैः ।
बुद्बुदैः परिसंदिग्धप्रोह्यमाणमहाचलः ॥ १० ॥
भ्रमद्बुद्बुदविश्रान्तभ्रान्तकल्पान्तवारिदः ।
उत्तालैस्तैरनाधारैः पश्यन्नपरवारिदम् ॥ ११ ॥
महाप्रवाहवार्योघघोषघुङ्घुमिताम्बरः ।
एकप्रवाहमहितसव्योमकुलपर्वतः ॥ १२ ॥
चण्डवातकृतापूर्वजलौघकुलपर्वतैः ।
महाघुरघुरारावघर्घरोग्रमहारयः ॥ १३ ॥
ब्रह्माण्डखण्डसंघट्टपरावृत्तिभिरुद्धतः ।
कुर्वन्योजनलक्षाणि विततान्युन्नतानि च ॥ १४ ॥

भद्र, उस समय समुद्रमें जो महागर्जना कर रहे मेघोंसे बुल्ले उठ रहे थे, उनको देखकर यह सन्देह हो रहा था कि ये महापर्वत तो नहीं बह रहे हैं ॥ १० ॥

उस समुद्रमें इधर-उधर नाँच रहे बुल्लोंपर कल्पान्तके महामेघ विश्राम कर रहे थे और स्वयं नाँच भी रहे थे, वे बुल्ले एक तरहसे आँखोंकी पुतली-से प्रतीत हो रहे थे। हाँ, प्रसिद्ध पुतलियोंसे इनमें विलक्षणता अवश्य थी, क्योंकि इनका आधारभूत मुख ही यहाँ नहीं था, इन पुतलियोंसे समुद्र समीपके दूसरे मेघको मानो देख रहा हो, ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥ ११ ॥

भारी प्रवाहसे युक्त जलके ओघसे जो भयङ्कर घोष हो रहा था, उससे आकाशको भी वह सावधान कर रहा था। अपने एक ही प्रवाहमें उसने आकाश-सहित सातों कुलपर्वतोंको अपने उदरमें कर लिया ॥ १२ ॥

प्रचण्ड पवनके द्वारा उत्पन्न जो अपूर्व जलौघ थे, उनसे उसने अपने अन्दर सातों कुलपर्वतोंकी मानो रचना कर दी थी, इन रचित कुल-पर्वतोंसे उदित हुए घुरघुर महाध्वनिसे घर्घर उग्रमहाध्वनिपूर्वक उसका वेग असीम हो गया था ॥ १३ ॥

ब्रह्माण्डखण्डोंके परस्पर संघट्टनोंका जो पुनः-पुनः आवर्तन हो रहा था, उससे उसकी उद्धता क्षण-क्षणमें बढ़ती ही जा रही थी, और ऊपर-नीचे लाखों योजनों तक विस्तारवाले पदार्थोंको अपने उदरमें वह निगलता जा रहा था ॥१४॥

तृणैरिव तरङ्गेषु दोलान्दोलनमद्रिभिः ।
कुर्वन्द्रिरुपलाघातभग्नभास्करमण्डलः ॥ १५ ॥
शून्यब्रह्माण्डविपुलजलघातकुलायके ।
नीलानचलकाकोलान् जहन्सलिलजालकैः ॥ १६ ॥
मृतामृतमहद्भूतमज्जनोन्मज्जनाकुलान् ।
तरङ्गमकरावर्तप्रतिबिम्बान्वितानिव ॥ १७ ॥
मृतशिष्टान् पुरभ्रष्टान्फेनाद्रितटिकोटिषु ।
दधज्जलबलश्रान्तांस्त्रिदशान् मशकानिव ॥ १८ ॥
विपुलायतनाकाशविपुलानम्बुबुद्बुदान् ।
सहस्रसंख्यान् कलयन् लोचनानीव वासवः ॥ १९ ॥

तरङ्गोंपर जैसे तृण झूलते हैं, वैसे ही उसकी तरङ्गोंपर महान् पर्वत झूल रहे थे, इन झूला झूल रहे पर्वतोंके द्वारा पत्थरोंको फेंककर वह सूर्य-मण्डलको भी नष्ट कर रहा था ॥ १५ ॥

भद्र, उस शून्य ब्रह्माण्डरूप घोंसलेके भीतर, जो कि एकमात्र विपुल जल-समूहसे ही बना था, विद्यमान नील-पर्वतरूप महान् द्रोणकाक-पक्षियोंका (डोम कौओंका) वह समुद्र अपने जलरूपी जालोंसे आहरण कर रहा-सा मालूम पड़ता था ॥ १६ ॥

नील-पर्वतरूपी द्रोणकाकोंका ही दो विशेषणोंसे वर्णन करते हैं—'मृत०' इत्यादिसे ।

मृतक एवं जीवित प्राणियोंके, मज्जन और उन्मज्जनोंसे व्याकुल तथा तरङ्ग और मकराकार आवर्तोंमें प्रतिबिम्बित हुए-जैसे नील-पर्वतरूपी डोमकौओंका जल-रूपी जालोंसे मानो वह हरण कर रहा था ॥ १७ ॥

भद्र, जो मरनेसे बच गये थे और अपने-अपने नगरोंसे च्युत हो गये थे, ऐसे जलके बलपर विश्राम किये हुए देवताओंको—मच्छरोंके सदृश—फेनरूपी पर्वतोंकी तटी और कोटियोंपर (शिखरोंपर) धारण कर रहा था ॥ १८ ॥

उस समुद्रमें जो बुल्ले उठ रहे थे, वे उनके भीतर स्थित प्राणियोंकी

शरद्व्योमसमाभोगैर्वलद्भिर्बुद्बुदेक्षणैः ।
पश्यन्निव नदीधारान्मेघानाताम्रपूरकान् ॥ २० ॥
पुष्करावर्तकाभ्राणां बहुभिर्वीचिमण्डलैः ।
कुर्वन्नालिङ्गनानीव सपक्षाद्रिवदुत्थितैः ॥ २१ ॥
त्रिजगद्ग्राससंतृप्तः प्रगायन्निव घर्घरैः ।
स्वैर्नृत्यन्निव चोग्राद्रिकटकैर्वीचिदोर्द्रुमैः ॥ २२ ॥
नदीधाराधरैरूर्ध्वे मध्ये दग्धैर्धराधरैः ।
अधो धराधरैर्नागैरधरः पङ्कगैर्वृतः ॥ २३ ॥
धारात्रिपथगापूरैर्निपतद्भिर्निरन्तरम् ।
मग्नोन्मग्नोह्यमानाद्रिशृङ्गडिण्डीरबुद्बुदः ॥ २४ ॥

दृष्टिसे चाँदीके कड़ाहेके सदृश प्रतीत हो रहे थे, ये इतने विपुल थे कि इस प्रसिद्ध आकाशके सदृश थे, और ये ठीक समुद्रके नेत्रोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, इन सहस्र नेत्रोंसे वह ऐसे देख रहा था, जैसे इन्द्र ॥ १९ ॥

शरत्कालके आकाशके सदृश विशाल उठ रहे बुद्बुदोंरूपी नेत्रोंसे वह नदियोंके समान धारावाले चारों ओर लालिमासे व्याप्त मेघोंको मानो देख रहा था ॥ २० ॥

हे श्रीरामजी, यह प्रलयकालका समुद्र पक्षसहित पर्वतोंके तुल्य आविर्भूत हुए अनेक तरङ्गमण्डलोंसे पुष्करावर्तक आदि मेघोंका मानो आलिङ्गन कर रहा था ॥ २१ ॥

तीनों लोकके ग्राससे संतृप्त हुआ वह प्रलयकालीन महासागर घर्घरशब्दोंसे एक तरहका गीत गा रहा था और उग्र पर्वतरूपी कंकणोंसे अलंकृत तरङ्गरूपी भुजाओंसे वह मानो नाच कर रहा था ॥ २२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, धरासे शून्य वह सागर ऊपर नदीके सदृश धाराओंवाले मेघोंसे, मध्यमें दग्ध पर्वतोंसे तथा नीचे पङ्कमें रहनेवाले नागोंसे आवृत था ॥ २३ ॥

निरन्तर गिर रही धाराओंसे सुशोभित गङ्गाजीकी बाढ़से वह परिपूर्ण था। उसमें पर्वतशिखरोंके डूबने और उतरानेसे पानीके झाग और बुल्ले उठ रहे थे ॥ २४ ॥

उह्यमानदलत्स्वर्गखण्डक्रन्दन्नभश्चरः ।
वहद्विद्याधरीवृन्दपद्मिनीसुन्दरान्तरः ॥ २५ ॥
एकार्णवपयःपूरैर्घर्घराराविरंहसि ।
त्रैलोक्यखण्डसंहारे प्रोह्यमाणे महाम्भसि ॥ २६ ॥
नासीत्कश्चित्परित्राता हन्ताऽत्रीचिवशोऽपि च ।
शक्नोति कः परित्रातुं कालेन कवलीकृतम् ॥ २७ ॥
नाकाशमासीन्न दिगन्त
आसीदधोऽपि नासीन्न तदूर्ध्वमासीत् ।
भूतं न आसीन्न च सर्ग आसी-
दासीत्परं केवलमेव वारि ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने एकार्णववर्णनं नाम
अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

उसमें बहते हुए छिन्न-भिन्न स्वर्गके अनेक खण्डोंमें देवतारूपी अनेक हंस विद्यमान थे। एकमात्र यही कारण था कि उसका आभ्यन्तर बहती हुई विद्याधरियोंकी पङ्क्तिरूपी पद्मिनीसे बहुत ही सुन्दर दीख रहा था ॥ २५ ॥

एकमात्र समुद्रोंके जलोंकी उस बाढ़से घर्घरशब्दयुक्त, अतिवेगशाली सम्पूर्ण त्रैलोक्यके खण्डोंके संहारक, बेटोक-रोक बहाये जा रहे उस महासागरमें उस समय कोई संरक्षक नहीं था और ऐसा भी कोई प्राणी या पदार्थ न था, जो कि उसकी तरङ्गोंकी चपेटमें न आ गया हो, यह दुःखकी बात है। हे श्रीरामजी, इस संसारमें कालके गालमें पड़े हुए प्राणीकी कौन रक्षा कर सकता है ॥ २६, २७ ॥

हे श्रीरामजी, और अधिक हम क्या कहें, सिर्फ यही कह देना पर्याप्त है कि उस समय आकाश नहीं था, दिगन्त नहीं था, ऊपर नहीं था, नीचा नहीं था, भूत नहीं था और न सर्ग था, किन्तु एकमात्र केवल जल ही जल विद्यमान था ॥ २८ ॥

अठहत्तरवां सर्ग समाप्त

एकोनाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे चक्षुर्व्योमस्थोऽहमथात्यजम् ।
ब्रह्मलोके महालोके प्रभातेऽर्कः प्रभामिव ॥ १ ॥
यावद्दृष्टो मया तत्र शैलादिव विनिर्मितः ।
परमेष्ठी समाधिस्थः प्रधानपरिवारवान् ॥ २ ॥
समूहश्चैव देवानां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव शक्रो वैश्रवणो यमः ॥ ३ ॥
सोमोऽथ वरुणोऽग्निश्च तथाऽन्येऽपि सुरर्षयः ।
देवगन्धर्वसिद्धानां साध्यानां च विनायकाः ॥ ४ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग

[प्रबोध द्वारा स्वप्नके बाधके समान, ऋषियों तथा देवताओंके समूहके सहित विधाताके निर्वाणका वर्णन]

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तपोलोकपर्यन्त जब समूचा प्रदेश प्रलयकालीन एक महासागरके जलमें डूब गया तब सत्यलोकके निकट आकाशमें स्थित मैंने अपनी दृष्टि ऐसी फेंकी, जैसे प्रातःकालमें सूर्यदेव अपनी प्रभा फेंकते हैं ॥ १ ॥

इतनेमें मैंने प्राणादि-उपासनाओंके द्वारा सालोक्यादि मुक्तिको प्राप्त हुए तथा ब्रह्माजीके साथ विदेहकैवल्यको प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहे जीवन्मुक्त परिवारके * सहित ब्रह्माजीको शैलसे विनिर्मित हुए-सा देखा ॥ २ ॥

वहां मैंने अधिकारी देवों तथा भावितात्मा मुनियोंके समूहको देखा। हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समूहके भीतर मैंने शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण और अग्निको देखा तथा इनके अतिरिक्त वहां मैंने और भी अनेक देवताओं और ऋषियोंको देखा। इतना ही नहीं और सुनिये—वहां देव, गन्धर्व,

---

* इस विषयमें सुनिये क्या कहा है—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

लिपिकर्मार्पिताकाराः सर्वे ध्यानपरायणाः ।
बद्धपद्मासनास्तत्र निर्जीवा इव संस्थिताः ॥ ५ ॥
अथ ते द्वादशादित्यास्तमेवोद्देशमागताः ।
बद्धपद्मासनास्तस्थुस्तथैवाऽऽशु यथैव ते ॥ ६ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण दृष्टवानहमब्जजम् ।
पुरो विनिद्रतां यातः स्वप्नदृष्टमिवाग्रगम् ॥ ७ ॥
ब्रह्मलोकजनं सर्वं महतामिव वासनाम् ।
नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम् ॥ ८ ॥
अरण्यशून्यमेवासीत्तद्ब्रह्ममननं तदा ।
कठिनाकाण्डविध्वस्तं पृथिव्यामिव पत्तनम् ॥ ९ ॥

सिद्ध और साध्योंके नायक भी उपस्थित थे, मैंने उन्हें भी देखा । हे श्रीरामचन्द्रजी, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, चित्रलिखित-जैसे, ध्यानमें परायण वे सबके-सब निर्जीवके समान वहाँ स्थित थे ॥ ३–५ ॥

उसके बादकी घटना बतलाते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उसी स्थानपर वे प्रलयके बारह सूर्य भी आये और पद्मासन लगाकर वे भी सब तुरत उन्हींकी तरह बैठ गये, जिस तरह ये देवता और ऋषि बैठे हुए थे ॥ ६ ॥

इसके बाद मुहूर्तमात्रमें मैंने सामने ब्रह्माजीको ऐसे देखा, जैसे सोकर उठा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे गये पदार्थोंको अपने सम्मुख उपस्थित देखता है । कहनेका तात्पर्य यह कि जाग्रदवस्थामें स्वाप्निक पदार्थोंका जैसे बाध होकर केवल आत्ममात्र परिशेष रह जाता है वैसे ही मैंने ब्रह्माजीको आत्ममात्रपरिशेष ही देखा वही विधाताका विदेहकैवल्य है ॥ ७ ॥

पूर्वोक्त विधाताके पारिवारिक लोगोंमें भी ऐसा ही कैवल्य हुआ, यह कहते हैं—'ब्रह्मलोकजनम्' इत्यादिसे ।

ब्रह्माजीके परिवारके जितने लोग थे, उन सबको भी मैंने अपने सामने तत्त्वज्ञानियोंकी ज्ञानसे बाधित पूर्ववासनाकी तरह बिलकुल ऐसे नहीं देखा, जैसे सोकर उठता हुआ पुरुष स्वप्नकालमें देखे गये नगरको अपने सामने उपस्थित नहीं देखता ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ब्रह्माजीके चरम-साक्षात्कारके समय सबके विदेह-

सर्व एव न च क्वापि ते तथा तादृशास्तदा ।
ऋषयो मुनयो देवा सिद्धा विद्याधरादयः ॥ १० ॥

ज्ञातं ततोऽवधानेन मया नभसि तिष्ठता ।
यावन्निर्वाणमापन्ना ब्रह्मवत्सर्व एव ते ॥ ११ ॥

वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः ।
स्वप्नलोकाः प्रबुद्धानामिव स्वं रूपमागताः ॥ १२ ॥

आकाशात्मैव देहोऽयं भाति वासनया स्फुटः ।
तदभावात्तु नो भाति स्वप्नो बोधवतो यथा ॥ १३ ॥

कैवल्यको प्राप्त हो जानेसे उन ब्रह्मदेवका वह सारा ब्रह्माण्ड, जो उनके सङ्कल्पसे सिद्ध था, शून्य अरण्यकी नाई ऐसे हो गया, जैसे किसी भयङ्कर आकस्मिक नाशके हेतुसे विध्वस्त हुआ पृथिवीमें नगर ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऋषि, मुनि, देव, सिद्ध तथा विद्याधर आदि वे सभी वैसे ही उस समय शून्यरूप हो गये, क्योंकि वे सब वहाँसे कहीं भी अन्यत्र नहीं गये ॥ १० ॥

नामरूपसे शून्यभावको प्राप्त होनेपर भी स्वरूपसे तो वे सबके सब निर्वाण-रूपसे ही स्थित थे, यह महाराज वसिष्ठजी अपने अनुभवसे दिखलाते हैं—'ज्ञातम्' इत्यादिसे ।

इसके बाद आकाशमें स्थित मैंने ध्यानसे जाना कि वे सभी लोग तो ब्रह्माजीके समान ही नामरूपका परित्यागकर निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं ॥ ११ ॥

वासनाकल्पित रूपका नाश हो जानेसे वही उनकी वास्तवस्वरूपकी प्राप्ति है, इस आशयसे कहते हैं—'वासनायाम्' इत्यादिसे ।

वासनाके विलीन हो जानेपर वे अदर्शनको प्राप्त होकर अपने विशुद्ध ब्रह्म-स्वरूपमें ऐसे आ गये, जैसे प्रबुद्ध—जागे हुए प्राणियोंके स्वप्नकालके लोक ॥ १२ ॥

उसीका पुनः उपपादन करते हैं—'आकाशा०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, चिदाकाशरूप यह शरीर वासनाके कारण ही स्पष्ट भासित हो रहा है । वासनाके अभावमें तो यह ऐसे नहीं भासता, जैसे कि बोधवान् प्राणीको यानी जागे हुए जीवको स्वप्न नहीं भासता ॥ १३ ॥

अन्तरिक्षगतो देहो यथा स्वप्ने विलोक्यते ।
बोधे तद्वासनाशान्तौ न किञ्चिदपि लक्ष्यते ॥ १४ ॥
जाग्रत्यपि तथैवायं वासनायाः परिक्षये ।
नैवातिवाहिको नैव लक्ष्यतेऽत्राऽऽधिभौतिकः ॥ १५ ॥
स्वप्नानुभव एषोऽत्र दृष्टान्तत्वेन लक्ष्यते ।
आबालमेतत्संसिद्धमनुभूतं श्रुतं स्मृतम् ॥ १६ ॥
अपह्नुते च वा योऽपि स्वमेवानुभवं शठः ।
स त्याज्यः को ह्यलीकेन सुप्तमुद्बोधयेत्किल ॥ १७ ॥

जैसे स्वप्नमें आकाशगामी यह शरीर दीखता है, किन्तु जाग्रत्कालमें नहीं दीखता, वैसे ही वासना रहनेपर ही यह शरीर दीखता है तत्त्वज्ञान होनेपर जब प्राणीकी वासना बिलकुल शान्त हो जाती है तब कुछ भी नहीं दीखता ॥ १४ ॥

स्वप्नसे उठनेपर जाग्रत्कालमें एकमात्र स्वाप्निक भौतिक पदार्थोंका बाध होता है, लेकिन तत्त्वज्ञान होनेपर तो आधिभौतिक आदि तीनों शरीरका बाध होता है, इतना विशेष है, इस आशयसे कहते हैं—'जाग्रत्यपि' इत्यादिसे ।

जाग्रत्कालमें भी, वासनाका सर्वथा नाश हो जानेसे न तो आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर भासता है और न आधिभौतिक शरीर ही दीखता है अर्थात् वासना न रहनेसे वे दोनों नहीं भासते ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस विषयमें स्वप्नका अनुभव ही दृष्टान्तरूपसे लक्षित है । यह वृद्धसे लेकर एक बच्चे तक सबको अनुभूत है, श्रुतिसिद्ध है * तथा पुराणादिमें प्रतिपादित है ॥ १६ ॥

इस तरह अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका जो अपलाप करता है यानी स्वप्नादि सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको सत्यस्वरूप स्वीकार करता है, उसको तत्त्वज्ञानोपदेश देनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है—वह प्रबोधके योग्य है ही नहीं, यह कहते हैं—'अपह्नुते' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जो शठ स्वयं अपनेको तथा दूसरोंके अनुभवको भी स्वीकार नहीं करता अर्थात् अपने तथा दूसरोंके अनुभवसे सिद्ध स्वप्नके बाधका

---

* देखिये यह श्रुति—'तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः' ।

देहकारणकः स्वप्नो देहाभावान्न दृश्यते ।
इति चेत्तद्देहानां परलोकोऽपि नास्ति च ॥ १८ ॥
इत्येतदभविष्यच्चेत्तच्छरीरकसंक्षये ।
नाभविष्यदयं सर्गः स चास्त्येव च सर्वदा ॥ १९ ॥

अपलाप करता है वह त्याज्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि मिथ्या सुप्त पुरुषको यानी सचमुच न सोये हुए पुरुषको भला कौन उठा सकता है ॥१७॥

फिर भी इस विषयमें स्वप्नका दृष्टान्त तो उचित नहीं है, क्योंकि यह जो वर्तमान शरीर है इसमें पिता आदिका शरीर कारण है, परन्तु स्वप्नशरीर तो ऐसा नहीं है। स्वप्नशरीरके अत्यन्त असद्रूप होनेसे यह विषम दृष्टान्त है, यदि ऐसी कोई शङ्का करे, तो उसकी वह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यज्ञ आदिके द्वारा जो स्वर्गीय शरीर प्राप्त होता है वह भी तो अत्यन्त असद्रूप ही है, ऐसी परिस्थितिमें प्रतिवादीको नास्तिक कहलानेके लिए तैयार रहना होगा, यह कहते हैं—'देहकारणकः' इत्यादिसे।

इस शरीरका कारण पिता आदिका शरीर है, इसलिए यह दिखाई देता है, किन्तु स्वाप्निक शरीरका कारण तो पिता आदिका शरीर नहीं है, इसलिए वह नहीं दिखाई देता, यदि कोई यह शङ्का करे, तो उसकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो उसके मतसे इस पार्थिव शरीरसे रहित प्राणियोंका, जो यज्ञादिके द्वारा स्वर्गीय शरीर प्राप्त करनेवाले हैं, परलोक भी नहीं है। ऐसी दशामें हमें उसको नास्तिक कहनेमें तनिक भी संकोच न होगा ॥ १८ ॥

किंच, पिता आदिका शरीर जिस देहका कारण है उस देहको भी सर्वथा असद्रूप माननेपर तो सूक्ष्मशरीरसमष्टिरूप हिरण्यगर्भको भी असद्रूप होनेमें कोई अड़चन न होगी और उस दशामें उनकी सर्गादि-अर्थक्रिया भी मिथ्या ही सिद्ध होगी, यह कहते हैं—'इत्येतद०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस रीतिसे यदि यह सब असद्रूप होता, तो पूर्व-सृष्टिके प्रलयके अन्तमें सब शरीरोंका सर्वथा क्षय होनेपर इस सृष्टिके आदि-कालमें शरीरहेतुक शरीर न रहनेसे यह सृष्टि भी न होती। और यह सृष्टि सबकी आंखोंके सामने सर्वदा विद्यमान है ही [इसलिए यह सृष्टि नहीं है, यह कोई कहनेका साहस नहीं कर सकता] ॥ १९ ॥

अवयवविभागात्मन्यवश्यं भाविनि क्षये।
न कदाचिदनित्थं तज्जगदित्यप्यसंस्थितम् ॥ २० ॥
न कदाचिज्जगन्नाशो देहोद्भूतगुणादिकम्।
मदशक्तिरिव ज्ञप्तिरुदेतीति च वक्षि चेत् ॥ २१ ॥

पृथिवी आदि पञ्चभूतोंके सावयव होनेसे विभागोंका अवसान हो जानेपर संयोगका विनाश ध्रुव है। अतः अवयवविभागस्वरूप इस जगत्का जब विनाश अवश्यंभावी है तब इस दशामें 'यह जगत् कभी इस अविच्छिन्नप्रवाहसे विपरीत नहीं है, यह जैमिनीय मत अप्रतिष्ठित है—असंगत है ॥ २० ॥

यहाँपर प्रसङ्गवश चार्वाक मतका भी खण्डन करनेके लिए अनुवाद करते हैं—'न कदाचिद्०' इत्यादिसे।

पृथिवी आदि जो चार भूत हैं वे ही चार प्रकारके देहाकारसे तथा घट, पट आदिके आकारसे सम्मिलित होकर 'जगत्' नामसे कहे जाते हैं। पृथिवी आदि भूतस्वरूप होनेके कारण उस जगत्का कभी नाश नहीं होता। जब ये चारों भूत एक जगह मिल जाते हैं तब ज्ञान तथा इच्छा आदि गुणोंवाला इन चारोंके धर्मोंका समुदायरूप एक शरीर तैयार हो जाता है, जिसमें हाथ, पैर आदि अनेक अवयव विद्यमान रहते हैं। और वह शरीर भी उन हाथ, पैर आदि अनेक अवयवोंकी नाना प्रकारकी रचनाओंके कारण मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जातिका हो जाता है। यद्यपि इन चारों भूतोंके मध्यमें किसी भी एक भूतमें ज्ञप्ति नहीं दिखाई देती तथापि जिन द्रव्योंसे मदिरा तैयार की जाती है उन्हें पीसकर जल तथा नमकके साथ एकत्र मिला दिये जानेपर उन एकत्र मिले हुए द्रव्योंमें जैसे कालपाकादि द्वारा मदशक्तिरूप एक विलक्षण गुण आविर्भूत हो जाता है उसी तरह देहाकारमें परिणत हुए पृथिवी आदि इन चारों भूतोंमें ज्ञप्तिरूप गुण आविर्भूत हो जाता है। इसलिए ज्ञप्ति तथा इच्छा आदि गुणोंसे सम्पन्न यह शरीर ही आत्मा है। भाई चार्वाक, यदि यह तुम कहते हो, तो इसका उत्तर सुन लो ॥ २१ ॥

तब तो * सम्पूर्ण वस्तुओंका संक्षय † बतलानेवाले अठारह पुराण,

* अर्थात् तुम्हारे कहनेके अनुसार तो।

† अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत और वैज्ञानिक ये जो चार तरहके प्रलय होते हैं उन्हें बतलानेवाले।

तत्पुराणेतिहासानां सर्वसंक्षयवादिनाम् ।
स्मृत्यादीनां सवेदानां वैयर्थ्यमुपजायते ॥ २२ ॥
अप्रमाणतयैतस्मिन्नर्थे तेषां महामते ।
अन्यत्रापि प्रमाणत्वं वन्ध्यादावपि किं भवेत् ॥ २३ ॥
न चैतदिष्यते लोके जगदुच्छेदकारणात् ।
अन्यच्चास्तामेतदङ्ग ममेदमपरं शृणु ॥ २४ ॥

महाभारत आदि इतिहास, ऐहिक और पारलौकिक आत्माके हित और अहित तथा धर्म और अधर्मके प्रतिपादक मनु आदि स्मृति एवं सदाचार आदि—ये सबके सब व्यर्थ हो जायँगे ॥ २२ ॥

यदि यह कहो कि हम देहात्मवादी चार्वाकोंके मतमें उन वेदादि शास्त्रोंका वैयर्थ्य और अप्रामाण्य इष्ट ही है । वे सबके सब अप्रमाण हो जायँ, इसमें हमारी हानि क्या है ? तो इसपर हमारा यह कहना है कि हे महामते चार्वाक, निर्दोष उन वेद, पुराण आदि शास्त्रोंका * इस अर्थमें † अप्रामाण्य हो जानेपर 'इस वन्ध्या स्त्रीने सौ लड़के पैदा किये' इस वाक्यके समान भोगलाम्पट्यलोभ-द्वेषादि हजारों दोषोंसे दुष्ट तुम्हारा वाक्य भी क्या प्रमाण होगा ? हमें तो उसकी सम्भावना भी दुर्लभ है ॥ २३ ॥

तुम्हारे कथनको लोकमें विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते, क्योंकि बिना कारण और प्रयोजनके सृष्टि आदिका संभव न होनेसे तुम्हारे मतके अनुसार तो जगत्का उच्छेदप्रसङ्ग अनिवार्य होगा । किंच, देहात्मवादमें क्या सभी अवयव ही आत्मा हैं या अवयवी ही ? प्रथम पक्षमें तो यह दोष आता है कि अनेक चेतनोंमें सर्वदा ऐकमत्य न होनेसे वैमत्यके कारण देहका सभी अवयव उन्मथन करने लग जायँगे । अब रह गया दूसरा पक्ष, उस पक्षमें यह दोष आता है कि हाथ आदि किसी एक अवयवके कट जानेपर अवयवीका नाश हो जानेसे 'जीवन' का ही अभाव हो जायगा—इत्यादि और भी हजारों दोष हैं ही, यह सब अलग रहे । हे चार्वाक, इस मेरे कथनसे कायाकारमें परिणत भूतसंघातमें मदशक्तिकी नाईं ज्ञप्तिगुण पैदा हो जाता है, यह जो तुमने कहा है उसका भी उत्तर हो गया और भी तुम अपने मतमें मेरा यह एक दूसरा दूषण सुन लो— ॥ २४ ॥

* जो शिष्टसम्मत हैं ।
† प्रलय, धर्माधर्म एवं आत्मतत्त्वरूप अर्थमें ।

मदशक्त्यात्मनि ज्ञाने दृष्टा देशान्तरेषु या ।
प्रमृतानां पिशाचादिदेहता सा न सिद्ध्यति ॥ २५ ॥
अथ सापि मुधाभ्रान्तिर्याविदेहं प्रदृश्यते ।
इति चेत्तन्मुधा नाम सत्यमित्येव वो भवेत् ॥ २६ ॥

यदि ऐसा मान लिया जाय कि जैसे मदशक्त्यात्मक द्रव्यमें मदशक्ति विद्यमान रहती है वैसे ही भूतसंघातमें, जो कि ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानगुण रहता है तब तो गुणी देहका नाश हो जानेपर गुणका भी अवश्य नाश हो जानेसे [दूसरे देशोंमें मरे हुए जीव देहके नष्ट हो जानेपर अपने देशमें पिशाचादिका शरीर धरकर कैसे चले आते हैं तथा दूसरोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपने पूर्वजन्मके आत्मीयोंको पहचान कर उनके साथ बातचीत आदि कैसे करते हैं अर्थात्] प्रदेशान्तरोंमें मरे हुए व्यक्तियोंकी पिशाचादि देहता जो लोकमें प्रसिद्ध है वह सिद्ध न होगी ॥ २५ ॥

वह पिशाचादिकी कल्पना भी भ्रान्ति ही है, क्योंकि पिशाचोंको हमने अपनी आँखोंके सामने उपस्थित हुए आजतक नहीं देखा और हमारे मतमें प्रत्यक्षके सिवा और कोई दूसरा प्रमाण है ही नहीं। प्रत्यक्षातिरिक्त दूसरे प्रमाणकी संभावना ही नहीं है, क्योंकि सैकड़ों बार पार्थिवत्व और लोह-लेख्यत्वादि-का सहचारग्रह होनेपर भी वज्रमणि आदिमें व्यभिचार देखा गया है। उत्पातादि अन्य समयमें गायके पेटसे गदहेकी उत्पत्ति भी देखी गई है तथा देवतादिकी प्रतिमाओंसे भी बिना अग्निके भी धूम उठते देखा गया है। तथा सर्वत्र लिङ्गोंमें देशान्तर और कालान्तरमें व्यभिचारशङ्काका निवारण नहीं किया जा सकता, इसलिए आपके अनुमान प्रमाणका तो बिलकुल योग नहीं है। सादृश्यके विषयमें यत्किञ्चित् या पूर्ण—यों विकल्प होनेसे उपमान प्रमाणकी भी सिद्धि नहीं होती। जिसके मूलमें अन्य प्रमाण नहीं है, ऐसे शब्दोंसे लोकमें अर्थसिद्धि दृष्टिगोचर न होनेसे तथा समूल शब्दोंके अनुवादक होनेसे शब्द प्रमाणका योग नहीं बैठता। इसी तरह अर्थापत्ति और अनुपलब्धि भी प्रमाण नहीं हो सकते। किंच, पिशाचग्रस्त पुरुषका पिशाचवाग्व्यवहार भी जबतक देह विद्यमान रहता है तभीतक दीखता है उसके मरणके बाद नहीं। इसलिए उस देहको ही सान्निपातिक भ्रान्तिकी तरह 'मैं पिशाचग्रस्त हूँ' यह व्यर्थकी भ्रान्ति है। यदि यह सब तुम कहो,

एवं चेत्तत्परो लोकः सत्स्वर्गनरकादिकम् ।
इत्येषाऽपि न संवित्किं सत्यतामुपगच्छति ॥ २७ ॥

तो तुम्हारा यह सब कहना व्यर्थ ही है, क्योंकि तुम्हारी ही बातोंसे इन सबका खण्डन हो जाता है। इसमें प्रबल कारण यह है—प्रत्यक्षके अतिरिक्त यदि सभी अप्रमाण हैं, तो फिर चार्वाकोंका वाक्य भी प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी प्रत्यक्षके अतिरिक्त है। चूँकि अनुमान प्रमाणको तुम मानते नहीं हो, इसलिए युक्तिसे तुम अपने मतका तो कदापि समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अनुमानरूप होनेसे वे युक्तियाँ भी प्रमाण नहीं हो सकतीं। दृष्टान्त तो तुम दे ही नहीं सकते, क्योंकि सादृश्यके उपमानगम्य होनेसे वह तुम्हारे मतसे प्रमाणके बाहर है। स्वपक्षमें अनुकूल और परपक्षमें प्रतिकूल तर्क भी तुम नहीं उपस्थित कर सकते, क्योंकि तर्कके अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिघटित होनेके कारण उसे तुम स्वीकार नहीं कर सकते। आपत्ति और व्यतिरेक ये दोनों अनुपपत्ति और अनुपलब्धिके अधीन रहते हैं, इसलिए यदि इनका तुम स्वीकार करते हो, तो तुम्हें अर्थापत्ति और अनुपलब्धिको प्रमाणरूपसे स्वीकार करना अनिवार्य होगा। अतः ये जो छः प्रमाण हैं, वे सबके सब सत्य हैं, यह तुम चार्वाकोंको मानना ही पड़ेगा ॥ २६ ॥

ठीक है, ऐसा ही सही, इससे आपको क्या लाभ है, यह कहते हैं—'एवं चेत्तत्परो' इत्यादिसे।

इस तरह यदि तुम शब्द आदिका प्रामाण्य मान लेते हो, तो फिर निर्दोष श्रुतिको तुम्हें प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति न होगी। जब श्रुति प्रमाण है तब 'परलोक, स्वर्ग, नरक आदि सब सत् है'—इत्याकारक श्रुतिजन्य संवित भी क्यों न सत्यताको यानी प्रामाण्यको प्राप्त होगी? कहनेका तात्पर्य यह कि यदि अन्यके बोधके लिए शब्द प्रमाण है, तो फिर परलोक, स्वर्ग, नरक तथा उनके प्रतिपादक श्रुति, स्मृति आदि शब्द भी क्यों न सत्य प्रमाण होंगे? क्योंकि जितने ज्ञान हैं उनमें स्वतः प्रामाण्य है, इसमें तो किसीको भी विवाद नहीं है, हाँ, यह बात दूसरी है कि कारणदोष तथा बाधक ज्ञानसे उसका कहींपर अपवाद हो जाता है। लेकिन यहाँपर तो न कोई कारणमें दोष है और न 'स्वर्ग, नरक आदि नहीं है' ऐसा बाधक प्रमाणज्ञान ही है ॥ २७ ॥

न पिशाचप्रमा सत्या मदशक्तिमतोऽपि हि ।
प्रतिभाऽस्य न सत्या स्यात् परलोकात्मिका कथम् ॥२८॥
पिशाचोऽस्तीति चेत्संवित् सत्यार्था तेन संविदः ।
मृतस्याऽस्ति परो लोक इत्यस्यां किं न सत्यता ॥ २९ ॥
काकतालीयवद्देहात्पैशाची ज्ञप्तिरस्ति चेत् ।
परलोकार्थसंवित्तिः कथं नास्ति सकारणा ॥ ३० ॥

'अथ साऽपि मुधा भ्रान्ति०' यह जो ऊपर कहा है, उसमें दोष दिखलाते हैं—'न पिशाच०' इत्यादिसे ।

अन्य शरीरमें स्थित पिशाचकी—सबके अनुभवसे सिद्ध पिशाचग्रस्त शरीरमें पिशाचविषयिणी—प्रमा ज्ञानोंके स्वतः प्रामाण्य होनेसे ही लोकमें सत्यरूपसे प्रसिद्ध है। वह भी यदि सत्य न प्रमाणित हुई, तो फिर मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए पुरुषकी प्रतिभा भी, जो मदशक्ति-समन्वित द्रव्यगत मदशक्तिविषयक है, कदापि सत्य प्रमाणित न होगी। अमत्त पुरुषोंके अनुभवसिद्ध अर्थोंका खण्डन करनेवाले तुम ठहरे, तुम्हारी प्रमत्त पुरुषकी प्रतीतिसे सिद्ध मदशक्तिका दूसरा कोई कैसे नहीं खण्डन कर सकता। ऐसी दशामें तुम्हारी दृष्टान्तासिद्धिके कारण ज्ञानमें भूतगुणत्वकी सिद्धि न हो सकनेसे परलोकात्मक स्थितिका यानी स्वर्गनरकादि स्थितिका तुम भला कैसे खण्डन कर सकते हो ॥ २८ ॥

सर्वजनप्रसिद्ध ज्ञानोंका स्वतः प्रामाण्य होनेसे 'पिशाच है' यदि यह संवित् सत्यार्थ है, तो फिर मृत प्राणीका भी परलोक है यानी कोई-न-कोई दूसरा लोक अवश्य है, यह श्रुतिजन्य प्रतीति भला सत्य क्यों न सिद्ध होगी [क्योंकि जो युक्ति तुम उपस्थित कर रहे हो उसी युक्तिके बलसे हम मृत प्राणीके परलोकका अस्तित्व सिद्ध कर रहे हैं। हमें युक्ति ढूँढ़नेके लिए कहीं और जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है] ॥ २९ ॥

और सुनो, पिशाचग्रस्तकी पैशाची ज्ञप्ति श्रुतिके समान किसी दृढ़तर प्रमाणसे जन्य नहीं है, किन्तु 'काकतालीय' न्यायवत् आकस्मिक है—अचानक उदित हुई है। ऐसी ज्ञप्ति भी यदि स्वानुभूत होनेसे प्रमा है, तो फिर श्रुति आदि दृढ़तर कारणोंके सहित विद्यमान परलोकार्थसंवित्ति भला प्रमा क्यों नहीं है ॥ ३० ॥

याऽन्तर्वेत्ति यथा संवित् सा तथाऽनुभवत्यलम् ।
अस्तु सत्यमसत्यं वा सिद्धमित्यनुभूतितः ॥ ३१ ॥
मृतस्यास्ति परो लोको विदित्येवंमयी भवेत् ।
सति वाऽसति देहेऽस्मिंस्तेन किं सदसच्च किम् ॥ ३२ ॥
तस्मात्स्वभावः प्रथमं प्रस्फुरन्वेत्ति संविदम् ।
वासनाकारणं पश्चाद्बुद्ध्वा संपश्यति भ्रमम् ॥ ३३ ॥

एकमात्र अपने अनुभवके बलपर अर्थसत्ताका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि शुक्तिमें रजतका अनुभव होनेपर भी उसमें अर्थसत्ता नहीं दीखती, यह आशङ्का कर कहते हैं—'याऽन्त०' इत्यादिसे ।

जो संवित् जिस पदार्थकी सत्ताको अपने भीतर जैसी जानती है उस पदार्थकी सत्ताको वह अपने भीतर वैसी ही भलीभाँति अनुभव करती है । शुक्ति-रजतसंवित् स्वप्रतिभासकालिक अर्थसत्ताका अवगाहन करती है, परन्तु पूर्व-कालकी संवित्का जब 'यह रजत नहीं है' इस उत्तरकालकी संवित्से बाध हो जाता है तब यह उत्तरकालकी बाधसंवित् सीपमें चाँदीकी त्रैकालिक असत्ता बतलाती है । ऐसी स्थितिमें प्रथम संवित्के बलसे रजतमें प्रातिभासिक सत्ता रहे या द्वितीय संवित्के बलसे असत्ता रहे, इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अनुभवसे दोनों ही सिद्ध हैं [अनुभवका सहारा लिये बिना अर्थके रूपका अपलाप करना कोई बच्चोंका खेल नहीं है !] ॥ ३१ ॥

जीवितदशामें देहके उपस्थित रहनेपर श्रुति आदि प्रमाणके बलसे अथवा मृतदशामें देहके उपस्थित न रहनेपर स्वप्नवत् एकमात्र प्रतिभासके बलसे 'पर-लोक है'—इत्याकारक अनुभवस्वरूप संवित् यदि अवश्य होगी ही, तो फिर उस मृत्युसे क्या ? जीवित प्राणीके अनुभवसे सिद्ध सत् है और मृतके अनुभवसे सिद्ध असत् है अथवा इसके विपरीत प्रकारसे है, इसका अपलाप ही क्यों होगा—दोनोंमें किसीका भी अपलाप नहीं किया जा सकता । इस तरह श्रुति आदि प्रमाण हैं, यह सिद्ध हो गया ॥ ३२ ॥

यदि वह चार्वाक यह कहे कि कायाकारमें परिणत हुए भूतोंसे संवित्का उद्भव होता है, इसलिए शरीरके नष्ट हो जानेपर मृत प्राणीको पारलौकिकी बुद्धि ही न उत्पन्न होगी, तो इसपर उससे कहना यह चाहिये कि हे मित्र, संवित्

तत्क्षयाच्छममायाति द्रष्टृदृश्यदृगामयः ।
तत्सत्तायामुदेतीयं संसृत्याख्या पिशाचिका ॥ ३४ ॥
उपलम्भ उदेत्यादौ ब्रह्मणो वासना ततः ।
तच्छान्तिं विद्धि निर्वाणं तत्सत्तां संसृतिभ्रमम् ॥ ३५ ॥

शाश्वत है, स्वतः सिद्ध है, प्रत्युत उसकी सिद्धिके बलसे ही वासनामय आतिवाहिक देह, तत्कल्पित स्थूल देह तथा बाह्यप्रपञ्चकी पीछे सिद्धि होती है। वासनाके सिवा कोई अन्य दृश्यप्रपञ्चकी सिद्धिमें हेतु नहीं है, इसलिए संवित्‌की उत्पत्ति देहके अधीन नहीं है। यह सूचित करते हुए महाराज वसिष्ठजी उस चार्वाकके प्रति वचनका उपसंहार करके 'वासनायां विलीनायामदर्शनमुपागताः' इत्यादि श्लोकसे पहले जो यह उपक्रम किया गया है कि एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सम्पूर्ण दृश्यका उच्छेद होता है इस उठाई गई बातका समर्थन करनेके लिए प्रस्ताव करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए * ज्ञानस्वभाव परमात्मा स्वप्रकाशस्वरूप होनेसे स्फुरित होते हुए समस्त व्यवहारसे पहले निजस्वरूपभूत संवित्‌को, जो स्वतः नित्यसिद्ध है जानता है, जैसे अग्नि अपनी औष्ण्यप्रकाशरूपताको जानती है। उसके बाद वासनाओंकी उत्पत्तिमें उपादानकारण सर्वजगत्‌की वासनामय आतिवाहिक देहको जानकर फिर स्थूल देहादि संसारके भ्रमको देखता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सबसे पूर्वसिद्ध संवितकी सिद्धि देहके अधीन नहीं है ॥ ३३ ॥

अतएव एकमात्र वासनाके क्षयसे ही सूक्ष्मशरीरक्षय द्वारा सम्पूर्ण अनर्थोंका क्षय सिद्ध है, यह कहते हैं—'तत्क्षया०' इत्यादिसे।

वासनाके क्षयसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप रोग शान्त हो जाता है तथा वासनाकी सत्ता रहनेपर यह संसृतिनामक पिशाचिका उदित होती है ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको संसार रचनेकी इच्छा * उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकालकी जगद्वासनाओंका जगत्-रूपसे उद्भव होता है।

---

* अर्थात् चूँकि वेदादि प्रमाण सिद्ध हो गया है तथा ज्ञानोंमें स्वतःप्रामाण्यकी सिद्धि हो चुकी है, इसलिए।

* 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'—इत्यादि श्रुति देखिये।

उत्पन्नैव च सा नादौ परब्रह्मण्यसम्भवात् ।
उत्पन्ना समयाद्याऽसौ ब्रह्मैव परमेव सत् ॥ ३६ ॥

इसलिए वासनाकी शान्तिको आप निर्वाण समझिये और उसकी सत्ताको संसाररूप भ्रम जानिये ॥ ३५ ॥

यह कहिये कि वासना उत्पन्न कैसे हुई ? ब्रह्मसे तो वह उत्पन्न हुई नहीं, क्योंकि उसके तो 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' इत्यादि श्रुतियोंसे कारण होनेका निषेध है तथा असंग, कूटस्थ और अद्वय प्रतिपादक श्रुतियां भी इसीका समर्थन करती हैं । पूर्वकल्पीय जगत्से वह वासना उत्पन्न होती है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो प्रलयकालमें स्वयं नष्ट हो जाता है उसमें दूसरेको पैदा करनेकी शक्ति ही कहां रह सकती है । यदि यह कहिये कि प्रलयमें जगत् नष्ट नहीं होता, वह स्वयं ही चरमभाव विकारसे सूक्ष्म होकर स्थित रहता है, इसलिए उसकी उस तरहकी स्थिति ही वासनात्मक प्रलय है, तो यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि इसपर मैं आपसे यह पूछता हूँ कि वैसी जगत्की स्थिति क्या प्रलयमें अपनी सत्तासे रहती है या ब्रह्मकी सत्तासे ? यदि आप यह कहें कि अपनी सत्तासे रहती है, तो आपके इस पक्षमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध पड़ता है । अब रहा आपका दूसरा पक्ष, इसमें हमारा यह कहना है कि जो स्वतः असत् है वह भला दूसरेकी सत्तासे स्थित रहता है यह भी कहना तो एक जबर्दस्त मिथ्या प्रलाप ही होगा न । इसलिए दोनों पक्षमें सृष्टि और प्रलयमें कोई विशेषापत्ति न होनेसे अभासमानकी सत्ताकी प्रसिद्धिके अभावमें जगत नष्ट होता है और स्थित भी रहता है, यह कहना तो 'वदतो व्याघात' दोषसे ग्रस्त ही है । ठीक है, यह सब आपका कथन हम मान रहे हैं । सुनिये, प्रलय या पूर्वसर्गमें वह वासना उत्पन्न ही है, यह आप कैसे कहते हैं, यह तो आप कह नहीं सकते कि वह वासना उत्पन्न ही है, क्योंकि असङ्ग अद्वय परब्रह्ममें अनुत्पत्ति तो आप पहले ही कह चुके हैं । फिर भी अद्वितीय ब्रह्मबोधके उपायरूपसे जबतक बोध नहीं हो जाता, तबतकके लिए आप कृपाकर 'वह वासना भी पहले किसी एक निमित्तसे अवश्य उत्पन्न हुई है, यह स्वीकार कर लीजिये, क्योंकि बिना कारणके जगत्की उत्पत्ति नहीं होती, यह शास्त्रसिद्ध है । हाँ, ब्रह्मज्ञान हो जानेके बाद तो फिर सारा संसार ही सद्रूपब्रह्म है और वह वासना भी परब्रह्मस्वरूप ही है ॥३६॥

एतावद्यत्परिज्ञानं तन्निर्वाणं विदुर्बुधाः ।
यदत्रैवापरिज्ञानं तं बन्धं विद्धि राघव ॥ ३७ ॥
विज्ञानघन एवायं कचनाकचनात्मकः ।
स्वयमेव कचत्यन्तर्न कचत्येव वा स्वयम् ॥ ३८ ॥
संविदंशपरावृत्तिमात्रे पेलवरूपिणि ।
बन्धदृङ्मोक्षदृक्चेति क्लेशस्तत्साधनं कियत् ॥ ३९ ॥
संविदुद्बोधने बन्धस्तदनुद्बोधने शिवम् ।
असत्सद्वज्जगद्भाति संविदुद्बोधनोदरम् ॥ ४० ॥

बिना असङ्ग अद्वय ब्रह्मका श्रुतियोंसे परिज्ञान किये वासनाकी अनुत्पत्ति बतलाना उचित नहीं है । ब्रह्मका परिज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण संशयोंके बीजभूत अज्ञानका उच्छेद हो जानेसे निर्वाण ही सम्पन्न है । इसलिए वासनाकी उत्पत्ति आदिमें अनुपपत्तिकी शङ्का करना ठीक नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'एतावत्' इत्यादिसे ।

इतना जो यह परिज्ञान है उसीको तत्त्वज्ञानी लोग निर्वाण कहते हैं । इसलिए हे राघव, इस ब्रह्मके विषयमें जो प्राणीका अपरिज्ञान है उसीको आप बन्ध समझिये ॥ ३७ ॥

विज्ञानघन यह आत्मा ही प्रकाशात्मक और अप्रकाशात्मक भी है । ज्ञात होनेपर यह स्वयं ही स्वप्रकाशरूपसे अन्दर स्फुरित होता है तथा ज्ञात न होनेपर यानी श्रुति आदि प्रमाणलाभके पहले यह बिलकुल स्फुरित नहीं होता ॥ ३८ ॥

'मैं बद्ध हूँ' इस भावनासे बन्धदर्शन और 'मैं नित्यमुक्त हूँ' इस भावनासे मोक्षदर्शन जब आत्माको अत्यन्त कोमलात्मा एकमात्र संविदंशके परिवर्तनमात्रसे प्राप्त होता है तब भला उसके साधनमें क्लेश ही कितना है ॥ ३९ ॥

इसको परीक्षक लोग व्युत्थान और समाधि तथा व्युत्थान और सुषुप्तिके द्वारा स्पष्ट देख सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'संविदुद्बोधने' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, संवित्को यानी चित्तकी वृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर बन्ध और उसको समाधि द्वारा आत्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है । संवित्के उद्बोधनरूपी उदरवाला यह असत् संसार सत्के समान

अजडं वेदनं सुप्तं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
प्रबुद्धबन्ध इत्याहुर्यदिच्छसि तदाहर ॥ ४१ ॥

निर्वाणवासनमनन्तमनाद्यमच्छ-
बोधैकतानमपयन्त्रणमस्तशङ्कम् ।
अद्वैतमैक्यरहितं च निरस्तशून्य-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने वासनाभावप्रतिपादनं नामैकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति ते सर्व आयाता ब्रह्मलोकनिवासिनः ।
अदृश्यतामेव गता दीपाः क्षीणदशा इव ॥ १ ॥

भासता है। इसका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिको बहिर्मुख कर देनेपर यह असत् संसार सत्‌के समान भासित होता है ॥ ४० ॥

सुप्त और अजड़ वेदन 'मोक्ष' कहलाता है तथा प्रबुद्ध वेदनको तत्त्वज्ञानी लोग बन्ध कहते हैं। इसलिए इन दोनोंमें आपको जिसकी इच्छा हो उसे चुन लीजिये ॥ ४१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, बन्ध-मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ छोड़कर आप निर्वाण-रूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, स्वच्छ बोधस्वरूप, अद्वैत और ऐक्यसे रहित, अशून्य (परिपूर्ण) ब्रह्मस्वरूप बनकर आकाशकोशके सदृश विशद अन्तःकरणसे युक्त, शान्त एवं बन्धनसे बिलकुल मुक्त होकर स्थित रहिये ॥ ४२ ॥

उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त

अस्सी सर्ग

[पूर्वसर्गमें वैज्ञानिक तत्त्वदृष्टिसे प्रलयक्रमका वर्णन हो चुका। अब योगिगम्य अन्य प्राकृत प्रलयक्रमका वर्णन]

विधाताकी वासनासे कल्पित उनके लोक, देव, भुवन आदि समस्त प्रपञ्चका

अथ ते द्वादशादित्या ब्रह्मणि ब्रह्मतां गते ।
जगद्वद्ब्रह्मलोकं तमदहन् भास्वरार्चिषः ॥ २ ॥
वैरिञ्चनगरं दग्ध्वा ध्यानं कृत्वा विरिञ्चिवत् ।
तेऽपि निर्वाणमाजग्मुर्निःस्नेहदशदीपवत् ॥ ३ ॥
तत एकार्णवापूरो विरिञ्चिनगरान्तरम् ।
रात्रौ भुवमिव ध्वान्तं पूरयामास सूर्मिमान् ॥ ४ ॥

जो प्रारब्धक्षयके अनन्तर क्षणभरमें ही उत्पन्न हुए साक्षात्कार द्वारा बाध है तद्रूप वैज्ञानिक प्रलयका, जो स्वप्नबाधके सदृश है, उसका मुक्त पुरुषोंकी दृष्टिसे 'नापश्यं स्वप्ननगरं बुध्यमान इवाग्रगम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उपपत्तिपूर्वक पूर्व सर्गमें वर्णन हो चुका। अब बद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे, विधाताकी देह, उसके आरम्भक उपाधियों तथा उसके इन्द्रिय आदिकोंका अपने-अपने कारणमें लय-द्वारा मायाशबल ब्रह्ममें लयरूपी प्रलयका उपवर्णन करनेके लिए उपक्रम करते हैं—'इति' इत्यादिसे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह आये हुए वे सभी ब्रह्मलोकनिवासी अदृश्यरूपताको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे बत्तीसे रहित दीप ॥ १ ॥

इसके अनन्तर जब विधाताकी देह मायाशबल ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो गई तब पूर्वोक्त वे उन बारह आदित्योंने, जो प्रकाशमयी ज्वालाओंसे युक्त थे, पृथिवी आदिकी तरह उस ब्रह्मलोकको भी भस्मीभूत बना डाला ॥ २ ॥

प्रारब्धवश अधिकारका अन्त हो जानेपर आदित्य आदि जितने अधिकारी जीव थे, वे भी चरमसाक्षात्कार द्वारा अपने-अपने समस्त प्रपञ्चका नाश हो जानेसे पूर्वोक्तके समान ही विदेहकैवल्यको प्राप्त हो गये, यह कहते हैं—'वैरिञ्चनगरम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामजी, विधाताके नगरको जलाकर तथा विधाताके समान ही स्वयं ध्यान करके वे आदित्य आदि भी निर्वाणको ऐसे प्राप्त हो गये, जैसे तेल और बत्तीसे रहित दीप ॥ ३ ॥

उसके बादका दृश्य कैसा था, यह कहते हैं—'तत' इत्यादिसे।

तदनन्तर सुन्दर विशाल तरङ्गोंसे युक्त एक महासागरकी बाढ़ने विधाताके

आब्रह्मलोकमभवज्जगदापूर्णमर्णसा ।
तुल्यं रसैकपूर्णेन पक्वद्राक्षाफलेन तत् ॥ ५ ॥
तत्तदूर्मिगिरिव्रातखगैरावलिताः खिलाः ।
विच्छिन्नाः कल्पजलदा जल एव निलिलियिरे ॥ ६ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र दृष्टवानहमम्बरात् ।
यावदभ्युदितं भीमं भीतः किञ्चिन्नभोन्तरात् ॥ ७ ॥
कल्पान्तजगदाकारं कृष्णमापूरिताम्बरम् ।
आकल्पं संभृतं नैशं देहेनेवोत्थितं तमः ॥ ८ ॥
तरुणादित्यलक्षाणां तेजसा आभास्वरं दधत् ।
आदित्यत्रयसङ्काशैः स्थिरविद्युच्चयोल्बणैः ॥ ९ ॥

नगरान्तरको ऐसे परिपूर्ण कर दिया, जैसे रातमें सारी पृथिवीको अन्धकार ॥४॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा जगत्, केवल एकमात्र रससे परिपूर्ण पके हुए अङ्गूरके फलके सदृश, जलसे परिपूर्ण हो गया ॥ ५ ॥

उन-उन अनेक तरहके तरङ्गोंसे तैरते हुए पर्वतसमूहों तथा देवादिशरीरों से तोड़-फोड़ दिये जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुए कल्पान्तोंके पुष्करावर्त आदि मेघ सब जलमें ही विलीन हो गये ॥ ६ ॥

इसी बीचमें वहाँ मैंने कोई एक भयङ्कररूप देखा, जो आकाशसे यानी ठीक आकाशके मध्यसे अभ्युदित हुआ था। मैं वह रूप देखते ही मारे भयके काँप गया ॥ ७ ॥

भयके कारणरूप अद्भुत विशेषणोंसे उसी रूपका वर्णन करते हैं—'कल्पान्त०' इत्यादि आठ श्लोकोंसे।

कल्पान्त जगत्के आकारके समान, आकाशको भर देनेवाला काला वह रूप देखनेमें ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कल्पतकका प्रत्येक रातका एकत्रित हुआ सारा अन्धकार शरीर धारण करके सामने आकर खड़ा हो रहा हो ॥ ८ ॥

रङ्गमें काला होते हुए भी वह अपने तेजसे चमक रहा था, यह कहते हैं—'तरुणा०' इत्यादिसे।

लाखों तरुण आदित्योंके प्रकाशमय तेजको वह धारण कर रहा था। देदीप्यमान स्थिर बिजलीके समूह-जैसे तीन सूर्योंके सदृश नेत्रोंसे युक्त उसका

नेत्रैराभास्वरमुखं ज्वालापुञ्जसमुद्गिरम् ।
पञ्चाननं दशभुजं त्रिनेत्रं शूलपाणिकम् ॥ १० ॥
आयान्तमन्तमुक्तेऽपि व्योम्नीव विततकृतिम् ।
खमिवासितघनश्यामं देहमासाद्य संस्थितम् ॥ ११ ॥
स्थितमेकार्णवापूर्णाद्ब्रह्माण्डाद्बहिरम्बरे ।
व्योमेव हस्तपादादिसंनिवेशेन लक्षितम् ॥ १२ ॥
घोणाऽनिलपरावृत्तिविधूतैकमहार्णवम् ।
गोविन्दमिव दोर्दण्डक्षोभितक्षीरसागरम् ॥ १३ ॥
कल्पार्णवजलापूरं पुंस्त्वेनेव समुत्थितम् ।
मूर्तियुक्तमहङ्कारमस्तकारणमागतम् ॥ १४ ॥
कुलाचलबृहद्वृन्दमिवोड्डयनडम्बरैः ।
पक्षौघैरुत्थितं व्योम समस्तमभिपूरयत् ॥ १५ ॥
ततस्त्रिशूलनयनैर्मया रुद्रोऽयमित्यसौ ।
दूरादेव परिज्ञाय परमेशो नमस्कृतः ॥ १६ ॥

मुख तो बहुत ही ज्यादा चमकदार दीखता था । वह ज्वालाओंके पुञ्जको खूब उगिल रहा था । उसके पांच मुख थे, दस भुजाएँ थीं और तीन थे उसके नेत्र । वह अपने हाथमें शूल लिये हुए था, अन्तशून्य आकाशमें वह मानो आ रहा था, उसका आकाशकी तरह विशाल आकार था, दीप्त मेघकी तरह श्याम शरीर धारण कर वह स्थित था । एकमात्र महासागरके परिपूर्ण ब्रह्माण्डके बाहर आकाशमें वह अवस्थित था, हाथ, पैर आदिके रचनाविशेषोंसे लक्षित वह आकाश-जैसा था । अपनी नाककी श्वासवायुके गमनागमनसे वह उस एक महासागरको कम्पित कर रहा था । वह अपने भुजदण्डोंसे क्षीरसागरको क्षुभित कर देनेवाले गोविन्द भगवान्के सदृश था । उसे देखनेसे ऐसा मालूम हो रहा था कि महाप्रलयकालीन सभी समुद्रोंकी बाढ़ ही मानो पुरुषाकारसे स्वयं उपस्थित हो गयी हो, तथा सबका कारण होनेसे स्वयं कारणरहित सर्वसमष्टिरूप अहङ्कार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो । प्रतीत हो रहा था कि मानो उड़नेमें अत्यन्त कुशल अपने पक्षसमूहोंसे समस्त कुलपर्वतोंके महावृन्दने ही स्वयं अपने स्थानसे उड़कर सारे आकाशको पूर्ण कर दिया है । वैसा रूप देखनेके

श्रीराम उवाच

किं स तादृग्विधो रुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः ।
किं पञ्चवदनः कस्माद्दशबाहुः स तिष्ठति ॥ १७ ॥
किं त्रिनेत्रः किमुग्रात्मा किमेकः किंप्रयोजनः ।
केनेरितः किमकरोच्छायाऽऽसीद्‌द का मुने ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

काकुत्स्थरुद्रनामासावहङ्कारतयोत्थितः ।
विषमैकाभिमानात्मा मूर्तिरस्यामलं नभः ॥ १९ ॥

अनन्तर त्रिशूल तथा तीन नेत्रोंसे 'यह भगवान् जगदीश्वर रुद्र हैं' ऐसा जानकर मैंने दूरसे ही उस भगवान् परमेश्वरको नमस्कार किया ॥ ९-१६ ॥

'मायां तु प्रकृतिं विद्याद् मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतियोंमें महेश्वर नामसे प्रसिद्ध तो मायाशबल निराकार ब्रह्म ही है, फिर परमेश्वर किसलिए किन उपाधियोंसे पञ्चमुख आदिसे विशिष्ट मूर्ति धारण करता है ? अथवा सर्वात्मकका परिच्छिन्न मूर्तिभाव कैसे हो जाता है ? यों विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किं स' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुने, सभी श्रुतियोंमें प्रसिद्ध वह परमेश्वर रुद्र उस तरहका—भयानक स्वरूपवाला क्यों है ? अर्थात् काले रङ्गका वह क्यों है, उसकी महा भयानक विशाल आकृति क्यों है, उसके पांच मुख कौन हैं, उसकी दस भुजाएँ कैसे हैं, वह रहता कहां है, उसकी तीन आंखें कौन हैं, वह उग्र क्यों हैं, उसका स्वरूप क्या है, सृष्टि आदिमें उसका प्रयोजन क्या है ? वह स्वतन्त्र है या परतन्त्र, यदि वह स्वतन्त्र है, तो पूर्णकाम उसकी संहारमें प्रवृत्ति क्यों है, यदि वह परतन्त्र है, तो फिर वह किससे प्रेरित होकर कार्य करता है । उसने क्या किया, उस परमेश्वरके रुद्ररूप होनेपर उसकी इच्छारूप माया भी क्या थी, यह सब कहिये ॥ १७, १८ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे काकुत्स्थ, वह परमेश्वर ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार आदिके विषयरूप सङ्कल्प, अध्यवसाय आदिके बीजभूत सर्वाभिमानात्मक मायावृत्तिरूप अहङ्कारतासे सम्पूर्ण जगत्के अध्यासके मूल स्तम्भभूत तथा समस्त प्राणियोंको रुलाने एवं सभी शरणागत प्राणियोंके रोगोंको

व्योमाकृतिः स भगवान् व्योमवर्णो महाद्युतिः ।
चिद्व्योममात्रसारत्वादाकाशात्मा स उच्यते ॥ २० ॥
सर्वभूतात्मभूतत्वात्सर्वगत्वान्महाकृतिः ।
यानि तस्यानुषक्तानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्यलम् ॥ २१ ॥
तानि तस्य मुखान्याहुस्तपद्रूपाणि सर्वतः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयास्ते हि तस्य भुजा दश ॥ २२ ॥
सर्वभूतनरैः सार्द्धं ब्रह्मणा परमेयुषा ।
यदाऽसौ संपरित्यक्तस्तदा स्वां मूर्तिमागतः ॥ २३ ॥

दूर भगानेमें निमित्तभूत होनेके कारण रुद्रनामसे आविर्भूत है । वही प्राणियोंको रुलानेमें विषमाभिमानरूप तथा प्राणियोंके रोगोंको दूर करनेमें एकाभिमानरूप सम्पन्न होता है । इसकी जो मूर्ति मैंने देखी वह निर्मल आकाशरूप ही थी ॥१९॥

वस्तुतः महाप्रकाशस्वरूप वह भगवान् चिदाकाशमात्र सार होनेके कारण आकाशमात्र आकारवाला है, व्योमवर्ण है और वह आकाशात्मा ही कहा जाता है । सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो आत्मा है तद्रूप होनेसे तथा सर्वव्यापी होनेसे वह महान् आकारवाला है * ॥ २० ॥

उस अहङ्कारकी सम्पूर्ण जीवोंके प्रत्येक शरीरमें बिलकुल अनुषक्त जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं उन्हींको तत्त्वज्ञानी लोग रुद्र भगवान्के पांच मुख कहते हैं † । एकमात्र यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियां सब ओरसे प्रकाशस्वभाव हैं ॥ २१ ॥

वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ नामक जो पाँच कर्मेन्द्रियां हैं ये उसकी दाहिनी भुजाएँ हैं तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द नामक ये जो उन पांच कर्मेन्द्रियोंके पांच विषय हैं वे ही पांचों विषय उसकी बायीं भुजाएँ हैं—इस क्रमसे उसकी दस भुजाएँ हैं * ॥ २२ ॥

तब इस तरहकी मूर्तिसे वह पहले क्यों न देखा गया, यदि यह आशङ्का हो, तो इसका उत्तर यह है कि चराचर नामरूपात्मक कार्योंके आकारोंके अध्या-

---

* 'किं स तादृगविधोरुद्रः किं कृष्णः किं महाकृतिः'—इन तीन प्रश्नोंका उत्तर इस श्लोकसे हो गया ।

† 'किं पञ्चवदनः' इस प्रश्नका उत्तर यह है ।

* 'कस्माद्दशबाहुः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

स चैकांशैकरूपात्मा नास्ति तस्य हि साऽऽकृतिः।
तथा दृश्यत एवासौ भ्रान्तिमात्रेण मूर्तिमान् ॥ २४ ॥

चिदाकाशगते स्फारे भूताकाशे स तिष्ठति।
देहे च सर्वभूतानां नित्यं वायुरिवेश्वरः ॥ २५ ॥

सर्वभूतपरित्यक्तस्तस्मिन् काले खमूर्तिमान्।
क्षोभयन्स क्षणं क्षीणः परमां शान्तिमेष्यति ॥ २६ ॥

रोपसे व्यामूढदृष्टि होनेके कारण उसके अन्तर्गत कारणस्वभावका दुर्ग्रह होनेसे ही वह उस तरहकी मूर्तिसे युक्त न दीख पड़ा, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वभूत०' इत्यादिसे।

जैसे अपनेमें अध्यारोपितकार्यरूप पट तन्तुका परित्याग कर देता है वैसे ही चार प्रकारके शरीरों तथा तत्-तत् जीवोंके साथ प्रलयकालमें परमकारण मायाशबल ब्रह्मको प्राप्त हुए चतुर्मुख ब्रह्माजीने जब उसका भी परित्याग कर दिया तब वह पूर्वोक्त आकाशमात्रपरिशेषरूप वर्णित अपनी मूर्तिमें आ गया। अर्थात कारणरूप अपनी मूर्तिमें स्फुट हो गया। कहनेका तात्पर्य यह है कि कारण-स्वभावके दुर्ग्रहसे ही वह इस तरहकी मूर्तिसे पहले न दीख पड़ा ॥ २३ ॥

यदि वह एकमात्र आकाशस्वरूप ही है, तो फिर निराकार उसकी पूर्ववर्णित देहाकृति क्यों दृष्टिगोचर हुई? इसपर कहते हैं—'स चैकांशैक०' इत्यादिसे।

और वह रुद्र समस्त कार्यविशेषोंके प्रलयके बाद अवशिष्ट कारणके एक अंशमात्रके आकारवाला है। उसकी देहाकृतिका जो मैंने वर्णन किया है यथार्थमें वह कुछ नहीं है, क्योंकि उसका कोई आकार ही नहीं है। उपासक लोग अपनी वासनासे एकमात्र भ्रान्ति द्वारा उसे वैसा मूर्तिमान् देखते ही हैं ॥ २४ ॥

चिदाकाशगत विशाल भूताकाशमें तथा समस्त भूतोंकी देहमें वायुकेसमान वह परमेश्वर नित्य स्थित रहता है * ॥ २५ ॥

उस प्रलयकालमें एक क्षणतक सबको क्षोभित करते हुए, सम्पूर्ण भूतोंसे परित्यक्त होकर चिदाकाशमात्र मूर्तिधारी वह परमेश्वर परमशान्तिको प्राप्त हो जायगा ॥ २६ ॥

---

* 'स क्व तिष्ठति' (वह कहाँ रहता है) इस प्रश्नका यह उत्तर है।

ये गुणाकृतयः कालाश्चित्ताहङ्कारबुद्धयः ।
प्रणवस्य च ये वर्णा ये च वेदास्तथा त्रयः ॥ २७ ॥
रुद्रस्य तस्य ते नेत्रसन्निवेशेन संस्थिताः ।
त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं करकोटरे ॥ २८ ॥
यस्मात्तद्व्यतिरेकेण सर्वभूतगणेष्वपि ।
अन्यन्न विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः ॥ २९ ॥
सर्वसत्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम् ।
ईरितः शिवरूपेण चिन्मात्राकाशरूपिणा ॥ ३० ॥

सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुणोंके आकार ; भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीनों काल ; चित्त, अहंकार और बुद्धि ; अ, उ, और म्—ये तीनों प्रणवके अक्षर तथा ऋक्, यजु और साम—ये जो तीन वेद हैं वे ही उस रुद्र भगवान्के तीनों नेत्ररूपसे संस्थित हैं*। अपने मुष्टिच्छिद्रमें उसने त्रिशूलरूपी तीनों लोक धारण कर रक्खे हैं† ॥ २७, २८ ॥

अब 'किमात्मा' इस द्वितीय प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'यस्मात्' इत्यादिसे ।

चूँकि समस्त भूतसमूहोंमें उस परमेश्वरसे भिन्न और कुछ नहीं है, इसलिए समस्त भूतगणोंकी जो देह है उसी रूपसे वह स्थित है । अर्थात् समस्तभूतोंमें अहङ्कारात्मक रुद्रके अभिध्यानसे ही वह देहात्मत्वाभिमानी है‡ ॥ २९ ॥

'किं प्रयोजनः' इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

स्वविरचित सम्पूर्ण जीवोंको अपने-अपने कर्मोंके अनुसार विषयभोगरूप उपलम्भ तथा क्रमशः ज्ञानसाधनप्राप्तिके अन्तमें स्वात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप जो शास्त्रीय विहित और निषिद्ध कर्मोंके ज्ञान एवं फल देनेका स्वभाव है वही सृष्टि आदिमें प्रयोजक होनेसे उसका प्रयोजन है अर्थात् समस्त जीवोंको उनके

---

* 'किं च नेत्रः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

† 'किमुग्रात्मा' यहाँ किम् शब्दका उग्र और आत्मा दोनोंमें अन्वय होनेसे 'किमुग्रः, किमात्मा' ये जो दो प्रश्न पूछे गये हैं उनमें प्रथम प्रश्नका यह उत्तर है अर्थात् किस त्रिशूलके धारणसे वह उग्र है, इस गूढार्थक प्रश्नका, जो श्रीरामचन्द्रजीको अभिप्रेत है, यह उत्तर है ।

‡ देखिये भगवान् बादरायणका यह सूत्र—'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' [३।२।१५] ।

तेनैव च निगीर्णः सन् परमां शान्तिमेत्यसौ ।
निर्मलाकाशरूपात्मा कृष्ण इत्येष ईश्वरः ॥ ३१ ॥
कृत्वा कल्पं जगत्सर्वं तत्पीत्वैकार्णवं तदा ।
स प्रयाति परां शान्तिमभूयःसन्निवृत्तये ॥ ३२ ॥

तत्-तत् कर्मोंके अनुसार विषयफल प्रदान करनेका तथा अधिकारी पुरुषोंको ज्ञान प्रदान करनेका जो स्वभाव है वही उस परमेश्वरका सृष्टि आदिमें प्रयोजन है* । भाव यह कि सर्वसत्त्वोपलम्भरूप स्वभाव ही उसका प्रयोजन है, और कुछ नहीं । चिन्मात्राकाशरूप शिवस्वरूप परमात्मा यानी वाणी और मनके अगोचर निरतिशय भूमानन्दात्मक परम कल्याणमय स्वरूप परमात्मा स्वयं अपनेसे ही 'बहुस्यां प्रजायेय' इस सङ्कल्पात्मक मायावृत्ति द्वारा एकसे बहुत होनेकी इच्छासे प्रेरित होकर जगत्की रचना करता है । और उसी अपने चित्स्वरूपसे प्रलयके लिए स्वयं प्रेरित होकर सर्गक्रमके विपरीत क्रमसे जगत्को निगल कर यानी स्वविरचित जगतका संहार कर आकाशरूपसे स्थित हो जाता है । तदनन्तर स्वयं भी वह अपने उसी परम कल्याणमयरूपसे निगीर्ण होता हुआ अपने उस आकाशभावका भी परित्याग करके भूमानन्दस्वरूप प्रतिष्ठारूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है† ॥ ३० ॥

'किं कृष्णः' इत्यादि सभी प्रश्नोंका उपपत्तिपूर्वक जो उत्तर दिया गया है उसका स्मरण कराते हुए अब महाराज वसिष्ठजी उपसंहार करते हैं—'निर्मला०' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे ।

निर्मल चिदाकाशरूप यही परमेश्वर महाकाल रुद्रका रूप धारण कर प्रलय लाकरके सारे जगत्को एक महासागरके रूपमें परिणत कर देता है और जब सारा ब्रह्माण्ड एकमात्र महासागरके रूपमें परिणत हो जाता है तब उस महासागरका जल पीकर पुनः शरीर न धारण करनेके लिए परमशान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३१, ३२ ॥

* देखिये गौड पादाचा ने क्या कहा है—
'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' ।

† 'केनेरितः' इस प्रश्नका यह उत्तर है ।

अनन्तरं मया दृष्टस्तत्रासौ यावदुद्यमात् ।
प्रवृत्तः प्राणवेगेन तमाक्रष्टुं महार्णवम् ॥ ३३ ॥
अथ तस्य मुखं स्फारं ज्वालामालाकुलान्तरम् ।
प्राणाकृष्टो महाम्भोधिर्वाडवाग्निमिवाविशत् ॥ ३४ ॥
स एव वाडवो भूत्वा वह्निराकल्पमर्णवे ।
अहङ्कारः पिबत्यम्बु रुद्रः सर्वं तु तत्तदा ॥ ३५ ॥
पातालमिव पानीयं सर्पो बिलमिव क्षणात् ।
पञ्चवायुरिवाकाशमविशत्तन्मुखं जवात् ॥ ३६ ॥
समुपेत्यापिबद्रुद्रः स मुहूर्तेन तत्पयः ।
कृष्णाङ्गोऽर्क इव ध्वान्तं सत्सम्पर्क इवागुणम् ॥ ३७ ॥

'किमकरोत्' इस उपान्त्य प्रश्नका उत्तर सुननेके उत्सुक श्रीरामचन्द्रजीको जानकर महाराज वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वैसा भयङ्कररूप देखनेके बाद मैंने देखा कि वहाँ यह परमेश्वर उद्यम करके यानी उद्यत होकर श्वासवायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेमें प्रवृत्त हो गये ॥ ३३ ॥

इसके अनन्तर श्वासवायुसे आकृष्ट महासागर उनके विशाल मुखमें, जिसका भीतरी भाग ज्वालामालाओंसे व्याप्त था, *ऐसे प्रविष्ट हो गया, जैसे बड़वानलमें ॥ ३४ ॥

अन्य कालमें भी जल सूख जानेपर तेजमें ही उसका उपसंहार प्रसिद्ध है, इस आशयसे कहते हैं—'स एव' इत्यादिसे ।

वही अहङ्काररूप रुद्र कल्पपर्यन्त समुद्रमें बड़वानल होकर अवस्थित रहता है, परन्तु जब प्रलयकाल आ जाता है तब वह समुद्रके उस सारे जलको पी जाता है ॥ ३५ ॥

जैसे जल पातालमें, साँप बिलमें और पञ्चपवन प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट होता है वैसे ही एक ही क्षणमें बड़े वेगसे आकर वह भगवान् रुद्रके मुखमें प्रविष्ट हो गया और महाकाल रुद्र भगवान्‌ने भी उस सारे जलको सिर्फ एक

* तेजमें ही जलका उपसंहार हुआ, यह दिखलानेके लिए 'ज्वालामालाकुलान्तरम्' यह विशेषण दिया गया है ।

आब्रह्मलोकपातालं शान्तं शून्यमथाभवत् ।
रजोधूमानिलाम्भोधिभूतमुक्तं समं नभः ॥ ३८ ॥
केवलं तत्र दृश्यन्ते चत्वारो व्योमनिर्मलाः ।
इमे पदार्था निस्पन्दाः शृणु तान् रघुनन्दन ॥ ३९ ॥
एकस्तावदसौ मध्ये रुद्रः कृष्णाम्बराकृतिः ।
निराधारः स्थितो व्योम्नि निस्पन्दामोदबिम्बवत् ॥ ४० ॥
द्वितीयोऽवस्थितो दूरे पृथ्व्याकाशतलोपमः ।
भागो ब्रह्माण्डसदनस्याधःपातालसप्तकात् ॥ ४१ ॥
पातालभूतलदिवां सशैलेन्द्रदिवौकसाम् ।
व्याप्तः पार्थिवभागेन पङ्कमात्रात्मनात्मभाक् ॥ ४२ ॥
तृतीयोऽत्र पदार्थोऽभूदूर्ध्वं ब्रह्माण्डभागभूः ।
दृष्टिक्षयात्सुदूरत्वाद् दुर्लक्ष्यगगनासितः ॥ ४३ ॥

मुहूर्तमें ही ऐसे पी लिया, जैसे सूर्य भगवान् अन्धकारको तथा सज्जनोंका सम्पर्क दोषसमूहको ॥ ३६, ३७ ॥

इसके बाद ब्रह्मलोकसे लेकर पातालतक सब स्थान ऐसे शान्त और शून्य हो गया, जैसे धूल, धूम, वायु और मेघ—इन भूतोंसे रहित सब तरहके वैषम्यसे निर्मुक्त आकाश ॥ ३८ ॥

उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा स्पन्दशून्य ये केवल चार पदार्थ ही दीख रहे थे। हे रघुनन्दन, उन्हें आप सुनिये [मैं कहता हूँ] ॥३९॥

उनके मध्यमें एक तो काले रङ्गके आकाशके सदृश आकृतिवाले, निराधार भगवान् रुद्रदेव, स्पन्दनशून्य सौरभ बिम्बकी तरह, आकाशमें स्थित थे ॥ ४० ॥

दूसरा सप्त पातालके बहुत दूर पृथिवी और आकाशतलके सदृश ब्रह्माण्ड-सदनका अधोभाग स्थित था ॥ ४१ ॥

शैलेन्द्रों तथा देवताओंके सहित पाताल, भूतल तथा स्वर्गके बिलकुल भस्म हो जानेके कारण यानी तीनों लोकों तथा उनके भीतर रहनेवाले सभी पदार्थोंके भस्मरूप बन जानेके कारण पुनः जलक्लेदन द्वारा एकमात्र पङ्करूपमें परिणत हुए पार्थिवभागसे व्याप्त होकर वह ब्रह्माण्डसदनका अधोभाग ऊर्ध्वभागकी अपेक्षा अवश्य कुछ समृद्धस्वरूप था ॥ ४२ ॥

उनमें तीसरा पदार्थ ब्रह्माण्डखण्डका ऊर्ध्वभाग स्थित था। बहुत दूर होनेके

दूरविश्लिष्टयोर्मध्यं यत्तद्ब्रह्माण्डखण्डयोः ।
तदाकाशमनाद्यन्तं ब्रह्मनिर्मलमाततम् ॥ ४४ ॥
चतुर्थोऽसौ पदार्थस्तु तदा संलक्षितो मया ।
चतुष्टयादत्र नान्यदेतस्मादेव किञ्चन ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

बहिः किं विद्यते ब्रह्मन् ब्रह्मसद्मकटाहतः ।
कास्तत्रावरणा ब्रूहि कियत्यः संस्थिताः कथम् ॥ ४६ ॥

वसिष्ठ उवाच

ब्रह्माण्डखण्डयोः पारे ततो दशगुणं जलम् ।
सन्ध्याकाशमनन्तं तद्वर्जयित्वा ततः स्थितम् ॥ ४७ ॥

कारण वहाँतक आँखोंकी ज्योतियोंकी पहुँच न हो सकनेसे वह दुर्लक्ष्य काले वर्णके आकाशके सदृश था ॥ ४३ ॥

चौथा पदार्थ तो उन दोनोंके बीचमें स्थित आकाश ही था, यह कहते हैं—'दूर०' इत्यादिसे ।

बहुत दूर विभक्त हुए ब्रह्माण्डके उन दोनों खण्डोंके बीचमें जो स्थित था वह तो एकमात्र आदि-अन्तशून्य सर्वत्र व्याप्त निर्मल ब्रह्माकाश ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, वही उनमें चौथा पदार्थ था, जिसका मैंने उस समय अवलोकन किया । मेरी आँखोंके सामने उपस्थित इन चार पदार्थोंके बीचमें इन चारोंसे अतिरिक्त और कोई दूसरा वहाँ नहीं था, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४४, ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आवरणयुक्त उन ब्रह्माण्डखर्परोंके बाहर क्या है, उनके कौन-कौन आवरण हैं, वे कितने हैं तथा बिना आधारके वे सब वहाँ संस्थित कैसे हैं, कृपाकर यह कहिये ॥ ४६ ॥

इन चार प्रश्नोंमें पहले बीचके दो प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—'ब्रह्माण्ड०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उन ब्रह्माण्डखण्डोंके पारमें उनसे दश गुण अधिक विस्तृत जल है । और वह जल इन दोनों खण्डोंके

ततस्तथैव ज्वालात्म तेजो दशगुणं स्थितम् ।
ततस्तथैव पवनः पवनो निर्मलः स्थितः ॥ ४८ ॥
ततस्तथैव विमलं नभो दशगुणं स्मृतम् ।
ततः परममत्यच्छं ब्रह्माकाशमनन्तकम् ॥ ४९ ॥
अन्यत्रान्यत्र तस्याथ दृष्टयोऽन्यास्तथैव खे ।
कचन्त्यनन्ता दूरस्था मिथो दृष्टात्मसृष्टयः ॥ ५० ॥

अति विस्तृत सन्ध्याकाशको छोड़कर उसके बाहर ही खूब विस्तृतरूपसे स्थित है ॥ ४७ ॥

उसके बाद जलके दशगुण ज्वालात्मक तेज अवस्थित है। उसके अनन्तर जलके समान ही उस जलको पवित्र करनेवाला तथा स्वयं निर्मल पवन स्थित है ॥ ४८ ॥

उसके बाद उस पवनके समान ही दशगुण विमल आकाश स्थित है। [प्रथम प्रश्नका उत्तर देते हैं—'ततः' से] हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर परम-पवित्र, अतिसूक्ष्म होनेके कारण अत्यन्त ही स्वच्छ अनन्त मायाशबल ब्रह्माकाश स्थित है ॥ ४९ ॥

आकाशसे परे उससे दशगुण अधिक अहङ्कारतत्त्व, उससे दशगुण अधिक महतत्त्व और उसके आगे अनन्त प्रकृतिका वर्णन जो पुराण आदिमें मिलता है, उसका यहाँ परित्याग क्यों किया ? इस शङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्र' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस मायाशबल ब्रह्मके स्वरूपाकाशमें योगि-माहेश्वर-पाञ्चरात्र तथा कापिल आदि तन्त्रोंमें महत्, अहङ्कार आदि तत्त्वभेदके आवरणके विषयमें भिन्न-भिन्न कल्पनादृष्टियाँ अनन्तरूपसे स्फुरित हो रही हैं। किन्तु परस्पर विवादग्रस्त देखी गईं उनकी स्वरूपकल्पनाकी सृष्टियाँ पुराणोंमें मिलती हैं, श्रुतियोंमें नहीं, इसलिए हमने उनकी उपेक्षा कर दी है, इसका तात्पर्य यह है कि अन्य-अन्य योगी, महेश्वर पाञ्चरात्र तथा कपिल आदिके मतके अनुसार मायाशबलित ब्रह्माकाशमें महत्तत्त्व आदि दृष्टिकी कल्पनाएँ भी एक-एकसे दशगुण अधिक हैं। लेकिन परस्पर विवादग्रस्त होनेसे हमने उनकी उपेक्षा कर दी है ॥ ५० ॥

श्रीराम उवाच

ऊर्ध्वं ब्रह्माण्डखण्डस्य तथाधस्तान्मुनीश्वर ।
तज्जलादि महाकारं क्व कथं केन धार्यते ॥ ५१ ॥

वसिष्ठ उवाच

सपार्थिवपदार्थानां स्थितः पुष्करपत्रवत् ।
भागस्तमेवाधावन्ति ते सुता मातरं यथा ॥ ५२ ॥
अतो यदेव नेदीयो ब्रह्माण्डाख्यं महावपुः ।
तत्पदार्थाः प्रधावन्ति तृषिताः सलिलं यथा ॥ ५३ ॥
अवलम्ब्य तदेवान्तः संस्थितास्तैजसादयः ।
न स्थितिं प्रविमुञ्चन्ति स्वां यथाऽवयवा इव ॥ ५४ ॥

अवशिष्ट चौथे प्रश्नका स्मरण दिलाते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'ऊर्ध्वं' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, ब्रह्माण्डखण्डके ऊपर तथा नीचे उससे भी उत्तरोत्तर दश-दश गुण अधिक बिस्तारवाला होनेके कारण महान् आकारवाले जलादिको कहां कौन कैसे धारण करता है ॥ ५१ ॥

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, पार्थिव पदार्थोंका जो भाग ब्रह्माण्डखर्पर है वह कमलपत्रके समान स्थित है । उसी भागको वे आधारादि-भावसे ऐसे आश्रयण करते हैं, जैसे वानरीके शिशु अपनी मांको । अर्थात जैसे वानरीके बच्चे अपनी मांको पेटमें अच्छी तरह पकड़के दौड़नेपर भी नहीं गिरते, वैसे ही इनकी भी स्थिति है । अथवा उस ब्रह्माण्डखर्परकी ओर उसकी आकर्षणशक्तिसे आकृष्ट होकर वे ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वानरीके बच्चे अपनी मांकी ओर दौड़ते हैं ॥ ५२ ॥

उस ब्रह्माण्डखर्परके ऊपर स्थित जलके न गिरनेमें भी यही न्याय है, इस आशयसे कहते हैं—'अतो' इत्यादि ।

इसलिए हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डनामक जो महाशरीर अत्यन्त समीप है उसकी ओर वे सब पदार्थ ऐसे दौड़ते हैं, जैसे तृषित प्राणी जलकी ओर ॥ ५३ ॥

जैसे शरीरमें संयुक्त हाथ, पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़संयोग स्थितिको नहीं छोड़ते वैसे ही उसीका आभ्यन्तर अवलम्बन करके तैजस आदि सब पदार्थ अवस्थित हैं ॥ ५४ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ब्रह्माण्डखण्डे ते तिष्ठतः कथमुच्यताम् ।
किमाकृती धृते केन कथं वा परिनश्यतः ॥ ५५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अधृतं धृतमेवोच्चैरपतच्चैव वा पतत् ।
अनाकृत्येव साकारं जगत्स्वप्नपुरं यथा ॥ ५६ ॥
किमस्य नाम पतति किं वा केनास्य धार्यते ।
यथा संविित्तिकचनं तथैतदवतिष्ठते ॥ ५७ ॥
यथा केशोण्ड्रकं व्योम्नि यथा च व्योम्नि शून्यता ।
यथा वा पवने स्पन्दो जगच्चिद्गगने तथा ॥ ५८ ॥

और आवरणोंके आधारभूत दोनों ब्रह्माण्डखर्परोंका, जो भारी होनेसे अवश्य गिर जानेवाले हैं, आधार क्या है, यह श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं— 'ब्रह्मन्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आप कृपाकर यह मुझसे कहिये कि वे ब्रह्माण्डखण्ड कैसे अवस्थित रहते हैं, उनका आकार क्या है, किसने कैसे उन्हें धारण कर रक्खा है, अथवा वे गिरकर नष्ट कैसे होते हैं ॥ ५५ ॥

यह जो आधारादिकी चिन्ता हो रही है, सो सत्यतादृष्टिमें ही है। मिथ्यादृष्टिमें तो जो अत्यन्त भारी पदार्थ हैं उनके भी आधार आदिका कोई नियम नहीं है, यह स्वप्नदृष्टान्तसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'अधृतम्' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यद्यपि इसको किसीने धारण नहीं किया है, फिर भी परमात्माकी अचिन्त्य धारणात्मिका शक्तिसे यह अच्छी तरह धृत है ही । यह बिलकुल गिरता हुआ भी नहीं गिर रहा है । हे श्रीरामचन्द्रजी, यह सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः आकृतिशून्य (निराकार होनेपर भी) स्वप्ननगरके सदृश साकार है ॥ ५६ ॥

इस मायिक जगतका क्या पतन होगा अथवा इसमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसका कोई धारण करेगा । यह ठीक वैसा ही अवस्थित है जैसा कि संवित्तिका स्फुरण है अर्थात् चितिशक्तिके स्फुरणके अनुसार यह अवभासित हो रहा है ॥ ५७ ॥

जैसे आकाशमें केशोण्ड्रक श्यामता है तथा जैसे आकाशमें शून्यता है एवं पवनमें जैसे स्पन्दन है, वैसे ही चिदाकाशमें यह जगत् है ॥ ५८ ॥

चितौ सङ्कल्पनगरं ब्रह्माण्डाख्यं जगद्गृहम् ।
खे खमेवाप्यनाकारं प्रत्याकारमिव स्थितम् ॥ ५९ ॥
पातसंवित्समुद्भूतं पतदास्ते दिवानिशम् ।
गच्छन्त्या संविदोद्भूतं गच्छदास्ते दिवानिशम् ॥ ६० ॥
स्थितसंवित्समुद्भूतं तिष्ठदास्ते दिवानिशम् ।
उत्पतन्त्या चितोद्भूतमुत्पतच्चैव तिष्ठति ॥ ६१ ॥
एति नाशविदा नाशं महाकल्पादिवेदनैः ।
जायते जन्मसंवित्त्या व्योम्नि सर्वादिवेदनैः ॥ ६२ ॥
आभाति मौक्तिकगणः शरदम्बरान्त-
र्द्रष्टावसत्य उदितोऽप्यतिसत्यरूपः ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चितिमें ब्रह्माण्डनामक सङ्कल्पनगर है, उसके अन्दर अनेक जगत्‌रूपी घर हैं । चिदाकाशमें निराकार चिदाकाश ही प्रतिनियताकारके समान यानी नियत आकारवालेके सदृश स्थित है ॥ ५९ ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंका नियत या अनियत स्वभाव संवेदनके अनुसार ही सिद्ध होता है, यह कहते हैं—'पातसंवित्' इत्यादिसे ।

पतनके अध्याससे युक्त संवित्‌से उत्पन्न यह जगत् रात-दिन गिरनेमें तत्पर है । तथा गमन-अध्याससे युक्त संवित्‌से यह रात-दिन गमनमें ही तत्पर है ॥ ६० ॥

स्थितिके अध्याससे युक्त संवित्‌से समुद्भूत यह संसार सदा अवस्थित है तथा ऊर्ध्वगमनमयी चितिसे उद्भूत यह संसार निरन्तर ऊर्ध्वगमनोन्मुख ही बना रहता है * ॥ ६१ ॥

'कथं वा परिनिश्यतः' इसका उत्तर देते हैं—'एति' इत्यादिसे ।

महाकल्पादिके सङ्कल्पों द्वारा नाशसंवित्‌से वह ब्रह्माण्ड नष्ट होता है और सबकी सृष्टिके आरम्भमें सृष्टि-सङ्कल्पों द्वारा जन्मयुक्त संवित्से चिदाकाशमें वह उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे शरत्कालीन आकाशकी ओर देख रहे पुरुषकी

* 'किमाकृती धृते केन' इन दोनों प्रश्नोंका भी—'वे दोनों ब्रह्माण्डखण्ड स्वसंवित्‌से कल्पित नियत तथा अनियत आकारवाले हैं और एकमात्र संवित्‌ने ही इन्हें धारण कर रक्खा है'—यह उत्तर अर्थतः प्राप्त हो गया ।

भ्रान्त्या यथा नभसि च स्फुरतां तथैषां
संख्यां विधातुमिह को जगतां समर्थः ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने भ्रान्तिमात्रत्वप्रतिपादनं नामाशीतितमः सर्गः ॥८०॥

एकाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ राघव रुद्रं तं तदा तस्मिन्महाम्बरे ।
प्रवृत्तं नर्तितुं मत्तमपश्यं वितताकृतिम् ॥ १ ॥
व्योमेवाकृतिमापन्नमजहद्व्यापितां निजाम् ।
महाकारं घनश्यामं दशाशापरिपूरकम् ॥ २ ॥

दृष्टिमें बेरके आकारके सदृश असत्य मोतियोंका समूह सत्य-सा भासता है, वैसे ही असत्य ही उदित यह संसार अतिसत्यस्वरूप-सा भास रहा है । चिदाकाशमें ये जितने जगत् भ्रान्तिसे स्फुरित हो रहे हैं, ठीक-ठीक उन सबकी गणना करनेमें भला यहाँ कौन समर्थ है* ॥६३ ॥

अस्सी सर्ग समाप्त

इक्यासी सर्ग

[प्रलयकालमें नृत्य कर रहे भयङ्कर रुद्र तथा जगद्रूपी अङ्गवाली उसकी छाया कालरात्रिका वर्णन]

'किमकरोत्' 'छायाऽऽसीद्दद का मुने' इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए उपक्रम बाँधते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे राघव, इसके बाद मैंने उस महाकाशमें मत्त उस रुद्र भगवान्‌को नृत्य करनेमें प्रवृत्त देखा, उस समय उनका आकार बहुत दूरतक फैला हुआ था, आकाशके सदृश उन्होंने विशाल आकृति प्राप्त की थी, अपनी

---

* द्विवचनान्तसे किये प्रश्नोंका एक वचनान्तसे उत्तर देनेमें यह एक विशेष कारण समझना चाहिए। यहाँ 'जातावेकवचनम्' यह सूत्र स्मर्तव्य है।

अर्केन्दुवह्निनयनं चलद्दशदिगम्बरम् ।
घनदीर्घप्रभाजालमालानं श्यामलार्चिषाम् ॥ ३ ॥
बडवाग्निदृशं लोलभुजोर्मिभरभासुरम् ।
एकार्णवार्णो द्राग्देहबन्धेनेव समुत्थितम् ॥ ४ ॥
पश्याम्यनन्तरमहं यावत्तस्य शरीरतः ।
छायेव परिनिर्याति नर्तनानुविधायिनी ॥ ५ ॥
सूर्येष्वविद्यमानेषु महातमसि चाम्बरे ।
स्थिता कथमियं छाया भवेदिति मतिर्मम ॥ ६ ॥
यावद्विचारयाम्याशु तावत्तस्य तदा पुरः ।
सा स्थिता परिनृत्यन्ती विस्तीर्णा श्रीत्रिलोचना ॥७॥
कृष्णा कृशा शिरालाङ्गी जर्जरा वितताकृतिः ।
ज्वालाकुलानना लोलवनसंभारशेखरा ॥ ८ ॥

व्यापिता—व्यापकताका उन्होंने त्याग नहीं किया था, उनका वह आकार महान् था, मेघके सदृश उनका श्याम वर्ण था, उनसे दसों दिशाएँ चारों ओरसे खूब व्याप्त थीं, सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीनों उनके तीन नेत्र थे, चञ्चल दसों दिशाएँ ही उनके वस्त्रके स्थानमें थीं, घन तथा दीर्घ प्रभाजालसे वे युक्त थे, इसीलिए वे देखनेमें नील प्रभाज्वालाओंके बन्धनस्तम्भ-जैसे मालूम पड़ रहे थे, वड़वाग्निकी तरह तो उनकी आँखें थीं, चञ्चल भुजारूपी तरङ्गमालाओंसे उनका शरीर खूब चमकीला दीख रहा था, इससे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानो सबको जलमय बनानेवाले प्रलयकालके महासागरका जल ही शरीर ग्रहण कर अभी आविर्भूत हुआ हो। इसके अनन्तर मैं क्या देखता हूँ कि भगवान् रुद्रके नृत्यका अनुकरण करती हुई उनके शरीरसे मानो छाया निकल रही है ॥१—५॥

देखते ही बलात् मेरे मनमें ऐसी आशङ्का उठी कि भला सूर्योंके उपस्थित न रहते महान् अन्धकारसे परिपूर्ण आकाशमें यह छाया स्थित कैसे है ॥ ६ ॥

यह मैं जब विचार कर रहा था कि इतनेमें तत्क्षण ही वह उस समय नाच करती हुई भगवान् रुद्रके सामने आकर खड़ी हो गई । डील-डौलमें विशाल वह अपनी सुन्दर तीन आँखोंसे शोभित हो रही थी ॥ ७ ॥

उसके रूपका वर्णन करते हैं—'कृष्णा' इत्यादिसे ।

भिन्नाऽञ्जनतमःश्यामा यामिनीवाकृतिं गता ।
तमःश्रीर्देहयुक्तेव साकारेवाम्बरद्युतिः ॥ ९ ॥
अतिदीर्घा करालास्या नभो मातुमिवोद्यता ।
दीर्घजानुभुजभ्रान्त्या मातुकामेव दिङ्मुखम् ॥ १० ॥
कृशा बहूपवासेव परिनिम्नमहातनुः ।
कज्जलश्यामला मेघमालेव पवनाकुला ॥ ११ ॥
कृशाऽशक्ता यदा स्थातुं सुदीर्घा विधिना तदा ।
ग्रथितेव शिरारूपैर्दामभिर्दैर्ध्यशालिभिः ॥ १२ ॥
तथा नाम सुदीर्घा सा यथा तस्याः शिरःखुरम् ।
मया दृष्टं प्रयत्नेन चिरोर्ध्वाधोगमागमैः ॥ १३ ॥

वह रङ्गमें काली थी, पतली थी, उसके सारे अंगोंमें नस ही नस दीख रही थी, उसके सभी अङ्ग शिथिल थे, आकृति उसकी विशाल थी, उसका मुख ज्वालाओंसे व्याप्त था, चञ्चल वनसमृद्धिकी नाईं पुष्प, पल्लव आदिसे विभूषित श्यामल उसका मस्तक था ॥ ८ ॥

घनीभूत अञ्जनरूप तमके समान उसका श्याम वर्ण था, इसलिए देखनेमें वह दूसरी मूर्तिमती यामिनी-जैसी, शरीरयुक्त अन्धकारकी शोभा-सी तथा साकार श्यामवर्ण आकाशकी द्युति-जैसी प्रतीत हो रही थी ॥ ९ ॥

वह बहुत लम्बी थी, उसका मुख बड़ा ही भयानक था। वह ऐसी खड़ी थी, मानो अपनी लम्बी देहसे आकाश नापनेको उद्यत हो या आकाशसे अपनी समता कर रही हो। वह मानो अपनी दीर्घ जानु और भुजाओंके भ्रमणसे समस्त दिशाओंके मुखको ही नापनेकी इच्छा कर रही थी ॥ १० ॥

उसे देखनेसे यही प्रतीति हो रही थी, मानो बहुत दिनोंतक अधिक उपवास करनेसे ही यह ऐसी दुबली हो गई है। उसकी लम्बी देहमें सर्वत्र गड्ढे ही गड्ढे दीख रहे थे। कज्जलके सदृश श्याम वर्णकी वह पवनसे आकुल मेघोंकी माला-जैसी थी ॥ ११ ॥

उसे देखनेसे ऐसा भान हो रहा था कि अत्यन्त लम्बी और दुबली उसे खड़ी होनेमें भी जब विधाताने असमर्थ देखा है तब मानो उन्होंने शिरारूपी लम्बी रस्सियोंसे बाँध दिया है, ताकि यह अच्छी तरह खड़ी रहे ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह इतनी अधिक लम्बी थी कि हजारों वर्षोंतक

अन्त्रान्त्रतन्त्रीग्रथितशिरःकरखुरोत्करा ।
आमूलात् सूत्रवलिता कण्टकानामिव स्थली ॥ १४ ॥
विश्वरूपमयार्कादिशिरःकमलजालकैः ।
कृतमालाऽमलालोकवातवह्निमयाञ्चला ॥ १५ ॥
प्रलम्बकर्णा लुलितनागा नृशवकुण्डला ।
शुष्कतुम्बीलताष्ठीला दीर्घा लोलाऽसितस्तनी ॥ १६ ॥
कुमारबर्हिपिच्छौघैर्ब्राह्ममूर्द्धजमण्डलैः ।
लाञ्छितोच्चसुराधीशशिरःखट्वाङ्गमण्डला ॥ १७ ॥
दन्तेन्दुमालाविमला विमलोद्योतपाततः ।
तमोर्णवोद्र्ध्वलेखेव वृत्तावर्तविवर्तिनी ॥ १८ ॥
शुष्कतुम्बीलतेवोच्चैराकाशतरुसंस्थिता ।
विलोलावयवाष्ठीला वातैः पटपटारवा ॥ १९ ॥

ऊपर-नीचे आ-जाकर मैंने योगबलसे उसके सिर और पादनखोंका अवलोकन किया ॥ १३ ॥

नाड़ियोंके समूहों तथा अँतड़ियोंरूपी रस्सियोंसे ग्रथित सिरसे लेकर पैरतक सभी अङ्गोंसे युक्त वह ऐसे स्थित थी, जैसे मूलसे लेकर शाखाग्रपर्यन्त सूतोंसे ग्रथित कण्टकोंकी निवासभूमि—खदिरादि लता ॥ १४ ॥

नाना वर्णोंके सूर्य आदि देव तथा दानवोंके मस्तकरूपी कमलोंके समूहोंकी माला उसके कण्ठमें विराजमान थी, निर्मल आलोकवाला पवनसे प्रदीप्त अनल उसका आंचल था ॥ १५ ॥

उसके लम्बे दोनों कानोंमें चंचल नाग झूल रहे थे तथा दो मृतक कुण्डलके रूपमें विराजमान थे। शुष्क तुम्बी-लताकी तरह अतिदीर्घ, अत्यन्त चञ्चल तथा काले वर्णके उसके दोनों स्तन जाँघतक लटक रहे थे ॥ १६ ॥

उसका खट्वाङ्गमण्डल मयूरोंके पिच्छसमूहों तथा ब्रह्माके केशोंके मण्डलोंसे लाञ्छित (चिह्नित) चन्द्रादि सुराधीशोंके ऊँचे-ऊँचे मस्तकोंसे अलङ्कृत था ॥ १७ ॥

चूँकि दन्तरूपी चन्द्रमालासे वह विमल थी, इसलिए विमल दाँतोंके प्रकाशोंके पतनसे अभिवृद्ध तथा अन्धकाररूपी सागरके आवर्तोंसे व्यालोल (चञ्चल) ऊर्ध्वलेखा-जैसी स्थित वह प्रतीत हो रही थी ॥ १८ ॥

आकाशमें उत्पन्न हुए वृक्षके ऊपर आरूढ़ शुष्क तुम्बी-लता-जैसी वह

बृहत्तरङ्गोर्ध्वभुजा श्यामलोल्लासशालिनी ।
एकार्णवोर्मिमालेव नृत्तावृत्तिविवर्तिनी ॥ २० ॥
क्षणमेकभुजाकारा क्षणं बहुभुजाकुला ।
अनन्तोग्रभुजाक्षिप्तजगन्नर्तनमण्डपा ॥ २१ ॥
क्षिप्रमेकमुखाकारा क्षिप्रं बहुमुखाकृतिः ।
अनन्तोग्रमुखी क्षिप्रं निर्मुखी चापि च क्षणम् ॥ २२ ॥
एकपादान्विता क्षिप्रं क्षिप्रं पादशतान्विता ।
क्षणं चानन्तपादाढ्या निष्पादाकारिणी क्षणम् ॥ २३ ॥
कालरात्रिरियं सेति मयाऽनुमितदेहका ।
काली भगवती सेयमिति निर्णीतसज्जना ॥ २४ ॥

ऊँचे आकाशरूपी वृक्षके ऊपर आरूढ़ थी । वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे विभूषित तथा जाँघ तक सभी चञ्चल अवयवोंवाली वह—नीचे तक अपने चञ्चल अवयवोंसे युक्त तथा वायुओं द्वारा पटपट शब्दोंसे अलङ्कृत—शुष्क तुम्बीलता-जैसी ही बिलकुल प्रतीत हो रही थी ॥ १९ ॥

महातरङ्गरूपी लम्बी भुजाओंवाली, श्यामल तथा उल्लासोंसे परिपूर्ण, नृत्यरूपी आवर्तोंसे चञ्चल प्रलयकालीन महासागरकी तरङ्गमाला-सी भास रही थी ॥ २० ॥

क्षणमें ही कभी तो वह एक भुजासे युक्त आकारवाली हो जाती थी और कभी क्षणमें ही अनेक भुजाओंसे व्याप्त हो जाती थी तथा कभी क्षणभरमें ही अपनी अनन्त उग्र भुजाओंसे जगद्रूपी नृत्यमण्डपको ऊपर फेंककर व्याकुल कर देती थी ॥ २१ ॥

क्षणभरमें ही तुरत उसका आकार एक मुखवाला हो जाता था तथा शीघ्र ही उसकी आकृति अनेक मुखोंसे युक्त बन जाती थी । शीघ्र ही वह अनन्त उग्र मुख धारण कर लेती थी तथा क्षणभरमें ही बिना मुखवाली भी वह हो जाती थी ॥ २२ ॥

वह शीघ्र एक पैरसे युक्त हो जाती थी तथा शीघ्र ही उसके सैकड़ों पैर हो जाते थे । क्षणभर भी देर न हो पाती थी कि इतने हीमें वह अनन्त पैरोंसे समन्वित हो जाती थी तथा क्षणमें ही वह बिना पैरकी भी हो जाती थी ॥ २३ ॥

वह रूप देखकर मैंने उसकी देहका अनुमान कर लिया कि हो न हो यह

ज्वालापूर्णारघट्टोग्रखाताभनयनत्रया ।
ज्वलद्धरेन्द्रनीलाद्रिसानूपमललाटभूः ॥ २५ ॥
लोकालोकेन्द्रनीलोग्रश्वभ्रभीमहनुद्वया ।
वातस्कन्धगुणप्रोततारामुक्ताकलापिनी ॥ २६ ॥
इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैःप्रभाम्बरे ।
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी ॥ २७ ॥
नृत्यद्भुजलतापुष्पैर्नखशुभ्राभ्रामण्डलैः ।
पूर्णचन्द्रशतानीव भ्रामयन्ती नभस्तले ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्व्याप्तदिक्चक्रा भुजैः कल्पाम्बुदैरिव ।
वर्षद्भिः प्राणिजप्रान्ततारालेखाबृहत्प्रभाः ॥ २९ ॥

वही कालरात्रि है । अन्य सज्जन महानुभावोंने भी इसको 'यह भगवती काली हैं' यह निर्णय किया है ॥ २४ ॥

फिर उसके मुखसे लेकर पैरतकके प्रत्येक अङ्गका वर्णन करना प्रारम्भ करते हैं—'ज्वाला०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवतीकी तीन आँखें थीं, उनकी उपमा तो तब ठीक मिल सकती है, जब कि अरघट्ट यन्त्रके मस्तकके काठमें प्रसिद्ध तीन गड्ढे ज्वालाओंसे परिपूर्ण हो जायँ । और उसकी ललाट भूमिकी उपमा तो वह प्रसिद्ध इन्द्रनील पर्वतका प्रस्थभाग है, जहांपर पृथिवी जल रही हो ॥ २५ ॥

उसके दोनों जबड़े तो लोकालोक पर्वतके प्रसिद्ध इन्द्रनीलके उग्र गड्ढेकी तरह ही भयङ्कर दीख रहे थे, क्योंकि अधिक गहरा होनेसे वहांतक कुण्डलोंकी कान्तिका प्रकाश बिलकुल नहीं पहुँच पाता था । वातस्कन्धरूपी तागोंमें पिरोये गये तारागणरूपी मुक्ताकलापोंकी माला उसके गलेमें विराज रही थी ॥ २६ ॥

इन्द्रनील पर्वतके तुल्य ऊँचे नगरके बाहरके दरवाजेपर पद्मराग आदिकी प्रभासे रञ्जित दरवाजेके उन्नत भीतरी छेदमें विश्रान्त अधोमुख कृत्रिम काचशैलकी तरह भगनामक भीषण काकसे वह भयङ्कर लगती थी ॥ २७ ॥

नाच रही भुजलतारूपी पुष्पोंसे युक्त नखोंकी शुभ्र प्रभारूपी मेघ-मण्डलोंसे वह आकाशतलमें सैकड़ों पूर्णचन्द्रोंको नचाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥ २८ ॥

कल्पान्त मेघोंके तुल्य*, गजमुक्ताओं तथा प्रलयकालमें गिर रही तारोंकी

---

* अर्थात् स्फुरित हो रही प्रभाओंसे युक्त हाथीके दाँतोंकी तरह पर्वत-प्रान्तोंके ऊपर महा प्रभाओंसे युक्त मोटी मोटी जल-धाराश्रेणीको बरसा रहे कल्पान्त मेघोंकी तरह ।

नखपुष्पाङ्गुलीवल्लीजालैर्भ्रान्तभुजद्रुमैः ।
कृष्णैः काननिताशेषगगनाग्रोग्रमूर्तिभिः ॥ ३० ॥
तमालतालतः स्थूलां भुवं दग्धमहावनैः ।
विडम्बयन्ती वलितां जङ्घासङ्घेन लोलता ॥ ३१ ॥
अप्यनन्ते महाव्योम्नि पारं प्राप्तैः शिरोरुहैः ।
कुर्वाणेवाततं वासं चरत्तिमिरदन्तिनः ॥ ३२ ॥
उह्यन्ते मेरवो येन तेन निःश्वासवायुना ।
घनघुङ्घुमदिक्चक्रगगनग्रामघोषिणा ॥ ३३ ॥
घनमारुतफूत्कारक्ष्वेडगेयं प्रगायता ।
नियतानुनयेनेव चलिता सानुवृत्तिना ॥ ३४ ॥
ततो नृत्तवशावेशाद्वर्द्धमानशरीरिणी ।
मया दृष्टावधानेन गगनाभोगभूरिणा ॥ ३५ ॥

श्रेणी-जैसी भासमान नखोंकी पङ्क्तियोंकी विशाल प्रभाओंको बरसा रही भ्रमणशील अपनी भुजाओंसे भगवती कालीने सारे दिग्मण्डलको व्याप्त कर दिया था ॥२९॥

रङ्गमें बिल्कुल काले अतएव उग्र स्वरूपके अपने उन भ्रान्तभुज-द्रुमोंसे, जो नखोंरूपी पुष्पोंसे विभूषित अङ्गुलीरूपी लतासमूहोंसे सुशोभित थे, उस भगवती कालीने सारे आकाशप्रान्तको जङ्गल-सा बना दिया था ॥ ३० ॥

वह भगवती काली सभी ओर चलित हुए अपने जङ्घासमूहसे, जले हुए खजूर आदिके महान् जङ्गलोंसे वलित तथा एकमात्र जले हुए अच्छे-अच्छे तमाल, ताल आदिके वृक्षोंसे स्थूल बनी हुई पृथिवीका अनुकरण कर रही थी ॥३१॥

अनन्त महाकाशमें भी पारङ्गत अपने केशोंसे वह सञ्चरणशील अन्धकाररूपी हाथीका आकाशमें विस्तृत निवास मानो सिद्ध कर रही थीं ॥ ३२ ॥

प्रतिध्वनियोंसे घनीभूत दिग्मण्डलवाले गगनरूपी गाँवमें उद्घोषणशील अपने उस निःश्वास पवनके साथ, जिसके द्वारा मेरु आदि अनेक पर्वत उड़ा दिये जाते थे, वह भगवती बराबर चली जा रही थीं। देखनेसे ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह एक ऐसे नटके साथ चली जा रही हैं, जो नियत अनुनयवाला है, और प्रबल वायुके फूत्काररूपी अव्यक्तशब्दसे परिपूर्ण गीत गा रहा है ॥ ३३, ३४ ॥

इसके बाद आकाशमें स्थित अनन्त आकाशके सदृश व्यापकरूप मैंने

यावत्तयाऽऽवृता देहे हेलावलनसारया ।
माला मलयकैलाससह्यमन्दरमेरुभिः ॥ ३६ ॥
आसीत्तस्या युगान्ताभ्रमालिकापट्टपट्टिका ।
आदर्शमण्डलान्यङ्गे त्रीणि लोकान्तराणि च ॥ ३७ ॥
कर्णयोर्हिमवन्मेरू रूप्यकाञ्चनमुद्रिके ।
ब्रह्माण्डघुङ्घुमैर्माला महती कटिमेखला ॥ ३८ ॥
स्रजः कुलाचलाः शृङ्गवनपत्तनगुच्छकाः ।
जरत्पुरवनद्वीपग्रामपेलवपल्लवाः ॥ ३९ ॥

योगबलसे उस भगवतीको देखा कि वह नृत्यवश आवेशके कारण वर्द्धमान शरीरवाली हो गई है ॥ ३५ ॥

इतने ही में मैं क्या देखता हूँ कि एकमात्र विलासपूर्वक नृत्य करना ही जिसका अभिप्रेत अर्थ था ऐसी उस भगवती कालीने मलय, कैलास, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंसे एक सुन्दर माला बनाकर अपनी देहमें धारण कर लिया ॥३६॥

अधिक क्या कहा जाय, सारा संसार ही उसके आभूषण आदि सामग्रीके रूपमें परिणत हो गया, इस आशयसे कहते हैं—'आसीत्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, युगान्तकालके प्रसिद्ध पुष्करावर्तक आदि अभ्रमालिका (मेघसमूह) उसके वक्षःस्थलमें इन्द्रनीलकी पट्टपट्टिकाके रूपमें * विराजमान थी । तीनों लोकान्तर उसके जघन, उदर आदि अङ्गमें मणिमय आदर्शमण्डल † बन गये थे ॥ ३७ ॥

हिमालय तथा सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानकी चाँदी और सोनेकी मुद्रिका ‡ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे । ब्रह्माण्डोंकी घुंघुम शब्दोंसे परिपूर्ण माला एक लम्बी लच्छेदार करधनी थी ॥ ३८

शिखरों, वनों एवं नगरोंके गुच्छकोंसे परिपूर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण गाँव, वन, द्वीप, ग्राम आदि रूप कोमल पल्लवोंसे भरे सातों कुलपर्वत उसके गलेकी मालाएँ थीं ॥ ३९ ॥

---

* एक तरहका आभूषण (पनवां) ।

† अर्थात् देखने योग्य नमूनेदार अलङ्कार ।

‡ साधारणतया 'मुद्रिका' शब्दका अँगूठी अर्थ है, लेकिन यहाँपर यह 'बाली' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तस्या अङ्गेषु दृष्टानि पुराणि नगराणि च ।
ऋतवश्च त्रयो लोका मासाहोरात्रमालिकाः ॥ ४० ॥
मुक्तालतादिकं नद्यः कालिन्दी त्रिपथादिकाः ।
धर्माधर्मावुभौ कर्णभूषणे चान्यकर्णयोः ॥ ४१ ॥
स्तनास्तस्यास्तु चत्वारः स्रवद्धर्मपयोलवाः ।
वेदाः सकलशास्त्रार्थचतुःसंस्थानचूचुकाः ॥ ४२ ॥
त्रिशूलैः पट्टिशैः प्रासैः शरशक्त्यृष्टिमुद्गरैः ।
निर्यदायुधजालानि स्रग्दामानि बिभर्ति सा ॥ ४३ ॥
चतुर्दशविधाभूतजातयो याः सुरादिकाः ।
तस्याः शरीरशालिन्यास्ता लोमावलयः स्थिताः ॥ ४४ ॥
तस्याश्च नगरग्रामगिरयो देहशायिनः ।
नृत्यन्त्या सह नृत्यन्ति पुनर्जन्ममुदेव ते ॥ ४५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस भगवती कालीके अङ्गोंमें नगर, ग्राम, ऋतु, मास, दिन-रात तथा तीनों लोककी मालाएँ विराज रही थीं—वह सब मैंने देखा ॥ ४० ॥

भद्र, यमुना, त्रिपथगा—भागीरथी आदि नदियां गलेके मोती आदिके हारके रूपमें थीं, धर्म एवं अधर्म दोनों दूसरे कानोंके (पूर्वोक्त कानोंसे अतिरिक्त कानोंके) भूषण बन गये थे ॥ ४१ ॥

भद्र, उस कालरात्रिके धर्मरूपी दूधका क्षरण करनेवाले चारो वेद चार स्तन थे, समस्त शास्त्रार्थरूपी क्षीरवाले ऋक् आदि चार संस्थान उसके कुचाग्र थे ॥ ४२ ॥

त्रिशूल, पट्टिश (पटा), भाला, बाण, शक्ति (बरछी), खड्ग, मुद्गर—इनसे बना जो आयुधोंका समूह था, वही पुष्पमालाके रूपमें उसने धारण किया था ॥ ४३ ॥

जो देवता आदि चौदह तरहकी भूतजातियां हैं, वे शरीरधारी उस कालरात्रिके रोमपंक्तियोंके रूपमें अवस्थित थीं ॥ ४४ ॥

उसकी देहमें अव्यक्तरूपसे स्थित नगर, ग्राम, पर्वत आदि मानो अपना पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उसके साथ-साथ नाच कर रहे थे ॥ ४५ ॥

जङ्गमात्मैकमेवैतज्जगदस्थावरं तदा ।
नृत्यतीति मया ज्ञातं परलोके सुखं स्थितम् ॥ ४६ ॥
निगीर्णं जगदङ्गस्थं कृत्वा तृप्तिमुपागता ।
परिनृत्यति सा मत्ता जगज्जीर्णाहिचातकी ॥ ४७ ॥
आदर्शप्रतिबिम्बस्थमिवाभात्यखिलं जगत् ।
तस्या वपुषि विस्तीर्णे स्वरूपिणि सरूपधृक् ॥ ४८ ॥
सा न नृत्यति तत्सर्वं सशैलवनकाननम् ।
जगन्नृत्यति नानात्म मृत्वा पुनरुपागतम् ॥ ४९ ॥
तज्जगन्नर्त्तनं चारु तद्देहादर्शसंस्थितम् ।
चिरं मया तदा दृष्टमविनष्टं पुनः स्थितम् ॥ ५० ॥
विचलत्तारकाजालं भ्रमत्पर्वतमण्डलम् ।
मशकव्यूहवद्वातव्याधूतामरदानवम् ॥ ५१ ॥

भद्र, सारा संसार उसके नर्तनमें काँप रहा था, इसलिए कोई भी पदार्थ स्थावर (स्थिर) तो था ही नहीं, किन्तु केवल जङ्गमात्मक ही यह जगत् उस समय प्रतीत हो रहा था, पहले नष्ट होकर इसके शरीररूपी परलोकमें सुखसे स्थित सारा जगत् नाच रहा है, यह मैंने जाना ॥ ४६ ॥

निगीर्ण जगतको उदरस्थ करके अत्यन्त तृप्तिको प्राप्त हुई वह कालरात्रि मत्त होकर चारों ओर नृत्य कर रही थी, वह जगत्‌रूपी सर्पको जीर्ण बनाने और नचानेके कारण ठीक चातकी-सी (मयूरी-सी) मालूम हो रही थी ॥ ४७ ॥

समस्त जगत् विस्तीर्ण-स्वरूपवाले उसके शरीरमें आदर्श-प्रतिबिम्बमें स्थित-सा मालूम पड़ रहा था और उसका रूप भी पूर्व जगत्‌के सदृश ही था ॥ ४८ ॥

किसी समय वह नृत्यसे विरत भी हो जाती थी, फिर भी उसके भीतरका जगत् तो नृत्य करता-सा ही प्रतीत होता था, यह कहते हैं—'सा' इत्यादिसे ।

कभी तो वह नृत्य नहीं भी करती थी, परन्तु शैल, पर्वत, अरण्य आदिके साथ वह नानारूप जगत्, जो मरकर फिर आया था, नृत्य करता ही रहा ॥ ४९ ॥

उक्त सुन्दर जगत्‌का नृत्य उसीके देहरूपी आदर्शमें स्थित था और उस समय मैंने दीर्घकालतक उसे देखा, वह एकदम अविनाशी होकर स्थित था यानी निरन्तर चल रहा था ॥ ५० ॥

उसी जगत्‌के नृत्यका वर्णन करते हैं—'विचल०' इत्यादिसे ।

सङ्ग्रामोन्मुक्तचक्राभद्वीपार्णववृताम्बरम् ।
हेलाविवलनावर्त्तप्रौढशैलधरातृणम् ॥ ५२ ॥
नीलमेघांशुकावृत्तिवातघुङ्घुमिताम्बरम् ।
काष्ठास्थ्यादिस्फुटास्फोटपटत्पटपटारवम् ॥ ५३ ॥
जगत्पदार्थैर्व्यामिश्रैरमिश्रैर्मुकुरे यथा ।
व्याप्तमाभोगिभाङ्कारैरङ्गैरङ्गभ्रमैस्तथा ॥ ५४ ॥
मेरुर्नृत्यति लोलोच्चकुलाचलबृहद्भुजः ।
भ्रमदभ्रपटोपेतनमत्तनुतनूरुहः ॥ ५५ ॥
अत्यजन्तः समुद्राश्च मर्यादामुद्रणं द्रुमाः ।
भूमेर्नभस्तलं यान्ति नभसो यान्ति भूतलम् ॥ ५६ ॥

वह नृत्य क्या था, उसमें समस्त तारागण चल रहे थे, सारा पर्वतसमूह घूम रहा था, अमर और दानव मच्छरोंके समूहके समान वायुओं द्वारा कम्पित किये जा रहे थे ॥ ५१ ॥

सङ्ग्रामभूमिमें छोड़े गए चक्रोंके भ्रमणके सदृश शोभ रहे द्वीपों एवं समुद्रोंसे सारा आकाशमण्डल व्याप्त हो गया था, हेलासे उत्पन्न भ्रमणोंसे यानी आवर्त वायुओंसे मानो पर्वत एवं धरारूपी तृण वर्तुलाकारमें जोरसे उड़ाये जा रहे थे ॥५२॥

उस नर्तनमें ऊपर नीलमेघरूपी वस्त्रोंका परिचालन होनेपर वायुओंसे आकाशमण्डल घुङ्घुम ध्वनिसे पूर्ण हो गया था, और नीचे परस्पर टक्कर खाये हुए काष्ठ, अस्थि आदिके सन्धिभेदसे हो रही पटपट ध्वनिसे व्याप्त हो गया था ॥५३॥

परस्पर संयोग और विभागसे प्रत्येक क्षणमें कभी मिलित एवं कभी विभक्त हुए जगत्पदार्थोंसे युक्त अङ्गों एवं अङ्गभ्रमणोंके कारण, दर्पणके सदृश उसकी देहमें उनका नृत्य विशाल भांकारोंसे मानो मूर्तिमान् भय-जैसे व्याप्त था ॥ ५४ ॥

उसी जगत्के नृत्यका विभागशः वर्णन करते हैं—'मेरु०' इत्यादिसे ।

कहीं मेरु पर्वत अपने चञ्चल कुलाचलरूपी बड़े-बड़े हाथोंका सञ्चालन कर नृत्य करता था, इसके अभ्ररूपी वस्त्रोंसे युक्त (आच्छन्न) छोटे-छोटे कल्पवृक्षरूप रोमोंका घुमाव बड़ा ही रमणीय लग रहा था ॥ ५५ ॥

समुद्र भी अपनी मर्यादाका मुद्रण न छोड़कर नाच रहे थे और वृक्ष पृथ्वीसे कभी आकाशमें तथा आकाशसे कभी पृथ्वीमें आते-जाते थे ॥ ५६ ॥

पुराणि घर्घरारावैर्दृश्यन्ते लुठितान्यधः ।
सगृहाट्टालवास्तव्यं न च किञ्चिल्लुठत्यधः ॥ ५७ ॥
तस्यां भ्रमन्त्यां चतुरं चन्द्रार्कदिनरात्रयः ।
नखाग्रलेखालोकान्तर्भान्ति काञ्चनसूत्रवत् ॥ ५८ ॥
विभान्ति सृष्टयस्तस्या घर्माणि जलजालिकाः ।
इव नीहारहारिण्या नीलवारिदवाससः ॥ ५९ ॥
खमेव तस्याः सम्पन्नं कबरीमण्डलं बृहत् ।
पातालं चरणौ भूमिरुदरं बाहवो दिशः ॥ ६० ॥
द्वीपाब्धयोऽन्त्रवलयः पार्श्वकाः सर्वपर्वताः ।
प्राणापानावलीदोलाः पवनस्कन्धशालिकाः ॥ ६१ ॥
तदाऽनुभूतं नृत्यन्त्यास्तस्या वपुषि विस्तृते ।
हिमवन्मेरुसह्याद्यैर्दोलनभ्रममद्रिभिः ॥ ६२ ॥

किसी समय घर, अट्टालिका एवं गृहस्थीके सामानके साथ नगर घरघर ध्वनि करते हुए नीचेकी ओर लुढ़कते हुए दीख रहे थे, लेकिन वास्तवमें कुछ नहीं नीचेकी ओर लुढ़क रहा था ॥ ५७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जब भगवती कालरात्रि चतुरतापूर्ण नृत्य कर रही थी, तब चन्द्र, सूर्य, दिवस और रात उसके नखाग्रभागकी रेखाओंके अन्दर विद्यमान आलोकमें (प्रभामें) मिलकर घूमते हुए, सुवर्णसूत्रके सदृश, दीर्घाकार प्रकाशित हो रहे थे ॥५८॥

भद्र, कालरात्रिने नीहारके तो हार पहिने थे, उसके वस्त्र नीले मेघ थे, इसलिए मेघोंसे बरसाये गये जो जलबिन्दु थे, वे उसके स्वेदबिन्दुकी तरह मालूम पड़ते थे ॥ ५९ ॥

अब सारा जगत उस भगवतीका अङ्गसमूह बन गया था, यह वर्णन करते हैं—'खमेव' इत्यादिसे ।

आकाश ही उसका बड़ा केशपाश (जूड़ा) बन गया था, पाताल चरण बन गये थे, भूमिमण्डल उदर बना था और दिशासमूह बाहु बन गये थे ॥ ६० ॥

उस भगवतीकी जो आँतोंसे युक्त वलियाँ थीं, वे द्वीप और समुद्र ही थे, जो पसलियाँ थीं, वे सारे पर्वत थे, और जो चञ्चल प्राण और अपान थे, वे सारे आवह आदि पवनस्कन्धरूप आकाश-सौध की शालिकाएँ ही थीं ॥ ६१ ॥

जब भगवती कालरात्रि नृत्य करती थी, तब उसके विशाल शरीरके ऊपर

तरदद्रिगुलुच्छास्ता वलयन्त्या तया स्रजः ।
पुनः कल्पान्त आरब्ध इव ताण्डवहेलया ॥ ६३ ॥
सुरासुरोरगानीकरोमशाङ्गः शरीरकः ।
निस्पन्दं स्थातुमशकन्नसौ भ्रमति चक्रवत् ॥ ६४ ॥
नानाविभवविज्ञानयज्ञयज्ञोपवीतिनी ।
सा सरन्ती नभस्यासीद्घनघूत्कारघोषिणी ॥ ६५ ॥
तत्र भूतलमाकाशमाकाशमपि भूतलम् ।
प्रतिकृति भवत्यन्तर्न च किञ्चिद्विवर्तते ॥ ६६ ॥
बृहन्नासागुहागेहनिर्गताघनघुङ्घुमाः ।
तत्रोग्रा वायवो वान्ति घोरघूत्कारकारिणः ॥ ६७ ॥

हिमालय, मेरु, सह्याद्रि आदि पर्वतोंने झूलेके आनन्दका अनुभव किया ॥ ६२ ॥

उड़ रही पर्वतरूपी मञ्जरियोंसे युक्त पूर्ववर्णित ब्रह्माण्डमालाका इधर-उधर परिवर्तन करती हुई उस भगवतीने अपनी ताण्डव-लीलासे मानो फिर महाप्रलय आरम्भ किया ॥ ६३ ॥

हे श्रीरामजी, वे सुर, असुर, नाग आदिके समूह ही भगवतीके रोम थे, इसका शरीर स्पन्दनरहित होकर ठहर सकता ही नहीं था, इसलिए चक्रकी तरह वह बराबर घूम रहा था ॥ ६४ ॥

भद्र, कर्मफलरूप नाना वैभव, कर्मानुष्ठानके कारण अनेक विज्ञान एवं अनुष्ठानरूप यज्ञ—इन तीन सूत्रोंका उसने यज्ञोपवीत धारण किया था, आकाशमें नाचती हुई वह मेघोंकी ध्वनियोंको लेकर वेदघोष कर रही थी, इसलिए ठीक ब्रह्मचारिणीकी तरह प्रतीत हो रही थी ॥ ६५ ॥

वस्तुतस्तु उस नृत्यमें कुछ भी नहीं हिल रहा था, परन्तु भूतल और आकाश चक्रके मिषसे एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित होकर एक दूसरेके सदृश वे दोनों बन जाते थे, इससे कुछ समयके लिए भूतल आकाश बन जाता था और आकाश बन जाता था भूतल, यह देखनेवालोंकी एक भ्रान्ति ही थी ॥ ६६ ॥

कालरात्रिकी श्वासवायुओंका वर्णन करते हैं—'बृहन्ना०' इत्यादिसे ।

उस भगवतीके बड़े-बड़े नासिकागुहारूपी घरोंसे निकले हुए मेघके सदृश घुंघुं शब्द कर रहे उग्र पवन बह रहे थे, इन वायुओंसे घोर घुंघुं शब्द हो रहे थे ॥ ६७ ॥

नभःकरशतैस्तस्याश्चतुरावृत्तिवर्तिभिः ।
भाति चण्डानिलोद्धूतैराकीर्णमिव पल्लवैः ॥ ६८ ॥
तदङ्गजजगद्वस्तुजातभ्रमणसंभवात् ।
दृष्टिर्द्धीरापि मे मोहे सन्ना सेनेव सङ्गरे ॥ ६९ ॥
प्रोह्यन्ते यन्त्रवच्छैला निपतन्ति नभश्चराः ।
लुठन्त्यमरगेहानि वलिते देहदर्पणे ॥ ७० ॥
मेरवः पर्णवद्व्यूढा मलयाः पल्लवा इव ।
हिमाद्रयो हिमकणा इवौर्व्योऽब्जलता इव ॥ ७१ ॥
सह्या मह्यामिव खगा विन्ध्या विद्याधरा इव ।
वृक्षावर्ते भ्रमन्तोऽन्ता राजहंसा इवाम्बरे ॥ ७२ ॥
द्वीपान्यपि तृणानीव समुद्रा वलया इव ।
सुरलोकालयः पद्मा आसंस्तद्देहवारिणि ॥ ७३ ॥

भद्र, सारा आकाशमण्डल उस भगवतीके चातुर्यपूर्ण पद्धतिसे सञ्चालित हुए सैकड़ों हाथोंके कारण प्रचण्ड वायुओं द्वारा कम्पित पल्लवोंसे व्याप्त-सा हो गया था ॥ ६८ ॥

उसके अङ्गोंसे जनित जगत्पदार्थोंके साथ-साथ जो भ्रमण हुए, उनसे उत्पन्न श्रमके कारण मेरी धीर दृष्टि ऐसे कुण्ठित हो गई, जैसे युद्ध संग्राममें सेना ॥६९॥

उसका देहरूपी दर्पण जब कुछ भ्रमणशील हो गया, तब यन्त्रोंके सदृश पर्वत विचलित होने लगे, आकाशचारी देवता गिरने लगे और देवताओंके घर लुढ़कने लगे ॥ ७० ॥

उसकी नाभिमें पृथ्वीकी कमललताके सदृश उस समय शोभा मालूम हो रही थी, क्योंकि अनेक मेरु पर्वत ठीक पत्तोंके सदृश प्रतीत हो रहे थे, मलयाचल पल्लव-से भास रहे थे और इनपर हिमाचल हिमकण-सा प्रतीत हो रहा था ॥७१॥

उस भगवतीकी देहमें अनेक सह्य पर्वत पृथ्वीपर पक्षियोंके सदृश, अनेक विन्ध्याचल आकाशमें विद्याधरोंके सदृश तथा वृक्ष और बादल आकाशके अन्दर घूम रहे राजहंसोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७२ ॥

उसके देहरूपी सरोवरमें अनेक द्वीप तृणोंके सदृश, समुद्र वलयोंके सदृश और देवताओंके आलय पद्मोंके सदृश भास रहे थे ॥ ७३ ॥

विशदाकाशसंकाशे स्वप्नाञ्जनपुरोपमे ।
अङ्गे तस्या बृहज्जङ्घे पिण्डादित्यसमत्विषि ॥ ७४ ॥
विन्ध्यो नृत्यति काञ्चनाचलवनेऽसह्यश्च सह्यो गिरिः
कैलासो मलयो महेन्द्रशिखरी क्रौञ्चाचलो मन्दरः ।
गोकर्णो गगनाङ्गणे वसुमती विद्याधराणां पुरं
सर्वे जङ्गमतां गता वनभुवस्तस्याः शरीरे सदा ॥७५॥
अब्धिर्नृत्यति पर्वते गिरिरपि प्रोच्चैर्नभःकोटरे
व्योमापीन्दुदिवाकरैः क्व चलितं भूमेरधस्ताद्गतम् ।
सद्वीपाचलपत्तनो वनगणः प्रोत्कीर्णपुष्पो दिवि
व्यालोलं जगदम्बुधाविव तृणं दिक्चक्रके भ्राम्यति ॥७६॥
व्योम्नि भ्रमन्ति गिरयोऽम्बुधयो दिगन्ते
लोकान्तराणि पुरपत्तनमण्डलानि ।
नद्यः सरांसि मुकुरान्तरिव प्रवृद्ध-
वातावकीर्णतृणविक्रमणक्रमेण ॥ ७७ ॥

भगवतीका शरीराङ्ग विशद आकाशके सदृश विशाल था, स्वप्नमें उत्पन्न महान् अञ्जन पर्वतके सदृश था तथा एक पिण्डमें बने हुए बारहों आदित्योंके सदृश तो उसकी कान्ति थी, विशाल उसकी जंघाएँ थीं, इस प्रकारके उसके अङ्गमें कहींपर सुवर्ण पर्वतके ऊपर उगे जङ्गलमें अपना चिरन्तन वैर निकालते हुए-सा विन्ध्याचल नाच रहा था, तो कहीं गगनरूप आंगनमें अपने शत्रु विन्ध्याचलको न सहने योग्य सह्य, कैलास, मलय, महेन्द्रपर्वत, क्रौञ्च पर्वत, मन्दर और गोकर्ण पर्वत मानो कुपसे नाच रहे थे, इनके पक्षपातसे सारी वसुमती और विद्याधरोंके नगर नाच रहे थे— इस तरह उसके शरीरमें सभी स्थावर जङ्गमभावको प्राप्त हो गये थे ॥७४, ७५॥

श्रीरामजी, एक और आश्चर्य सुनिये—उसकी देहमें पर्वतपर समुद्र नाच रहा था, वह पर्वत ऊँचे आकाशकोटरमें नृत्य कर रहा था, वह आकाश भी चन्द्र और सूर्योंके साथ पृथ्वीके नीचे चलित होकर कहां चला गया, यह जाना ही नहीं गया । नानाविध पुष्पोंसे युक्त तथा द्वीप, अचल एवं नगरसे समन्वित वनगण सूर्यमण्डलमें नाच रहा था—यों चञ्चल जगत् समुदमें चञ्चल तृणके समान दिशाचक्रमें भ्रमण कर रहा था ॥ ७६ ॥

भद्र, आकाशमें पर्वत घूम रहे थे, दिशाओंमें समुद्र घूम रहे थे, पुर, नगर,

मत्स्याश्चरन्ति च मरौ वरवारिणीव
व्योम्नि स्थिराणि नगराणि भुवीव भान्ति ।
खे भूधरा गगनसंक्षयवारिवाह-
मुत्पातवातपरिवृत्तगिरिस्थितं तत् ॥७८॥
ऋक्षोत्करो भ्रमति दीपसहस्रयन्त्र-
चक्रक्रमेण मणिवर्षणवेगचारुः ।
अन्तर्बहिश्च परितः प्रणयेन मुक्तं
विद्याधरामरगणैरिव पुष्पवर्षम् ॥७९॥
संहारसर्गनिचया दिनरात्रिभागे
बिन्दूपमा रजतयोर्दिवसोत्कराश्च ।
कृष्णाः सिताश्च परितोऽमलशुक्लकृष्ण-
स्वादर्शमण्डलवदाकुलमुल्लसन्ति ॥८०॥

मण्डल, नदियां, सरोवर—ये सब अपने आश्रयभूत लोकसे लोकान्तरमें, दर्पणके भीतर-जैसे, प्रविष्ट होकर—झंझावातके द्वारा असङ्कीर्ण तृणोंका उड़ना जैसे लोकमें विख्यात है, वैसे ही—उड़ रहे थे ॥ ७७ ॥

किञ्च, मत्स्य समुद्रकी नाईं मरुभूमिमें घूम रहे थे, नगर पृथ्वीके सदृश आकाशमें स्थिर दिखाई दे रहे थे, पर्वत आकाशमें प्रतीत हो रहे थे। अधिक आश्चर्य तो यह था कि आकाश एवं प्रलयके मेघ उत्पात-वायुओंसे घिरे हुए पर्वतोंपर स्थित थे ॥ ७८ ॥

किसी यन्त्र-चक्रमें हजारोंकी संख्यामें दीपक लगे हों और वह यदि घूमता हो तो कितना सुन्दर लगता है, ठीक इसी क्रमसे वेगसे हो रही मणियोंकी वृष्टिके सदृश अतिसुन्दर नक्षत्रोंका समूह घूम रहा था। इसकी शोभा उस तरहकी थी, जैसे आपकी सभामें विद्याधरों एवं देवताओंके गण द्वारा प्रीतिसे छोड़ी गई पुष्पवृष्टि भीतर-बाहर भ्रमण करती है ॥ ७९ ॥

भद्र, भगवती कालरात्रिके शरीरमें प्रलय एवं सृष्टियोंके समूह दिन-रातके भागमें प्रतीत हो रहे थे, दिन और रात्रिके समूह मलिन एवं अमलिन रजतके बिन्दुके सदृश अतिस्वरूप मालूम पड़ रहे थे, शुक्ल-कृष्णपक्ष सुन्दर निर्मल हीरे एवं इन्द्रनीलमणिके बनाये गये धवल एवं काले आदर्श-मण्डलके सदृश प्रतीत हो रहे थे ॥ ८० ॥

रत्नानि भास्करनिशाकरमण्डलानि
तारोत्करास्तरलमण्डलकान्तिहाराः ।
स्वच्छाम्बराणि वलितानि महाम्बराणि
कुर्वन्त्यनारतमनल्पमलाततलेखाः ॥ ८१ ॥

कल्पान्तकालविलुठत्रिजगन्मणीनि
व्यावर्तनैर्झगिति जातझणज्झणानि ।
तेजांसि झङ्कततयोर्ध्वमधश्च यान्ति
नानाविधानि गुणवन्ति विभूषणानि ॥ ८२ ॥

सङ्ग्राममत्तभटखड्गमरीचिवीचि-
श्यामायमानसकलातपवासराणाम् ।
व्यावृत्तिभिर्विलुठतामपि सुस्थिराणा-
माकर्ण्यते कलकलो जनमण्डलानाम् ॥ ८३ ॥

हे राघव, उसकी देहमें सूर्य, चन्द्र आदिके मण्डल तो रत्न बन गये थे, नक्षत्रसमूह तरल वर्तुलाकार शोभासे युक्त गलेके हारके सदृश बन गये थे, अत्यन्त स्वच्छ गगनमण्डल पहिने हुए महान् वस्त्र बन गये थे। इनमें भ्रमण कर रही विद्युत् अलातचक्र-सी प्रतीत हो रही थी और निरन्तर महान् प्रकाश कर रही थी ॥ ८१ ॥

भगवतीके नृत्यमें कल्पान्तकालमें लुढ़क रहे तीनों जगत् ऊपर-नीचे परिवर्तनोंके कारण तत्काल ही झनझन ध्वनि करनेवाली मणियोंके रूपमें बन गये। झंकारसे ऊपर-नीचे गमन कर रहे सूर्य आदि तेज अनेक तरहके गुणयुक्त (सूत्रयुक्त) नूपुर, वलय आदि भूषणके रूपमें बन गये ॥ ८२ ॥

भद्र, अब एक दूसरा आश्चर्य सुनिये—देवीके ताण्डवनृत्यकालमें वीरजनोंका बड़ा-बड़ा कोलाहल सुनाई दे रहा था, ये वीरजन सङ्ग्राममें मत्त प्रतिभटोंके लिए निकाले गए खड्गोंकी मरीचियोंकी प्रभासे ग्रीष्मकालके दिनोंको भी मलिन कर रहे थे। देवीके नृत्यके समय ऊपर-नीचे होनेवाले संचालनोंसे वे योद्धा लुढ़क रहे थे, फिर भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी स्थिरताके कारण वे स्थिर थे ॥ ८३ ॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुहरवह्निरवीन्दुपूर्वा
देवासुराः परिविवृत्तिभिरातपन्तः ।
अन्येऽन्य एव विविधा उपयान्ति यान्ति
वातावधूतमशकाशनिविभ्रमेण ॥८४॥

संसारसर्गसुखदुःखभवाभवेहा-
नीहानिषेधविधिजन्ममृतिभ्रमाद्याः ।
सार्द्धं पृथक् च विलसन्ति सदैव सर्गे
व्यामिश्रतामुपगता अपि तत्र भावाः ॥ ८५ ॥

भावोद्भवस्थितिविपत्करणभ्रमाणां
संहारसर्गभुवनावनिविभ्रमाणाम् ।
मिथ्यैव खे प्रकचतां खशरीरकाणां
संलक्ष्यतेऽत्र न मनागपि नामसंख्या ॥ ८६ ॥

उत्पातशान्तिमरणोत्सवयुद्धसाम्य-
विद्वेषरागभयविश्वसनादि तत्र ।

किञ्च, यह दूसरा आश्चर्य सुनिये—भूत, भविष्यत् अनन्त कोटि सृष्टि, प्रलय आदिसे युक्त इस भगवती कालरात्रिका जब ताण्डव होता था, तब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता एवं असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्तिसे दूसरे-दूसरे बनकर वायुसे चालित मच्छरोंके सदृश या बिजलीके सदृश प्रसिद्ध अस्थिरताविलाससे आते और जाते दीख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

भद्र, भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखाई देता था, उसमें सृष्टि, प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव, इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण आदि परस्पर विरुद्ध भी सब पदार्थ कभी सदा एक साथ एवं कभी अलग-अलग रूपसे विलसित होते मालूम पड़ रहे थे ॥ ८५ ॥

किञ्च, भगवतीके शरीररूप चिदाकाशमें मिथ्यारूप ही चमक रहे अतएव चिदाकाशरूप (शून्यरूप) सृष्टि, प्रलय, चतुर्दश भुवन, पृथ्वी आदि पदार्थोंकी अधिष्ठानवश हुई उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, अर्थक्रिया, परिभ्रम—इन सबकी संख्या कितनी थी, यह तनिक भी मालूम नहीं हो सकती थी ॥ ८६ ॥

भद्र, भगवतीकी देहमें उत्पात, शान्ति आदि परस्पर विरुद्ध द्वन्द्व-समूह

एकत्र कोश इव रत्नचयो विभाति
नानारसाप्रतिघसर्गपरम्परं तत् ॥ ८७ ॥
तस्याश्चिदम्बरमये वपुषि स्वभाव-
भूतास्फुटानुभवभावजगद्व्यवस्थाः ।
सर्वक्षया मलिनदृक्कलिताम्बरस्थ-
केशोण्ड्रकस्फुरणवत्परितः स्फुरन्ति ॥ ८८ ॥
जगत्संक्षुब्धमक्षुब्धं दृश्यते स्थितिसंस्थिति ।
सञ्चाल्यमानहृकुरप्रतिबिम्ब इवास्थितम् ॥ ८९ ॥
नृत्यस्फुरत्प्रतापान्तर्जगदर्थाः प्रतिक्षणम् ।
स्थितिं त्यजन्ति गृह्णन्ति बालसङ्कल्पसर्गवत् ॥ ९० ॥
क्रियाशक्तिः शरीरेऽन्तः पूर्यमाणा अनारतम् ।
राशीभूय विशीर्यन्ते जगन्मुद्गकणोत्कराः ॥ ९१ ॥

एकत्र ऐसे प्रतीत होता था, जैसे एक कोशमें एकत्र रत्नोंका समूह । क्योंकि भगवतीके शरीरमें नाना रसोंसे पूर्ण अन्योन्य अनुचित अनेक सर्गपरम्पराएँ विद्यमान थीं ॥ ८७ ॥

श्रीरामजी, परमार्थ-दशामें चिदाकाशमय उसकी देहमें स्वभावभूत यानी अशास्त्रीय ज्ञानसे सिद्ध मायारूप आवरणात्मक अस्फुट अनुभवसे उत्पन्न जगत्-स्थितियाँ एवं जगत्प्रलय चारों ओर ऐसे कल्पित होते थे, जैसे तिमिर रोगसे मलिन हुई दृष्टिसे आकाशमें केशोण्ड्रकोंके स्फुरण प्रतीत होते हैं ॥ ८८ ॥

भद्र, अविचल अधिष्ठानरूप स्थितिमें विद्यमान जगत् वस्तुतः अक्षुब्ध ही है, फिर भी मायाक्षोभदृष्टिसे क्षुब्ध-सा दीख पड़ता है, क्योंकि बिम्बरूपसे अचल पर्वत चलित होनेवाले दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर जैसे चलित होता है, ठीक ऐसा ही यह जगत् स्थित है ॥ ८९ ॥

जैसे बालकके सङ्कल्पका सर्ग प्रतिक्षण पूर्वस्थितिका त्याग कर अन्यस्थिति ग्रहण करता है, वैसे ही नृत्यसे चमक रहे विशिष्ट प्रतापसे युक्त मायाके अन्दर प्रविष्ट हुए सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणाम द्वारा पूर्वस्थितिका त्याग और अन्य-स्थितिका ग्रहण करते रहते थे ॥ ९० ॥

सब पदार्थोंका उत्पादन करनेके लिए ही कारकोंकी क्रिया-शक्ति उपयोगमें

क्षणमालक्ष्यते किञ्चिन्न किञ्चिदपि सा क्षणम् ।
क्षणमङ्गुष्ठमात्रैव क्षणमाकाशपूरिणी ॥ ९२ ॥

यस्मात्सा सकला देवी संविच्छक्तिर्जगन्मयी ।
अनन्ता परमाकाशकोशशुद्धशरीरिणी ॥ ९३ ॥

कालत्रयस्थितजगत्त्रितयान्तरी हि
चित्सा तथा कचति तेन यथास्थितेन ।
रूपेण चित्रकृदुदारमनःस्थचित्र-
संसारजालसदृशेन कचज्जवेन ॥ ९४ ॥

आती है, आगेके भावविकार तो स्वयं ही काल आनेपर उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे मूँग इकट्ठे करने हों, तो कारकक्रियाशक्तिकी आवश्यकता होती है, परन्तु विशीर्ण होकर फैलनेमें तो उनकी स्निग्धता ही कारण है, न कि अन्यकारक-क्रियाशक्ति, ठीक ऐसे ही यहां समझना चाहिए, यह कहते हैं—'**क्रियाशक्तिः**' इत्यादिसे ।

भगवतीकी देहमें क्रियाशक्ति है, अतएव उसके द्वारा उसमें निरन्तर भरे जा रहे जगत्-रूपी मूँगके दाने ढेरके रूपमें पहले होकर फिर विशीर्ण हो जाते हैं यानी चारों ओर फैल जाते हैं ॥ ९१ ॥

माया भगवती परिणामि-स्वभाव जड़ जगत्रूप होनेके कारण ही प्रतिक्षण अन्य-अन्य रूपकी प्रतीत होती है, यह कहते हैं—'**क्षण०**' इत्यादिसे ।

भगवती माया एक क्षणमें तो कुछ मालूम पड़ती है और दूसरे क्षणमें वैसी नहीं भी मालूम पड़ती है, एक क्षणमें एक अँगूठेके बराबर प्रतीत होती है, तो दूसरे क्षणमें आकाशको भी भर देनेवाली मालूम पड़ती है ॥ ९२ ॥

चूँकि सर्वविध कलाओंसे परिपूर्ण जगदात्मक यह देवी संवित्-शक्तिरूपा है, इसलिए अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश विशुद्ध स्वरूपवाली ही है ॥९३॥

वह देवी कालरात्रि तीनों कालमें स्थित तत्-तत् विचित्र परिणामधारी समस्त त्रिजगत्की भीतरी चित्-शक्ति है, इस कारणसे वह चितेरेके उदार मनमें स्थित चित्रसंसारसमूहके सदृश यथास्थित उस विचित्ररूपसे वैसी प्रकाशित होती है। इस प्रकारके प्रकाशनमें उस चिति-शक्तिका परिवर्तनशील तत्-तत् काम-कर्मवासनाके परिपाकके अनुसार वेग भी रहता है ॥ ९४ ॥

सर्वात्मकैकवपुरेकचिदात्मकत्वात्
संशान्तखैकवपुरेकचिदात्मतत्त्वात् ।
एवं निमेषणसमुन्मिषितैकरूपं
सा बिभ्रती वपुरनन्तमनादि भाति ॥ ९५ ॥
तस्यां विभाति तदनन्तशिलात्मकोशे
लेखाब्जचक्ररचनादिवदेव दृश्यम् ।
व्योमात्मकं गगनमात्रशरीरवत्यां
चित्त्वाद्द्रवज्जलधिकोश इवोर्मिलेखा ॥ ९६ ॥
महती भैरवी देवी नृत्यन्त्यापूरिताम्बरा ।
तस्य कल्पान्तरुद्रस्य सा पुरो भैरवाकृतेः ॥ ९७ ॥

तब क्या वह देवी प्रपञ्चपूर्ण ही है, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—'सर्वात्म०' इत्यादिसे ।

अविद्यासे आवृत चिति-शक्तिके कारण वह देवी समस्त संसाररूप एक शरीरधारिणी होकर एक प्रकारसे चित्रभित्ति ही बन कर स्थित रहती है और विद्यासे अविद्याके हट जानेपर शुद्ध ज्ञानात्मक बन जानेके कारण वह शान्त आकाशरूप शरीरधारिणी होकर सर्वविध प्रपञ्चसे निर्मुक्त होकर स्थित हो जाती है । इस प्रकार बद्ध और मुक्त पुरुषकी दृष्टिसे गम्य एवं विद्या-अविद्यासे क्रमशः व्यञ्जित हो रहे स्वरूपसे उपलक्षित तथा परमार्थरूपसे अनादि-अनन्त चिदेक-रूपको धारण कर रही वह देवी ही प्रकाशती रहती है ॥ ९५ ॥

विवर्त एवं परिणामकी दृष्टिसे तथा जीवन्मुक्त एवं युक्तिवादी आत्माओंकी दृष्टिसे उस मायामें जो जगत्का ज्ञान हो सकता है, इसमें दो दृष्टान्त कहते हैं—'तस्याम्' इत्यादिसे ।

भद्र, उस देवीके शरीरमें विद्यमान उस अनन्त स्फटिक शिलारूप कोशमें यह दृश्य एक रेखामें रचित कमलचक्रादि-सा ही प्रतीत होता है और आकाश-मात्र शरीरधारिणी उसमें चिद्रूपके कारण यह दृश्य आकाशात्मक होकर ऐसे भासता है, जैसे द्रवस्वरूप समुद्रकोशमें ऊर्मिरेखा प्रतीत हो रही हो ॥ ९६ ॥

यों उस कालरात्रि और उसके नृत्यका सात्त्विक स्वरूप बतलाकर अब उसके नृत्यका उत्प्रेक्षा आदिसे वर्णन करते हैं—'महती' इत्यादिसे ।

शिरोमन्दाश्रितोग्राग्निदग्धस्थाणुवनावनिः ।
कल्पान्तवातव्याधूता वनमालेव नृत्यति ॥ ९८ ॥
कुद्दालोलूखलवृसीफलकुम्भकरण्डकैः ।
मुसलोदञ्चनस्थालीस्तम्भैः स्रग्दामधारिणी ॥ ९९ ॥
एवंविधानां स्रग्दामजालानां कुसुमोत्करम् ।
किरन्ती संसृजन्तीव नृतक्षुब्धं क्षयक्षतम् ॥१००॥
वन्द्यमानस्तया सोऽपि तथैवाकाशभैरवः ।
तथैव वितताकारस्तदोच्चैः परिनृत्यति ॥१०१॥

डिम्बंडिम्बं सुडिम्बं पचपच सहसा झम्यझम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः ।

समस्त आकाशमण्डलको पूर्ण कर देनेवाली वह महान् भैरवी कालरात्रि देवी भैरवाकृति उस कल्पान्तरुद्रके सम्मुख नृत्य कर रही थी ॥ ९७ ॥

भद्र, मैं क्या वर्णन करूँ, कल्पान्तकालके महारुद्रके ललाट-स्थानका दृढ़तापूर्वक आश्रयण कर रही जो उग्र तृतीय नेत्राग्नि है, उससे दग्ध हुए अतएव स्थाणुके रूपमें बचे हुए अरण्योंसे युक्त भूमिवाली; कल्पान्त वायुओंसे कम्पित वनमालाके सदृश वह महादेवी नृत्य कर रही थी ॥ ९८ ॥

उस देवीके गलेमें पूर्ववर्णित ही केवल मालाबन्धन नहीं था, परन्तु कुदार, मूसल, ओखरी आदि भी था, यह कहते हैं—'कुद्दालो०' इत्यादिसे ।

कुदार, ओखरी, आसन, हलकी फाल, घट, करण्डक (डला), मूसल, सूप, बटली, स्तम्भ आदिकी माला धारण कर वह देवी नृत्य कर रही थी ॥९९॥

हे श्रीरामजी, इस तरहके नानाविध पुष्पमालासमूहोंके फूलोंको, जो नृत्यमें क्षुब्ध तथा भङ्गसे क्षत हो जाते थे, बखेरती हुई तथा नूतन बनाती हुई सी नाच कर रही थी ॥ १०० ॥

इस प्रकार भयङ्कर रूप धारण करनेवाली उस कालरात्रिके द्वारा वन्दित हो रहे उसी प्रकारका आकाशके सदृश विशाल भयङ्कर रूप धारण किये हुए अनन्ताकृति रुद्र भी देवीके सदृश महानृत्य कर रहे थे ॥ १०१ ॥

रक्त एवं आसवोंसे पूर्ण यमराजके महिषका महान् सींग हाथमें लेकर डिंब, डिंब, सुडिंब, पचपच, झम्य, झम्य, प्रझम्य आदि तालबोधक शब्दवाद्योंके द्वारा

पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाश्रृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या ॥१०२

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणो० कालरात्रिवर्णनं नामैकाशीतितमः सर्गः ॥८१॥

द्व्यशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

किमेतद्भगवन्सर्वनाशे नृत्यति केन सा।
किं शूर्पफलकुम्भाद्यैस्तस्याः स्रग्दामधारणम् ॥ १ ॥

भगवती एकदम नाच रही थी, उसने अपने गलेमें मुण्डोंकी माला पहिनी थी, सिरमें गरुड़के पंख धारण किये थे, प्रलयमें सारे जगत्‌को खाकर बड़ी ही प्रसन्न हुई थी, और कल्पान्तरुद्र भगवान् भैरवको नमन भी कर रही थी। इस तरह नृत्यपरायण एवं प्रसन्न भगवती कालरात्रिके द्वारा वन्द्यमान भगवान् भैरव आपका कल्याण करें। [अथवा इस श्लोकका दूसरा यों भी अर्थ हो सकता है—देवी कालरात्रि भगवान् भैरवकी स्तुति कर रही थी—हे भैरव, आप सब लोगोंके अनर्थकात्मक भोग एवं स्थूल शरीरादि प्रपञ्चको सबसे पहले खा डालिए, फिर सूक्ष्म शरीर आदि प्रपञ्चको खा डालिए, फिर मूलभूत मायोपाधि एवं कारण शरीरको भी अन्तिम साक्षात्कारमें आकर खा डालिए। इसके बाद पञ्चम आदि योगकी भूमिकाओंमें लगाकर शीघ्र ही सप्तम भूमिका तकके योगको भली-भाँति पचाकर विदेह कैवल्यके द्वारा जला डालिए। यों उस तरह नाच कर रही भगवतीके साथ-साथ आपके द्वारा स्तुति किये जा रहे भगवान् भैरव आपकी रक्षा करें] ॥ १०२ ॥

इक्यासी सर्ग समाप्त

बयासी सर्ग

[अज्ञान रहनेपर कलासहित तथा भलीभाँति ज्ञात हो जानेपर कलारहित चिद्रूप परमात्माके तत्त्वका शोधनकर वर्णन]

पूर्व सर्गमें बड़े विस्तारके साथ समस्त प्रपञ्चका वर्णन किया गया है तथा

किं नष्टं त्रिजगद्भूयः किं काल्या देहसंस्थितम् ।
परिनृत्यति निर्वाणं कथं पुनरुपागतम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

नासौ पुमान्न चासौ स्त्री न तन्नृत्तं न तावुभौ ।
तथाभूते तथाचारे आकृती न च ते तयोः ॥ ३ ॥

प्रलीन हुए उस प्रपञ्चकी नृत्य कर रही कालरात्रिके भूषण आदि भावसे अङ्गमें उत्पत्ति एवं नृत्त भ्रमण आदिका भी वर्णन किया गया है। इस विषयमें नष्टकी पुनः उत्पत्तिकी संभावना न मानते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'किमेतत्' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे भगवन्, जब प्रलयमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी किस अङ्गसे नाच कर रही थी? तथा सूप, ओखली एवं कुम्भ आदिके द्वारा, जो उस समय नष्ट हो चुके थे, उसके माला धारणका जो आपने वर्णन किया है वह क्या है? मेरे पूछनेका तात्पर्य यह है कि नष्ट हुए सूप आदिकी मालाको जो उसने धारण किया था, उसकी मैं कैसे संभावना करूँ ॥१॥

तीनों जगत्का नष्ट क्या हुआ, फिर कालीकी देहमें स्थित क्या रहा और निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् पुनः आकर नाचने कैसे लगा? अर्थात् जब जगत् नष्ट हो गया, तो फिर वह स्थित कैसे रहा और जब वह निर्वाणको प्राप्त हो गया तब पुनः आकर वह नाचने कैसे लगा, यह सब कहना विरुद्ध प्रतीत हो रहा है ॥ २ ॥

यदि परमार्थदृष्टिसे मेरे कथनमें व्याघात समझते हैं, तो ठीक है, आप वैसा ही समझिये, क्योंकि परमार्थतः चिन्मात्रैकरस परिपूर्णानन्द सन्मात्रसे अतिरिक्त स्त्री, पुरुष आदिरूप जगत् तथा रुद्र और देवी आदिका विभाग—यह सब अत्यन्त असंभावित ही है अर्थात् इनके भेदकी बिलकुल संभावना ही नहीं है। परन्तु भ्रान्तदृष्टिसे तो तनिक भी उसमें व्याघात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मसत्तासे सर्वदा सत्रूप जो वस्तुएँ हैं उनके नाश और अविनाशके विशेषरूपका निरूपण नहीं हो सकता, नष्ट हुई वस्तुओंकी भी स्वप्नमें प्राप्ति दीखती है, मर गये या बहुत दिन पहले जो भस्मीभूत हो चुके हैं उनका भी मुनि, सिद्ध एवं ईश्वर आदिके वरप्रभावसे पुनरागमन प्रसिद्ध ही है। इसलिए जबतक अज्ञान है तबतक

अनादिचिन्मात्रनभो यत्तत्कारणकारणम् ।
अनन्तं शान्तमाभासमात्रमव्ययमाततम् ॥ ४ ॥
शिवं तत्सच्छिवं साक्षाल्लक्ष्यते भैरवाकृति ।
तथास्थितो जगच्छान्तौ परमाकाश एव सः ॥ ५ ॥
चेतनत्वात्तथाभूतस्वभावविभवादृते ।
स्थातुं न युज्यते तस्य यथा हेम्ना निराकृति ॥ ६ ॥

जगत्के आकारका चित्तमें सबकी दृष्टिमें संस्काररूपसे सद्भाव रहनेसे अत्यन्त भ्रान्तिग्रस्त पुरुषोंके द्वारा केवल जगत्के रूपसे, सर्वजगत्से युक्त एक मूर्ति मानकर, रुद्र, देवी आदिके उपासकोंके द्वारा उक्त रूपसे योगसिद्धिके प्रभावसे उक्त रूपका दर्शन हो सकता है, इस आशयको लेकर कहते हैं—'नासौ' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वह रुद्र परमात्मा न तो पुरुष है, न स्त्री है, न उसने नृत्य ही किया है। सच कहना तो यह है कि भगवती काली और भगवान् रुद्र—ये दोनों ही, जैसा कि मैंने आपसे उनका वर्णन किया है वैसे नहीं थे, वस्तुतः उस आचारके भी वे नहीं थे और न उनकी वह आकृति ही कुछ थी ॥ ३ ॥

किन्तु जो कारणोंका कारण है वही अनादि चिन्मात्र, आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशस्वरूप, अविनाशी ही सर्वत्र व्याप्त था ॥ ४ ॥

निरतिशयानन्दैकरस वह ब्रह्म ही नीलकण्ठ, त्रिनेत्र आदि रूप धरकर प्रलयकालमें भैरवाकार उपासकों द्वारा दिखाई देता है, क्योंकि उन उपासकोंकी वासनानुसार वह परमाकाश ही जगत्की शान्तिके समय भगवान् भैरवकी उस आकृतिसे युक्त स्थित रहता है ॥ ५ ॥

किंच, चेतन ब्रह्ममें ही जगत्का उपसंहार श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है। लोकमें निराकार चेतन कहीं नहीं दीखता, इसलिए जगत्का संहार करनेवाले परमेश्वरमें 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं शान्तम्' इत्यादि श्रुतिप्रसिद्ध रूपकी संभावना अवश्य करनी चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—'चेतनत्वात्' इत्यादिसे ।

चेतन होनेके कारण वह परमेश्वर अपने चेतनस्वरूप वैभवको छोड़कर ऐसे स्थित नहीं रह सकता, जैसे कटक, केयूर आदिरूप अपनी आकृति छोड़कर सुवर्ण ॥ ६ ॥

कथमास्तां वद प्राज्ञ चिन्मात्रं चेतनं विना ।
कथमास्तां वद प्राज्ञ मरिचं तिक्ततां विना ॥ ७ ॥
कटकादि विना हेम कथमास्तां विलोच्यताम् ।
कथं स्वभावेन विना पदार्थस्य भवेत् स्थितिः ॥ ८ ॥
विना तिष्ठति माधुर्यं कथयेक्षुरसः कथम् ।
निर्माधुर्यश्च यस्त्विक्षुरसो नहि स तद्रसः ॥ ९ ॥
अचेतनं यच्चिन्मात्रं न तच्चिन्मात्रमुच्यते ।
न च चिन्मात्रनभसो नष्टं क्वचन युज्यते ॥ १० ॥

जैसे कटक, केयूर आदिके आकारमें परिणत हुए बिना सुवर्ण नहीं रह सकता यानी किसी-न-किसी अलङ्कारके रूपमें सुवर्णका परिणत हो जाना जैसे अनिवार्य है वैसे ही चितिमें भी चेत्याकारका अनिवार्य अवलम्बन लोकमें प्रसिद्ध है । इसलिए निराकारपक्षकी ही बिलकुल असंभावना सिद्ध होती है, यह दृढ़तापूर्वक कहते हैं—'**कथमा०**' इत्यादिसे ।

हे प्राज्ञ, कहिये, चेतनके बिना—चेत्य विषयाकार धारण किये बिना चिन्मात्र भला कैसे रह सकता है ? हे प्राज्ञ, कहिये न, तिक्तताके बिना भला मरिच कैसे रह सकता है ? ॥ ७ ॥

सविषयतास्वभाव होनेसे भी अज्ञात चितिके आकारका किसी तरह परित्याग नहीं किया जा सकता, इस आशयसे कहते हैं—'**कथम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, विचारिये तो सही, भला कटक आदि अलङ्कारस्वरूपताको प्राप्त किये बिना सुवर्णकी स्थिति कैसे रह सकती है, क्योंकि स्वभावके बिना यानी अपने स्वभावको छोड़कर किसी भी पदार्थकी स्थिति रह कैसे सकती है ? ॥ ८ ॥

कहिये न, माधुर्यके बिना इक्षुरक्ष कैसे रह सकता है, क्योंकि माधुर्यसे रहित जो इक्षुका रस है, वस्तुतः वह उसका रस ही नहीं है ॥ ९ ॥

अपिच, नष्ट हुए भी पदार्थोंका स्मृतिमें भान होता है, इसलिए चितिदृष्टिसे किसी भी पदार्थका निरन्वयनाश कहीं प्रसिद्ध ही नहीं है, यह कहते हैं—'**अचेतनम्**' इत्यादिसे ।

चेतनशून्य जो चिन्मात्र है, वस्तुतः उसे चिन्मात्र नहीं कहते और यह भी युक्त नहीं है कि चिन्मात्र आकाशका कहीं कुछ नष्ट हो जाय ॥ १० ॥

स्वसत्तामात्रकादन्यत्किञ्चित्तस्य न युज्यते।
अन्यत्वमुररीकर्तुं व्योमानन्यमसौ किल ॥ ११ ॥
तस्मात्तस्य यदक्षुब्धं सत्तामात्रं स्वभासनम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्वशक्तिमयात्मकम् ॥ १२ ॥

किञ्च, ब्रह्मसे अभिन्न जो यह जगत् है, इसके एकमात्र ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपकी प्रसिद्धि न होनेसे किसी पदार्थके नाशकी ही सिद्धि नहीं है, यह कहते हैं—**'स्वसत्ता०'** इत्यादिसे।

उस ब्रह्मको स्वसत्तामात्रसे अन्य कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं है। [यदि यह आशङ्का हो कि 'निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इत्यादि ब्रह्मसत्तासे अतिरिक्त रूपका कथन श्रुतियोंमें पाया जाता है और पामर लोग ऐसा अनुभव भी करते हैं, तो इस आशङ्कापर कहते हैं—'अन्यत्वम्' से।] हां, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि वह ब्रह्मात्मा जगदाकारसे* अन्यरूप स्वीकार करनेके लिए पहले आकाशसे† अभिन्न अपनी आत्माको बना लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि वह ब्रह्म अपनेसे अभिन्न आकाशको बना लेता है, तो फिर उससे भिन्न दूसरा कोई रूप उसके द्वारा स्वीकृत कैसे हो सकेगा ? अथवा सद्रूप अनन्यत्वका सम्पादन न होनेपर उसके द्वारा आकाशकी रचना ही कैसे हो सकेगी, क्योंकि सदात्मताका लाभ ही तो आकाशादिकी उत्पत्ति कही जाती है, इसलिए 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित मूर्तामूर्तस्वरूप सद्रूपसे अन्य है, इसकी सिद्धि किसी तरह भी नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

'तब कहिये, जगत्का स्वरूप क्या है ?' यदि यह कोई प्रश्न करे, तो उसके इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'ब्रह्मसत्ता ही जगत्का रूप है'। वह ब्रह्मसत्ता तत्त्वके अवबोधक प्रमाणके बिना लौकिकदृष्टिसे जगत्प्रलय आदिके आकारसे ऐसे भासती है, जैसे सर्पाकारसे रज्जु भासती है। परन्तु तत्त्वावबोधक प्रमाणके द्वारा तो वह यथार्थरूपसे भासती है, यह निष्कर्ष है, यों उपसंहार करते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे।

* 'बहुस्यां प्रजायेय' यह श्रुति देखिये।
† 'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः' यह श्रुति देखिये।

तदेतत्रिजगत्सर्गकल्पान्तौ व्योम भूर्दिशः ।
नाश उत्पादनं नाम विना माभासनं नभः ॥ १३ ॥
जननं मरणं मायामोहमान्द्यमवस्तुता ।
वस्तुता च विवेकश्च बन्धो मोक्षः शुभाशुभे ॥ १४ ॥
विद्याविद्याविदेहत्वं सदेहत्वं क्षणश्चिरम् ।
चञ्चलत्वं स्थिरत्वं वा त्वं चाहं चेतरश्च तत् ॥ १५ ॥
सदसच्चाथ सदसन्मौर्ख्यं पाण्डित्यमेव च ।
देशकालक्रियाद्रव्यकलनाकेलिकल्पनम् ॥ १६ ॥
रूपालोकमनस्कारकर्मबुद्धीन्द्रियात्मकम् ।
तेजोवार्यनिलाकाशपृथ्व्यादिकमिदं ततम् ॥ १७ ॥
एतत्सर्वमसौ शुद्धचिदाकाशो निरामयः ।
अजहद्व्योमतामेव सर्वात्मैवैवमास्थितः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वं च विमलं खमेवात्र न संशयः ।
अस्मादनन्यत्स्वप्नादिर्दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ॥ १९ ॥

इसलिए आदि, मध्य और अन्तशून्य, अक्षुब्ध, सर्वशक्तिमयात्मक ब्रह्मकी स्वसत्तामात्र जो अपनी स्थिति है वही इस जगत्-त्रयका सर्ग और प्रलय है। वही आकाश है, वही पृथिवी है और वही सब दिशाओंके रूपमें स्थित है। तत्त्वावेदक प्रमाणके बिना ही नाश और उत्पत्ति—ये दोनों अविद्यादूषित दृष्टिसे भासते हैं। भाव यह है कि तिमिररोगयुक्त दृष्टिसे चन्द्रकी व्योमादिरूपताके भासनके समान ही वस्तुतः ये दोनों शुद्धसत्तातिरिक्त अर्थशून्य ही हैं ॥१२,१३॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जन्म, मरण, माया, मोह, जड़ता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षण, चिरकाल, चञ्चलता, स्थिरता, तुम, मैं, इतर, वह, सत्, असत्, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, बाह्य और आभ्यन्तर विषय, कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय तथा जो यह सर्वत्र व्याप्त तेज, जल, अनिल, आकाश और पृथिवी आदि है, वह सब शुद्ध निरामय चिदाकाश ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करते हुए सर्वस्वरूप होकर ही स्थित है ॥ १४–१८ ॥

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह सब कुछ निर्मल चिदाकाश ही

चिन्मयः परमाकाशो य एव कथितो मया ।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥ २० ॥
स एष हरिरित्यास्ते भवत्येष पितामहः ।
चन्द्रोऽर्क इन्द्रो वरुणो यमो वैश्रवणोऽनलः ॥ २१ ॥
अनिलो जलदोऽम्भोधिर्द्यौ यद्वस्त्वस्ति नास्ति च ।
इत्येते चिन्मयाकाशकोशलेशाः स्फुरन्त्यलम् ॥ २२ ॥

स्थित है, इससे भिन्न कुछ नहीं है। इस विषयमें स्वप्नादि ही अविखण्डित दृष्टान्त है ॥ १९ ॥

सत्-चित्स्वरूप जिस एक परमाकाश परमात्माका मैंने अभी आपसे वर्णन किया है वह 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः सर्वमन्यत् परित्यज्य' इत्यादि श्रुतियोंमें 'शिव' नामसे कहा गया है। यही सनातन शिव होता है, जिसका मैंने रुद्रमूर्तिके नामसे उपन्यास किया है ॥ २० ॥

वही परमात्मा विष्णु आदिके आकारसे उपासना करनेवालोंके लिए 'हरि' वेषसे स्थित हो जाता है। एवं औरोंके लिए यही पितामह भी होता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अधिक हम आपसे क्या कहें, यही परमात्मा चन्द्र, सूर्य आदिके स्वरूपकी वासनासे वासित बुद्धिवालोंके लिए चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर तथा अग्निरूप धारण कर स्थित होता है* ॥ २१ ॥

यही परमात्मा वायु, मेघ और सागर है तथा अतीतादि काल भी यही है। तीनों कालमें जिस वस्तुकी सत्ता विद्यमान है और नहीं है वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है। हे श्रीरामचन्द्रजी, 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्दुः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥ स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥ इस तरह श्रुतिमें प्रतिपादित जो ये विष्णु तथा पितामह आदि भाव अच्छी तरह स्फुरित हो रहे हैं वे सबके सब उस चिन्मय ब्रह्माकाशकोशके गुणादि-उपाधि-प्रयुक्त अंशस्वरूप हैं ॥ २२ ॥

---

* देखिये यह श्रुति—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'।

एवंविधाभिः सञ्ज्ञाभिर्मुधा भावनयेदृशाः ।
स्वभावमात्रबोधेन भवन्त्येते तु तादृशाः ॥ २३ ॥
अबोधो बोध इत्येवं चिद्व्योमैवाऽऽत्मनि स्थितम् ।
तस्माद्भेदो द्वैतमैक्यं नास्त्येवेति प्रशाम्यताम् ॥ २४ ॥

तावत्तरङ्गत्वमयं करोति
जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं
निरामयं तन्मयतामुपेतः ॥ २५ ॥

ज्ञाते तु शान्तिं स तथोपयाति
यथा न सोऽब्धिर्न तरङ्गकोऽसौ ।
यथास्थितं सर्वमिदं च शान्तं
भवत्यनन्तं परमेव तस्य ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवस्वरूपवर्णनं नाम द्व्यशीतितमः सर्गः ॥८२॥

अन्यथा ग्रहण करनेवाली अविद्या द्वारा इस तरहकी संज्ञाओंसे ब्रह्मा, विष्णु आदि ऐसे हो जाते हैं। लेकिन परमात्मस्वभावमात्रका बोध होनेपर तो वे सब चिन्मात्रस्वभाव ही हो जाते हैं ॥ २३ ॥

चिदाकाशरूप ब्रह्म ही अज्ञदृष्टिसे अबोधस्वरूप होकर जीव और जगत्‌के रूपसे स्थित है तथा तत्त्वदृष्टिसे वही बोधस्वरूप होकर अपने स्वरूपमें स्थित है। इसलिए भेद तथा द्वैत और ऐक्य कुछ भी है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके हे श्रीरामचन्द्रजी, आप शान्त हो जाइये ॥ २४ ॥

यह जीव जबतक परब्रह्मात्मक अपने स्वभावको नहीं जानता तबतक यह अज्ञानस्वात्मस्वरूप संसाररूपी महासागरमें जन्म-मरण-भ्रमणादिरूप नाना तरङ्गोंकी कल्पना करता है। परन्तु जब यह अपने स्वरूपको जान लेता है तब तन्मयताको प्राप्त होकर निरामय उसी स्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ २५ ॥

यही कहते हैं—अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर तो वह जीव वैसे शान्तिको प्राप्त हो जाता है जिससे कि न तो वह समुद्र रहता है और न उसमें

त्र्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रपरमाकाश एष यः कथितो मया।
एषोऽसौ शिव इत्युक्तस्तदा रुद्रः प्रनृत्यति ॥ १ ॥
याऽसौ तस्याऽऽकृतिर्नासावाकृतिः कृतिनांवर ।
तच्चिन्मात्रघनं व्योम तथा कचति तादृशम् ॥ २ ॥
मया दृष्टा तदाकाशमेव शान्तं तदाकृतिः ।
मयैव तत्परिज्ञातं नान्यः पश्यति तत्तथा ॥ ३ ॥

तरङ्ग ही । यथास्थित यह सम्पूर्ण जगत् उसके लिए परम शान्त अनन्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमूलशङ्करशास्त्रिविरचित-योगवासिष्ठभाषानुवादमें निर्वाणप्रकरणके उत्तरार्धका बयासी सर्ग समाप्त

तिरासी सर्ग

[चिन्मात्र ही भैरवाकार वह भगवान् शिव तथा भगवती काली हैं, चन्मात्रसे अन्य वे नहीं हैं । बोधके लिए कल्पना दृष्टिसे उस तरह भासित होते हैं, यह वर्णन]

हे श्रीरामचन्द्रजी, एकमात्र यही कारण है कि आपकी अविद्या-भ्रान्तिके निरास द्वारा तात्त्विक शिवस्वभाव दृष्टिके उद्घाटनके लिए मैंने जगत्-प्रलयके समय रुद्र-नृत्य आदिका, जो स्वानुभूत हैं, वर्णन किया है, वही परमार्थ है, ऐसा आपको भ्रम नहीं कर लेना चाहिए, यह कहते हैं—'चिन्मात्र०' इत्यादिसे ।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, यह जो मैंने आपसे वर्णन किया है वह चिन्मात्र परमाकाश ही है, यही शिवरूपसे कहा गया है । यही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है ॥ १ ॥

हे पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, उसकी जो यह भयानक आकृति है वह वस्तुतः उसकी आकृति नहीं है, किन्तु उस तरहका वह चिद्घन चिदाकाश ही उस रीतिसे स्फुरित होता है ॥ २ ॥

तत्त्वदृष्टिसे मैंने उस भयानक आकृतिको उस समय शान्त चिदाकाशमात्र देखा । वस्तुतः अकेले मैंने ही उसे जाना, तत्त्वदृष्टिसे हीन कोई ही प्राणी उसे वैसा नहीं देखता ॥ ३ ॥

यथा नाम स कल्पान्तः स रुद्रः सा च भैरवी ।
मायामात्रं तथा सर्वं परिज्ञातमलं मया ॥ ४ ॥
चिद्व्योमैव परं शून्यं सन्निवेशेन तेन तत् ।
तथा संलक्ष्यते नाम भैरवाकारतां गतम् ॥ ५ ॥
वाच्यवाचकसम्बन्धं विना बोधो न जायते ।
यस्मात्तस्मात् त्वयि मया दृष्टमेव प्रवर्णितम् ॥ ६ ॥
यदेव वाच्युपारूढमेतद् राम सदैव ते ।
रूढाधिभौतिकदृशः क्षणान्मायात्मतां गतम् ॥ ७ ॥
न भैरवी सा नैवाऽसौ भैरवो नैव संक्षयः ।
समस्तमेव तद्भ्रान्तिमात्रं चिद्व्योम भासते ॥ ८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वह कल्पान्त, वह रुद्र और वह भैरवी—ये सबके सब जिस तरह मायामात्र हैं, यानी 'कल्पादि सबके सब जैसे मायामात्र हैं' यह सब मैंने अच्छी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेके कारण तत्त्वदृष्टिसे ही जान लिया ॥ ४ ॥

केवल वह निराकार चिदाकाश ही उस आकार विशेषसे भैरवाकारताको प्राप्त दिखाई देता है । सच पूछिये तो उस तरहका यथार्थमें कोई रूप आदि नहीं है, किन्तु उपासकोंकी वासनाके अनुसार भैरवाकारताको प्राप्त वह वैसा दीखता है ॥ ५ ॥

कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका वर्णन आपके सामने वाच्य-वाचककी यानी शब्द तथा अर्थकी सम्बन्ध-कल्पनाके बिना निर्विशेषका व्युत्पादन न हो सकनेसे ही मैंने उसकी कल्पना करके आपको समझानेके लिए किया है, यह कहते हैं— 'वाच्यवाचक०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि वाच्यवाचक सम्बन्धके बिना बोध नहीं होता, इसलिए कल्पनादृष्टिसे देखी गई वस्तुका ही मैंने आपसे वर्णन किया है ॥ ६ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिरकालके अभ्यासके कारण जगत्में आपकी आधिभौतिक दृष्टि प्रौढ़ बन गई है, इसलिए आपकी वाणीमें यह जो कुछ दृढ़ताको प्राप्त है वह सब क्षण भरमें मायात्मताको यानी सत्यत्वकी भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है । कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सब मायामात्र क्षणिक है, भ्रान्तिसे सत्यरूप प्रतीत हो रहा है ॥ ७ ॥

वस्तुतः न वह भैरवी है, न वह भैरव है और न वह प्रलयकाल ही

स्वप्ननिर्माणपुरवत् सङ्कल्परणवेगवत् ।
कथार्थसार्थरसवन्मनोराज्यविलासवत् ॥ ९ ॥
यथा स्वप्नपुरं स्वच्छे व्योम्नि मौक्तिकधीर्यथा ।
यथा केशोण्डूकं व्योम्नि तथाऽचिद् भाति चिद्घने ॥ १० ॥
चिन्मात्राकाशमेवाऽच्छं कचति स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तथा नाम यदाभाति तदात्मैव जगत्तया ॥ ११ ॥
यथा चिद्व्योम्नि कचति स एवाऽऽत्मा तथा पटे ।
तथा कचति तत् तत्र कल्पान्तानलनर्त्तने ॥ १२ ॥
शिवयोरेवमाकारो निराकारोऽङ्ग वर्णितः ।
अधुना शृणु ते वक्ष्ये नृत्यस्याऽनृत्ततास्थितिम् ॥ १३ ॥

है, किन्तु वह समस्त ही भ्रान्तिमात्र है, परमार्थरूपसे चिदाकाश ही प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

स्वप्नमें जिसका निर्माण हुआ है उस नगरकी तरह, मनोरथके युद्धके वेगके समान, सुन लेना या कह देना ही एकमात्र जिसका प्रयोजन है ऐसे कथार्थोंके रसकी तरह, मनोराज्यके विलासकी तरह यह सब भ्रम है, चिद्घनमें भासित हो रहा है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्न-नगर भासता है, जैसे स्वच्छ आकाशमें मौक्तिक बुद्धि होती है तथा जैसे आकाशमें केशोण्डूक भासता है वैसे ही अचित् चिद्घनमें भ्रान्तिसे भासित हो रहा है ॥ १० ॥

तब प्रबोध होनेपर कैसे भासता है, यह कहते हैं—'चिन्मात्रा०' इत्यादिसे।

प्रबोध होनेपर एकमात्र स्वच्छ चिदाकाश ही अपने स्वरूपमें अपनेसे भासता है। जब प्रबोध नहीं रहता, तब चिदात्मा ही जगत्-रूपसे वैसा भासता है, यह निश्चित है ॥ ११ ॥

जैसे चिदाकाशमें स्वयं ही आत्मा स्फुरित होता है वैसे ही पटमें स्फुरित होता है और उस कल्पान्तकी अग्नि तथा नृत्यमें भी वह उस रूपसे स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैंने भगवान् भैरव तथा भैरवीके आकारका,

चेतनं चेतनाधातोः किञ्चित्संस्पन्दनं विना ।
क्वचित्स्थातुं न शक्नोति वस्त्ववस्तुतया यथा ॥ १४ ॥
स्वभावाच्चेतनं तस्माद् रुद्रत्वेन तथा स्थितम् ।
हेमेव रूपकत्वेन संनिवेशविलासिना ॥ १५ ॥
यन्नाम चेतनं यत्र तदवश्यं स्वभावतः ।
स्पन्दधर्मि भवत्येव वस्तुता हि स्वभावजा ॥ १६ ॥
यः स्पन्दश्चिद्घनस्याऽस्य शिवस्याऽस्य स एव नः ।
स्ववासनावेशवशान्नृत्यमेव विराजते ॥ १७ ॥
अतः स कल्पान्तशिवो रुद्रो रौद्राकृतिर्द्रुतम् ।
यन्नृत्यति हि तद्विद्धि चिद्घनस्पन्दनं निजम् ॥ १८ ॥

जो तत्त्वतः निराकार हैं, वर्णन किया, अब मैं उनकी नृत्यस्थितिका आपसे वर्णन करने चल रहा हूँ, जो वस्तुतः अनृत्यस्वरूप है, आप सुनते रहिये ॥ १३ ॥

जैसे भ्रान्तिसे दिखाई दे रही शुक्ति आदि वस्तु अवस्तुभूत रजत आदि रूपके बिना किसी तरह टिक नहीं सकती, वैसे ही चिन्मात्र पर ब्रह्म परमात्माकी चेतनता भी बिना किसी स्पन्दनके स्थित नहीं रह सकती, क्योंकि भ्रान्तिके स्वभावका विपर्यासकत्व-नियम सर्वत्र समान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसी भ्रान्ति एक जगह होती है ठीक वैसी ही भ्रान्ति और जगह भी दीखती है, ऐसा नियम नहीं है कि दूसरी जगहकी भ्रान्तिका स्वरूप कोई दूसरा हो ॥ १४ ॥

इसीलिए जैसे सुवर्ण कटक, केयूर आदि आकारोंसे सुशोभित होनेवाले अलङ्काररूपसे स्थित होता है वैसे ही सद्रूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे रुद्ररूप धारण कर स्थित है ॥ १५ ॥

जो चेतन है, जिसमें चेतनत्व अवश्य स्वभावतः है, वह स्पन्दधर्मवाला होता ही है, क्योंकि अधिष्ठानता स्वाभाविक होती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १६ ॥

जो इस चिद्घनका स्पन्द है वही इस भगवान् शिवका स्पन्द है। वही हम लोगोंके सामने अपनी वासनावश नृत्यरूपसे विराजमान होता है ॥ १७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, प्रलयकालमें वह भगवान् शङ्कर भयङ्कर आकृतिवाले रुद्र होकर जो शीघ्र नृत्य करते हैं, उसे आप चिद्घनका निजी स्पन्दन ही समझिये ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

प्रामाणिकदृशा दृश्यमिदं नास्त्येव वस्तुतः ।
यदवास्तवि तत्सर्वं कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १९ ॥
तत्कल्पान्तमहाशून्ये एतस्मिन् परमाम्बरे ।
कथंचिन्नाम वा चेत्यं चेता चेतति चिद्घनः ॥ २० ॥

वसिष्ठ उवाच

एतदेव तदाप्यङ्ग द्वैतैक्याम्भोधिशान्तये ।
यदि चिन्मात्रनभसश्चेत्यमस्ति न किञ्चन ॥ २१ ॥
न किञ्चिच्चेतति ततः क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तं दृषन्मौनं विज्ञानघनमम्बरम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, प्रामाणिक दृष्टिसे वस्तुतः यह दृश्य है ही नहीं, इसलिए उस कल्पमें आपसे मेरा कुछ प्रश्न नहीं है, किन्तु अप्रामाणिक दृष्टि पक्षमें मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ एक तरहसे सत्तावान्-सा है वह सब कल्पान्तमें नष्ट हो जाता है, तो फिर कल्पान्तमें महाशून्य उस परमाकाशमें चेत्य रहित चिति कैसे रहती है? तथा आश्रयके अभावमें चेतयिता कैसे रहता है अथवा स्वातिरिक्त चितिक्रियाके अभावमें चिद्घन कैसे चेतता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि उस दशामें त्रिपुटीका रहना किसी तरह नहीं बन सकता। यदि आप यह कहें कि उस समय न रहते हुए भी दृश्यको अविद्या दिखला देती है, इसलिए उसीसे त्रिपुटीकी सिद्धि हो सकती है, तो इसपर मेरा सविनय यह निवेदन है कि सर्ग और प्रलयमें विशेषता ही क्या रही? क्योंकि अचेतित—चितिक्रिया-शून्य सर्वजगद्घटित रुद्र और देवीके शरीरमें उस नृत्यकी किसी तरह संभावना नहीं की जा सकती। भाव यह कि एक समयमें द्वैत और ऐक्यकी भावना कदापि नहीं हो सकती ॥ १९, २० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, ऐसी यदि आपकी शङ्का है, तो अपने द्वैत और ऐक्यके सन्देहरूपी सागरकी शान्तिके लिए यह उत्तर सुनिये—सबका प्रलय होनेपर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाशका यदि कुछ भी चेत्य नहीं है, तो फिर उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुके न रहनेसे ही किसी देश और किसी कालमें कोई भी कोई दूसरी वस्तु नहीं चेतता, क्योंकि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत्'—जहां सब इसका आत्मा ही हो गया, वहां कौन किससे किसको देखेगा।

यच्चेदं चेत्यते नाम तत्स्वभावोऽस्य वल्गति ।
चित्स्वभावस्य शान्तस्य स्वसत्तायामवस्थितेः ॥ २३ ॥
यथा स्वप्ने चिदेवाऽन्तः पुरपत्तनवद्भवेत् ।
पुरादि न तु तत् किञ्चिद्विज्ञानाकाशमेव तत् ॥ २४ ॥
आत्मनाऽऽत्मनि चिच्छून्यं ज्ञात्वा च ज्ञेयमप्यलम् ।
तथा च सर्गादारभ्य वेत्ति स्वं कचनं च तत् ॥ २५ ॥

यानी उस दशामें द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, चेतयिता, चेत्य, चितिक्रियाका संभव नहीं है ।

[ऐसी दशामें प्रामाणिक दृष्टिसे सिद्ध नित्यमुक्त आत्मस्वभाव ही प्रलय है—यह आपने सिद्ध कर दिया, अतः सब तरहसे आपका प्रथम कल्प ही सम्पन्न हुआ, ऐसा कहते हैं—'सर्वम्' इत्यादिसे । अतः सब शान्त पाषाणवत् मौन विज्ञानघन आकाश ही सर्वदा स्थित है । ऐसी दशामें, अप्रामाणिक दृष्टिसे द्वितीय विकल्पका आश्रयण करके आपका प्रश्न करना ठीक नहीं है, यह भाव है ।] ॥ २१, २२ ॥

यदि प्रथम कल्पकी विलक्षणताके लिए प्रलयमें अविद्या आदि किसी चेत्यको आप स्वीकार करते हैं, तो फिर उसीसे त्रिपुटी, जगद्घटित रुद्र और देवीका शरीर तथा उनका नृत्य भी सब उस दशामें रह सकते हैं, इसलिए मैंने जो कुछ कहा है वह कुछ भी असंभावित नहीं है—सबकी उस दशामें संभावना की जा सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'यच्चेदम्' इत्यादिसे ।

और जो कुछ यह चेतित होता है वह इस ब्रह्मका अविज्ञात आत्मरूप ही प्रलयमें भी रुद्र, देवी और उसके नृत्यरूपसे प्रथित होता है । [इतनेसे ब्रह्मके वास्तव कूटस्थ चित्स्वरूपमें किसी तरहकी हानि होती हो, सो भी नहीं है—आप भूलकर भी इसके वास्तविक स्वरूपकी हानिकी आशङ्का न कीजियेगा,] क्योंकि चित्स्वभाव शान्तस्वरूप इस ब्रह्मकी अपनी सत्तामें ही अवस्थिति रहती है ॥२३॥

भ्रान्तिके कारण अन्यथात्वका प्रतिभास होनेपर भी वास्तविक स्वभावकी अप्रच्युतिमें दृष्टान्त कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे कि स्वप्नमें एकमात्र चिति ही अन्तःकरणमें ग्राम और नगर-सी होती है—नगर आदिका स्वरूप धारण करती है, परन्तु यथार्थमें वहां पुर आदि कुछ नहीं रहते । जो कुछ वहां रहता है, वह सब विज्ञानाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं ॥ २४ ॥

इसलिए समस्त ज्ञेयको भली भांति जानकर भी चिति अपनेसे अपनेमें सर्वदा

स्वयमन्तः कचन्ती चित्स्वभावाकाशकोटरे ।
क्षणकल्पजगद्भ्रान्तिं धत्ते कल्पनया स्वया ॥ २६ ॥
स्वमन्तः कचत्कान्तिश्चिदाकाशः स्वभावखे ।
अयं सोऽहमयं च त्वं करोतीत्यादिकल्पनम् ॥ २७ ॥
तस्मान्न द्वैतमस्तीह न चैक्यं न च शून्यता ।
न चेतनाचेतनं वै मौनमेव न तच्च वा ॥ २८ ॥
न चेतति क्वचित् किञ्चित्कश्चिचेत्यात्मभावतः ।
तेन चेतापि नास्तीव मौनमेवाऽवशिष्यते ॥ २९ ॥

ही ज्ञेयको शून्य जानती है। तथा प्रलयकालमें भी सृष्टिके प्रारम्भ क्षणसे लेकर प्रलय क्षण तक जो जैसे सम्पन्न होता है सबको अपना स्फुरण समझती है। भाव यह कि वह ब्रह्मचिति सदा सर्वज्ञ प्रसिद्ध है ॥ २५ ॥

एकमात्र यही कारण है कि उस सृष्टिकालमें भी प्रलयको अतीत एवं अनागत सभी तरहके हजारों प्रलयोंके साथ वह अवश्य देखती रहती है, इसकी भी संभावना करनी चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'स्वयम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, यह चिति स्वस्वभावरूप कोटरमें भीतर स्फुरित होती हुई अपनी ही कल्पनासे क्षण, कल्प तथा जगत्की भ्रान्तिको धारण करती है ॥२६॥

यह चिदाकाश निजस्वभावरूप आकाशमें स्वयं ही भीतर देदीप्यमान कान्तिवाला होकर 'यह, वह, मैं और तुम' इत्यादि नानाविध कल्पना किया करता है ॥ २७ ॥

इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, न तो द्वैत है, न ऐक्य है, न शून्यता है, न चेतन है और न अचेतन ही है, किन्तु एकमात्र निश्चित मौन ही है अथवा वह (मौन) भी नहीं है, किन्तु चिन्मात्र ही स्थित है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सृष्टि और प्रलयमें जो विशेष है वह भी अपने अनुभवसे ही सिद्ध है, एक साथ प्रतीति होनेसे इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

चितिके स्वयं चेत्यस्वरूप होनेके कारण कहीं कोई कुछ भी नहीं चेतता यानी चिन्तनका विषय नहीं बनाता। इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी, यह निश्चित है कि चेत्य और चेतनक्रियाके न होनेसे चेतयिता भी कोई नहीं है अर्थात् चितिसे भिन्न न तो चेत्य है, न चेतनक्रिया है। एकमात्र मौन ही अवशिष्ट है॥ २९ ॥

निर्विकल्पसमाधिर्हि सिद्धान्तः सर्ववाङ्मये ।
तच्च जीवदृषन्मौनं तूष्णीमेवात आस्यताम् ॥ ३० ॥

कुर्वन्निजं प्रकृतमेव यथाप्रवाह-
माचारजालमचलः परमार्थमौनात् ।
निर्मानमोहमदभेदमनङ्गजीव-
माकाशकोशविशदाशयशान्तमास्स्व ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने विश्वरूपदर्शनं नाम त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं मुने ब्रूहि काली किमिव नृत्यति ।
किं शूर्पफलकुद्दालमुसलादिस्रजावृता ॥ १ ॥

इस सम्पूर्ण वाङ्मय प्रपञ्चमें निर्विकल्पक समाधि ही सिद्धान्त है और वह जीवकी पाषाणके समान मौनावस्था है। इसलिए आप बिलकुल चुपचाप स्थित रहिये ॥ ३० ॥

हे श्रीरामजी, आप भी परमेश्वरके समान लोकदृष्टिसे अपने राज्य-परिचालन आदि आचारसमूहका, पिता-पितामह आदिसे जो क्रम चला आ रहा है उसी क्रमसे, परिचालन करते हुए अपनी दृष्टिसे परमार्थतः मौन होनेके कारण मान, मोह, मद आदि भेदसे रहित अङ्गों तथा उनके अभिमानी जीवसे रहित हो आकाशकोशके समान विशालहृदय हो शान्त स्थित रहिये ॥ ३१ ॥

तिरासी सर्ग समाप्त

चौरासी सर्ग

[शिव और शक्तिके स्वरूपका विभागपूर्वक वर्णन तथा सूप आदिकी मालाके स्वरूपका भी सत्यासत्यविचारपूर्वक वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—हे मुने, आपने जो यह वर्णन किया कि भगवती काली नृत्य करती थी, अब आप उसका असली स्वरूप बतलाइये और वह जो सूप, हलकी

वसिष्ठ उवाच

स भैरवश्चिदाकाशः शिव इत्यभिधीयते ।
अनन्यां तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम् ॥ २ ॥
यथैकं पवनस्पन्दमेकमौष्ण्यानलौ यथा ।
चिन्मात्रं स्पन्दशक्तिश्च तथैवैकात्म सर्वदा ॥ ३ ॥
स्पन्देन लक्ष्यते वायुर्वह्निरौष्ण्येन लक्ष्यते ।
चिन्मात्रममलं शान्तं शिव इत्यभिधीयते ॥ ४ ॥

फाल, कुदार, मुसल आदिकी माला पहिने थी, उस मालाके सूप आदिका क्या स्वरूप है, कृपया मुझसे यह भी कहिये । इस श्लोकमें 'कालः किमिव नृत्यति' पाठान्तर भी है, इस पाठमें भी कालात्मक कालीके स्वरूपका ही प्रश्न समझना चाहिए, क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थमें नृत्य एवं सूप आदिकी मालाका ही वर्णन है ॥१॥

शिवजीके स्वरूपका निरूपण किये बिना शिवशक्तिके स्वरूपका निरूपण नहीं हो सकता, इसलिए दोनोंका साथ-साथ स्वरूप बतलानेका उपक्रम करते हैं—**'स'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, जो वह भैरव हैं, वह तो चिदाकाशस्वरूप शिवजी ही कहे जाते हैं, उन शिवजीकी वह मनोमयी स्पन्दशक्तिरूपा काली अनन्य ही है, यह आप जानिये । यही माया है, यही शिवजीमें एकरूपसे अध्यस्त होकर उन्हींकी सत्ता और स्फूर्तिसे स्वयं सत्ता एवं स्फूर्तिसे युक्त बनती है, इसलिए शिवजीसे अनन्य है, चलनस्वभाव जो रजोगुण है, इसकी प्रधानता आनेपर स्पन्दनशक्ति कहलाती है और सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अपनेमें चारों ओर चितिका प्रतिबिम्ब ग्रहण करती है तथा जगत्संस्कारसे घटित हो जाती है—इसी कारणसे सृष्टि आदिका सङ्कल्प-विकल्प करनेके कारण मनकी समता ग्रहण करती हुई मनोमयी कही जाती है ॥ २ ॥

दो दृष्टान्तोंसे मायामें अनन्यत्वका समर्थन करते हैं—**'यथैकम्'** इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे पवन और स्पन्दन दोनों एक ही वस्तु हैं अथवा जैसे उष्णता एवं अग्नि दोनों एक ही हैं, वैसे चिन्मात्र शिव एवं स्पन्दनशक्तिरूपा माया दोनों सदा ही एकस्वरूप हैं, भिन्नस्वरूप नहीं ॥ ३ ॥

'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतियोंमें जगत्सृष्टि, प्राणस्पन्दन आदि

तत्स्पन्दमायाशक्त्यैव लक्ष्यते नाऽन्यथा किल ।
शिवं ब्रह्म विदुः शान्तमवाच्यं वाग्विदामपि ॥ ५ ॥
स्पन्दशक्तिस्तदिच्छेदं दृश्याभासं तनोति सा ।
साकारस्य नरस्येच्छा यथा वै कल्पनापुरम् ॥ ६ ॥
करोत्येवं शिवस्येच्छा करोतीदमनाकृतेः ।
सैषा चितिरिति प्रोक्ता जीवनाज्जीवितैषिणाम् ॥ ७ ॥
प्रकृतित्वेन सर्गस्य स्वयं प्रकृतितां गता ।
दृश्याभासानुभूतानां करणात् सोच्यते क्रिया ॥ ८ ॥

क्रियासे ही शिवात्मक ब्रह्मका लक्षण करनेके कारण भी माया एवं शिव दोनों अनन्य हैं, यह कहते हैं—'स्पन्देन' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

जैसे स्पन्दनसे वायु ही कहा जाता है या जैसे उष्णतासे अग्नि ही कही जाती है, वैसे ही शिवसे भी निर्मल शान्त चैतन्यमात्र ही कहा जाता है ॥ ४ ॥

स्पन्दनरूप मायाशक्तिसे ही वह शिवजी लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं । शिवजी ही ब्रह्मरूप हैं, वे ही शान्त और वाणीविशारदोंके अवाच्य हैं ॥ ५ ॥

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिसे वह स्पन्दशक्ति ही शिवजीकी इच्छा है, यह कहा गया है । वही इच्छा सत्यकाम परमात्माके मनोराज्य-ऐसे जगत्का निर्माण करती है, यह कहते हैं—'स्पन्दशक्ति०' इत्यादिसे ।

मायाकी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मरूप शिवजीकी इच्छा है, वह इच्छा इस दृश्याभासका उस प्रकार विस्तार करती है, जिस प्रकार साकार पुरुषकी इच्छा कल्पनात्मक नगरका विस्तार करती है ॥ ६ ॥

भद्र, इससे सिद्ध हुआ कि शिवकी उक्त इच्छा ही कार्य करनेमें दक्ष है, अतः समस्त आकारसे रहित शिवजीकी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा इस समस्त दृश्याभासका निर्माण करती है । वही इच्छा अपने भीतरके चिदाभासके द्वारा दीप्त होकर जीवचैतन्य कही गई है, क्योंकि वही जीवनाभिलाषियोंका जीवन है ॥ ७ ॥

वही जगत्के आकारमें परिणत होती है, अतः समस्त सृष्टिकी प्रकृति भी वही है । दृश्योंमें (पदार्थोंमें) प्रतीत होनेवाले उत्पत्ति आदि विकारोंका सम्पादन भी वही करती है, अतः क्रियारूप भी वही है ॥ ८ ॥

वडवाग्निशिखाकाराच्छोष्याच्छुष्केति कथ्यते ।
चण्डित्वाच्चण्डिका प्रोक्ता सोत्पलोत्पलवर्णतः ॥ ९ ॥
जया जयैकनिष्ठत्वात्सिद्धा सिद्धिसमाश्रयात् ।
जयन्ती च जया प्रोक्ता विजया विजयाश्रयात् ॥१०॥
प्रोक्ता पराजिता वीर्याद् दुर्गा दुर्ग्रहरूपतः ।
ॐकारसारशक्तित्वादुमेति परिकीर्तिता ॥ ११ ॥
गायत्री गायनात्मत्वात्सावित्री प्रसवस्थितेः ।
सरणात्सर्वदृष्टीनां कथितैषा सरस्वती ॥ १२ ॥
गौरी गौराङ्गदेहत्वाद् भवदेहानुषङ्गिणी ।
सुप्तानामथ बुद्धानाममात्रोच्चारणाद्धृदि ॥ १३ ॥
नित्यं त्रैलोक्यभूतानामुमेतीन्दुकलोच्यते ।
शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः ॥ १४ ॥

'द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा' (व्याघ्रचर्म धारण की हुई, शुष्कमांसा एवं अतिभयङ्कर देवी) इत्यादि पुराणोंमें उसकी जो शुष्कता प्रसिद्ध हैं, उसमें भी निमित्त बतलाते हैं—'वडवा०' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, वह शुष्का भी कही जाती है, क्योंकि समुद्र आदिके जलोंसे आर्द्र ब्रह्माण्डरूप शरीरधारिणी वह वडवाग्निकी लपटके सदृश लपटधारी आदित्य आदिकी ज्योतियोंसे सूख जाती है। दुष्टोंके लिए क्रोधकी मूर्ति होनेसे चण्डिका तथा उसका कमलके सदृश वर्णवाली होनेसे उत्पला कही जाती है ॥ ९ ॥

जब वह एकमात्र जयनिष्ठ हो जाती है, तब जया; सिद्धोंकी शरण होनेसे सिद्धा, जया होनेसे जयन्ती तथा विजयका आश्रय होनेसे विजया कही जाती है ॥ १० ॥

महाशक्तिके कारण अपराजिता, उसका स्वरूप दुर्निग्रह होनेके कारण दुर्गा, तथा ॐकारकी सारभूत शक्ति होनेके कारण उमा भी वही कही जाती है ॥११॥

जप करनेवालोंके लिए परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण गायत्री, प्रसवकी भूमि होनेसे सावित्री तथा स्वर्ग-अपवर्गके साधन एवं समस्त कर्मोपासनाके विज्ञानोंकी विस्ताररूप होनेसे सरस्वती भी वही कही जाती है ॥ १२ ॥

चूँकि मायाका स्वरूप अति गौर है, अतः वही गौरी है, वही शिवजीके शरीरकी चिरसङ्गिनी है। सुप्त और जाग्रत् जितने प्राणी त्रैलोक्यमें स्थित हैं, उनके हृदयमें अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्मरूप प्रणवके नादका उच्चारण

नभो हि मांसमेताभ्यां दृष्टिकृष्टं विलोक्यते ।
अस्ति नभो नभस्येव तौ नभो नभसि स्थितौ ॥ १५ ॥
नभोनिभावभूताङ्गावच्छौ व्योम्न इवाऽग्रजौ ।
हस्तपादास्यमूर्ध्नो यद् बहुत्वाल्पत्वभेदतः ॥ १६ ॥
नानात्वं हलशूर्पादिस्रग्धरत्वं च तच्छृणु ।
सा हि क्रिया भगवती परिस्पन्दैकरूपिणी ॥ १७ ॥
दद्यात्स्नायाच्च जुहुयादित्याद्यग्रशरीरिणी ।
चितिशक्तिरनाद्यन्ता तथा भाताऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥१८॥
साऽऽकाशरूपिणी कान्ता दृश्यश्रीः स्पन्दधर्मिणी ।
देव्यास्तस्या हि याः काल्या नानाभिनयनर्त्तनाः ॥
ता इमा ब्रह्मणः सर्गजरामरणरीतयः ॥ १९ ॥

सदा होता रहता है, इससे जो अङ्गुष्ठपरिमित हृदयकमलके छिद्रमें लिङ्गाकारसे स्थित शिवजी हैं, उनके मस्तकमें भूषणभूत विन्दुरूपा जो उमारूपा इन्दुकला है, वह भी वही कही जाती है । शिव और शिवा दोनों आकाशरूप हैं, अतः उनका शरीर असित यानी नील प्रतीत होता है ॥ १३, १४ ॥

शिव और भगवती शिवा दोनों तो चेतनरूप हैं, इसलिए वे जड़ आकाशरूप कैसे हो सकते हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'नभो हि' इत्यादिसे ।

चूँकि चिद्रूप शिव और शिवाने मांसमय अपने शरीरके सदृश श्यामवर्ण आकाशको सृष्टिसङ्कल्पदृष्टिसे कल्पा है, इसलिए श्याम-सा एवं जड़-सा दिखाई देता है । जैसे आकाशमें आकाश स्थित है, वैसे ही आकाशरूप वे भी आकाशमें (अपने स्वरूपमें) निराधार ही स्थित हैं ॥ १५ ॥

उनकी अमूर्तता और स्वच्छता भी आकाशके ही सदृश समझनी चाहिए, यह कहते हैं—'नभो०' इत्यादिसे ।

शिवजी और शिवा दोनों आकाशके सदृश हैं और उनका स्वरूप अमूर्त है, आकाशके जेठे भाइयोंके समान वे दोनों ही अत्यन्त स्वच्छ हैं । [जब अमूर्त हैं, तब हाथ, पैर आदि तथा हलादिमालाका धारण कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—'हस्त०' इत्यादिसे] भद्र, हाथ, पैर, मुँह तथा सिर आदिकी बहुलता एवं अल्पताके भेदसे अनेकरूपता विचित्रता तथा मालादि-

क्रियाऽसौ ग्रामनगरद्वीपमण्डलमालिकाः ।
स्पन्दाद् करोति धत्तेऽन्तः कल्पितावयवात्मिका ॥ २० ॥
काली कमलिनी काली क्रिया ब्रह्माण्डकालिका ।
धत्ते स्वावयवीभूतां दृश्यलक्ष्मीमिमां हृदि ॥ २१ ॥

का धारण है, उसे आप सुनिये। भद्र, एकमात्र स्पन्दनरूपवाली क्रियात्मिका वह भगवती यद्यपि अनादि-अनन्तरूपा चितिशक्ति है, तथापि अपनी इच्छासे अपने समस्तवैदिक क्रियारूप बनकर उसने 'दद्यात्, स्नायात, जुहुयात्' (दो, नहाओ और होमो) इत्यादि वेदविहित दानादि उत्तम शरीर धारण किया है, वास्तवमें वह देवी स्पन्दनधर्मयुक्त कमनीय दृश्यश्री आकाशरूपिणी ही है, इसलिए उस काली भगवतीके जो नानाविध अभिनयोंसे पूर्ण नृत्य हैं, वे सब ब्रह्माके कर्मफलरूप सब प्राणियोंके जन्म, स्थिति आदिके प्रकार हैं, यह जानना चाहिए ॥ १६–१९ ॥

यतः यह देवी क्रियारूपा है, इसलिए उसका अवयव मानना चाहिए, क्योंकि निरवयव वस्तुसे कोई क्रिया हो नहीं सकती। इस परिस्थितिमें अपना ठीक स्वरूप निबाहनेके लिए ही कल्पित हाथ, पैर आदि अवयवरूपा होकर अपने भीतर ग्राम, नगर, द्वीप, मण्डल आदिकी मालाएँ धारण करती है और उनसे स्पन्दन करती है यानी अपनी क्रियारूपता प्रदर्शित करती है ॥ २० ॥

काली शब्दकी व्याख्यामें भी उसकी एकमात्र क्रियास्वभावता तथा ब्रह्माण्ड-शरीर होनेसे समस्त लोकादि अवयवधारिणी होना भी सिद्ध हो जाता है, इस आशयसे कहते हैं—'काली' इत्यादिसे ।

भद्र, यह काली है। तात्पर्य यह है—'कल गतौ संख्याने च' इस धातुसे काल और काली दोनों शब्दोंका निर्माण हुआ है। वैयाकरण लोगोंका कहना है कि 'कल' धातु तो एक कामधेनु है यानी कामधेनुसे जो चाहें दुहा जा सकता है, वैसे ही कलधातुसे जो भी अर्थ निकालना हो, निकाला जा सकता है। इसलिए यह लाखों ब्रह्माण्डरूप बीज कोशोंकी निर्माणकर्त्री है, धारणकर्त्री है और परिणाम आदि विकारोंको प्राप्त भी कराती है—यों स्वयं क्रियारूप होती हुई कमललताके सदृश श्यामला भी बन गई है। इसीलिए अपने फूल आदि अवयवरूप इन पृथिवी आदि दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है ॥ २१ ॥

न कदाचन चिद्देवी निर्देश्यावयवा क्वचित् ।
शिवत्वाव्यतिरेकेण शिवतैवं विदृश्यताम् ॥ २२ ॥
यथाऽङ्ग शून्यता व्योम्नः स्पन्दनं मातरिश्वनः ।
ज्योत्स्नायाश्चेत्यमेवं हि दृश्यमङ्ग चितेः क्रिया ॥ २३ ॥
शिवं शान्तमनायासमव्ययं विद्धि निर्मलम् ।
न मनागपि तत्राऽस्ति स्तैमित्यं स्पन्दधर्मता ॥ २४ ॥
सा क्रियैव तथारूपा सति बोधवशाद् यदा ।
व्यावृत्त्यैव तथैवाऽऽस्ते शिव इत्युच्यते तदा ॥ २५ ॥

यों जगत्-रूप अङ्गोंको धारण करनेपर भी उसकी असङ्गोदासीन चिद्रूप शिवस्वभावता होनेके कारण वास्तवमें निरवयवता ही है, यह कहते हैं—'**न कदाचन**' इत्यादिसे ।

वास्तवमें चितिरूपा वह देवी न तो कभी शब्दोंसे वर्णित हो सकती है और न उसके कोई अवयव ही हैं । भद्र, केवल यही आप जानिये कि वह शिवस्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण विशुद्ध शिवात्मक ही है ॥ २२ ॥

अङ्गोंके न रहते भी अङ्गोंका व्यपदेश होनेमें दृष्टान्त देते हैं—'**यथाङ्ग**' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाशका शून्यत्व है, वायुका स्पन्दन है, चन्द्रिकाका खिलनेवाला कुमुद आदि अङ्ग है, वैसे ही चितिका क्रिया एवं दृश्य अङ्ग है ॥ २३ ॥

इस प्रकार उसका कालात्मक, जगदङ्गवाले क्रियास्वरूपका वर्णन कर अब उसका वास्तविक स्वरूप बतलाते हैं—'**शिवम्**' इत्यादिसे ।

वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल है, यह आप जानिये । उसमें तनिक भी स्तिमितता (निश्चलता) या स्पन्दधर्मता नहीं है ॥ २४ ॥

उसका जो क्रियात्मकस्वरूप है, वह तो अबोधकालमें दिखाई पड़ता है और शिवात्मक स्वरूप बोधदशामें प्रत्यक्ष होता है, वही असली है, यह कहते हैं—'**सा**' इत्यादिसे ।

अज्ञानदशामें वह उक्तस्वरूपा क्रिया ही है, पर जब बोधवश यानी ज्ञानवश क्रियास्वभावसे मुक्त होकर वास्तवरूपधारिणी हो जाती है, तब उसकी शिव-संज्ञा पड़ जाती है—उसे शिव ही कहा जाता है ॥ २५ ॥

चितिशक्तेः क्रियादेव्याः प्रतिस्थानं यदात्मनि ।
यथाभूतस्थितेरेव तदेव शिव उच्यते ।
देव्याः क्रियायाश्चिच्छक्तेः स्वरूपिण्या महाकृतेः ॥ २६ ॥
कल्पिताकारधारिण्या अनन्यावयवा इमे ॥ २७ ॥
सर्गाः सज्जनतावर्गा लोका आलोकभास्वराः ।
सद्वीपसागराः पृथ्व्यः सवनावनयोऽद्रयः ॥ २८ ॥
साङ्गोपाङ्गास्त्रयो वेदाः सविद्यास्थानगीतयः ।
सविधिप्रतिषेधार्थाः सशुभाशुभकल्पनाः ॥ २९ ॥
सदक्षिणाग्नयो यज्ञाः पुरोडाशाद्यशंसिनः ।
भूपालोलूखलबृसीशूर्पयूपादिसंयुताः ॥ ३० ॥
सङ्ग्रामाः सायुधग्रामाः सशूलशरशक्तयः ।
सभुशुण्डीगदाप्रासहयेभभटभासुराः ॥ ३१ ॥
ज्ञातयो भूतसङ्घानां चतुर्दश सुरादिकाः ।
चतुर्दशाऽब्धिद्वीपोर्व्यस्तथा लोकाश्चतुर्दश ॥ ३२ ॥

कूटस्थ चितिशक्तिरूप देवीका अपने स्वरूपमें जो अविद्यासे प्रतिकूल स्पन्दन, जड़ आदि स्वभावसे स्थिति है, वही क्रिया कही जाती है और विद्यासे जब उसकी वास्तविक विशुद्ध अनुकूल चैतन्यरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे शिव कहा जाता है ॥ २६ ॥

भद्र, चितिशक्तिकी स्वरूपभूत, विशाल आकृतिवाली इस क्रियारूपा देवी, जिसने कि कल्पितस्वरूपधारण कर लिया है, ये कहे जानेवाले सारे पदार्थ अभिन्न अवयव ही हैं। [जिसने कल्पित जगत्रूप देह धारण किया है, उस कालीके नृत्यमें कल्पित गीतोंके सदृश कल्पित सूर्य आदिकी मालाका धारण करना भी उचित ही है ॥ २७ ॥

ये सब उसके अनन्य अवयव हैं—विद्यमान जनतावर्गसे युक्त सृष्टियां, आलोकसे भास्वर लोक, द्वीप एवं सागरोंसे पूर्ण पृथ्वी, वन और भूमिसे युक्त पर्वत ; अङ्ग-उपाङ्गोंसे, विद्यास्थान तथा गीतियोंसे, विधि-निषेधरूप अर्थोंसे एवं शुभाशुभ कल्पनाओंसे युक्त वेद; पुरोडाशरूप द्रव्यसे वर्णित होनेवाले, राजे, ओखरी, आसन, सूप, स्तम्भोंसे युक्त दक्षिणाग्निवाले यज्ञ; त्रिशूल, बाण एवं शक्ति आदि अनेकविध आयुधोंसे एवं बन्दूक, गदा, प्रास, घोड़े, हाथी, योधा आदिसे युक्त

श्रीराम उवाच

चितेः कल्पाः शरीरिण्याः सर्गा येऽङ्गे स्थितास्तथा ।
ते किमात्मनि तिष्ठन्ति उताऽसत्या वदेति भो ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

रामाऽसौ किल चिच्छक्तिस्तया यच्चोदितं तथा ।
तत्प्रचेतितमेवाऽतः सत्यं चेदमिवाऽखिलम् ॥ ३४ ॥

संग्राम एवं पृथ्वी तथा चौदह लोक ये सभी उस महादेवीके अङ्ग हैं ॥२८–३२॥

इस प्रकार आपने दो प्रश्नोंका यद्यपि समाधान तो किया, तथापि पूर्व सर्गमें उक्त इस शङ्काका समाधान नहीं हुआ कि कैसे द्वैत और ऐक्य एक कालमें रह सकते हैं, क्योंकि विनष्ट असत् पदार्थ किसी अर्थ-क्रियाका सम्पादन नहीं कर सकते। अपने अस्तित्वके प्रभावसे कार्यका अस्तित्व पैदा करना ही कारणोंकी कार्यार्थ-क्रिया है और उपादानके साथ कार्योंकी अर्थ-क्रियाकारिता या सत्ताका अपहरण नाश है। एक समयमें कार्योंमें सत्ता या सत्ताका अपहरण उनका कारण कर नहीं सकता। ऐसे पदार्थ, जो कि अपने कारणोंकी सत्ताके साथ अपनी भी सत्ता खो बैठे हैं, प्रलयमें अपनी-अपनी अर्थ-क्रियाका निर्वाह कभी नहीं कर सकते, इस आशयको लेकर श्रीरामभद्र प्रश्न करते हैं—'चितेः' इत्यादिसे।

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, रुद्र और कालीके शरीरको धारण की हुई चितिके अङ्गमें प्रलयकालमें भी अतीत, अनागत आदि समस्त सर्ग, कल्प और प्रलय स्थित हैं, यह जो आपने वर्णन किया है, उसमें मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ। वह यह कि जो सृष्टि आदि स्थित हैं, वे क्या सत्स्वभाव अर्थक्रिया-समर्थ आत्मामें स्थित हैं यानी सत् हैं या मृगतृष्णाजलके सदृश असत्य सत्स्वभावसे रहित हैं? यह कहिये ॥ ३३ ॥

जगत् और प्रलयकी कभी भी न तो आत्यन्तिक सत्ता है और न आत्यन्तिक असत्ता है। किन्तु सत्य सङ्कल्पका अनुसरण करनेवाली चितिने जिसे सत्यस्वरूपसे प्रकाशित किया वह सत्य है, जिसे असत् स्वरूपसे प्रकाशित किया वह असत्य है। इसलिए किसी भी पदार्थका स्वतः कोई रूप नहीं कहा जा सकता। इस बातसे यह निष्कर्ष निकला कि प्रलयकालमें भी ऐन्दव सर्ग स्थित थे और वे अर्थक्रियासमर्थ भी थे, क्योंकि चितिका वैसा सङ्कल्प था तथा नहीं भी थे, क्योंकि चितिका अन्य सङ्कल्प भी था। इसका पूर्वमें वर्णन भी किया गया है—यों सङ्कल्पभेददृष्टिसे वसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'रामा०' इत्यादिसे।

तत्प्रतिबिम्बितं बाह्यान्मुकुरप्रतिबिम्बवत् ।
सत्यं तदन्तरेवाऽस्ति चितेर्नाऽसत्यमर्थतः ॥ ३५ ॥
चिद्रूपस्य तथाऽप्यन्तः सत्सङ्कल्पपुरं भवेत् ।
दृढध्यानाद्विशुद्धायाश्चितेर्भवतु सा कथम् ॥ ३६ ॥
आदर्शेष्वथवा स्वप्ने सर्गः सङ्कल्पनेऽस्तु वा ।
स आत्मन्यर्थकारित्वात् सत्य इत्येव मे मतिः ॥ ३७ ॥

श्रीरामजी, वास्तवमें तो सब कुछ चितिशक्ति ही है, इसलिए तत्-तत् भोक्ता प्राणियोंके भेद द्वारा सृष्टिनिमित्त या प्रलयनिमित्त जिसका जिस वस्तुके रूपमें सत्यसङ्कल्प चितिने सङ्कल्प किया, उसका उसीके रूपमें उन भोक्ताओंने भी अनुभव किया । अतः उन अनुभवकर्ताओंकी दृष्टिसे यह समस्त जगत् सत्य-सा है और अन्योंकी दृष्टिसे अत्यन्त अप्रसिद्धिके कारण असत्य-सा भी है ॥ ३४ ॥

क्यों सत्य-सा भासा ? इसपर कहते हैं—'तत्' इत्यादिसे ।

भद्र, बाह्य मुख आदि बिम्बको लेकर जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, ठीक वैसे ही पूर्वानुभवजनित वासनाको लेकर उस तरह प्रतिबिम्बित हुआ साक्षी चेतन उसीमें विद्यमान है, अतः अर्थतः उस अनुभविताके प्रति सत्य ही है, असत्य नहीं ॥ ३५ ॥

असत्य क्यों है ? इसपर कहते हैं—'चिद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

उक्त अनुभवके बलसे पदार्थकी सत्यता होनेपर भी चेतनरूपका अचेतरूपमें प्रवेश न हो सकनेके कारण जगत् सङ्कल्पनगरके सदृश मिथ्या ही होगा । जब दृढ़ ध्यानसे चितिका आवरणरूप मल हट जायगा, तब वह प्रतिबिम्बित हो नहीं सकती, फिर सत्यताकी चर्चा ही क्या ? ॥ ३६ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्‌में प्रतीत्यात्मक सत्यता जो है, उसे स्वप्न आदिके पदार्थोंमें भी कह सकते हैं, क्योंकि उनके अनुरूप अर्थक्रियाकारिता उनमें भी देखी जाती है, यों कहते हैं—'आदर्श' इत्यादिसे ।

भद्र, दर्पणमें प्रतिबिम्बात्मक या स्वप्नमें दृश्यमान या सङ्कल्पमें कल्पित जो सृष्टि है, वह भी तो अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सिद्ध प्रतीत्यात्मक सत्य हो सकती है, क्योंकि वह अपने अनुरूप अर्थक्रियाकारी है ही, फिर उसे सत्य ही मानना चाहिये, यह मेरा मत है ॥ ३७ ॥

मम नाऽर्थाय स इति वक्षि चेत्तत्कथं भवेत् ।
देशान्तरगताः सर्वे भवन्त्यर्थाय सम्प्रति ॥ ३८ ॥
यथा देशान्तरग्रामस्तद्गतस्याऽर्थकृद् भवेत् ।
सर्वे तथैव तद्भावं गतस्याऽर्थविनिश्चयात् ॥ ३९ ॥
यद् यथाभूतसर्वार्थक्रियाकारि प्रदृश्यते ।
तत्सत्यमात्मनोऽन्यस्य नैवाऽतत्तामुपेयुषः ॥ ४० ॥
तस्माच्चिच्छक्तिकोशस्थाः सर्वाः सर्गपरम्पराः ।
सत्य आत्मेति तद्भावं गतस्याऽन्यस्य नाऽखिलाः ॥ ४१ ॥

हे राघव, यदि आप यह कहें कि आदर्शके भीतर विद्यमान घट आदि मेरे लिए बाहर जलाहरण आदि करनेमें समर्थ नहीं है, अतः सत्य नहीं, तो इसपर मैं यह कहता हूँ, सुनिये । ठीक ही है, वह दर्पणमें रहनेवाली चीज बाहर आकर कैसे अर्थ-सम्पादन करेगी ? दूसरे स्थानमें स्थित वस्तु दूसरे स्थानमें कुछ अर्थ-सम्पादन नहीं करती, एतावता क्या उसे असत्य समझ लेना चाहिए ? आपके जो घट आदि पदार्थ दूसरे प्रदेशमें रक्खे हैं, वे क्या आपके घरमें आकर कुछ अर्थ करनेमें समर्थ हैं ? ऐसे सब पदार्थोंकी इस समय जैसे देशान्तरमें अर्थक्रियाकारिता प्रसिद्ध है, ठीक वैसे ही दर्पण, स्वप्न आदिमें प्रतिबिम्ब आदिकी भी अर्थक्रियाकारिता है । जैसे देशान्तरमें स्थित गांव उसमें गये हुए पुरुषके लिए अर्थक्रियाकारी होता है, वैसे ही स्वप्न आदिके द्रष्टाके रूपको प्राप्त हुए पुरुषके लिए स्वप्नादिके समस्त भाव अर्थक्रियाकारी होते ही हैं, क्योंकि यही अर्थका निश्चय है ॥ ३८, ३९ ॥

इसलिए तत्-तत् अर्थक्रियाको देखनेवाले द्रष्टाकी दृष्टिसे ही वह सत्य ठहरता है, दूसरेकी दृष्टिसे नहीं, यों प्रतिबिम्बादिकी सत्यता व्यवस्थित हो जाती है, यों कहते हैं—'यद्यथा०' इत्यादिसे ।

भद्र, जो पदार्थ यथार्थमें सकल अर्थक्रियाकारी दिखाई देता है, उसे देखनेवाले द्रष्टाके प्रति वह सत्य है और उसे न देखनेवाले अन्यके प्रति वह असत्य है ॥ ४० ॥

इसी प्रकार प्रकृतमें भी योजना करनी चाहिए, यों उपसंहार करते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

भूतभव्यभविष्यस्थाः संकल्पस्वप्नपूर्गणाः ।
सर्वे सत्याः परं तत्त्वं सर्वात्मा कथमन्यथा ॥ ४२ ॥
प्राप्यन्ते योगसिद्धन तद्भावं तु गतेन ते ।
अन्येन पर्वता ग्रामा गत्या देशान्तरे यथा ॥ ४३ ॥
चालितस्य यथा गाढनिद्रस्य स्वप्नपत्तनम् ।
न लुठत्येव लुठितमित्यप्यनुमतं स्फुटम् ॥ ४४ ॥
तथा चलन्त्या लुठितं तस्या देहगतं जगत् ।
न लुठत्येव मुकुरप्रतिबिम्बमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामभद्र, इसलिए चितिशक्तिके कोशमें अवस्थित समस्त सृष्टियां स्वप्नादि द्रष्टृरूपताको प्राप्त हुए पुरुषके प्रति सत्य हैं और अन्यके प्रति सब असत्य हैं, क्योंकि तद्गत सत्यताका प्रयोजक अधिष्ठानभूत आत्मा है ही ॥ ४१ ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यके जितने भी सङ्कल्प, स्वप्न आदिके नगर आदि हैं, वे सब सत्य ही हैं, यदि सत्य न हों, तो सर्वात्मा ब्रह्म चोटीका तत्त्व कैसे हो सकेगा ? कहीं भी अत्यन्त असत् वस्तुका तात्त्विकरूप आत्मा प्रसिद्ध नहीं है ॥ ४२ ॥

इसीलिए दूसरेके स्वप्नोंमें अनुभूत होनेवाले पदार्थोंका योगी लाभ करते हैं और भोग भी करते हैं, यह कहते हैं—'प्राप्यन्ते' इत्यादिसे ।

जैसे अन्य स्थानमें विद्यमान पर्वत, गांव आदि पदार्थ वहां गमन करनेसे प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे भिन्न दूसरा योगसिद्ध पुरुष भी परकाय-प्रवेशसिद्धि द्वारा उसके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर उसके स्वाप्न पदार्थोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ४३ ॥

नृत्यसे भगवती कालरात्रिके चलित होनेपर भी उसकी देहमें स्थित भूमि आदिका चलन न होनेमें दृष्टान्त कहते हैं—'चालितस्य' इत्यादिसे ।

यदि पलँग धीरेसे अन्य स्थानमें हटाया जाय, तो उसपर गाढ़ निद्रामें सोया हुआ पुरुष शयन स्थानसे अन्यत्र ले जाया गया, परन्तु उसका स्वप्ननगर तो लुढ़का ही नहीं और शरीर तो लुढ़का हुआ ही माना जा सकता है । बस इसी प्रकार नृत्य कर रही कालरात्रिका शरीर चलित हुआ, परन्तु शरीरगत जगत्-चलित नहीं ही हुआ, यह भी हो सकता है । दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश उसके शरीरमें जगत् स्थित रहता है ॥ ४४, ४५ ॥

स त्रैलोक्यमहारम्भः सत्योऽपि भ्रान्तिमात्रकम् ।
भ्रान्तिमात्रस्य के नाम लुठनालुठने वद ॥ ४६ ॥
कदा स्वप्नपुरं सत्यं कदा स्वप्नपुरं मृषा ।
कदा स्वप्नपुरं भग्नं कदा स्वप्नपुरं स्थितम् ॥ ४७ ॥
भ्रान्तित्वं केवलं सैव दृश्यश्रीर्या विदग्रगा ।
त्वं विद्धीमामपि भ्रान्तिं जगल्लक्ष्मीमवास्तवीम् ॥ ४८ ॥
संकल्पने मनोराज्ये स्वप्ने संकथने भ्रमे ।
यथा पुरानुभवनं त्रैलोक्यानुभवं तथा ॥ ४९ ॥
अहमिति जगदिति नाऽन्तर्भ्रान्तिरियं प्रकचतीव चितः ।
परमाकाशकृशाख्या शाम्यति निपुणं परिज्ञाता ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने शिवशक्तिवर्णनं नाम चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

श्रीरामभद्र, यों त्रैलोक्यका महान् आरम्भ सत्य होते हुए भी केवल भ्रान्तिमात्र ही है। जो भ्रान्तिमात्ररूप है, उसका लुढ़कना क्या मूल्य रखता है? यह बतलाइये ॥ ४६ ॥

कब स्वप्नगर सत्य रहा, कब स्वप्नगर असत्य रहा, कब स्वप्नगर नष्ट हुआ और कब वह स्थित रहा? ॥ ४७ ॥

भद्र, भगवती कालीके अङ्गोंमें स्थित वह समस्त दृश्यश्री केवल भ्रान्तिरूपा ही थी, अतः आप इस समयकी जगत्-लक्ष्मीको भी असत्य भ्रान्तिरूप ही जानिये ॥ ४८ ॥

हे राघव, संकल्प, मनोराज्य, स्वप्न, कथा एवं भ्रमदशामें जैसे नगरोंका अनुभव भ्रान्तिमात्र है, वैसे ही इस त्रैलोक्यानुभवको भी आप भ्रान्तिरूप ही समझिये ॥ ४९ ॥

भद्र, चितिरूप आत्माके अन्दर यह 'अहम्' (मैं) और जगत् नामकी कोई वास्तविक वस्तु है ही नहीं, किन्तु आकाशकी कृशता (अल्पता) के सदृश केवल भ्रान्ति ही चमकती है। आकाशमें कृशता या कालिमा नहीं है, वह

पञ्चाशीतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति नृत्यति सा देवी दीर्घदोर्दण्डमण्डलैः ।
परिस्पन्दात्मकैर्व्योम कुर्वाणा घनकाननम् ॥ १ ॥
क्रियाऽसौ नृत्यति तथा चितिशक्तिरनामया ।
अस्या विभूषणं शूर्पकुद्दालपटलादिकम् ॥ २ ॥
शरशक्तिगदाप्रासमुसलादि शिलादि च ।
भावाभावपदार्थौघकलाकालक्रमादि च ॥ ३ ॥
चित्स्पन्दोऽन्तर्जगद् धत्ते कल्पनेव पुरं हृदि ।
सैव वा जगदित्येव कल्पनैव यथा पुरम् ॥ ४ ॥

केवल भ्रान्तिसे वैसा दीखता है । इसलिए इस दृश्यश्रीको निपुणतासे देखा जाय, तो वह शान्त हो जाती है ॥ ५० ॥

चौरासी सर्ग समाप्त

पचासी सर्ग

[नृत्य कर रही कालीका शिवजीका दर्शन और बड़े प्रेमसे स्पर्श कर उनके अङ्गमें विलीन हो एकरूप हो जाना, यह वर्णन]

श्रीवशिष्ठजीने कहा—भद्र, वर्णित रीतिसे भगवती कालरात्रि भयङ्कर नृत्य करती है, उसके नृत्यका क्या हाल कहें, परिस्पन्दनात्मक अपने दीर्घ भुजमण्डलोंसे उसने सारे आकाशको एक घना जङ्गल-सा बना रक्खा है ॥ १ ॥

श्रीरामजी, चितिशक्तिका असली तत्त्व न जाननेपर वह क्रियारूप बन जाती है और वह स्वभावसे वहां नृत्य करती है । वास्तव स्थिति तो यह है कि चितिशक्तिमें किसी तरहका नृत्यादि विकार है ही नहीं । इसी क्रियात्मक चितिके सूप, कुदार पटल आदि भूषण हैं ॥ २ ॥

बाण, शक्ति, गदा, भाला, मुसल आदि, शिला आदि, भाव, अभाव आदि पदार्थसमूह तथा कला, कालके क्रम आदि भी उसीके भूषण हैं ॥ ३ ॥

जैसे अलातका (लुआठीका) स्पन्दन चक्रके आकारमें दिखाई देता है,

पवनस्य यथा स्पन्दस्तथैवेच्छा शिवस्य सा ।
यथा स्पन्दोऽनिलस्याऽन्तः प्रशान्तेच्छस्तथा शिवः ॥ ५ ॥
अमूर्तो मूर्तमाकाशे शब्दाडम्बरमानिलः ।
यथा स्पन्दस्तनोत्येवं शिवेच्छा कुरुते जगत् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्याऽथ यदा तत्र तथा तस्मिन् पराम्बरे ।
काकतालीययोगेन संरम्भवशतः स्वयम् ॥ ७ ॥
निकटस्थः शिवः स्पृष्टः स मनागभ्रमन्तिकम् ।
वाडवोऽग्निः स्वनाशायाऽऽवहन्त्येवाऽम्बुलेखया ॥ ८ ॥

वैसे ही उक्त चितिका स्पन्दन जगत्के आकारमें दिखाई देता है, यह कहते हैं—'चित्स्पन्दः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे हृदयमें कल्पना (मनोराज्य-कल्पना) ही नगराकारको धारण करती है, वैसे ही चितिका स्पन्दन ही अपने भीतर जगत्को धारण करता है। अथवा जैसे मनोराज्य कल्पना ही नगर है, वैसे ही स्पन्दित चिति ही जगत् है, यह आप जानिये ॥ ४ ॥

अब शिवजीकी इच्छारूपा वह कालरात्रि शिवजीसे अभिन्न है, यह कहते हैं—'पनवस्य' इत्यादिसे ।

जैसा पवनका स्पन्दन है, वैसी ही वह कालरात्रि शिवजीकी इच्छा है। इससे पवनके भीतरका स्पन्दन जैसे पवनके स्वरूपसे अलग नहीं है, किन्तु पवन-स्वरूप ही है और अस्पन्द ही है, वैसे ही शिवजीकी इच्छा शिवजीके स्वरूपसे अलग नहीं है, शिवस्वरूप ही है और अनिच्छा ही है। अतः इच्छात्मिका कालरात्रि पूर्णकाम शिवसे अभिन्न है, यह जान लेना चाहिए ॥ ५ ॥

आकारसे रहित शिवेच्छा साकार जगत्के रूपमें कैसे परिणत होगी ? इसपर कहते हैं—'अमूर्तः' इत्यादिसे ।

भद्र, जैसे आकाररहित वायुका स्पन्दन आकाशमें साकार शब्दाडम्बर पैदा करता है, वैसे ही शिवजीकी निराकार इच्छा साकार जगत् पैदा करती है ॥ ६ ॥

भद्र, तदनन्तर जैसे बह रही समुद्रजलकी रेखा अपने विनाशके लिए वाडवाग्निका स्पर्श करती है, ठीक वैसे ही उस चिदाकाशमें नृत्य कर रही उस काल-रात्रिने काकतालीय योगसे अत्यन्त प्रेमसे निकटवर्ती शिवजीका स्पर्श कर लिया ।

स्पृष्टमात्रे शिवे तस्मिंस्ततः परमकारणे ।
प्रवृत्ता प्रकृतिं गन्तुं सा शनैस्तनुतां तथा ॥ ९ ॥
अनन्ताकारतां त्यक्त्वा सम्पन्ना गिरिमात्रिका ।
ततो नगरमात्राऽसौ ततश्च द्रुमसुन्दरी ॥ १० ॥
ततो व्योमसमाकारा शिवस्यैवाऽऽकृतिं ततः ।
सा प्रविष्टा सरिच्छान्तसंरम्भमेव महार्णवम् ॥ ११ ॥
एक एवाऽभवदथो शिवया परिवर्जितः ।
शिव एव शिवः शान्त आकाशे शमनोऽभितः ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छिवसंस्पृष्टा सा शिवा परमेश्वरी ।
किमर्थमागता शान्तिमिति मे ब्रूहि तत्त्वतः ॥ १३ ॥

ज्योंही उसने स्पर्श किया त्योंही उसका आवरण करनेवाला शक्तिरूप अंश थोड़ा-सा हट गया ॥ ७, ८ ॥

हट जानेके अनन्तर परमकारण एकमात्र शिवजीके स्पर्शसे वह काल-रात्रि धीरे-धीरे अपने अव्यक्तभावको तथा छोटेपनको प्राप्त होने लग गई ॥९॥

भौतिक अनन्त आकारोंको त्यागकर वह केवल भूतमात्ररूप हुई, यह कहते हैं—'अनन्त०' इत्यादिसे ।

पहले उसने अपने विशाल आकारका परित्याग किया, पञ्चीकरण त्यागकर पर्वताकृति बन गई, इसके बाद नगराकृतिमात्रस्वरूप हुई, फिर वह विचित्र-वासनारूप पल्लवके कारण वृक्षके सदृश सुन्दरी बन गई ॥ १० ॥

तदनन्तर अव्याकृत आकाशके सदृश आकारवाली हुई, फिर वह शिवजीके आकारमें उस प्रकार सब आडम्बर छोड़कर प्रविष्ट हो गई, जैसे कि नदी समुद्रमें प्रविष्ट होती है ॥ ११ ॥

अनन्तर शिवासे रहित एकमात्र शिवजी ही बच गये। ये पूर्ववर्णित चिदा-काशरूप गगनमें सबका उपसंहार करनेवाले तथा सर्वप्रकारके उपद्रवोंकी शान्तिसे कल्याणात्मा शिवजी ही थे ॥ १२ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—भगवन्, शिवजीसे स्पर्श की हुई भगवती शिवा काल-रात्रि क्यों शान्त हो गई ? यह मुझे तत्त्वतः बतलाइए ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

सा रामः प्रकृतिः प्रोक्ता शिवेच्छा पारमेश्वरी ।
जगन्मायेति विख्याता स्पन्दशक्तिरकृत्रिमा ॥ १४ ॥
स परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पवनाकृतिः ।
शिवरूपधरः शान्तः शरदाकाशशान्तिमान् ॥ १५ ॥
भ्रमति प्रकृतिस्तावत् संसारे भ्रमरूपिणी ।
स्पन्दमात्रात्मिका सेच्छा चिच्छक्तिः पारमेश्वरी ॥ १६ ॥
यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तमनामयम् ।
अजरं परमाद्यन्तवर्जितं वर्जितद्वयम् ॥ १७ ॥
संविन्मात्रैकधर्मित्वात् काकतालीययोगतः ।
संविद्देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम् ॥ १८ ॥
प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति ।
तदन्तरेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे ॥ १९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, वह प्रकृति है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा शक्ति है। शास्त्रोंमें विख्यात जगन्माया और स्वाभाविक स्पन्दशक्ति भी वही है ॥१४॥

प्रसिद्ध जो शिवजी हैं, वे प्रकृतिसे पर पुरुष कहलाते हैं, पवनाकृति शिवरूप धरनेवाले पुरुष भी वही हैं, वह शरद्कालके सदृश निर्मल शान्तिधारी एवं परम शान्त हैं ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, वह शिवजीकी इच्छारूपा केवल स्वरूपधारिणी परमेश्वरकी चितिशक्ति भ्रमरूपी प्रकृति इस संसारमें तबतक भ्रमण कर सकती है, जबतक नित्यतृप्त, अजर, सर्वोत्कृष्ट आदि-अन्तशून्य, द्वैतरहित, विकारशून्य परमात्माको नहीं देख लेती। इससे निष्कर्ष यह निकला कि शिवेच्छारूप चितिशक्तिमें तबतक स्पन्दन रहता है, जबतक कि इष्टप्राप्ति नहीं हो जाती और इष्टकी प्राप्ति (परमात्माकी प्राप्ति) हो जानेपर तो उसकी शान्ति हो जाती है ॥ १६, १७ ॥

यह प्रकृति एकमात्र चितिशक्तिकी आधारभूत है, इसलिए चितिशक्ति ही समझनी चाहिए। काकतालीय योगसे यह चितिदेवी जब शिवजीका स्पर्श कर लेती है, तब शिवरूप ही हो जाती है ॥ १८ ॥

पुरुषको छूकर समुद्रमें नदीके सदृश उसके अन्दर एकरूप बनकर प्रकृति अपना कार्यरूप परिणाम छोड़ देती है ॥ १९ ॥

आपगा हि पयोमात्रं सङ्गे अर्णव एव सा ।
यदा तदा तमेवाऽऽशु प्राप्य तत्रैव लीयते ॥ २० ॥
चितिः शिवेच्छा सा देवं तमेवाऽऽसाद्य शाम्यति ।
जन्मस्थानशिलां प्राप्य तीक्ष्णधारा यथाऽऽयसी ॥ २१ ॥
पुंसश्छायां निजच्छाया प्रविष्टस्य शरीरकम् ।
यथाऽऽशु प्रविशत्येव प्रकृतिः पुरुषं तथा ॥ २२ ॥
चेतित्वा चिन्निजं भावं पुरुषाख्यं सनातनम् ।
भूयो भ्रमति संसारे नेह तत्तां प्रयाति हि ॥ २३ ॥
साधुर्वसति चोरौघे तावद्यावदसौ न तम् ।
परिजानाति विज्ञाय न तत्र रमते पुनः ॥ २४ ॥

इसमें युक्ति बतलाते हैं—'आपगा०' इत्यादिसे ।

नदियोंका स्वरूप तो केवल जलमात्र ही है, समुद्रका सङ्ग होनेपर भी उसका वही रूप रहता है । जब यही असली स्थिति है, तब वह उसको (समुद्रको) प्राप्त कर तत्काल ही उसीमें एकरूपसे लीन हो जाती है ॥ २० ॥

राघव, लोहनिर्मित छुरी आदिकी धारा उत्पत्तिकारण लोहशिलाको प्राप्तकर उसीमें जैसे शान्त हो जाती है यानी लोहेमें मिल जानेपर धार कुछ काम नहीं कर पाता, ठीक वैसे ही वह शिवेच्छारूपा चितिशक्ति उस शिव देवको ही पाकर उसमें शान्त हो जाती है—फिर संसारमें कुछ काम कर नहीं पाती ॥ २१ ॥

वन आदिकी छायामें प्रवेश किये हुए पुरुषकी निजी छाया, जैसे उसीके रूपकी हो जाती है, वैसे ही पुरुषमें प्रविष्ट हुई प्रकृति पुरुषरूप ही हो जाती है ॥ २२ ॥

तब तो वनमें से निकल जानेके बाद जैसे फिर अपनी छाया अलग हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मप्राप्त पुरुषको भी फिर संसार प्राप्त हो सकता है, इसपर कहते हैं—'चेतित्वा' इत्यादिसे ।

भद्र, अपना सनातन पुरुषरूप जो भाव है, उसको प्रकाशित कर देनेके अनन्तर फिर वह न इस संसारमें भ्रमण करता है और न प्रकृतिभावको ही प्राप्त करता है, क्योंकि पुनरागमनमें निमित्त अज्ञानका बाध हो जाता है ॥ २३ ॥

तभी इस संसारमें फिर आना होता है, जब संसारकी इच्छा रहती है, परन्तु

द्वैते तावदसद्रूपे रमते भ्रमते चितिः ।
परं पश्यति नो यावत्तं दृष्ट्वा तन्मयी भवेत् ॥ २५ ॥
चितिनिर्वाणरूपं यत्प्रकृतिः परमं पदम् ।
प्राप्य तत्तामवाप्नोति सरिदब्धाविवाऽब्धिताम् ॥ २६ ॥
तावद्विमोहवशतश्चितिराकुलेषु
सर्गेषु संसरति जन्मदशासु तासु ।
यावन्न पश्यति परं तमथाऽऽशु दृष्ट्वा
तत्रैव मज्जति घनं मधुनीव भृङ्गी ॥ २७ ॥

तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो संसारकी इच्छा ही नहीं रह जाती, यह कहते हैं—'साधु०' इत्यादिसे ।

साधु पुरुष तबतक चोरोंके समुदायमें रहता है, जबतक कि वह उसे जानता नहीं यानी भ्रान्तिसे चोरको अपना हितैषी समझकर तबतक उसके बीचमें रहता है, जबतक कि यह चोर है और मेरा हितैषी नहीं है, यह नहीं जान पाता । परन्तु जब जान लेता है कि यह चोर और अहितैषी है फिर उसके बीचमें रमण या वास नहीं करता ॥ २४ ॥

जबतक परम आत्माके स्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखती तभी तक असद्रूप द्वैतप्रपञ्चमें चिति (अज्ञ चिति यानी जीव) रमण और भ्रमण करती है । जब उसका प्रत्यक्ष कर लेती है, तब तो तन्मय बन जाती है ॥ २५ ॥

चूँकि चितिमें निर्वाणात्मक प्रशान्त स्वरूप ही परमपद है, इसलिए प्रकृति (अज्ञानयुत चिति) उसे प्राप्त कर जिस प्रकार समुद्रमें नदी समुद्ररूपता प्राप्त करती है उसी प्रकार तद्रूप बन जाती है ॥ २६ ॥

यहाँतक जितनी बातें कही गईं, उन सबका संग्रहकर उपसंहार करते हैं—'तावत्' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे रामभद्र, जब तक उस परब्रह्म परमात्माको चिति साक्षात् नहीं देखती, तबतक विशाल मोहके प्रभावसे आक्रान्त होकर प्रतिकूल इन सर्गोंमें और उन जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती है और जब उसे देख लेती है, तब तो उसमें तन्मय बनकर ऐसे डूब जाती है, जैसे कि मधुमें भ्रमरी डूबती है ॥ २७ ॥

संप्राप्य कस्त्यजति नाम तदात्मतत्त्वं
प्राप्याऽनुभूय च जहाति रसायनं कः ।
शाम्यन्ति येन सकलानि निरन्तराणि
दुःखानि जन्ममृतिमोहमयानि राम ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने प्रकृतिपुरुषक्रमवर्णनं नाम पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥८५॥

षडशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम कथं तत्र महाकाशे तथा स्थितः ।
देहे भ्रान्तिं तु तां त्यक्त्वा स रुद्रोऽप्युपशाम्यति ॥ १ ॥
स रुद्रस्तौ जगत्खण्डौ तदा चित्र इवाऽर्पिताः ।
निस्पन्दा एव तत्राऽऽसन् प्रेक्षमाणे स्थिते मयि ॥ २ ॥

हे रामभद्र, लगातार आनेवाले जन्म, मरण एवं मोहमय सकल दुःख जिससे शान्त हो जाते हैं, उस आत्माको प्राप्त कर कौन पुरुष ऐसा है जो छोड़ दे ? क्या कोई रसायनको (अमृतको) प्राप्त और अनुभव कर कहीं छोड़ सकता है ? ॥ २८ ॥

पचासी सर्ग समाप्त

छियासी सर्ग

[ब्रह्माण्डरूपी खोपड़ीको ग्रस लेनेवाले रुद्रशरीरका सूक्ष्मभावसे शिलारूप चिदाकाशमें तिरोभाव तथा उस प्रदेशसे भिन्न अन्य प्रदेशोंके अन्य शिला, वृक्ष आदि सकलरूप ब्रह्ममें सृष्टिकी विचित्रताका दर्शन—यह वर्णन]

सबसे पहले रुद्रदेहके उपसंहारक्रमको सुनाते हैं—'शृणु' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, उस महाकाशमें उस प्रकारसे अवस्थित वे महारुद्र जिस रीतिसे अपनी देहगत उक्त भ्रान्तिका त्यागकर शान्त हो जाते हैं, उस रीतिका श्रवण कीजिये ॥ १ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डकी ऊपर-नीचेकी दोनों खोपड़ियां तथा वह रुद्र तीनों उक्त

ततो मुहूर्तमात्रेण स रुद्रस्तौ नभोन्तरे ।
खण्डौ विलोकयामास दृशाऽर्केणेव रोदसी ॥ ३ ॥
ततो निमेषमात्रेण घोणाश्वासेन खण्डकौ ।
तौ समानीय चिक्षेप पातालान्तरिवाऽऽनने ॥ ४ ॥
अतिष्ठदेक एवाऽसावेकं खे खमिवाऽखिले ।
भुक्तब्रह्माण्डखण्डोग्रमण्डमण्डकमण्डलः ॥ ५ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण लघुः सोऽभ्रमिवाऽभवत् ।
ततोऽभवद् यष्टिसमस्ततः प्रादेशमात्रकः ॥ ६ ॥
ततः काचकणाकारो मया दृष्टः स तादृशः ।
ततः सोऽणूभवन् दृष्टो मया खाद्दिव्यदृष्टिना ॥ ७ ॥

चिदाकाशमें उस समय चित्रलिखितके सदृश निश्चल यानी चेष्टाशून्य थे, यही पहले मैंने देखा था ॥ २ ॥

तदनन्तर एक मुहूर्तमात्रमें अन्य आकाशमें उस रुद्रने उक्त खण्ड (ब्रह्माण्डके ऊपर-नीचेके दो हिस्से) उस तरह, सूर्यात्मक दृष्टिसे देखे, जिस तरह द्यु और भूमि ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक निमेषमात्रमें उस रुद्रने अपने मुखसे खींचे गये श्वासवायुसे उन दोनों खोपड़ियोंको अपने समीप लाकर पाताल-गुहाके सदृश मुखमें फेंक दिया यानी मुखके भीतर डाल दिया ॥ ४ ॥

उस समय वह रुद्र भगवान्, जिसने कि ब्रह्माण्ड खण्डरूपी उग्र दुग्धसार और पकान्नके मण्डलको ग्रस लिया था, ऐसे एकरूप हो गये, जैसे आकाशमें आकाश एकरूप हो ॥ ५ ॥

उसके बाद एक मुहूर्तमात्रमें मेघके सदृश वह हलके हो गये, इसके अनन्तर यष्टिके सदृश, इसके बाद प्रादेशमात्र (अंगूठेसे लेकर तर्जनीतकके नाप-वाले—बित्ते भरके) हो गये ॥ ६ ॥

उसके बाद ऐसे रुद्रकी काचके छोटे टुकड़ेके सदृश आकृति हो गई, यह मैंने देखा । फिर दिव्यदृष्टि द्वारा यह भी मैंने देखा कि वे आकाशमण्डलसे भी छोटे अणु होने लग गये ॥ ७ ॥

परमाणुरथो भूत्वा ततस्त्वन्तर्द्धिमाययौ ।
इत्यसौ शममायातः शरदम्बुदखण्डवत् ।
तादृशोऽपि महारम्भः पुरः पश्यत एव मे ॥ ८ ॥
इति सावरणे तेन ते ब्रह्माण्डकवाटके ।
विनिगीर्णे क्षुधार्तेन हरिणेनेव पर्णके ॥ ९ ॥
अथाऽभून्निर्मलं व्योम शान्तं ब्रह्मैव केवलम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं संविदाकाशमात्रकम् ॥ १० ॥
इत्यहं दृष्टवांस्तत्र कल्पान्तमुरुविभ्रमम् ।
दर्पणप्रतिबिम्बाभं शिलाशकलकोटरे ॥ ११ ॥
अथ तामङ्गनां स्मृत्वा तां शिलां तच्च विभ्रमम् ।
राजद्वारगतो ग्राम्य इवाऽहं विस्मयं गतः ॥ १२ ॥
तामालोकितवान् भूयः कलधौतशिलामहम् ।
यावत्सर्वत्र सन्त्यत्र सर्गाः काल्या इवाऽङ्गके ॥ १३ ॥

भद्र, तदनन्तर परमाणुरूप हो गये, फिर एकदम तिरोहित (अदृश्य) हो गये । इस प्रकार उस तरह जगतसे लेकर रुद्र देहतक महारम्भ करनेवाले भी ये रुद्र शरत्कालके मेघखण्डोंके सदृश मेरे देखते-देखते क्रमशः शान्त हो गये ॥८॥

भद्र, भगवान् शङ्करजीने आवरणयुक्त ब्रह्माण्डरूपी कपाट उस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार कि क्षुधार्त हरिण क्षुद्र पत्तेको निगल जाता है ॥ ९ ॥

तदनन्तर वह दृश्यरूप कालुष्यसे रहित चिदाकाशरूप शान्त केवल ब्रह्मरूप ही रह गया । वह आदि, मध्य और सीमासे शून्य केवल ज्ञानस्वरूप ही रहा ॥ १० ॥

अब पाषाणोदर-कथाकी समाप्ति दर्शाते हुए उपसंहार करते हैं—**'इत्यहम्'** इत्यादिसे ।

भद्र, इस प्रकार उस शिलाके टुकड़ेके कोटरमें (खोड़रेमें) मैंने दर्पणमें प्रतिबिम्ब-सा महान् विभ्रमरूप संसार एवं उसका महाप्रलय देखा ॥ ११ ॥

हे राघव, तदनन्तर उस अङ्गनाका, उस शिलाका एवं उस संसारभ्रमका स्मरण कर मैं ऐसे ही विस्मयको प्राप्त हुआ, जैसे कि ग्रामीण पुरुष, जिसने कभी नगर न देखा हो, राजद्वारपर आकर परम विस्मयको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पुनः उस सुवर्णकी शिलाको मैंने पूर्व प्रदेशसे अन्य प्रदेशोंमें भी देखा ।

बुद्धिनेत्रेण दृश्यन्ते दिव्याक्ष्णा वा न ते यथा ।
सर्वत्र सर्वदा सर्वं यदस्त्येव तदा तथा ॥ १४ ॥
दूरवत्प्रेक्ष्यते मांसदृशा यद्येव सा शिला ।
दृश्यते तच्छिलैवैका न तु सर्गादि किञ्चन ॥ १५ ॥
साऽवस्थिता शिलैवैकरूपा निबिडमण्डला ।
कलधौतमयी स्फारा सन्ध्याजलदसुन्दरी ॥ १६ ॥
ततोऽहं विस्मयाविष्टः प्रविचारितवान् पुनः ।
शिलायामपरं भागं तथैव परया दृशा ॥ १७ ॥
यावत्तमपि पश्यामि जगदारम्भमन्थरम् ।
तथैव सुषिराकार इव नानार्थसुन्दरम् ॥ १८ ॥
पुनरन्यं तथैवाऽहं प्रदेशं परिदृष्टवान् ।
सर्गसंरम्भवलितं यावत्तमपि तादृशम् ॥ १९ ॥

उसके अशेष अङ्गोंमें सभी जगह कालरात्रिके अङ्गोंके सदृश अनेक सृष्टियां विद्यमान थीं ॥ १३ ॥

भद्र, बुद्धिरूपी नेत्रसे वे सृष्टियां उन शिला खण्डोंमें दीख पड़ती हैं, और अद्वैतदृष्टिसे वे नहीं भी दीख पड़तीं, सब जगह सब कालमें सर्वात्मक वस्तु जब रहती है, तब वैसा हो ही सकता है ॥ १४ ॥

यदि मांसमय दृष्टिसे दूरपर स्थित वस्तुके सदृश आपाततः देखी जाय, तो वह केवल अकेली शिला ही देखनेमें आयेगी, इसमें कुछ भी सर्ग दिखाई नहीं पड़ेगा ॥ १५ ॥

घनमण्डलवाली वह सुवर्णमयी शिला एकरूप ही स्थित थी। सन्ध्याकालके मेघके सदृश अतिसुन्दर एवं विशाल थी ॥ १६ ॥

श्रीराघव, इसके बाद अत्यन्त आश्चर्यसे युक्त होकर मैंने फिर उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें उसी प्रकारकी दिव्यदृष्टिसे विचार किया ॥ १७ ॥

विचार कर ज्यों ही मैंने उसे देखा, त्यों ही वह दूसरा भाग भी अनेक तरहके जगद्के आरम्भोंसे (सृष्टियोंसे) खचा-खच भरा ही मेरी दृष्टिमें आया। पहले जिस प्रदेशको देखा था, उसी तरहसे वह भी छिद्राकारमें (आकाशमें) अनेक तरहके अर्थोंसे सुन्दर ही लग रहा था ॥ १८ ॥

इसी तरह फिर मैंने उसके अन्य प्रदेशको भी देखा, तो वह भी उसी प्रकारसे

यं यं प्रदेशं पश्यामि शिलायास्तत्र तत्र वै ।
जगत्पश्यामि विमलमादर्श इव बिम्बितम् ॥ २० ॥
मयाऽतिकौतुकेनाऽथ सर्वास्तस्य गिरेः शिलाः ।
अन्विष्टा भूमिभागाश्च तृणगुल्मादयस्तथा ॥ २१ ॥
यावत्सर्वत्र तत्तादृग्जगदस्ति यथास्थितम् ।
बुद्ध्यैव दृश्यते नाऽक्ष्णा परया विविधाकृति ॥ २२ ॥
क्वचित्प्रथमसर्गार्थजायमानप्रजापति ।
कल्प्यमानर्क्षचन्द्रार्कदिनरात्र्यृतुवत्सरम् ॥ २३ ॥
क्वचित्किञ्चिन्महीपीठसम्पन्नजनमण्डलम् ।
क्वचित्किञ्चिदखातोग्रचतुःसागरखातकम् ॥ २४ ॥
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातसुरसञ्जातदानवम् ।
क्वचित्किञ्चित्कृतयुगाचारसज्जनभूतकम् ॥ २५ ॥

अनेक तरहकी सृष्टियोंके आडम्बरोंसे परिपूर्ण ही था ॥ १९ ॥

भद्र, उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैं देखता, उस-उस प्रदेशमें, निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बके सदृश, जगत दिखाई देता था ॥ २० ॥

इसके बाद मैंने बड़े ही कौतुकसे उस पर्वतकी सभी शिलाएँ, भूमिभाग एवं तृण, गुल्म आदिके ऊपर जहां कहीं भी दृष्टिपात किया, वहां सर्वत्र उसी प्रकार अनेक तरहके आकारोंसे युक्त जगत्को विद्यमान देखा। भद्र, यह उत्तम बुद्धिसे (आधिभौतिक देहभावकी भ्रान्तिसे शून्य सर्वसाक्षी मैं ही हूँ, इस बुद्धिसे) ही देखा जाता है, चर्मचक्षुसे नहीं ॥ २१,२२ ॥

उस उस प्रदेशमें जो जो विशेष विशेष देखा, अब उसे दर्शाते हैं— **'क्वचित्'** इत्यादिसे।

कहींपर प्रारम्भिक सृष्टिके लिए प्रजापति पैदा हो रहे थे, तो कहीं-पर प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रमण्डल, दिन और रातकी कल्पना की जा रही थी ॥ २३ ॥

कहींपर पृथ्वीकी पीठ मनुष्योंके समूहोंसे भरी थी, तो कहींपर राजा सगरके पुत्रोंने चार समुद्ररूपी विकट खाइयां अभीतक नहीं खोद पायी थीं ॥ २४ ॥

कहींपर कोई जगत् तो देवताओंकी उत्पत्तिसे शून्य और दानवोंकी उत्पत्तिसे

क्वचित्किञ्चित्कलियुगाचारदुर्जनभूतकम् ।
क्वचित्किञ्चित्पुरव्यूहदैत्यसङ्गरदुस्तरम् ॥ २६ ॥
क्वचित्किञ्चिन्महाशैलजालनिर्विवरावनि ।
क्वचित्किञ्चिदसम्पन्नसर्गमेकाम्बुजोद्भवम् ॥ २७ ॥
क्वचित्किञ्चिज्जरामृत्यून्मुक्तभूतलमानवम् ।
क्वचित्किञ्चिदसञ्जातचन्द्रशुन्यशिरःशिवम् ॥ २८ ॥
अनिर्मथितदुग्धाब्धिमृत्युमत्सुरपूरितम् ।
असञ्जातामृताश्वभवैद्यगोकमलाविषम् ॥ २९ ॥
शुक्रामरमहाविद्यानाशनोत्कसुरव्रजम् ।
क्वचित्किंचिच गर्भाङ्गकर्त्तनोत्कसुरेश्वरम् ॥ ३० ॥

युक्त देखनेमें आया, तो कहींपर कुछ जगत् सत्युगके आचरण और सज्जन प्राणियोंसे भरा मैंने देखा ॥ २५ ॥

भद्र, कहींपर कुछ जगत कलियुगके आचरणोंसे युक्त तथा दुर्जन प्राणियोंसे भरे थे, तो कहींपर कुछ जगत् नगरोंकी राशियों एवं दैत्योंके सङ्ग्रामोंसे अति संकीर्ण थे ॥ २६ ॥

कहींपर जगत् बड़े-बड़े पर्वतोंके समूहोंसे इतना व्याप्त था कि उसमें तनिक भी अवकाश नहीं रह गया था और कहींपर दूसरी कोई सृष्टि ही उत्पन्न नहीं हुई थी, केवल ब्रह्माजी ही उत्पन्न हुए थे ॥ २७ ॥

कहींपर कुछ जगत् ऐसे देखे कि उनमें पृथ्वीके सभी मानव जरामरणसे रहित थे और कहींपर भगवान् शङ्कर ऐसी स्थितिमें दिखाई दिये कि उनके मस्तकपर चन्द्ररूप भूषण ही नहीं रहा, क्योंकि भूपणरूप चन्द्रकी उत्पत्ति ही वहां नहीं हुई थी ॥ २८ ॥

भद्र, कहींपर तो क्षीरसागरका मथन ही नहीं हुआ था, इसलिए वह मृत्युग्रस्त देवताओंसे पूर्ण था तथा वहां अमृत, उच्चैःश्रवा, ऐरावत, धन्वन्तरि, कामधेनु, लक्ष्मी और विष भी उत्पन्न नहीं हुए थे ॥ २९ ॥

कहींपर शुक्राचार्यकी मृतसंजीविनी महाविद्या पैदा करनेवाली महती तपश्चर्यामें विघ्न डालनेके लिए देवता उत्कण्ठत दिखाई दे रहे थे, तो कहींपर भावी शत्रुओंके नाशके निमित्त दितिके पेटमें घुसकर गर्भके अवयवोंको काटनेके लिए इन्द्र उत्सुक थे ॥ ३० ॥

अपरिम्लानधर्मत्वात्स्वप्रकाशाखिलव्रजम् ।
क्वचित्किञ्चिच पूर्वान्यसन्निवेशक्रमस्थिति ॥ ३१॥
अपूर्ववेदशास्त्रार्थसमाचारविचारणम् ।
क्वचित्किञ्चिन्न कल्पान्तसंक्षोभमिव संस्थितम् ॥ ३२ ॥
क्वचित्किञ्चिच दैत्यौघविलुण्ठितसुरालयम् ।
क्वचित्किञ्चित्सुरोद्यानगायद्गन्धर्वकिन्नरम् ॥ ३३ ॥
क्वचित्किञ्चित्समारब्धगीर्वाणासुरसौहृदम् ।
भूतभव्यभविष्यत्स्थजगदाडम्बरं मया ॥ ३४ ॥
तदाऽनुभूतं वपुषि महाविश्वगणात्मनि ॥ ३५ ॥
एकत्र कल्पविक्षुब्धपुष्करावर्तमन्थरम् ।
एकत्र सौम्यसकलभूतसंततिसंस्थितम् ॥ ३६ ॥

कहींपर जगत्में धर्ममें ग्लानि न आनेके कारण समस्त जनता स्वप्रकाश ब्रह्मज्ञानसे पूर्ण थी, कहींपर तो पदार्थस्थिति पूर्वसिद्ध अवयव रचनाके क्रमसे विलक्षण ही थी ॥ ३१ ॥

कहींपर जगत् अपूर्व वेद एवं शास्त्रके अर्थोंके अनुसार आचरण तथा विचारमें तत्पर दिखाई दिया तथा कहींपर महाप्रलयके क्षोभसे रहित अतएव सुन्दर निश्चलरूपसे स्थित दिखाई पड़ा ॥ ३२ ॥

कहींपर तो जगत्में दैत्योंके समूहोंसे देवताओंके घर लूटे हुए मिले, और कहीं किसी जगत्में देवताओंके उद्यानोंमें गन्धर्व तथा किन्नर मधुर गाना गा रहे थे ॥ ३३ ॥

कहीं किसी जगत्में देवता और दानवोंमें समुद्रमथनके लिए बना हुआ उत्तम सौहार्द (मेल) देखनेमें आया ॥ ३४ ॥

भद्र, इस प्रकार भूत, वर्तमान एवं भविष्य कालके महान् जगदाडम्बरको मैंने उस समय विश्वरूप महादेवजीके स्वरूपमें यानी मायायुत चिदाकाशमें देखा ॥ ३५ ॥

उसी जगत्के आडम्बरको फिर दर्शाते हैं—'एकत्र' इत्यादिसे ।

कहींपर जगत् कल्पकालके कुपित पुष्करावर्त मेघोंके कारण व्याकुल था, तो कहींपर शान्त समस्त भूतोंके समूहोंसे उपद्रव रहित था ॥ ३६ ॥

एकत्र समनुक्षुब्धसुरासुरनरेश्वरम् ।
एकत्राऽसम्भवद्भानुनित्याभिन्नतमोघनम् ॥ ३७ ॥
एकत्राऽसंभवद्ध्वान्तं कान्तं ज्वालोदरोपमम् ।
एकत्र नलिनीनालनिलीनमधुकैटभम् ॥ ३८ ॥
एकत्र पद्ममञ्जूषासुप्तबालनवाब्जजम् ।
एकत्रैकार्णवोदग्रवृक्षविश्रान्तमाधवम् ॥ ३९ ॥
एकत्र कल्परजनीनिःशून्यतिमिराकुलम् ।
शिलाजठरनिस्पन्दं व्योमैव विततकृति ॥ ४० ॥
सुषुप्तजठराकारमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं सुषुप्तमिव सर्वतः ॥ ४१ ॥
एकत्र पक्षविक्षुब्धशैलकाकाकुलाम्बरम् ।
एकत्र वज्रनिष्पेषद्रवद्भूधरभासुरम् ॥ ४२ ॥

कहींपर कुपित देवता, दानव एवं राजाओंसे व्याप्त था, कहींपर सूर्यकी उत्पत्ति ही न होनेके कारण निरन्तर अनाशित अन्धकारसे पूर्ण था ॥ ३७ ॥

कोई सूर्योदयके कारण अन्धकारसे रहित अतएव ज्वालोदरके समान सुन्दर प्रतीत हो रहा था, और कहीं भगवान्‌के नाभिकमलकी नालमें मधु और कैटभ छिपे हुए थे ॥ ३८ ॥

किसी जगत्‌में तो नवीन ब्रह्माजी कमलकी पिटारीमें बालकरूपमें सोये पड़े थे, किसी जगत्‌में तो महाप्रलयमें उन्नत अग्रभागवाले अक्षय वटके पत्तेके ऊपर भगवान् नारायण विश्राम ले रहे थे ॥ ३९ ॥

किसी जगत्‌में प्रलयरूपी महारात्रिका अतिशून्यरूप यानी प्रकाशरहित गाढ़ अँधेरा छाया हुआ था, तो किसीमें शिलाके पेटके सदृश निश्चल विशालाकृति आकाश ही दीख पड़ता था ॥ ४० ॥

कोई तो सोया हुआ और जठरके सदृश मालूम पड़ रहा था, कोई अतर्कित (विलक्षण) तथा ज्ञानयोग्य ही नहीं था, इसलिए चारों ओर सुषुप्त-सा प्रतीत हो रहा था ॥ ४१ ॥

किसी जगतमें परोंसे अत्यन्त क्षुब्ध पर्वतरूपी कौओंसे सारा आकाशमण्डल आच्छन्न था और किसीमें तो वज्रसे चूर्णित अतएव द्रवीभूत पर्वतोंके कारण अपूर्व भासुरता दीख पड़ती थी ॥ ४२ ॥

एकत्रोद्वृत्तमत्ताब्धिह्रियमाणधराचलम् ।
एकत्र पुरवृत्रान्धबलिसङ्गरसङ्कुलम् ॥ ४३ ॥
एकत्र मत्तपातालगजकम्पिवसुन्धरम् ।
एकत्र शेषशिरसः कल्पान्तलुठितावनि ॥ ४४ ॥
क्वचिदल्पेन रामेण हतरावणराक्षसम् ।
रक्षसा रावणेनैव क्वचिद्विहतराघवम् ॥ ४५ ॥
भूस्थपादेन देवाद्रिशिरस्थशिरसा परम् ।
पश्याम्यम्बरमाक्रान्तं क्वचिद्वै कालनेमिना ॥ ४६ ॥
क्वचिच्चापसुरैर्नित्यं दानवैरेव पालितम् ।
क्वचिच्च भ्रष्टदनुजैरमरैरेव पालितम् ॥ ४७ ॥
जिष्णुयुक्तेन गुप्तेन विष्णुपाण्डवकौरवैः ।
क्वचिद्भारतयुद्धेन निहताक्षौहिणीगणम् ॥ ४८ ॥

किसीमें तो तरङ्गमालाओंसे आकुल प्रमत्त समुद्र पृथ्वी और पर्वतोंको ले जाते हुए दीख पड़े और कहींपर त्रिपुरासुर, वृत्रासुर, अन्धकासुर तथा बलिके सङ्ग्राम हो रहे थे, इससे वह बड़ा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था ॥ ४३ ॥

कहींपर मत्त पातालगजोंसे वसुन्धरा कम्पित हो रही थी और कहीं शेषके मस्तकसे कल्पान्तमें पृथ्वी लुढ़क रही थी ॥ ४४ ॥

किसी स्थानमें छोटे बालकरूप रामजी राक्षस रावणको नष्ट कर रहे थे, तो किसीमें राक्षस रावण ही सीता-हरण द्वारा राघवको ठग रहा था ॥ ४५ ॥

कहींपर कालनेमि राक्षसने भूमिपर धरे अपने पैरसे तथा सुमेरु पर्वतके मस्तकपर रक्खे अपने मस्तकसे महान् आकाश आक्रान्त कर रक्खा था, यह भी मुझे देखनेमें आया ॥ ४६ ॥

कहींपर सारा जगत् देवोंको हटाकर दानवों द्वारा पालित था और कहींपर दानवोंको हटाकर देवों द्वारा ही पालित था ॥ ४७ ॥

कहींपर जगत् अर्जुनयुक्त स्वजनपालक कृष्णसे पाण्डव तथा कौरवोंके द्वारा महाभारत-युद्धसे अनेक अक्षौहिणियोंका विनाश किया जा रहा था ॥ ४८ ॥

श्रीराम उवाच

किमहं भगवन् पूर्वमभवं कथयेति मे ।
अभवं चेदनेनैव संनिवेशेन तत्कथम् ॥ ४९ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वं एव विवर्त्तन्ते राम भावाः पुनः पुनः ।
पूर्यमाणा यथा माषाः क्रमेणाऽन्येन तेन वा ॥ ५० ॥
सर्वक्रमसमाः केचित्तथैवाऽन्येन वा मिथः ।
स्फुरन्त्यर्थसमा भावाः केचिदब्धितरङ्गवत् ॥ ५१ ॥
पुनस्त्वं पुनेरवाऽहं पुनः पुनरिमे जनाः ।
न कदाचन नैवाऽन्ये संभवन्त्यखिलं परे ॥ ५२ ॥
त एवाऽन्येऽथवाऽम्भोधौ तरङ्गा इव निर्णयः ।
यद्वन्न जायते तद्वद् भूतानां भ्रमतां भवेत् ॥ ५३ ॥

'कहीं छोटे बालक रामजीके द्वारा रावण मारा जा रहा था' यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए श्रीरामजी प्रश्न करते हैं—'किमहम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्, क्या मैं पहले उत्पन्न हुआ था, यदि उत्पन्न हुआ था, तो क्या इन्हीं अवयवोंसे उत्पन्न हुआ, या दूसरे अवयवोंसे, यदि इन्हींसे उत्पन्न हुआ तो यह कैसे संभव है ! यह मुझसे कहिये ॥ ४९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्र, सभी पदार्थ बारबार दूसरे या उसी क्रमसे अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं, जैसे कि बार-बार घड़े आदिमें भरे जा रहे उड़द उसी या अन्य क्रमसे अवयवसंनिवेश (आकृति) धारण करते हैं ॥५०॥

भद्र, कोई पदार्थ, जिनके सब क्रम समान हैं, शब्दोंके अर्थोंके तुल्य उसी आकृतिसे स्फुरित होते हैं या कोई समुद्रकी तरङ्गोंके सदृश उसी अथवा परस्पर भिन्न आकृतिसे स्फुरित होते हैं ॥ ५१ ॥

राघव, फिर-फिर तुम, फिर-फिर हम और ये मनुष्य भी फिर-फिर उत्पन्न होते ही रहते हैं । वास्तवमें तत्त्वदृष्टिसे चेतनात्मामें कभी ये या दूसरे या यह सारा जगत् न उत्पन्न होता है या न स्फुरित ही होता है ॥ ५२ ॥

माया दृष्टिसे वे ही उत्पन्न होते हैं या अन्य उत्पन्न होते हैं, इस विषयका तो निर्णय है ही नहीं, यह कहते हैं—'त एवा०' इत्यादिसे ।

आयान्ति यान्त्यनन्तानि भूतानीह भवभ्रमैः ।
तान्येवाऽन्यानि चाऽन्यानि समानि विषमाणि च ॥ ५४ ॥
आवृत्तिमन्ति तान्येव तथैवाऽन्यानि चाऽभितः ।
विद्धि सीकरजालानि भूतानि जगदम्बुधेः ॥ ५५ ॥
वित्तबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ।
तैरेव केचिज्जायन्ते भूयो भूयः शरीरिणः ॥ ५६ ॥
अर्द्धैस्तैः सदृशाः केचित्केचित्पादेन तैः समाः ।
तज्जीवास्तैर्विसदृशा भवन्त्यन्यशरीरिणः ॥ ५७ ॥

समुद्रमें वे ही तरङ्गें दूसरी बार आईं या दूसरी तरङ्गें आईं, यह जैसे अभीतक निर्णय नहीं हो पाया है, वैसे ही भ्रमण कर रहे प्राणी वे ही आये या दूसरे आये इसका भी अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है ॥ ५३ ॥

भद्र, इस संसारमें उत्पन्न हो रहे अनेकविध भ्रमोंके कारण भूत-समुदाय आते और जाते रहते हैं । कोई तो उसी रूपसे आते हैं, कोई अन्य रूपसे आते हैं, कोई समान रूपसे आते हैं और कोई विषम रूपसे आते हैं ॥ ५४ ॥

चारों ओर भूत उसी रूपसे घूमते हैं और अन्य रूपसे भी घूमते हैं, अधिक क्या कहें ये भूत जगत्-रूपी सागरके जलकणरूप ही हैं, यह आप जानिये ॥ ५५ ॥

इस विषयका पूर्वमें मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरणमें जो कथन किया गया था, उसका स्मरण कराते हुए उसीको कहते हैं—'वित्त०' इत्यादिसे ।

संसारके कोई प्राणी तो पूर्वके ही धन, बन्धु, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंको लेकर ही बारबार उत्पन्न होते हैं ॥ ५६ ॥

कोई जीव पूर्वके उन धन आदिसे आधे समान होकर आते हैं और कोई चतुर्थांशसे समान होकर आते हैं, तो कोई जीव ठीक वे ही (उसी शरीरके) बनकर आते हैं और कोई अन्य शरीर धारणकर बिलकुल असमान होकर आते हैं । इससे जीवोंकी एकता होनेपर शरीर भी समान ही होने चाहिए, यह नियम नहीं रहा ॥ ५७ ॥

सर्वैरेभिः समाः केचित्कालेनैव विलक्षणाः ।
कालेन सदृशाः केचिदनेन च विलक्षणाः ॥ ५८ ॥

कालेनाऽऽकुलचेष्टयाऽन्य इव ते गच्छन्त्यधोर्ध्वं पुन-
र्देहालेखनखेदितान्यगणितान्यन्यानि चाऽन्यान्यलम् ।
भूताम्बूनि वहन्ति संसृतिमये तान्यम्बुधौ चञ्चले
चक्रावृत्तिमयानि सङ्कुलयितुं शक्नोति कस्तान्यलम् ॥५९॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जगदन्यान्यत्ववर्णनं नाम षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इसी प्रकार जीवोंका भेद होनेपर शरीर असमान ही होंगे, यह भी नियम नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'सर्वै०' इत्यादिसे ।

किसी समय धन आदिसे एकरूप होते हुए भी ये जीव कालके प्रभावसे अन्य समयमें ठीक उनसे विपरीत हो जाते हैं । किसी समय कालके प्रभावसे सदृश होते हैं, तो शरीरके प्रभावसे विसदृश होते हैं ॥ ५८ ॥

चूँकि वे ही जीव राग, द्वेष, भोगलंपटता आदि दोष पूर्ण विचित्र विचित्र धर्माधर्म चेष्टाके कारण कालवश विचित्र अनेक देह धारणसे दूसरे दूसरे रूपवाले बनकर नीचे एवं ऊपरके लोकोंमें बारबार आते जाते रहते हैं, इसलिए चञ्चल संसारमय समुद्रमें चक्राकार आवर्तमय जो प्राणीरूप जल बह रहा है, वे सदृश हैं, विसदृश हैं, अथवा वे ही हैं या अन्य हैं, इस विषयका निर्धारण भलीभांति कौन पुरुष कर सकता है यानी कोई नहीं कर सकता ॥ ५९ ॥

छियासी सर्ग समाप्त

सप्ताशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्व्याप्यनन्तो निरामयः ।
दत्तावधानो वपुषि तदा पश्याम्यहं क्वचित् ॥ १ ॥
यावदन्तर्गतः सर्गः संस्थितोऽङ्कुरितोपमः ।
कुसूलस्येव बीजस्य सिक्तस्यैवाऽङ्कुरो हृदि ॥ २ ॥
ऊर्ध्वमुच्छून एवाऽन्तः सेकाद्बीजे यथाऽङ्कुरः ।
आकारवत्यनाकारे चित्त्वाचित्त्वे तथा जगत् ॥ ३ ॥
यथोन्मिषति दृश्यश्रीः सुषुप्ताद्बोधमेयुषः ।
जाग्रद्वा विगते स्वप्ने चिन्मात्रस्य स्वचेतनात् ॥ ४ ॥

सतासी सर्ग

[देह, इन्द्रिय आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे अपनी देहमें ही विश्वकी कल्पना तथा अपनी स्वयंभूरूपताका श्रीवसिष्ठजीके द्वारा वर्णन]

जैसे मैंने ध्यानपूर्ण दृष्टिसे सुवर्ण-शिला, वृक्ष, तृण आदि समस्त पदार्थोंमें सृष्टियाँ देखी थीं वैसे ही अपने शरीरके अवयवोंमें भी ध्यानपूर्ण दृष्टिसे अनेक सृष्टियाँ देखीं, यह कहते हैं—'ततः' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, शिला, तृण, गुल्मादिमें विचित्र सर्ग देखनेके बाद निरामय, सर्वव्यापी, अनन्त, चिदाकाशस्वरूप तथा समाहितचित्त होकर जब मैं देखने लगा, तो मैं क्या देखता हूँ कि मेरे शरीरके ही भीतर सर्ग स्थित है, जिसकी उपमा अङ्कुरित बीजसे दी जा सकती है । यह सर्ग डेहरीके भीतर स्थित वृष्टिसे सिक्त हुए बीजके अङ्कुरके सदृश है ॥ १, २ ॥

जैसे बीजमें भीतर विद्यमान अङ्कुर सींचनेसे विकसित होकर ऊपरकी ओर निकल आता है वैसे ही मूर्त-अमूर्त, चेतन और अचेतन सभी वस्तुओंमें यह जगत् है ॥ ३ ॥

अपनी समाधिमें उस सृष्टिका आपने कैसे अनुभव किया ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

जैसे सुषुप्ति-अवस्थासे स्वप्नावस्थाको प्राप्त चिन्मात्र पुरुषकी स्वचेतनसे स्वाप्न-

तथैकाऽऽत्मनि सर्गादावनुभूतस्वरूपिणि ।
हृदि सर्गोदयो नाऽन्यरूप आकाशरूपतः ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

आकाशरूप आकाशे परमाकाश कथ्यताम् ।
भूयो निपुणबोधाय कथं सर्गः प्रवर्तते ॥ ६ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु राम यथा पूर्वं स्वयंभूत्वं मया तदा ।
अनुभूतमसत्सद्वदिदं स्वप्नपुरोपमम् ॥ ७ ॥

हृदयश्री विकसित होती है अथवा जैसे स्वप्नावस्थाके हट जानेपर प्रबोधको प्राप्त हुए पुरुषका जाग्रत्प्रपञ्च विकसित होता है वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें जिसने अपने स्वरूपका पृथक् रूपसे अनुभव किया है ऐसे आत्मामें यह सृष्टि उदित होती है। हृदयाकाशमें हुआ यह सृष्टिका उदय आकाशस्वरूपसे (चिदाकाशसे) पृथक् नहीं है ॥ ४, ५ ॥

'हृदि सर्गोदयः' इससे आपने 'हृदय' पदसे हृदयाकाश कहा है और 'आकाशरूपतः' इससे मैंने आपका अभिप्राय 'चिदाकाश' समझा है, अपने इस मतलबको सम्बोधन द्वारा सूचित करते हुए श्रीरामचन्द्रजी—भगवन्, मेरे स्पष्ट परिज्ञानके लिए विस्तारके साथ आप पुनः इसका वर्णन कीजिये, यह प्रार्थना करते हैं—'आकाशरूप' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—परमाकाश हृदयाकाशरूप हे वसिष्ठजी, चिदाकाश-रूप आपमें सृष्टि कैसे प्रवृत्त होती है, यह आप मुझसे फिर कहिये, ताकि इसका मुझे ठीक-ठीक परिज्ञान हो जाय ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा पूछे गये मतलबको विस्तारके साथ कहनेके लिए श्रीवसिष्ठजी प्रतिज्ञा करते हैं—'शृणु' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैंने अपनेमें सत्के तुल्य प्रतीत होनेवाले वस्तुतः स्वप्ननगरके समान असत् इस स्वयंभू-रूपताका पहले जिस तरह अनुभव किया, उसका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये ॥ ७ ॥

तमालोक्य महाकल्पसंभ्रमं व्योमरूपिणा ।
भागेऽन्यत्र शरीरस्य संविदुन्मेषिता मया ॥ ८ ॥
यदैव साऽमला संवित्किञ्चिदुन्मेषिता स्थिता ।
तदैवाऽहं क्वचित्तत्र पश्याम्याकाशतामिव ॥ ९ ॥
गतं स्वभावं चिद्व्योम यथा त्वं राम निद्रया ।
जाग्रद्वा स्वप्नलोकं वा विशन्वेत्सि समं घनम् ॥ १० ॥
दिङ्मात्राकाशमेवाऽऽदौ ततोऽस्मीत्येव वेदनम् ।
तद्घनं कथ्यते बुद्धिः सा घना मन उच्यते ॥ ११ ॥

उस सुवर्णशिला आदिमें महाकल्पके संभ्रमको देखकर चिदाकाशस्वरूप मैंने शरीरके अन्य भागमें स्थित संवित्को सृष्टि देखनेके सङ्कल्पसे कौतुकवश उन्मेषित किया—जागृत किया ॥ ८ ॥

पहले 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुतिमें प्रतिपादित क्रम जिसका उपलक्षण है ऐसे आकाशकी कल्पना कहते हैं—'यदैव' इत्यादिसे ।

वह निर्मल संवित् मेरे द्वारा ज्योंही कुछ उन्मेषको प्राप्त होकर स्थित हुई त्योंही मैं वहाँ कहींपर आकाशताका-सा अवलोकन करने लग गया ॥ ९ ॥

यह आकाशता चिद्घनके भीतरी शून्यभावप्राप्तिरूप सौक्ष्म्यका आधिक्य न था, किन्तु चित्सौक्ष्म्यकी अपेक्षा जाड्य अधिक होनेसे स्थूलता ही थी, इस आशयसे दृष्टान्त द्वारा सम्भावना करते हैं—'गतम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे नींद आ जानेसे उसके द्वारा स्वप्नके जाग्रत लोक या स्वप्नके स्वप्न लोकमें प्रविष्ट होते हुए आप अपनी आत्माके ही समान घन उसके आधार स्वभावको समझते हैं वैसे ही स्वभावको प्राप्त चिदाकाशका मैंने अनुभव किया, यह आप सम्भावना कर लीजिये ॥ १० ॥

दिङ्मात्र* आकाश ही सर्वप्रथम चिन्तन करनेसे चित्त होता है । तदनन्तर 'मैं आकाश हूं' ऐसा जो वेदन है वह अहङ्कार कहलाता है । उसके बाद 'आकाशमेव' ऐसे निश्चयसे और पूर्वभावके विस्मरणसे वह बुद्धि कहलाता है और वही (बुद्धि ही)जब सङ्कल्प, विकल्प, काम तथा विचिकित्सा आदिकी नानाविध कल्पनाओंवाली बन जाती है तब 'मन' इस नामसे कही जाने लगती है ॥ ११ ॥

---

* अर्थात् अपनी चलनक्रियाके अनुकूलरूपसे दिशाओंका अपनेमें पर्यालोचन करनेवाला ।

तद्वेत्ति शब्दतन्मात्रं तन्मात्राणीतराण्यथ ।
पञ्चेन्द्रियाणि तत्स्थौल्यादितीन्द्रियगणोदयः ॥ १२ ॥
सुषुप्ताद्विशतः स्वप्नं जगद् दृश्यघनोदयम् ।
यथा तथैव सर्गादौ दुःखं भाति निमेषतः ॥ १३ ॥
तुल्यकालमनन्तेऽस्मिन् दृश्यजालावभासने ।
कथयन्ति क्रमं केचित् केचिन्न कथयन्ति च ॥ १४ ॥
परमाणुकणे कान्ते सम्पन्नमनुभूतवान् ।
अहं चेतनमात्मानं वस्तुतोऽमलमेव खम् ॥ १५ ॥

वही इस तरह विषयोंकी कल्पना करनेके अनन्तर उनकी ग्राहक इन्द्रियोंकी भी कल्पना करता है, यह कहते हैं—'तद्वेत्ति' इत्यादिसे ।

इस तरह वह पहले शब्द-तन्मात्राकी कल्पना करता है। उसके अनन्तर अन्य तन्मात्राओंकी कल्पना करता है। तदनन्तर उनकी स्थूलतासे पांच इन्द्रियोंकी कल्पना करता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके समुदायका उदय होता है ॥ १२ ॥

इन्हीं विषयों तथा इन्द्रियोंके कारण ही पहले दुःखरहित रहनेवाले आत्माको स्वप्नकी तरह व्यवहारमें दुःखोंकी प्राप्ति होती है, यह कहते हैं—'सुषुप्ताद्' इत्यादिसे।

जैसे सुषुप्तिसे स्वप्नमें प्रविष्ट हो रहे पुरुषको दृश्यके गझिन (घने) आविर्भावसे युक्त जगत्का भान क्षण भरमें होता है। वैसे ही सृष्टिके प्रारम्भमें जब दुःखरहित शुद्ध आत्मा इन्द्रियों द्वारा विषयोंकी ओर (अभिमुख) होता है, तब निमेषमात्रमें ही उसको दुःख भासित होने लगता है ॥ १३ ॥

स्वप्नमें आकाशादिक्रमसे सृष्टि नहीं होती, किन्तु एक ही समयमें सहसा सम्पूर्ण जगतका अवलोकन होने लगता है, इसलिये आपका यह विषम दृष्टान्त है, इस आशङ्कापर कहते हैं—'तुल्यकाल०' इत्यादिसे ।

इस अनन्त परब्रह्म परमात्मामें जब एक ही समयमें सारा दृश्य-जाल भासने लगता है, तब कोई तो उसमें क्रमका * वर्णन करते हैं और कोई नहीं भी करते ॥ १४ ॥

क्षणके अन्दर दीर्घकालकी कल्पनाके समान सुन्दर परमाणुके अन्दर भी दीर्घ

---

* स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत । स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' इत्यादि श्रुतियोंमें एक ही समयमें सृष्टिका श्रवण होनेसे एक क्षणके अन्दर ही दीर्घ कालकी कल्पना द्वारा क्रमकी उपपत्ति होती है ।

यथा स्वभावतो व्योम्नि चलत्येवाऽनिशं मरुत् ।
तथा स्वभावात् सर्वत्र पश्यत्येव वपुस्त्विति ॥ १६ ॥
यादृशं चेतितं रूपं शक्त्या परमया तया ।
तच्छक्नोत्यन्यथाकर्तुं नैषा यत्नेन भूयसा ॥ १७ ॥
ततः पश्याम्यहं यावत्सम्पन्नोऽप्यणुरूपकः ।
चित्त्वाच्चेतस्तदेवाऽऽशु तथाभूतोऽस्मि संस्थितः ॥ १८ ॥
ततोऽहं बुद्धवान् रूपं तनु तेजःकणाकृति ।
तदेव भावयन् पश्चाद् गतोऽहं स्थूलतामिव ॥ १९ ॥
प्रेक्षे तावदहं किञ्चिदिति बोधाल्लघोस्ततः ।
मनागालोकनायैव सम्प्रवृत्तोऽनुभूतवान् ॥ २० ॥

देशकी कल्पनासे सम्पन्न ब्रह्माण्डात्मक चेतन आत्माका मैंने ही अनुभव किया—अवलोकन किया। वास्तवमें तो वह आत्मा निर्मल चिदाकाशरूप ही है ॥ १५ ॥

जैसे वायुका सञ्चलनस्वभाव है वैसे ही शरीर आदिकी कल्पना करना मनका स्वभाव है, यह कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

जैसे वायु स्वभावसे ही आकाशमें निरन्तर चलता रहता है वैसे ही मन स्वभावसे सर्वत्र शरीर आदिका अवलोकन करता ही रहता है ॥ १६ ॥

प्राथमिक मनकी कल्पनारूप उस परम शक्तिने संसारके रूप आदिकी जैसी कल्पना की है उसे स्वयं बड़े प्रयत्नसे भी यह बदल नहीं सकती। कहनेका तात्पर्य यह कि उत्तर कल्पनाओंमें वही स्थिर नियति बनी रही ॥ १७ ॥

यही कारण है कि उसके बाद मैं अपरिच्छिन्नस्वरूप रहनेपर भी उसके द्वारा की गई परिच्छेदकी कल्पनासे परिच्छिन्न बन गया। सच पूछिये तो चितिरूप होनेसे उस चित्तके ही रूपमें शीघ्र वैसा मैं स्थित हुआ ॥ १८ ॥

उसके बाद चितिके प्रतिबिम्बकी व्याप्तिसे तेजके कणकी तरह आकृतिवाले सूक्ष्म लिङ्ग शरीरका मैंने अनुभव किया और फिर उसी सूक्ष्म शरीरकी भावना करते करते मैं स्थूलदेहताको प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

उसके पश्चात् 'मैं कुछ देखूँ' इस साधारण बोधसे जब कुछ देखनेके लिए प्रवृत्त हुआ, तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं उस स्थूल शरीरमें चक्षु आदि इन्द्रियोंकी कल्पना द्वारा रूप आदिका अवलोकन करनेवाला बन गया हूँ ॥ २० ॥

यन्नाम तत्र तत्किञ्चित्तस्येहाऽद्य रघूद्वह ।
शृणु नामानि मुख्यानि कल्पितानि भवादृशैः ॥ २१ ॥
द्रष्टुं प्रवृत्तो रन्ध्रेण येन तच्चक्षुरुच्यते ।
यच्च पश्यामि तद्दृश्यं दर्शनं तु फलं ततः ॥ २२ ॥
यदा पश्यामि कालोऽसौ यथा पश्यामि स क्रमः ।
प्रौढा नियतिरित्यस्य यत्र पश्यामि तन्नमः ॥ २३ ॥
स्थितोऽस्मि यत्र देशोऽसावित्यद्यैषा प्रकल्पना ।
तदा त्वहं चिदुन्मेषमात्रात्तन्मात्रकारणम् ॥ २४ ॥
पश्यामीति ततस्तत्र मनाग्बोधो ममोदभूत् ।
ततो रन्ध्रद्वयेनाऽहमपश्यं यत्तदप्यखम् ॥ २५ ॥

हे रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी, यहां जो कुछ नाम सुनाई पड़ता है वस्तुतः वह उस चितिका ही नाम है। परन्तु आपके सदृश महानुभावोंने जिनकी कल्पना की है ऐसे कुछ मुख्य नामोंका अब [मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप] श्रवण कीजिये ॥ २१ ॥

जिस छिद्रसे मैं देखनेके लिए प्रवृत्त हुआ, वह नेत्र कहलाता है, जिसे मैं देखता हूँ, वह दृश्य यानी रूप कहा जाता है और दर्शन तो उसका फल है ही ॥ २२ ॥

जब मैं देखता हूँ, वह काल है, जैसे देखता हूँ, वह क्रम है और जहां मैं देखता हूँ, वह आकाश है। इस तरह इस आत्माकी प्रौढ़ नियति प्रवृत्त हुई। कहनेका तात्पर्य यह है कि नेत्र आदि इन्द्रियोंके बाद देश, काल आदिकी दृढ़ नियति भी सम्पन्न हो गई ॥ २३ ॥

जिस जगह मैं स्थित हूँ, वह देश कहलाता है, यह मेरी आज की कल्पना है। यह आप मुझसे पूछ सकते हैं कि उस समय आप कैसे रहे ? सुनिये, उस समय मैं चितिका उन्मेषमात्र होनेसे केवल तन्मात्रका कारण था ॥ २४ ॥

देहमें चक्षु आदि छिद्रोंकी कल्पना आदिके दर्शन आदि जनित कौतुकके बाद वहांपर मैं देखूं, ऐसा तनिक बोध मुझमें उदित हुआ। तदनन्तर जब मैं नेत्ररूप दोनों छिद्रोंसे देखने लगा, तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, वह भी सब आकाशसे भिन्न ही है ॥ २५ ॥

याभ्यायामपश्यं रन्ध्राभ्यां त इमे लोचने स्थिते ।
ततः किञ्चिच्छृणोमीति संविदित्युदिता मम ॥ २६ ॥

ततः किञ्चिन्मनाङ्मात्रं झङ्कारं श्रुतवानहम् ।
प्रध्मातस्येव शङ्खस्य शब्दं व्योम्नः स्वभावजम् ॥ २७ ॥

याभ्यामहमथाऽश्रौषं त इमे श्रवणव्रणे ।
प्रदेशाभ्यां विचरता मरुता विततस्वनम् ॥ २८ ॥

स्पर्शसंवेदनं किञ्चिदहमत्राऽनुभूतवान् ।
येन नाम प्रदेशेन तेन सा त्वक्च कथ्यते ॥ २९ ॥

येन स्पृष्टमिवाऽङ्गं तत्तदाऽहमनुभूतवान् ।
सत्संवेदनमात्रात्मा सोऽयं वायुरिति स्मृतः ॥ ३० ॥

स्पर्शनेन्द्रियतन्मात्रमिति वेदिनि संस्थितम् ।
आस्वादसंविद्याऽभून्मे तदास्वाद्यरसेन्द्रियम् ॥ ३१ ॥

जिन दो छिद्रोंसे मैंने देखा वे दोनों ये मेरे नेत्र स्थित हैं। इसके बाद 'मैं कुछ सुनूँ' यह वृत्ति मुझमें उदित हुई ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् मैंने वहांपर कुछ थोड़ा-सा एक झंकार सुना। वह जोरसे फूँके गये शंखके शब्द-जैसा आकाशका स्वाभाविक शब्द था ॥ २७ ॥

मैंने जिन दो छिद्र-प्रदेशों द्वारा सञ्चरणशील वायुकी सहायतासे* बहुत दूर तक फैले हुए शब्दका श्रवण किया वे दोनों कर्णच्छिद्र हुए ॥ २८ ॥

तदनन्तर जिस प्रदेशसे मैंने वहां जो कुछ थोड़ा-बहुत स्पर्श संवेदनका अनुभव किया, उसको त्वक् कहते हैं ॥ २९ ॥

जिससे छुए हुए-से तत-तत् अङ्गोंका मैंने अनुभव किया, वह एकमात्र सत्यसङ्कल्पस्वरूप पवन कहा गया है ॥ ३० ॥

इस रीतिसे अनुभव करनेवाले मुझमें स्पर्श-इन्द्रियतन्मात्राकी सिद्धि हुई। और जो मुझमें रसास्वाद लेनेकी संवित् (इच्छा) प्रादुर्भूत हुई वही आस्वादन करने योग्य रसभेदोंसे युक्त रसनेन्द्रिय तैयार हो गई ॥ ३१ ॥

---

* श्रोत्रादिका व्यापार भी प्राणके अधीन है, यह दिखलानेके लिए 'विचरता मरुता' यह कहा गया है।

प्राणान्मे घ्राणतन्मात्रमुदितं व्योमरूपिणः ।
इत्थं न किञ्चित्सम्पन्नं सर्वं सम्पन्नमत्र मे ॥ ३२ ॥
एवमिन्द्रियतन्मात्रजालं चेत्तत्र संस्थितः ।
यावत्तावद्धिदः पञ्च बलादेव ममोदिताः ॥ ३३ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रशरीरकाः ।
अनाकारास्तथा भातस्वरूपिण्यो भ्रमात्मिकाः ॥ ३४ ॥
एवंरूपमहं जालं भावयन् यत्तदास्थितः ।
तदहङ्कार इत्यद्य कथ्यते त्वादृशैर्जनैः ॥ ३५ ॥
एष एव घनीभूतो बुद्धिरित्यभिधीयते ।
साऽथ बुद्धिर्घनीभूता मन इत्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

घ्राणके सङ्कल्पसे आकृष्ट प्राणवायुके भेदरूप अपानसे घ्राणेन्द्रिय और तन्मात्रा उत्पन्न हुई। इस प्रकार आकाशस्वरूप मुझे देह, इन्द्रिय और विषय सम्पत्ति आदि सब कुछ प्राप्त हो गया। लेकिन वास्तवमें कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ ॥३२॥

तदनन्तर पाँचों इन्द्रियोंकी भोगवृत्ति मुझमें जबरदस्ती उदित हो गई, यह कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह जब सब इन्द्रियां और तन्मात्राओंके समुदाय मुझमें स्थित हो गये तब ये सबकी-सब पाँचों इन्द्रियोंकी भोग-वृत्तियां बलात् मुझमें उदित हो गईं। उनका शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्धमात्र ही शरीर है। वे मिथ्या होनेसे ही वस्तुतः आकारशून्य हैं, किन्तु भ्रान्तिवश इनका स्वरूप प्रकाशित होता है ॥ ३३, ३४ ॥

इस तरह देह, इन्द्रिय तथा विषयकी भावना करता हुआ यानी उनका अभिमानी होता हुआ मैं स्थित हुआ। उसीको आजकल आपके सदृश जन 'अहङ्कार' इस नामसे कहते हैं ॥ ३५ ॥

दृढ़ अध्यवसायसे विशेष बढ़कर यही अहङ्कार 'बुद्धि' इस नामसे पुकारा जाता है और बादमें जब यह बुद्धि घनीभूत हो जाती है तब यह 'मन' इस नामसे कही जाती है। हे श्रीरामचन्द्रजी, यह भी आपको जान लेना चाहिये कि वही मन पुनः पुनः विषयोंका चिन्तन करनेसे 'चित्त' रूपमें सम्पन्न हो जाता है ॥ ३६ ॥

अन्तःकरणरूपत्वमेवमत्राऽहमास्थितः ।
आतिवाहिकदेहात्मा चिन्मयव्योमरूपवान् ॥ ३७ ॥
पवनादप्यहं शून्यः केवलाकाशमात्रकः ।
सर्वेषामेव भावानां शून्याकृतिररोधकः ॥ ३८ ॥
अथैवंभावनाच्चाऽहं यदा तत्र चिरं स्थितः ।
तदाऽहं देहवान् दृष्ट इति मे प्रत्ययोऽभवत् ॥ ३९ ॥
तेनाऽहंप्रत्ययेनाऽथ शब्दं कर्तुं प्रवृत्तवान् ।
शून्य एव यथा सुप्तः स्वप्नोड्डीननरो रवम् ॥ ४० ॥
अथ पूर्वं कृतः शब्दो बालेनेव तदोमिति ।
ततः स एष ॐकार इति नीतः पुनः प्रथाम् ॥ ४१ ॥

इस तरह वस्तुतः चिदाकाशरूप सूक्ष्म शरीरधारी मैं ही अन्तःकरणरूपताको प्राप्त होकर स्थित हूँ ॥ ३७ ॥

चूँकि पवनसे भी सूक्ष्म केवल आकाशमात्र शून्य-स्वरूप मैं आकृतिशून्य ही हूँ, इसीलिए सभी कल्पित हो रहे भाव पदार्थोंका मैं न तो निरोधक हूँ और न निवारक ही हूँ ॥ ३८ ॥

इस प्रकार उस पूर्वकल्पित ब्रह्मात्मक देहमें भावना करके जब मैं चिरकाल तक स्थित रहा, उस समय मुझे यह प्रतीति हुई कि मैंने स्वयं अपनेको ही चतुर्मुख देहवान् देखा है अर्थात् चतुर्मुख देहधारी मैं ही हूँ, ऐसी वृत्ति मुझमें उस समय उदित हुई ॥ ३९ ॥

वैसी वृत्ति होनेसे स्वप्नमें उड़कर आकाशमें सञ्चरण कर रहा सुप्त मनुष्य जैसे शब्द करता है उसी तरह मैंने भी शब्द करना शुरू किया ॥ ४० ॥

विशेष शब्दका अभिलाप करनेमें कोई विनिगमक न होनेके कारण सर्वसाधारण अर्थवाले शब्दसमष्ट्यात्मक ॐकारका ही मैंने पहले-पहल उच्चारण किया, यह कहते हैं—'अथ' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसके बाद पहले-पहल मैंने बालककी नाईं जो शब्द किया वह ॐ था । वही शब्द आगे चल कर संसारमें 'ॐकार' इस नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ॥ ४१ ॥

ततः स्वप्ननरेणेव यत्किञ्चिद् गदितं मया ।
तदेतद्विद्धि वाचं त्वं पश्चान्नीतां प्रथामिह ॥ ४२ ॥
ब्रह्मैव सोऽस्मि सम्पन्नः सृष्टेः कर्ता जगद्गुरुः ।
ततो मनोमयेनैव कल्पिताः सृष्टयो मया ॥ ४३ ॥
एवमस्मि समुत्पन्नो न तु जातोऽस्मि किञ्चन ।
दृष्टवानस्मि ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डान्तं न किञ्चन ॥ ४४ ॥
एवं जगति सम्पन्ने ममैतस्मिन् मनोमये ।
न किञ्चित्तत्र सम्पन्नं तच्छून्यं व्योम केवलम् ॥ ४५ ॥
इत्थं संशून्यमेवेदं सर्वं वेदनमात्रकम् ।
मनागपि न सन्त्येते भावाः पृथ्व्यादयः किल ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् स्वप्नावस्थामें स्थित मनुष्यके शब्दके समान पूर्व कल्पमें अभ्यस्त व्याहृति, गायत्री, वेदादि जो कुछ मैंने कहा, उसीको आप इस संसारमें वाणीरूप जानिये, जो पीछे वाणी नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त हुई ॥ ४२ ॥

इस तरह सृष्टिका कर्ता जगद्गुरु मैं ब्रह्मा ही हो गया और इसके अनन्तर ब्रह्मशरीरको, जो कि मनोमय ही था, धारण करनेवाले मैंने सृष्टियोंकी कल्पना की ॥ ४३ ॥

इस तरह मैं ब्रह्मरूपसे समुत्पन्न हूँ, मैंने किसी दूसरी वस्तुके रूपमें जन्म नहीं लिया है । ब्रह्मस्वरूप होकर मैंने अपना ही स्थूलदेहभूत आवरणयुक्त ब्रह्माण्ड देखा । ब्रह्माण्डसे बहिर्भूत मैं कुछ नहीं देख सका ॥ ४४ ॥

इस प्रकार मेरे इस मनोमय जगत्के सम्पन्न हो जानेपर भी वास्तवमें कुछ भी सम्पन्न नहीं हुआ है । वह सब शून्य केवल आकाश ही था ॥ ४५ ॥

यही न्याय सारी सृष्टियोंमें जानना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं— 'इत्थम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसी प्रकार यानी मेरी इस सृष्टिके समान ही यह सब वेदनमात्र शून्य ही है । ये पृथिवी आदि भावपदार्थ तनिक भी नहीं हैं, यह बिलकुल निश्चित है ॥ ४६ ॥

जगन्मृगतृडम्बूनि भान्ति संविदि संविदः ।
न बाह्यमस्ति नो बाह्ये खे तद्व्योम तथा स्थितम् ॥ ४७ ॥
मरौ नास्त्येव सलिलं संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमन्तःसन्तप्ता स्वसंभ्रमवती भ्रमम् ॥ ४८ ॥
नास्त्येव ब्रह्मणि जगत्संवित्पश्यति तत्तथा ।
निर्मूलमेव संवित्त्वादेवं भ्रान्तेश्च सम्भ्रमम् ॥ ४९ ॥
असदेवेदमाभाति हृद्येव जगदाततम् ।
सङ्कल्पनमनोराज्यं यथा स्वप्नपुरादिवत् ॥ ५० ॥
पार्श्वसुप्तजनस्वप्नस्तच्चित्तावेशनं विना ।
यथा न किञ्चित्तच्चित्तावेशनादनुभूयते ॥ ५१ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञानस्वरूप परमात्मामें ज्ञान ही जगत्रूप मृगतृष्णाजल भासते हैं। यह हमारा बाह्य जगत् बाह्याकाशमें नहीं है, किन्तु ब्रह्माकाश ही वैसा स्थित है ॥ ४७ ॥

मरुस्थलमें जल बिलकुल नहीं है, किन्तु बिना कारणके ही अन्तःकरणसे क्षुब्ध हो अपनेमें संभ्रम धारण कर बुद्धि उसमें जल देखती है, लेकिन हे श्रीरामचन्द्रजी, बुद्धिका वैसा देखना वस्तुतः उसका भ्रम है, वह जलको नहीं देखती, बल्कि जलके भ्रमको वह उस तरह देखती है ॥ ४८ ॥

इसी तरह ब्रह्ममें जगत् नहीं है, यह बिलकुल सही है, फिर भी बिना कारणके ही अज्ञानावृत संवित्स्वभावसे संविदात्मा वैसा उसे देखती ही है। उसका वैसा देखना वस्तुतः उसकी भ्रान्ति है। वह एकमात्र अपनी भ्रान्तिसे वैसा संभ्रमको देखती है, न कि ब्रह्ममें जगत्को। अथवा यों कह सकते हैं कि वह ब्रह्ममें जगत् क्या देखती है, बल्कि भ्रान्तिका संभ्रम (विलास) देखती है ॥४९॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, असद्रूप ही यह जगत अन्तःकरणमें ही ऐसे व्याप्त है, जैसे सङ्कल्पप्रयुक्त मनोराज्य तथा स्वप्नकालमें निर्मित नगर आदि व्याप्त रहता है ॥ ५० ॥

जैसे समीपमें सोये हुए मनुष्यके स्वप्नका उसके (स्वप्नद्रष्टाके) चित्तमें प्रवेश किये बिना कुछ भी अनुभव नहीं किया जा सकता, परकायप्रवेश द्वारा उसके चित्तमें प्रवेश करनेसे तो उसका अनुभव किया जा सकता है, वैसे ही जगत्कल्पनाके अधिष्ठानभूत चितिशिलामें प्रवेश किये बिना दर्पणमें

तथा जगत्तदूदृषदं सम्प्रविश्याऽनुभूयते ।
आदर्शबिम्बिताकारं दृष्टमप्यन्यथाऽप्यसत् ॥ ५२ ॥
आधिभौतिकभावेन नेत्रेण यदि लक्ष्यते ।
तत्तन्न दृश्यते किञ्चिद्गिरिरेव प्रदृश्यते ॥ ५३ ॥
आतिवाहिकदेहेन परं बोधदृशा यदि ।
प्रेक्ष्यते दृश्यते सर्गः परमात्मैव चाऽमलः ॥ ५४ ॥
सर्वत्र सर्गनिर्वाणं प्रज्ञालोकेन लक्ष्यते ।
ब्रह्मात्मैवाऽन्यथा चेत्तन्न किञ्चिदभिलक्ष्यते ॥ ५५ ॥
यत्पश्यत्यवदाता धीः सोपपत्तिविचारणा ।
न तन्नेत्रैस्त्रिभिः शर्वो नेन्द्रो नेत्रशतैरपि ॥ ५६ ॥
यथा खमावृतं सर्गैस्तथा भूरिति बुद्धवान् ।
तदाऽहमभवं ध्याता धराधारणयाऽन्वितः ॥ ५७ ॥

प्रतिबिम्बित आकारवाले जगत्‌का अनुभव नहीं होता चितिशिलामें प्रवेश कर उसका अनुभव होता है। दिखाई देनेपर भी वह वैसा नहीं है, किन्तु असत् ही है ॥ ५१,५२ ॥

यदि आप आधिभौतिक भावमय नेत्रसे देखना चाहें, तो वे शिलान्तर्गत तत्-तत् ब्रह्माण्ड आपको तनिक भी नहीं दिखाई दे सकते, एकमात्र लोकालोक पर्वतको ही आप देख सकते हैं ॥ ५३ ॥

आतिवाहिक देहसे यदि परमबोधदृष्टिसे देखा जाय, तो वह सृष्टि निर्मल परमात्मस्वरूप ही योगियोंको दिखाई देती है ॥ ५४ ॥

तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय, तो सृष्टिका निर्वाण एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही सर्वत्र दिखाई देता है। इससे विपरीत रूपसे देखनेपर तो वह कुछ भी नहीं अभिलक्षित होता ॥ ५५ ॥

तत्त्वदृष्टि और योगीकी दृष्टिकी सर्वोत्कृष्ट रूपसे प्रशंसा करते हैं—'यत्पश्य०' इत्यादिसे ।

शुद्ध बुद्धि उपपत्ति तथा विचारयुक्त होकर जो देखती है, उसे अपने तीनों नेत्रोंसे न तो भगवान् शङ्करजी देख पाते हैं और न अपने हजार नेत्रोंसे इन्द्र भगवान् ही देख पाते हैं ॥ ५६ ॥

वहां जीवन्मुक्त योगियोंकी दृष्टिसे देख रहे स्वयं तत्त्वज्ञानी श्रीवसिष्ठजीको

तया धराधारणया धरारूपधरोऽभवम् ।
अत्यजन्नेव चिद्व्योमवपुः सम्राडिवाऽचिरात् ॥ ५८ ॥
धराधारणया चैव धराधातूदरं गतः ।
द्वीपाद्रितृणवृक्षादिदेहोऽहमनुभूतवान् ॥ ५९ ॥
सम्पन्नोऽस्म्यथ भूपीठं नानावनतनूरुहम् ।
नानारत्नावलीव्याप्तं नानानगरभूषणम् ॥ ६० ॥

जब 'आकाशकी तरह यह सारी पृथिवी भी सृष्टियोंसे व्याप्त है' यह बुद्धि उदित हो गई तब क्रमशः पृथिवी आदि एक-एक भूतमें अहंभावकी धारणासे उन्होंने जो-जो कौतुक अपने-आप देखा उन सबका आगे चलकर वर्णन करेंगे। लेकिन सर्वप्रथम पृथिवीकी धारणासे जो उन्होंने देखा, उसीका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'यथा' इत्यादिसे।

योगदृष्टिसे जब मैंने यह जान लिया कि जैसे सृष्टियोंसे व्याप्त आकाश है वैसे ही पृथिवी भी अनेक सृष्टियोंसे व्याप्त है, तब पृथिवीकी धारणासे युक्त मैं ध्याता होकर स्थित हुआ ॥ ५७ ॥

जैसे चक्रवर्ती राजा केवल स्वदेहमें अहंभावका त्याग न करता हुआ ही समस्त भूमण्डलके ऊपर ममताका भाव धारण करता है उसी तरह चिदाकाश शरीर मैं भी ब्रह्माहंभावका परित्याग न करता हुआ ही धराहंभावसे यानी 'पृथ्वी मैं ही हूँ' इस तरहकी पृथिवीमें अहंभावकी धारणासे पृथिवीरूपधारी बन गया ॥ ५८ ॥

तदनन्तर हे श्रीरामचन्द्रजी, उस पृथिवीकी धारणासे पृथिवीके अभिमानी जीवकी स्वरूपता प्राप्त कर द्वीप, पर्वत, तृण, वृक्षादिकी देहका मैंने अनुभव किया ॥ ५९ ॥

जो श्रीवसिष्ठजीने अनुभव किया, उसका वे वर्णन करते हैं—'सम्पन्नो०' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, तब मैं नाना प्रकारके वन तथा वृक्षरूपी रोमोंसे परिपूर्ण, अनेक तरहकी रत्नावलियोंसे व्याप्त तथा नाना तरहके नगररूपी आभूषणोंसे सुशोभित भूतलस्वरूप हो गया* ॥ ६० ॥

* यहाँसे शुरू करके इस सर्गके अन्ततक देहाधारसे भूपीठका ही वर्णन करते हैं।

ग्रामगह्वरपर्वाढ्यं पातालसुषिरोदरम् ।
कुलाचलभुजाश्लिष्टद्वीपाब्धिवलयान्वितम् ॥ ६१ ॥
तृणौघतनुरोमाढ्यं गिरिखण्डकगुल्मकम् ।
दिग्वारणकटव्यूहधृतं शेषशिरःशतैः ॥ ६२ ॥
ह्रियमाणं महीपालैः शोभमानेभतन्तुभिः ।
प्राणिभिर्भुज्यमानाङ्गं वर्धमानं व्यवस्थया ॥ ६३ ॥
हिमवद्विन्ध्यसुस्कन्धं सुमेरूदारकन्धरम् ।
गङ्गादिसरिदापूरमुक्ताहाररणत्तनुम् ॥ ६४ ॥
गुहागहनकच्छादिसागरादर्शमण्डलम् ।
मरूषरस्थलश्वेतसुवराम्बरसुन्दरम् ॥ ६५ ॥
भूतपूर्वैः परापूर्णं परिपूतं महार्णवैः ।
अलङ्कृतं पुष्पवनैः समारब्धं रजोघनैः ॥ ६६ ॥

मैं अनेक गाँव-गुफारूपी पर्वोंसे परिपूर्ण, पातालबिलरूपी उदरसे युक्त, सात कुलपर्वतरूपी भुजाओंसे आश्लिष्ट द्वीप तथा समुद्ररूपी कङ्कणोंसे अन्वित भूपीठ हो गया ॥ ६१ ॥

भूपीठरूप मैं दिग्गजोंके मस्तक समूहों तथा शेषनागके हजार सिरोंसे थामा गया, तृणोंके समुदायरूप सूक्ष्म रोमोंसे खूब ढका गया और गुल्मरोगकी गांठोंकी तरह पर्वतोंके समूह मुझमें दिखाई देने लगे ॥ ६२ ॥

सेनासमूहरूपी तन्तुओंकी गांठ-जैसे जिनके हाथी खूब सुशोभित हो रहे थे, ऐसे अनेक राजे परस्पर युद्ध द्वारा भूपीठरूप मेरा हरण करने लगे, अनेक प्राणियोंसे मेरा अङ्ग उपभुक्त होने लगा और ग्राम, नगर तथा प्रदेश आदिकी व्यवस्थासे मैं खूब बढ़ने लग गया ॥ ६३ ॥

हिमालय तथा विन्ध्याचल मेरे सुन्दर कन्धे थे, सुमेरु पर्वत ऊँची गर्दन था, गङ्गा, यमुना आदि नदियोंके प्रवाहरूपी मुक्ताहारोंसे मेरा शरीर झङ्कारयुक्त हो उठा ॥ ६४ ॥

गुहाओंसे गहन कछार आदि देशों तथा आदर्श-मण्डल-जैसे अनेक सागरोंसे मैं परिपूर्ण हो गया और मरुदेश तथा ऊषर स्थलरूपी सफेद सुन्दर वस्त्रोंसे भासित होने लगा ॥ ६५ ॥

पहले पैदा हो चुके महासागरोंसे प्रलयकालमें बिलकुल परिपूर्ण, परन्तु इस

नित्यं कृषीवलैः कृष्टं वीजितं शिशिरानिलैः ।
तापितं तपनैस्तप्तैरुक्षितं प्रावृडम्बुभिः ॥ ६७ ॥
विपुलाग्रस्थलोरस्कं पद्माकरकृतेक्षणम् ।
सितासितघनोष्णीषं दशाशोदरमन्दिरम् ॥ ६८ ॥
लोकालोकमहाखातवलयोग्रास्यभीषणम् ।
अनन्तभूतसंघातपरिस्पन्दैकचेतनम् ॥ ६९ ॥
व्याप्तमन्तर्बहिश्चैव नानाभूतगणैः पृथक् ।
देवदानवगन्धर्वैर्बहिरन्तस्तु कीटकैः ॥ ७० ॥

समय तो स्नानकर ऊपर आये हुएके समान सब ओरसे मैं पवित्र, पुष्पोंकी वनमालाओंसे अलंकृत तथा चन्दनकी जगहपर स्थित सघन धूलियोंसे लिप्त था ॥६६॥

कृषक सब मेरे ऊपर प्रतिदिन हल जोतने लग गये और शीतल पवन पङ्खा डुलाने लगे । मैं सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तापित तथा वर्षाके जलसे सिक्त होने लग गया ॥ ६७ ॥

विशाल, सम भूप्रदेशरूपी वक्षःस्थलसे अलङ्कृत, पद्माकाररूपी नेत्रोंसे भूषित, सफेद और काले मेघरूपी* पगड़ीसे सुशोभित तथा दसों दिशाओंका उदर ही मेरा मन्दिर (घर) था ॥ ६८ ॥

मैं लोकालोक पर्वतके समीपमें स्थित, जिसका मैंने आपसे पहले वर्णन किया है, महाखातवलयरूप † उग्र मुखसे भीषण हो गया । उस समय अनन्त प्राणिसमूहोंका परिस्पन्दन ही मेरा परिस्पन्दन तथा उनका एकीभूत चेतन ही मेरा चेतन हुआ ॥ ६९ ॥

नानाविध पृथक्-पृथक् भूत समूहरूपी कीड़ोंसे बाहर तथा भीतरसे मैं व्याप्त हो गया अर्थात् उन प्राणियोंमें जो देव, दानव तथा गन्धर्व थे, उनसे तो बाहरसे व्याप्त हुआ तथा जो साधारण नानाविध कृमि, कीट आदि थे उनसे भीतरसे मैं व्याप्त हो गया । मेरे कहनेका तात्पर्य यह कि भूतलरूप मुझमें बाहर तथा भीतरसे अनेक तरहके प्राणियोंका समुदाय ठसा-ठस भर गया ॥ ७० ॥

* यहाँ प्रकरणवश सित और असित घनसे सूर्य और चन्द्रका ग्रहण है ।
† विशाल खन्दकके मण्डलरूप ।

पातालेन्द्रियरन्ध्रेषु नागासुरकृमिव्रजैः ।
सप्तस्वर्णवकोशेषु नानाजातिजलेचरैः ॥ ७१ ॥

व्याप्तं नदीवनसमुद्रदिगन्तशैल-
द्वीपाख्यजन्तुविषयस्थलजङ्गलौघैः ।
नानावलीवलितमण्डलकोशखण्डं
वल्लीसरःसरिदरातिगणाब्जखण्डैः ॥ ७२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने पार्थिवधात्वन्तर्गतजगदानन्त्यप्रतिपादनं नाम सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

भूतलरूप मैं पातालरूपी इन्द्रियछिद्रोंमें नागों तथा असुररूपी कृमिसमूहोंसे एवं सात समुद्रोंके अन्दर स्थित जलचरोंसे व्याप्त हो गया ॥ ७१ ॥

अपनी कही हुई बातोंका संक्षेपसे उपसंहार करते हुए श्रीवसिष्ठजी अनेक विशेषणोंसे भूतलरूप अपनेको विभूषित करते हैं—'व्याप्तम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, [आपसे अधिकमें क्या कहूँ, संक्षेपमें मैं आपसे यही कह देना उचित समझता हूँ कि] भूतलरूप मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीपनामक प्राणियोंके भोग्य स्थल और जङ्गलोंके समूहोंसे व्याप्त हो गया । नाना प्रकारके पर्वत, नदी आदिकी पंक्तियों तथा जनपंक्तियोंसे वेष्टित मण्डलकोशोंके अनेक खण्ड मुझमें दिखाई देने लगे तथा लताओं, अनेक सरोवरों, सरिताओं, शत्रुसमूहों एवं असंख्य कमलखण्डोंसे मैं व्याप्त हो गया ॥ ७२ ॥

सतासी सर्ग समाप्त

अष्टाशीतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भूपीठेन सता तत्र मया तदनु मानव ।
अनुभूतं नदनदीस्वसंवेदनसंस्थितेः ॥ १ ॥
क्वचिन्मरणसाक्रन्दनारीकरुणवेदनम् ।
क्वचिदुत्ताण्डवस्त्रैणमहोत्सवमहासुखम् ॥ २ ॥
क्वचिद् दुर्वारदुर्भिक्षदुराक्रन्दं दुरीहितम् ।
क्वचित्सकलसस्यौघसंपन्नघनसौहृदम् ॥ ३ ॥
क्वचिदग्निमहादाहदग्धदेहोग्रवेदनम् ।
क्वचिज्जलप्लवालूनपुरपत्तनखण्डकम् ॥ ४ ॥

अठासी सर्ग

[अपने शरीररूप भूपीठपर जहाँ तहाँ विद्यमान तथा कौतुकवश आखों देखे गये विशेष-विशेष पदार्थोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे मनुकुलमें उत्पन्न श्रीरामजी, जिस तरह मैंने आपसे वर्णन किया, उस तरह मैं भूपीठरूप बन गया। उसके बाद यानी पूर्ववर्णित साधारणरूपसे समस्त भूधर्मोंसे घटित अपनी देहको देखनेके बाद नद, नदी, समुद्र आदि विशेषाकारोंको जाननेकी इच्छासे मैंने जैसा अनुभव किया, उसे आप सुनिये ॥ १ ॥

कहींपर तो भूपीठमें पति, पुत्र, भाई आदिके मरणसे विलाप कर रही स्त्रियोंकी करुणवेदना सुनाई देती थी, तो कहींपर उन्नत ताण्डव नृत्य कर रही रमणियोंके महान् उत्सवोंसे आनन्दकी धूम मची थी ॥ २ ॥

कहींपर दुर्निवार दुर्भिक्षके कारण बीभत्स क्रन्दन हो रहा था, कहींपर दुष्ट चेष्टाओंका जाल बिछा था, कहींपर सुवृष्टिके कारण फले हुए धानोंकी सम्पत्तिसे चारों ओर घन सौहार्द निखर रहा था ॥ ३ ॥

कहींपर अग्निके महादाहसे देहोंके जल जानेके कारण लोग उग्र वेदनासे छटपटा रहे थे, तो कहींपर जलकी बाढ़से नगर एवं कसबोंके कुछ हिस्से छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ ४ ॥

क्वचिच्चपलसामन्तकृतलुण्ठनमण्डलम् ।
क्वचिदुद्दामदौरात्म्यरक्षःपैशाचमण्डलम् ॥ ५ ॥
क्वचिज्जलाशयोल्लासवेल्लनोत्पुलकाग्रकम् ।
कन्दरोदरनिष्क्रान्तवातवेल्लितवारिदम् ॥ ६ ॥
संविद्धोघोन्नमत्स्वाङ्गकेशोत्थाङ्कुरलोमकम् ।
वारिवाहनविक्षोभनतोन्नतलसत्तलम् ॥ ७ ॥
सश्वभ्रभैरवश्वभ्रपुराद्रिवनपत्तनम् ।
संविन्मण्डलसञ्चाललेखाङ्कमृदुकल्पनम् ॥ ८ ॥
क्वचित्सामन्तसंक्षुब्धसैन्यसंहरणं रणे ।
क्वचित्सौम्यसुखासीनसर्वसामन्तमण्डलम् ॥ ९ ॥
अरण्यं क्वचिदाशून्यमुल्लसद्वातझङ्कृति ।
जङ्गलं क्वचिदालूनव्युप्तसंपन्नसस्यकम् ॥ १० ॥

कहींपर जिलेके जिले चञ्चल सामन्तोंके द्वारा लूट लिये गये थे, तो कहींपर जिलेके जिले परले सिरेके दुरात्मा राक्षस एवं पिशाचोंसे भरे पड़े थे ॥ ५ ॥

कहींपर जलाशयोंकी पूर्तिसे क्यारियों एवं बगीचोंका सिञ्चन हो जानेके कारण सस्य, गुल्म आदिका अग्रभाग बड़ा ही पुलकित प्रतीत हो रहा था, कहींपर गुफाओंके उदरच्छिद्रसे निकली हुई वायुने मेघमण्डलको वेष्टित कर रक्खा था ॥ ६ ॥

कहींपर मारे हर्षके पुलकित अपने अङ्ग-केशोंके सदृश अङ्कुररूपी रोम उगे हुए थे, कहींपर जलके जबरदस्त प्रवाहसे उत्पन्न विक्षोभके कारण भूतल ऊँचा नीचा हो रहा था और इससे भला लगता था ॥ ७ ॥

कहींपर नगर, पर्वत, वन और पत्तनोंके अन्दर गड्ढे हो गये थे, इन गड्ढोंके भीतर बड़ी बड़ी शिलाएँ पड़ी थीं, इससे वे गड्ढे एक प्रकारसे सश्रृङ्गसे अतएव अत्यन्त भयङ्कर लगते थे। कहींपर नगर आदिमें रहनेवाले मनुष्योंके मण्डलोंके सञ्चलनमें उनके पैरकी रेखाके चिह्न पड़नेकी शङ्कासे भूतल कुछ मृदु कम्पन भी कर रहा था ॥ ८ ॥

कहींपर रणमें सामन्तों द्वारा क्षुब्ध सैन्यका संहार किया जा रहा था, कहींपर शान्त समस्त सामन्तसमूह सुखपूर्वक बैठा हुआ था ॥ ९ ॥

कहींपर चारों ओर जनतासे शून्य जङ्गल ही जङ्गल था, उसमें उल्लासी

हंसकारण्डवाकीर्णसरः फुल्लाम्बुजं क्वचित् ।
क्वचिन्मरुस्थलस्थूलस्तम्भनार्जुनमारुतम् ॥ ११ ॥
क्वचिन्नदनदीवाहहेलानिकषघर्घरम् ।
क्वचिदङ्कुरकार्याङ्गसिक्तबीजस्य जृम्भणम् ॥ १२ ॥
क्वचिदन्तस्तु कीटास्यमृदुस्पन्दनवेदनम् ।
मां त्वमेवाऽऽशु बुद्ध्वेह त्रायस्वेतीव बोधनम् ॥ १३ ॥
शाखापरिकराभोगं मृद्भागाङ्गनिपीडनैः ।
मूलजालमवष्टभ्य क्वचिद् विटपधारिणम् ॥ १४ ॥
अन्योन्यमलमाक्रम्य दिक्तटाङ्गनिपीडनैः ।
क्वचिदद्र्यस्थिनिबिडैरर्णवोल्लासवेल्लितम् ॥ १५ ॥

वायुओंके झकोरोंसे झङ्कार हो रहा था । कहींपर जङ्गलमें पहले काटा गया फिर बोया गया, फिर तयार हुआ धान दीख पड़ता था ॥ १० ॥

कहींपर हंस, बतक आदि पक्षियोंसे व्याप्त सरोवरोंमें सुन्दर सुन्दर कमल खिले थे, कहींपर मरुभूमिमें आंधीसे उड़ी हुई धूलियोंसे स्थूल खम्भोंको पैदा करनेवाले धूलिधूसर वायु बह रहे थे ॥ ११ ॥

कहींपर नद, नदी आदिके प्रवाहोंके खेलपूर्वक परस्पर सङ्घर्षोंसे घर-घर ध्वनि हो रही थी, कहींपर अङ्कुर आदिकी उत्पत्तिके निमित्त नहर, अरहट्ट आदि यन्त्रोंसे सींचे गए खेतमें धान आदि बीजोंका वर्धन हो रहा था ॥ १२ ॥

कहींपर भीतर कीटमुखोंका मृदु स्पन्दन अनुभूत हो रहा था और कहींपर कीड़े हे श्रीवसिष्ठजी, मुझे यहां शिला आदिके सङ्कटमें फँसा हुआ जानकर आप ही मेरी रक्षा कीजिये यों जता रहे थे ॥ १३ ॥

भद्र, कहींपर वटवृक्षोंके जङ्गलमें पृथ्वीमें शिखाओंके घुस जानेके कारण मृत्तिकाभागके अङ्गोंको पीड़ित करनेवाले शाखासमूहोंका विशालस्वरूप दीख पड़ता था, तो कहींपर मूलजालको पकड़कर वृक्षोंका धारण दिखाई देता था ॥ १४ ॥

कहींपर पर्वतोंकी शिलाओंके सदृश घनीभूत वृक्षोंने परस्पर अत्यन्त संश्लिष्ट होकर दशाओंके तटरूप अङ्गोंको भर दिया था, इससे समुद्रके विलाससे वेष्टित-सा सारा भूपीठ भास रहा था ॥ १५ ॥

शुष्कपल्लवसंकोचनिबिडाङ्गनिपीडनम् ।
अमर्षणैः करैरार्कैः स्वरसाकर्षणं क्वचित् ॥ १६ ॥

शृङ्गमन्दिरमातङ्गप्रहाराशनिभूरुहाम् ।
निबिडाङ्गोत्कटस्थैर्यपरुषापतनं क्वचित् ॥ १७ ॥

निमीलितेक्षणानन्दतनूनामसमाक्रमम् ।
क्वचित्सूक्ष्मतरोल्लेखमङ्कुरोल्लासनं नवम् ॥ १८ ॥

मक्षिकायौकमशकनिवाससदृशं क्वचित् ।
कुड्यलेशकुभृङ्गारिहलहेलानिकर्षणम् ॥ १९ ॥

शीतं शीतविशीर्णाङ्गजर्जरत्वग्विकीर्णवत् ।
पाषाणीभूतसलिलं क्वचित् परुषमारुतम् ॥ २० ॥

कहींपर इतने घने वृक्ष उगे थे कि पृथ्वीपर सूर्य अपनी किरणोंको ठीक ठीक रीतिसे फैला नहीं सकता था, इसलिए अपनी गतिको रोकनेके अपराधसे क्रुद्ध सूर्य-किरणोंके द्वारा अपना रस खींच लेनेके कारण अरण्यमें सूखे पल्लव सङ्कुचित हो गये थे और घने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका निपीडन भी हो रहा था ॥ १६ ॥

कहींपर पर्वतोंकी चोटियोंपर रहनेवाले हाथियोंके दन्तप्रहाररूप वज्रोंके कठोर आघात वृक्षोंके घने अवयवोंमें विद्यमान दृढ़ स्थिरताकी ओर होते भी मैंने देखे ॥ १७ ॥

कहींपर यह दृश्य देखा कि नेत्रोंको मूँदे हुए प्रसन्नशरीर समाधिनिष्ठ महात्माओंको अपूर्व रामाङ्कुरोंका चमत्कारी उल्लास हो रहा है। वह रोमाङ्कुरोल्लास सूचित करता था कि उनको सूक्ष्मतत्त्वका अनुभव हो गया है ॥ १८ ॥

कहींपर मक्खी, जूं एवं मच्छरोंके समूहोंके निवासके—मैले-कुचैले वस्त्रके—सरीखा ही भूतल था और कहींपर तो छोटी-मोटी भित्तियोंके खण्डों तथा प्रमादसे कमलकोशमें सोये हुए दुष्ट भ्रमरोंको मर्दित करनेके कारण शत्रुरूप हाथियों द्वारा क्रीडासे हलके सदृश वप्र आदिका कर्षण भी हो रहा था ॥ १९ ॥

कहींपर हिमालय आदि प्रदेशोंमें शीत शीतसे छिन्न-भिन्न अङ्गोंवाले जीवोंकी जर्जर हुई त्वचाको पूर्णरूपसे व्याप्तकर स्थित था, कहींपर जलको भी पाषाण बना रहा था और कहींपर कठोर पवन चल रहा था ॥ २० ॥

उद्दालीभूतमृद्वङ्गमज्जदन्तःक्रमिव्रजम् ।
क्वचिदुद्भवदङ्गादिमूलं जलनिमज्जनम् ॥ २१ ॥
शनैरन्तर्निलीनाम्बुकृताह्लादं बहिश्वर[1]-
सोन्नामाङ्कुररोमौघं क्वचिद् वर्षविजृम्भितम् ॥ २२ ॥
तनुतरपवनविकम्पितकोमलनलिनीदलास्तरणैः।
विहरणमिव मे विहितं सरोभिरङ्गेषु निर्वाणम्॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० भूमण्डलगतविशेषवर्णनं नामाष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥

——:०:——

एकोननवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

पार्थिवीं धारणां बद्धा जगन्ति समवेक्षितुम् ।
संपन्नस्त्वमसौ भूमिलोकः किमुत मानसः ॥ १ ॥

कहींपर विदलित कोमल अङ्गोंके भीतर कीटसमूह घुस रहा था, कहींपर अङ्ग आदि उत्पन्न ही हो रहे थे और कहीं जलमें मज्जन ही हो रहा है—इस प्रकार मैंने अपने भूतलरूप शरीरमें अनुभव किया ॥ २१ ॥

भद्र, अपने भूतलरूप शरीरमें मैंने कहींपर यह अनुभव किया कि बीजोंमें वृष्टिकी अधिकता हुई, इससे धीरे धीरे उनके भीतर प्रविष्ट जलकणोंसे पहले आह्लाद हुआ, फिर उसके बाद उनके बाहर प्रकट हुए अङ्कुररूपी रोमोंकी अभिवृद्धि हुई॥ २२॥

हे श्रीरामजी, मेरे भूतलरूप अङ्गोंमें कहींपर सरोवरोंने मन्द-मन्द पवनसे हिलाये गये कोमल कमलनियोंके दलोंके आस्तरणों द्वारा अपूर्व आनन्दरूप क्रीडाका, मानो मेरे लिए, निर्माण कर दिया ॥ २३ ॥

अठासी सर्ग समाप्त

नवासी सर्ग

[भूमिकी धारणासे चिदाकाशमें देखा गया यह भूमण्डल तथा सम्पूर्ण जगत् मनोमात्र हैं, यह वर्णन]

श्रीरामभद्रने कहा—गुरुवर, कौतुकसे अपनी आत्मामें सकल जगतोंको देखनेके लिए प्रवृत्त हुए आप पार्थिव धारणा बाँधकर क्या हम लोग जिस मृत्पाषाणादिरूप

---

[1]—'बहिश्वरसोन्नामाङ्कुररोमौघम्' यह समस्त पद है ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

इदं च मानसं चाऽहं संपन्नः पृथुभूतलम् ।
नेदं न मानसं नैव संपन्नो वस्तुतस्त्वहम् ॥ २ ॥
अमानसं महीपीठं न संभवति किंचन ।
यदसद्वेत्सि यत्सद्वा मनोमात्रकमेव तत् ॥ ३ ॥
चिदाकाशमहं शुद्धं तस्य मे तत्पदात्मनः ।
यच्चिन्मात्रात्मकचनं तत्संकल्पाभिधं स्मृतम् ॥ ४ ॥
तन्मनस्तन्महीपृष्ठं तज्जगत्स पितामहः ।
संकल्पपुरवद्व्योम्नि कचत्येतन्मनोनभः ॥ ५ ॥

भूलोकको देख रहे हैं, तद्रूप हो गये अथवा मनोमात्रमय यानी मनोराज्यके सदृश मृत्तिकादिशून्य स्वप्नमय भूलोक हो गये ? यह कहिये ॥ १ ॥

काल्पनिक दृष्टिसे या तात्त्विक दृष्टिसे यदि विचारा जाय, तो उक्त दो प्रश्नोंमें कोई भेद ही नहीं है, यह सूचित कर रहे श्रीवसिष्ठजी उक्त प्रश्नका उत्तर देते हैं— **'इदम्'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, यदि आप काल्पनिक दृष्टिसे पूछते हैं, तो आपकी दृष्टिसे प्रसिद्ध मिट्टी, पत्थर आदि रूपसे प्रसिद्ध जो भूमण्डल है, वही केवल मनका विकार होनेसे मानस भी है, इसलिए मैं जो विस्तृत भूमण्डलरूप हो गया, वह मानस और यह प्रसिद्ध—दोनों रूप ही बन गया था । यदि आप तात्त्विक दृष्टिसे पूछते हैं, तो वास्तवमें न तो मैं मानसरूप हुआ और न प्रसिद्ध जगद्रूप ही हुआ था ॥२॥

दूसरे श्लोकमें पूर्वार्धसे जो कहा, उसका प्रतिज्ञापूर्वक समर्थन करते हैं— **'अमानसम्'** इत्यादिसे ।

यदि आप सत् मानते हैं या यदि असत् मानते हैं, दोनों ही पक्षोंमें यह भूपीठ कुछ भी अमानस हो ही नहीं सकता । यह केवल मनकी कल्पना ही है, क्योंकि मनके अस्तित्वमें ही उसमें अस्ति-नास्ति कल्पना होती है ॥ ३ ॥

भद्र, मैं शुद्ध चिदाकाश ही हूँ, उस चिदाकाशरूप मुझमें जो चिदात्माका कुछ स्फुरण हो जाता है, उसीका नाम सङ्कल्प कहा गया है ॥ ४ ॥

वह (प्रसिद्ध) मन, वह भूमण्डल, वह जगत् और वह (प्रसिद्ध) पितामह—ये सबके सब चिदाकाशमें, आकाशमें सङ्कल्पनगरके सदृश, केवल मनरूप नभ स्फुरित होते हैं, अतः ये मनोमय ही हैं ॥ ५ ॥

एवं संकल्पमात्रं मे मनोमात्रं तदाततम् ।
धारणाभ्याससंपुष्टं भूमण्डलमिति स्थितम् ॥ ६ ॥
नेदं भूमण्डलं तद्वै तदन्यद्धि मनोमयम् ।
आकाशमात्रकचनमचेत्यं कचनं चितेः ॥ ७ ॥
तदेवाऽऽकाशमात्रात्म तथाभूतं चिरं स्थितम् ।
इदंप्रत्ययलब्धत्वान्मानसत्वं समुज्झति ॥ ८ ॥

इस तरह वह जो कुछ मैं बन गया, वह सब मेरा सङ्कल्प था, अतः वह विस्तृत मनोरूप ही रहा। केवल धारणाभ्याससे पुष्ट होकर वह भूमण्डल होकर स्थित हो गया था ॥ ६ ॥

अथवा अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध मिट्टी, काठ आदिरूपता जो लोकमें है, उसका तो 'अपागादग्नेरग्नित्वम्' इत्यादि श्रुतिसे निषेध किया गया है, अतः तत्त्वज्ञकी धारणामें जो कुछ देखा जाता है, उसका स्वरूप अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध स्वरूप नहीं हो सकता, इस आशयसे कहते हैं—'तदेवा०' इत्यादिसे।

भद्र, वह मानस भूमण्डल मिट्टी, पत्थर आदिरूप यह भूमण्डल नहीं है, उससे विलक्षण मनोमय है, चिदाकाशमात्रका स्फुरण है, चितिका अचेत्य (चेत्यभिन्न) स्फुरण है ॥ ७ ॥

यदि अमूर्त्त चिदाकाशका स्फुरण ही इस तरहका यह सब कुछ है, तब वह मूर्तरूप इदंप्रत्ययको (साकार 'यह' व्यवहारको) क्यों धारण करता है, इसपर कहते हैं—'तदेवा०' इत्यादिसे।

चिदाकाशमात्रस्वरूप होता हुआ वह दीर्घकालतक वैसा ही स्थित रहता है, धारणाके अभ्याससे पुष्ट होकर जब 'इदम्' (यह) व्यवहारसे उसका अनुभव होने लगता है तब वह मानसत्वका (मनोमयरूपताका) परित्याग कर देता है। सारांश यह है कि स्वप्न आदिमें केवल मानसरूप अतएव अस्थूल पृथ्वी आदिका जाग्रत्के सदृश 'इदम्' व्यवहारसे ही अनुभव होता है, इसलिए उनमें मनोमयता रहनेपर भी तिरोहित हो जाती है, इस स्थितिमें दूध जब दधिरूपमें बन जाता है, तब उसमें जैसे दूध स्वरूपताका अनुभव नहीं होता, वैसा यहाँ मानसत्वका अनुभव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिए, किन्तु यही कहना चाहिए कि, तरङ्ग, कुण्डल एवं साड़ीके रूपमें ही जैसे जल, सुवर्ण एवं कपासरूपता है, वैसे ही यहाँपर मानसत्व है ही, किन्तु उक्त व्यवहारके बलसे वैसा अनुभव नहीं होता, यह जानना चाहिए ॥ ८ ॥

इदं स्थिरं सुकठिनं विततं भूमिमण्डलं ।
अस्तीति जायते बुद्धिर्व्योम्नीव चिरवेदनात् ॥ ९ ॥
न्यायेनेदमिवाऽनेन न स्थितं वसुधातलम् ।
इदं चैवैकमेवाऽद्य सर्गस्याऽऽद्यमुपागतम् ॥ १० ॥
यथा स्वप्ने पुरत्वेन चिदेव व्योम्नि भासते ।
तथा चिदेव सर्गादाविदं जगदिति स्थितम् ॥ ११ ॥
विद्धि चिद्रूपबालस्य मनोराज्यं जगत्त्रयम् ।
महीतलादिकं दृश्यमिदं सर्वं च सर्वदा ॥ १२ ॥
चिद्रूपस्याऽऽत्मनो नाऽन्यः
संकल्पस्तन्मयं जगत् ।
वस्तुतस्तु न सत्यात्म
न पिण्डात्म न भासुरम् ॥ १३ ॥

भद्र, यह भूमण्डल स्थिर, अत्यन्त कठोर, अतिविस्तारवाला है, इस प्रकारकी बुद्धि, आकाशमें नीलताबुद्धिके सदृश, चिरकालके अभ्याससे ही उत्पन्न होती है ॥९॥

हे रघुवर 'घट आदि तो केवल वाणीके ही विकार हैं, वास्तवमें तो वे कुछ नहीं है, मिट्टीरूप ही हैं, मिट्टी ही सत्य है'। इस श्रुतिदर्शित न्यायसे यदि देखा जाय, तो अज्ञानियोंकी दृष्टिसे प्रसिद्ध इदंरूप यह पृथ्वीतल है ही नहीं, किन्तु मनोरूप आदि सृष्टिका जो सूक्ष्मरूप एक ही था, वही 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इस श्रुतिसे उपदर्शित यों इदम् स्थूलरूप बनकर स्थित है ॥ १० ॥

'इदंप्रत्ययलब्धत्वात्' (इदं व्यवहारसे उसका अनुभव होनेसे) इस उक्तिको स्पष्ट करते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही नगरके रूपसे चिदाकाशमें भासता है, वैसे ही सृष्टिके आदिमें चिदाकाश ही इस स्थूल जगत्‌के रूपसे चिदाकाशमें स्थित है ॥ ११॥

हे रामजी, चितिरूपी बालकका (ब्रह्माजीका) त्रिजगत्, यह भूतल आदि सब दृश्य भी सदा एक मनोराज्य ही है, यह आप जानिए ॥ १२ ॥

चिद्रूप आत्माका सङ्कल्प चिद्रूपसे भिन्न नहीं है, इसलिए जगत् तन्मय ही है। वस्तुतस्तु जगत् न तो सत्यरूप है, न पिण्डरूप है और न भासमान ही है ॥ १३ ॥

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यदि निष्कर्ष निकाला जाय, तो यह जगत् अज्ञातचितिरूप

दृश्यमस्त्यपरिज्ञातं परिज्ञातं न विद्यते ।
परिज्ञातं तदेवाऽस्य शृणोषि यदिदं चिरम् ॥ १४ ॥
सर्वं चिन्मात्रमाशान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ।
भूमण्डलात्म दृश्यात्म द्वैतैक्याभ्यां विवर्जितम् ॥ १५ ॥
मणिर्यथा स्वभावेन शुक्लपीतादिकास्त्विषः ।
अकुर्वन्नेव कुरुते चिदाकाशस्तथा जगत् ॥ १६ ॥
यतो न किंचित्कुरुते न च रूपं समुज्झति ।
तस्मान्न मानसं नेदं किंचिदस्ति महीतलम् ॥ १७ ॥
महीतलमिवाऽऽभाति चिद्व्योमैव निरन्तरम् ।
आत्मन्येवाऽतलं व्योम यथाऽमलतलं स्थितम् ॥ १८ ॥

ठहरता है और तत्त्वदृष्टिसे निष्कर्ष निकाला जाय, तो शुद्ध चिन्मात्ररूप ही ठहरता है, इस आशयसे कहते हैं—'**दृश्य०**' इत्यादिसे ।

यह दृश्य अपरिज्ञात चेतनमात्ररूप है और चेतनका परिज्ञान हो जानेपर तो कुछ भी नहीं है । तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर तो तत्त्व वस्तु ही इसका स्वरूप बन जाती है । भद्र, इसका मैं दीर्घकालसे उपदेश दे रहा हूँ और आप उसे सुनते भी हैं, फिर आप क्यों प्रबुद्ध नहीं होते ॥ १४ ॥

किस तरहका ज्ञान हो जानेपर जगत् चेतनमात्ररूप बन जाता है, इसपर कहते हैं—'**सर्वम्**' इत्यादिसे ।

सब कुछ चारों ओरसे शान्त चिदाकाशमात्ररूप ही है, अपने आप ही आत्मामें वह स्फुरित होता है, भूमण्डलरूप और दृश्यरूप चिति ही है, जो द्वैत एवं एकतासे रहित है ॥ १५ ॥

जैसे वैडूर्य आदि मणि कुछ व्यापार न करती हुई भी स्वभावतः शुक्ल, पीत आदि किरणोंका निर्माण करती है, वैसे ही चिदाकाश भी कुछ व्यापार न कराता हुआ ही इस जगत्का स्वभावतः निर्माण करता है ॥ १६ ॥

'**नेति नेति**' इत्यादि श्रुतिका पर्यालोचन द्वारा उपसंहार करते हैं—'**यतः**' इत्यादिसे ।

चूँकि चेतनरूप आत्मा न कुछ करता है और न अपना असली स्वरूप छोड़ता है, इसलिए न तो यह मृत्पाषाणादिमय महीतल कुछ है और न मनोमय ही कुछ है ॥ १७ ॥

निरन्तर चिदाकाश ही महीतलके सदृश भासता है, तलभावशून्य चिदाकाश ही

स्वभावमात्रकचनं तत्तदेव यथास्थितम् ।
भूमण्डलमिवाऽत्यच्छं खमेव विशतान्तरम् ॥ १९ ॥
इदं भूमण्डलं तच्च द्वयमेतन्महाचितेः ।
स्वरूपमेव कचति तव स्वप्नपुरं यथा ॥ २० ॥
इदमाकाशमात्रात्म तदप्याकाशमात्रकम् ।
अज्ञानात्म परिज्ञानाज्ज्ञानान्नेदं न तत्क्वचित् ॥ २१ ॥
त्रैलोक्यभूतजालानां कालत्रितयभाविनाम् ।
संभ्रमः स्वप्नसंकल्पो मनोराज्यदशास्थितौ ॥ २२ ॥
भूतान्यथो भविष्यन्ति वर्तमानानि यानि च ।
भूमण्डलानि तान्यङ्ग सत्ता सामान्यतां गता ॥ २३ ॥

अपने स्वरूपमें स्वभावतः निर्मलतल होकर स्थित है ॥ १८ ॥

प्रसिद्ध यह यथास्थित जगत् और वह धारणाकल्पित जगत् दोनों एकमात्र आत्माका स्वाभाविक स्फुरणमात्र ही है, अत्यन्त निर्मल चिदाकाश ही भेदमें प्रवेश कर रहे स्वभावके बलसे यानी मायाबलसे भूमण्डल-सा बनकर स्थित है ॥ १९ ॥

चितिके विवर्तभावमें धारणाकल्पित (समाधिकल्पित) भूमण्डल और यह प्रत्यक्ष भूमण्डल दोनों ही समान हैं, यह कहते हैं—'इदम्' इत्यादिसे ।

यह प्रत्यक्ष भूमण्डल और वह धारणाकल्पित भूमण्डल—दोनों ही महाचितिके स्वरूपभूत होकर ऐसे स्फुरित होते हैं, जैसे आपका स्वरूपभूत स्वप्ननगर होकर स्फुरित होता है ॥ २० ॥

यह प्रसिद्ध भूतल चिदाकाशमात्ररूप है और मेरी धारणासे कल्पित भूतल भी चिदाकाशमात्ररूप है। परन्तु वह जो भासता है, उसमें कारण है—अज्ञानोपहित आत्माका ज्ञान। आत्माका ज्ञान हो जानेपर तो यह दोनों भूमण्डल कहींपर भी नहीं रहते ॥२१॥

श्रीरामजी, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालमें होनेवाले त्रैलोक्यका समस्त भूतजाल केवल भ्रान्तिरूप ही है, वह सङ्कल्प-जैसा है, उसकी समता ठीक मनोराज्यसे की जा सकती है ॥ २२ ॥

हे प्रिय, जो हो चुके हैं, जो होनेवाले हैं तथा जो वर्तमानमें हैं, वे सभी भूमण्डल सर्वाधिष्ठान होनेके कारण सर्व-साधारण भावको प्राप्त आत्मसत्ताके ही स्वरूपभूत हैं यानी आत्मसत्तासे अलग नहीं है ॥ २३ ॥

अहमेव समग्राणि तेषामन्तर्गतान्यपि ।
तेन तान्यनुभूतानि तथा दृष्टानि चाऽखिलम् ॥ २४ ॥
चिन्मात्रमेतदजरं परमात्तत्त्वं
शुद्धात्मतामजहदङ्गगतं बिभर्त्ति ।
सर्वं यथास्थितमिदं जगदात्तभेदं
बुद्धं सदङ्ग न बिभर्त्ति तु किंचनाऽपि ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० दृश्यमनोमात्रत्वप्रतिपादनं नामैकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥

—:०:—

नवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अनन्तरं वद ब्रह्मन् जगन्ति भवता तदा ।
भूमण्डलानां हृदये क्वचिद् दृष्टानि नैव वा ॥ १ ॥

वे सत्तासामान्यरूप हैं, इसी कारण वे और उनके भीतर विद्यमान सब वस्तुएँ मैं ही हूँ, यों धारणा बाँधकर मैंने मनसे उनका अनुभव किया और साक्षी दृष्टिसे निःशेष दर्शन भी किया ॥ २४॥

हे श्रीरामजी, चिन्मात्ररूप, जरावस्थासे शून्य यह परमात्मतत्त्व ही अबोधकालमें अपनी शुद्धरूपताका परित्याग न करके ही यथास्थित इस समस्त जगत्को मानो सद्रूप बनाकर धारण करता है, ज्ञात हो जानेपर तो वह कुछ भी धारण नहीं करता, यही इसकी मुक्ति है ॥ २५ ॥

नवासी सर्ग समाप्त

नब्बे सर्ग

[पृथ्वीके अन्दर अनन्त जगतोंकी दृष्टि तथा जलधारणासे समस्त जललीलाओंका पूर्ववत् वर्णन]

जैसे प्रसिद्ध जगत्में चाँदीकी शिला आदि विभिन्न प्रदेशोंमें अनेक ब्रह्माण्ड हैं वैसे ही धाराणाओंसे देखे गये भूमण्डलोंमें भी प्रत्येक वस्तुमें वे जगत् हैं या नहीं यों सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्र यह प्रश्न करते हैं—'अनन्तरम्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

परात्मजाग्रत्स्वप्नोर्वीमण्डलौघात्मना मया।
ततोऽनुभूतं हृदये दृष्टं च परया दृशा ॥ २ ॥
यावत्तथैव सर्वत्र जगज्जालमवस्थितम्।
सर्वं दृश्यमयं शान्तमपि द्वैतमयात्मकम् ॥ ३ ॥
जगन्ति सन्ति सर्वत्र सर्वत्र ब्रह्म संस्थितम्।
सर्वं शून्यं परं शान्तं सर्वमारम्भमन्थरम् ॥ ४ ॥
सर्वत्रैवाऽस्ति पृथ्व्यादि स्थूलं तच्च न किंचन।
चिद्व्योमैव यथा स्वप्नपुरं परमजातवत् ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इसके बाद मुझसे यह कहिए कि जैसे प्रसिद्ध जगत्की वस्तुओंमें प्रत्येकमें आपने अनेक जगत् देखे वैसे ही आपने धारणाभ्याससे जिस महीपीठको देखा उसके विविध प्रदेशोंके भीतर भी आपने कहीं जगत् देखे या नहीं। इस श्लोकमें मण्डलशब्दको प्रदेशभेदका वाचक समझना चाहिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, पृथ्वीधारणासे परमात्माके जाग्रत्पृथ्वीमण्डल और स्वप्नपृथ्वीमण्डल समूहरूप बनकर मैंने तत्-तत् पृथ्वीके प्रदेशविशेषरूप उसके हृदयमें जो कुछ साक्षिदृष्टिसे देखा और मनसे विचारपूर्वक अनुभव किया, उसे कहता हूँ, सुनिए। स्वप्नका ग्रहण स्वप्नकी पृथ्वीके अनेक प्रदेशोंमें भी अनन्त जगत्का अवलोकन हो सकता है, यह बतलानेके लिए किया गया है ॥ २ ॥

क्या देखा क्या अनुभव किया ? इसे कहते हैं—**'यावत्'** इत्यादिसे।

पहले देखी गई चाँदीकी शिलाके सदृश ही यानी चाँदीकी शिलामें मैंने जैसे समस्त जगत् देखे थे, वैसे ही धारणासे दृष्ट भूमण्डलके सभी स्थानोंमें जगत्जाल-सा स्थित मैंने देखा। समस्त दृश्यमय द्वैतमय होता हुआ भी यथार्थमें शान्त अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

कैसे द्वैतमय है और कैसे शान्त अद्वैतरूप है ? इसपर कहते हैं—**'जगन्ति'** इत्यादिसे।

सभी स्थानोंमें जगत् हैं और सभी जगह ब्रह्म भी स्थित है तथा सब-कुछ शून्यात्मक एवं परमशान्तरूप है और सब अनेक तरहके आरम्भोंसे पूर्ण भी है ॥ ४ ॥

सर्वत्र पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थ हैं और यथार्थमें वह कुछ नहीं भी हैं,

नेह नानाऽस्ति नो नाना न नास्तित्वं न चाऽस्तिता ।
अहमित्येव नैवाऽस्ति यत्र तत्र कुतोऽस्ति किम् ॥ ६ ॥
अनुभूतमपीदं सदहमित्यादिरूपकम् ।
नास्त्येव यदि वाऽप्यस्ति तद् ब्रह्माऽजमनामयम् ॥ ७ ॥
यत्स्वप्नपुरमेवेदं सर्गादावेव चिन्नभः ।
अस्तितानास्तिते तत्र कीदृशे क्व कुतः स्थिते ॥ ८ ॥
यथाऽहं दृष्टवांस्तानि जगन्त्यवनिरूपधृक् ।
तथा मया जलीभूय दृष्टं तादृशमेव तत् ॥ ९ ॥

अनुत्पन्न स्वप्ननगरके सदृश है, यदि कुछ है तो केवल पर चिदाकाश ही वस्तु है ॥५॥

एक, अनेक या सत्य वस्तु तब सिद्ध हो सकती है, जब एक, अनेक आदिका दर्शन करनेवाला दर्शनाभिमानी संसारमें प्रसिद्ध हो, परन्तु ऐसा दर्शनाभिमानी ही नहीं है, यह कहते हैं—'**नेह**' इत्यादिसे।

भद्र, इस प्रपञ्चमें जब न तो नाना (अनेक) वस्तु है, न अनाना (एक) वस्तु है, न अस्तित्व है और न नास्तित्व ही है। अधिक क्या कहें—जो 'अहम्' (मैं) शब्दसे दर्शनादिका अभिमानी कहा जाता है, वह भी नहीं है। जब वह भी नहीं है, तब कैसे कौनसी वस्तु है ? ॥ ६ ॥

राघव, यद्यपि यह दृश्य सत् और 'अहम्' (मैं) इत्यादि रूपसे अनुभूत होता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थदशामें है ही नहीं। यदि अस्तित्व है, तो वह अज निर्विकार ब्रह्मका ही है यानी जो कुछ दृश्य भासता है, वह ब्रह्मरूप ही है ॥ ७ ॥

इस रीतिसे जब दृश्योंमें प्रतियोगी अस्तित्वका स्थान नहीं है, तब अस्तित्वके अभाव नास्तित्वका भी स्थान नहीं है, यह अनायास सिद्ध हो जाता है, यह कहते हैं—'**यत्स्वप्न०**' इत्यादिसे।

चूँकि सृष्टि के आदिमें यानी सृष्टिके पूर्व चिदाकाश ही था, इसलिए सृष्टिके बाद चिदाकाशमें देखा गया भी यह स्वप्ननगरके सदृश ही है, इसलिए उसमें अस्तित्व और नास्तित्व ही कैसे, कहाँ, किस हेतुसे रह सकते हैं ॥ ८ ॥

श्रीरामभद्रने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर देकर अब जल-धारणा बाँधकर जो कुछ कौतुक देखा था, उसको कहनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'**यथाऽहम्**' इत्यादिसे।

श्रीरामजी, जैसे मैंने पृथ्वी-धारणा से पृथ्वीरूप बनकर पूर्वोक्त जगत् देखे, वैसे ही जलधारणासे जलरूप बनकर जल-जगत् देखा ॥ ९ ॥

वारिधारणया वारि भूत्वा जडमिवाऽजडम् ।
समुद्रमन्दिरेष्वन्तश्चिरं गुलगुलायितम् ॥ १० ॥
तृणवृक्षलतागुल्मवल्लीनां स्तम्भनाडिषु ।
मृद्वलक्षितमारूढं तवाऽङ्गेष्विव यूकया ॥ ११ ॥
सर्वोत्थानोपमास्तम्भे तच्छेदे वलयोपमा ।
मृद्व्या कर्णाहिगत्येव रचना प्रकृतोदरे ॥ १२ ॥
वल्लीतमालतालादिपल्लवेषु फलेषु च ।
विश्रम्य पुष्टयाऽऽकृत्या रेखाविरचनं कृतम् ॥ १३ ॥
मुखेनाऽऽविश्य हृदयमृतुवैधुर्य्यधारिणा ।
हृता विधुरिता भुक्ता लूना देहेषु धातवः ॥ १४ ॥

हे राघव, मैं यद्यपि चेतनरूप ही हूँ, फिर भी मैं जलधारणासे जड़ जलरूप-सा बन गया। तदनन्तर जलरूप होकर मैंने समुद्ररूपी मन्दिरोंके भीतर दीर्घकाल तक गुड़-गुड़ शब्द किया ॥ १० ॥

जैसे आपके अङ्गोंमें जूँ आदि नजर बचाकर मन्दगतिसे चढ़ जाती है, ठीक ऐसे ही मैं तृण, वृक्ष, लता, गुल्म, वल्ली आदिके डण्ठलोंमें मन्दगतिसे छिपे-छिपे चढ़ गया ॥ ११ ॥

सूक्ष्म तन्तुके आकारके एक छोटे कीड़ेको (काँतरको) कर्णाहि कहते हैं। वह जैसे मन्दगतिसे छिपे-छिपे आकर कानमें घुस जाता है। बस ठीक उस कीड़ेके सदृश मैंने अत्यन्त मृदु गतिसे छिपे छिपे उन तृण, वृक्ष आदिके तनोंमें, तृणादिकी ऊर्ध्वस्थितिके सदृश, ऊर्ध्वस्थिति की तथा उनके पोरों और छद्रोंमें कोमल वलयाकारवाली (गेंडुली सी) रचना भी की ॥ १२ ॥

लताओं और तमाल, ताल आदि पेड़ोंके पल्लवों तथा फलोंमें रसरूपसे विश्राम कर कालसे पुष्ट (उन उन पत्ते आदिके) आकारों द्वारा भीतर शिरा आदि रेखाओंकी रचना भी मैंने की ॥ १३ ॥

जीवोंकी देहोंमें जलपानके समय मुखके द्वारा हृदयमें प्रवेश कर वसन्त आदि ऋतुओंके कारण होनेवाली विषमता धर लेनेवाले मैंने कहीं वात, पित्त और कफरूप धातुओंको धारण किया, कभी उन्हें कुपित किया, कुछको जठराग्निसे पचा डाला, किन्हींको खण्डित किया ॥ १४ ॥

सुप्तं पल्लवतल्पेषु प्रालेयकणरूपिणा ।
तुल्यकालमशेषेषु दिक्षु सर्वास्वखेदिना ॥ १५ ॥
नानाह्रदनदीगेहग्राहिणा विरताध्वना ।
विश्रान्तं सेतुसुहृदः प्रसादेन क्वचित्क्वचित् ॥ १६ ॥
विदा विदनुसंधानाज्जडेन तदनाश्रयात् ।
जडाशयेषूल्लसितं जलेनाऽऽवर्तवर्त्तिना ॥ १७ ॥
मया दुष्कृतिनेवोर्ध्वशिलास्वस्थेन भूभृताम् ।
स्वावर्तवर्तिना श्वभ्रपातेषु शतधा गतम् ॥ १८ ॥
धूम्ररूपेण निर्गत्य दारुभ्यो गगनार्णवे ।
कणरत्नेन नीलर्क्षमण्यन्तर्वर्तिना स्थितम् ॥ १९ ॥

तनिक भी खेदका (थकावटका) अनुभव न करनेवाले हिमकणका रूप धारण किये हुए मैंने एक ही समयमें समस्त दिशाओंमें सम्पूर्ण पल्लवरूपी शय्याओंपर शयन भी किया ॥ १५ ॥

जो ह्रद अनेक नदियोंके घर हैं यानी मार्गके निवासस्थान (विश्रामगृह) हैं, उनका आश्रयण करते हुए तथा निरन्तर प्रवाहके कारण अविरतगतिवाले मैंने बाँधरूपी मित्रके प्रसादसे कहीं कहीं विश्राम भी किया ॥ १६ ॥

मैं चिद्रूप हूँ, चितिरूपी मैंने अचित् अंशका विषयरूपसे अनुसन्धान किया, उसमें भी विषयांशमात्रताके कारण चित्स्वभावका आश्रयण नहीं किया, अतः मैं जड़ जलरूप ही हो गया। यों जड़ जलरूप हुआ, मैं जड़ाशयप्राय जलाशयोंमें हजारों भ्रमोंके साथ आवर्तके सदृश वर्तन करता हुआ खूब उल्लास करता रहा ॥ १७ ॥

प्रायश्चित्तके निमित्त भृगुपतनमें प्रवृत्त हुए पापीके सदृश पर्वतोंकी ऊपरकी शिलाओंसे गिर रहे निर्झररूप मैंने गर्तपातोंमें जीर्ण-शीर्ण होकर हजारों रूपोंसे स्थिति प्राप्त की ॥ १८ ॥

लकड़ियोंसे धूमके रूपमें निकलकर मैं आकाशरूपी समुद्रमें नीले रङ्गके नक्षत्र मणियोंके भीतर रत्नकण बना और मैंने वहाँ स्थान जमा लिया। श्रीवसिष्ठजीकी इस उक्तिसे यह मालूम होता है कि हम लोगोंके लिए अदृश्य नीले वर्णके भी नक्षत्र आकाशमण्डलमें हैं ॥ १९ ॥

विश्रान्तमभ्रपीठेषु विद्युद्वनितया सह ।
भिन्नेन्द्रनीलनीलेन शेषाङ्गेष्विव शौरिणा ॥ २० ॥
परमाणुमये सर्गे पिण्डरूपेष्वलक्षितम् ।
स्थितमन्तःपदार्थेषु ब्रह्मणेवाऽखिलात्मना ॥ २१ ॥
प्राप्य जिह्वाणुभिः सङ्गमनुभूतिः कृतोत्तमा ।
यामात्मनो न देहस्य मन्ये ज्ञानस्य केवलम् ॥ २२ ॥
न मया न च देहेन नाऽन्येनाऽऽस्वादितात्म यत् ।
तदन्तर्विवृतं चेत्यमज्ञानाय तदप्यसत् ॥ २३ ॥

काटी हुई इन्द्रनील मणिके सदृश नीलवर्णवाले भगवान् विष्णु लक्ष्मीजीके साथ शेषनागके अङ्गोंपर विश्राम करते हैं, वैसे ही मेघोंकी पीठपर नील वर्णवाले मैंने भी विद्युत्‌रूपी वनिताके साथ विश्राम किया ॥ २० ॥

परमाणुमय सृष्टिमें यानी पिपीलिका आदि परमसूक्ष्म देहात्मक सृष्टिमें तत्-तत् प्राणियोंके पिण्डरूप एवं उनके भीतरके परम सूक्ष्म नाडीरूप पदार्थोंमें सूक्ष्म-जलरूप बनकर मैं सर्वात्मा ब्रह्मकी तरह स्थित रहा ॥ २१ ॥

भद्र, मैं मधुर रसरूप भी तो बन गया था। रसरूप बनकर मैंने जिह्वारूप अणुओंके साथ संसर्ग प्राप्त किया। संसर्ग प्राप्त कर रसास्वादरूपी उनकी वह उत्तम अनुभूति की, जिसे मैं देहकी नहीं मानता, किन्तु केवल ज्ञानरूप आत्माकी मानता हूँ, अर्थात् वह अनुभूति विषयानन्दके आकारमें आविर्भूत आत्माका स्वरूप है, यह मैं मानता हूँ ॥ २२ ॥

कुछ लोग विषयको ही आनन्दरूप और आस्वाद लेने योग्य मानते हैं, परन्तु यह मानना उचित नहीं है, विषय तो असत् और दुःखरूप है तथा वह आस्वाद लेने योग्य है ही नहीं, अतः विषयको अलग कर आनन्दको बतलाते हैं—**'न मया'** इत्यादिसे।

जो विषयरूप चेत्य है, उसका न तो मैंने (अधिष्ठान चेतनने), न स्वाद लेनेवाले पुरुषकी देहने और न जीवने ही स्वाद लिया है, क्योंकि उसमें न आत्म-सुखका कोई अंश है और न आस्वादकी योग्यता ही है। इस प्रकारके विषयोंका चितिने अपने अन्दर जो स्फुरण किया है, वह जीवोंके अज्ञानार्थ (व्यामोहार्थ) ही है। जिससे वह विषय उत्पन्न हुआ, वह अज्ञान भी असत् ही है, जो स्वयं असत् है, उससे असत् अर्थकी ही उत्पत्ति मानना उचित है ॥ २३ ॥

अथवा, विषय स्वादयोग्य हैं, यदि यह पक्ष है, तो उसमें विषयाधिष्ठान चेतनके

सर्वर्तुरसरूपेण नानामोदानि दिक्त्वलम् ।
भुक्तानि पुष्पुजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥ २४ ॥
चतुर्दशप्रकाराणां भूतानामङ्गसन्धिषु ।
उषितं चेतनेनेव जडेनाऽप्यजडात्मना ॥ २५ ॥
सीकरोत्कररूपेण रथमारुह्य मारुतम् ।
आमोदेनेव विहितं विमलव्योमवीथिषु ॥ २६ ॥
राम तस्यामवस्थायां परमाणुकणं प्रति ।
अनुभूतमशेषेण यथास्थितमिदं जगत् ॥ २७ ॥
अजडेन जडेनेव समया जालया तया ।
अन्तः सर्वपदार्थानां ज्ञाता-(त्रा ऽ १)-ज्ञातेन संस्थितम् ॥२८॥

द्वारा आस्वादित ही विषयोंको, जो कि उसके उच्छिष्टप्राय हैं, दूसरे चखते हैं, यही कल्पना हो, इस आशयसे कहते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

समस्त ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाला जो रस है, तद्रूप बनकर भ्रमरोंको उच्छिष्ट रस देते हुए मैंने सब दिशाओंमें अनेक तरहके आमोदोंसे पूर्ण फूलोंका खूब उपभोग किया ॥ २४ ॥

भद्र, यद्यपि मैं यथार्थमें अजड़रूप ही हूँ, फिर भी कल्पनावश जड़ जलरूप होकर मैंने चौदह प्रकारके प्राणियोंके अङ्गोंकी सन्धियोंमें चेतनकी नाईं निवास किया ॥२५॥

राघव, मैंने जलकणका रूप भी धारण किया था । उस रूपको धारणकर मैंने पवनरूपी रथपर चढ़कर निर्मल आकाशके मार्गोंमें, आमोदके सदृश, जनाह्लाद और विहार किया ॥ २६ ॥

वहाँ भी परमाणु तककी सभी वस्तुओंमें हर एक जगह, चाँदीकी शिलाके सदृश, सृष्टियोंका मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं—'राम' इत्यादिसे ।

हे रामजी, जलधारणकालमें भी मैंने प्रत्येक परमाणुके कणमें पूर्णरूपसे यथास्थित इस जगत्को देखा ॥ २७ ॥

एकमात्र जलको विषय करनेवाली एकरूप उस जलधारणासे स्वयं अजड़ होता हुआ भी जड़ जल-सा बनकर तथा सब पदार्थोंके भीतर ज्ञातारूप होता हुआ मैं अज्ञातरूपसे स्थित रहा ॥ २८ ॥

हरएक वस्तुके अन्दर जो जगत् देखे उनके भी भीतरके प्रत्येक पदार्थमें वैसे ही अन्य अन्य अव्यवस्थित जगत् भीतर भीतर मैंने देखे, यह कहते हैं—

जगतां तत्र लक्षाणि नाशोत्पातशतानि च ।
मया दृष्टानि रूढानि कदलीदलपीठवत् ॥ २९ ॥
एवं जगच्चाऽजगद्वा साकारं वा निराकृति ।
चिन्मात्रगगनं सर्वमाकाशाधिकनिर्मलम् ॥ ३० ॥
न किंचन त्वं च न किंचनेदं
शुद्धः परो बोध इदं विभाति ।
स चाऽपि नो किंचन नाऽपि शून्य-
माकाशमेवाऽसि विकासमास्स्व ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० जलजगद्वर्णनं
नाम नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

'जगताम्' इत्यादिसे ।

भद्र, वहाँ केलेके दलके सदृश भीतर और उसके भी भीतर उत्पन्न लाखों जगत् तथा सैकड़ों नाश एवं उत्पात मैंने देखे ॥ २९ ॥

यद्यपि अधिष्ठान चिति कल्पित अनन्त जगतोंसे व्याप्त है, तथापि उसमें किसी तरहकी भी मलिनता नहीं है—यह कहते हैं, **'एवम्'** इत्यादि से ।

इस रीतिसे जगत् हो चाहे न हो, साकार हो चाहे निराकार हो, सभी अवस्थाओं-में सब केवल चितिरूप आकाश ही है, यह प्रसिद्ध आकाशसे अधिक निर्मल है ॥३०॥

रामजी द्वारा देखे जानेवाले जगत्में भी उक्त न्यायको लगाते हुए सबके अधिष्ठानभूत शुद्ध चिन्मात्र वस्तुमें श्रीरामजीकी प्रतिष्ठा कराते हैं— **'न किंचन'** इत्यादिसे ।

आप कुछ नहीं हैं यानी न आपकी तीन अवस्थाएँ हैं और न देह, इन्द्रिय आदि ही हैं, न यह कुछ है यानी न आकाश आदि बाहरी प्रपञ्च ही है, किन्तु परम विशुद्ध बोध ही इस जगत्के रूपमें भासता है । वह—शोधित 'तत्' 'त्वम्' पदार्थरूप—बोध भी वास्तवमें कुछ नहीं है यानी न तो वह दृश्य-स्वभाव है, न अदृश्य-स्वभाव है और न अदृश्य-शून्य-स्वभाव है, किन्तु अखण्डाकाशरूप है । वही आप हैं । इसलिए आप उक्त आत्मरूप बनकर उत्तरोत्तर विकाश प्राप्त कर लें ॥ ३१ ॥

नब्बे सर्ग समाप्त

एकनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततोऽहममवं तेजस्तेजोधारणयेद्धया ।
चन्द्रार्कतारकाग्न्यादिविचित्रावयवान्वितम् ॥ १ ॥
नित्यं सत्त्वप्रधानत्वात् प्रकाशाकृति राजवत् ।
सर्वं दृश्यमृते सर्वचौरध्वान्तप्रतापयुक् ॥ २ ॥
दीपादिभिः शनैः स्निग्धैर्दशाशतविहारिभिः ।
प्रत्यक्षीकृतसर्वार्थं प्रतिगेहं सुराजवत् ॥ ३ ॥
लोकालोके च हृषितैश्चन्द्रार्काद्यंशुरोमभिः ।
परप्रकाशैकरतैर्दूरोत्क्षिप्ताम्बराम्बरम् ॥ ४ ॥

इक्यानबे सर्ग

[तेजकी धारणासे तेजरूप बनकर श्रीवसिष्ठजीने जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि एवं रत्न आदिके चमत्कार देखे, उनका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद—जल-धारणासे विचित्र कौतुक देखनेके बाद—प्रबल तेज धारणासे मैं चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि आदि विचित्र अवयवोंसे सम्पन्न तेज बन गया ॥ १ ॥

तेज निरन्तर सत्त्वप्रधान (प्रकाशप्रधान) होता है, इससे मैं एकमात्र प्रकाशरूप आकारसे चमकने लग गया । मैं अन्धकारपर ऐसा प्रतापी बन गया जैसा कि चक्षुके गोचर अपने हरे हुए पदार्थोंको छोड़कर भाग रहे चोरोंपर राजा प्रतापी होता है ॥ २ ॥

जैसे श्रेष्ठ राजा तरह-तरहकी वेशभूषासे परिभ्रमण करनेवाले स्नेहयुक्त गुप्तचरों द्वारा सबके घरका वृत्तान्त प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही हजारों बत्तियोंसे विहार करने-वाले तेलयुक्त दीपक आदिके द्वारा धीरेसे मैंने प्रत्येक घरमें प्रत्येक पदार्थको प्रत्यक्ष कर लिया ॥ ३ ॥

मैंने तेजरूप बनकर केवल दूसरोंके प्रकाशनमें ही तत्पर रहनेवाले, अतएव जनों एवं भुवनोंके प्रकाशमें अतिसन्तुष्ट तथा पुलकित रहनेवाले चन्द्र, सूर्यकी किरणरूपी अपने रोमोंके द्वारा सबको ढक देनेवाले अन्धकाररूप वस्त्रके सदृश दृश्यमान आकाशरूप वस्त्रको उठाकर दूर फेंक दिया ॥ ४ ॥

अन्धकारस्य दैन्यस्य समस्तगुणनाशिनः ।
दृश्यं सद्दृश्यमनिशं सर्वस्य गुणशालिनः ॥ ५ ॥
तमस्तमालपरशुः परशुद्धिकरं पदम् ।
सुवर्णमणिमाणिक्यमुक्तादिजनजीवितम् ॥ ६ ॥
शुक्लकृष्णारुणादीनां नित्यं ज्योत्स्नाङ्कशायिनाम् ।
पुत्राणामिव वर्णानां सर्वेषां देहदः पिता ॥ ७ ॥
घनस्नेहरसं पृथ्व्या रचितानलवेधनम् ।
गृहं प्रति घनानन्दैर्वृतदीपकपुत्रकम् ॥ ८ ॥

तेज अन्धकारको क्यों दूर फेंक देता है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—
'अन्धकारस्य' इत्यादिसे ॥ ४ ॥

भद्र, यह विद्यमान सम्पूर्ण जगत समस्त गुणोंको छिपा देनेवाले अन्धकाररूपी दीनताका विषय है यानी अन्धकाररूपी दीनता जगत्‌में जो रूप आदि गुण हैं, उनको दिखने नहीं देती और दूसरेकी दीनताको दूर करनेमें समर्थ सभी गुणशाली पुरुष उत्तम—दीनतारहित—जगत्‌को देखना चाहते हैं, अतः तेजका अन्धकारको समस्त जगत्‌से हटा देना युक्त ही है ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र, मैं जिस तेजके रूपमें परिवर्तित हुआ, वह तेज तमोरूपी तमाल वृक्षके लिए तो फरसा है, उत्तम शुद्धिका स्थान है तथा तेजरहित सुवर्ण, मणि, माणिक आदिका लोकमें समादर नहीं होता, अतः वह तेज सुवर्ण आदिरूप जनोंके आदरका हेतु है अथवा सुवर्ण, मणि, माणिक, मोती आदिके रूपसे समस्त जनोंका जीवन-साधन है ॥ ६ ॥

संसारमें जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाशके (तेजके) ही अंश हैं, अतः सदा आलोककी (तेजकी) गोदमें शयन करनेवाले शुक्ल (श्वेत), कृष्ण, अरुण आदि समस्त वर्णोंका, पुत्रोंको देह देनेवाले पिताके सदृश, वह तेज स्वरूपदाता पिता है ॥ ७ ॥

रामजी, यह तेज पृथ्वीके साथ अत्यन्त घनी प्रीति रखता है, इसीलिए तेज अग्नि द्वारा पृथ्वीको (मिट्टीको) नहीं जलाता । पृथ्वी भी अपना स्नेह व्यक्त करने लिए हरएक घरमें बड़े प्रेमसे भीत, प्रासाद (महल) आदिका रूप लेकर तेजके पुत्र दीपकोंकी—वायु आदिके झकोरोंसे—रक्षा करती है ॥ ८ ॥

दृष्टं पातालकेष्वीषत् तमोरूपेषु पावकम् ।
अर्धदृष्टं रजोरूपे भूतले भूतमालिते ॥ ९ ॥

सत्त्वात्मसु महासत्त्वं नित्यत्वं देवसद्मसु ।
जगज्जीर्णकुटीदीपः कूपोऽम्भस्तमसोर्महान् ॥ १० ॥

दिग्वधूविमलादर्शो निशानीहारमारुतः ।
सत्त्वं चन्द्रार्कवह्नीनां कुङ्कुमालेपनं दिवः ॥ ११ ॥

केदारं दिनसस्यानां तमोच्छूनामनुग्रहः ।
नभःकाचबृहत्पात्रक्षालनाम्बु समुल्लसत् ॥ १२ ॥

सत्ताप्रदतयाऽर्थानां प्रकाशकतयाऽपि च ।
चिन्मात्रपरमार्थस्य सहोदर इवाऽनुजः ॥ १३ ॥

तमोभाग, रजोभाग एवं सत्त्वभागकी बहुलतासे युक्त पाताल आदि लोकोंमें तेजके प्रकाशका तारतम्य बतलाते हैं—'दृष्टम्' इत्यादिसे ।

तमोगुणकी अधिकतासे युक्त पातालकुहरोंमें यह तेज स्वल्प प्रकाश करता है और अनेकविध भूतोंकी माला (परम्परा) से युक्त, रजोगुणकी विपुलतावाले भूतलमें यह आधा प्रकाश करता है ॥ ९ ॥

सत्त्वगुणमय यानी सत्त्वगुणकी प्रचुरतासे युक्त देवलोकोंमें यह निरन्तर महान् प्रकाश करता है । भद्र, यह तेज जगद्रूपी जीर्ण-शीर्ण कुटियाका दीपक है और अन्धकारके लिए महा अगाध कूप है यानी जैसे अगाध कूप जलको अपने उदरमें निगल जाता है वैसे ही यह अन्धकारको अपने अन्दर निगल जाने-वाला है ॥ १० ॥

दिशारूपी वधुओंके लिए तो यह तेज निर्मल आदर्श है यानी उनको अलग अलग करके दर्शाता है, निशारूपी नीहारके लिए वायु है यानी वायुके सदृश उनको नष्ट कर देता है, चन्द्र, सूर्य और अग्निके लिए तो जीवनसर्वस्व है और स्वर्ग-लोकके लिए कुङ्कुमका तिलक है ॥ ११ ॥

दिवसरूपी धानोंके लिए वह क्यारी है, तमसे (अन्धकारसे) आक्रान्त रूपादिके लिए तो वह साक्षात् दयाकी मूर्ति ही है और गगनरूप महान् काचपात्रके लिए प्रक्षालनार्थ अतिस्वच्छ जल है ॥ १२ ॥

तेज पदार्थोंमें सत्ताका प्रदान करनेवाला तथा उनको प्रकाशित भी करनेवाला

क्रियाकमलिनीभानुर्भूतलोदरजीवितम् ।
रूपालोकमनस्कारचमत्कारश्चितेर्यथा ॥ १४ ॥
नभस्तलगतासंख्यनक्षत्रमणिमालितः ।
दिनर्तुवत्सरावृंह्यवाडवाग्न्यादिफेलिनः ॥ १५ ॥
चन्द्रार्कादितरङ्गान्तरजडं पङ्किलो महान् ।
बृहद्ब्रह्माण्डखातस्थो नित्यमेकार्णवोऽक्षयः ॥ १६ ॥
हेमादिषु सुवर्णत्वं नरादिषु पराक्रमः ।
काचकच्यं च रत्नादौ वर्षादिष्ववभासनम् ॥ १७ ॥
ज्योत्स्ना मुखेन्दुबिम्बेषु पक्ष्मलेक्षणलक्ष्मसु ।
स्रवत्स्नेहामृतापूरो हाससौहार्दभासनम् ॥ १८ ॥

है, इसलिए चिन्मात्ररूप जो परमार्थ वस्तु है, उसका एक तरह से वह सहोदर छोटा भाई है। छोटा भाई इसलिए है कि जड़ होनेके कारण वह उससे जघन्य है ॥१३॥

तेज क्रियारूप कमलिनीके लिए सूर्य है और भूतलके हृदयका जीवन है। चाक्षुष वृत्ति और मानस वृत्तिके ऊपर आरूढ़ चितिका जैसे विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति करना चमत्कार है, वैसे ही इस तेजमें भी विषयावरण अन्धकारकी निवृत्ति करना चमत्कार है ॥ १४ ॥

किञ्च, यह तेज विशाल ब्रह्माण्डके खन्दकमें रहनेवाला बड़ा समुद्र ही है, यों उत्प्रेक्षा करनेके लिए रूपकसे कल्पित धर्मोंसे तेजको विशेषित करते हैं— **'नभस्तल०'** इत्यादिसे।

यह तेज बड़े विस्तृत इस ब्रह्माण्डके खन्दकका एक महान् अविनाशी समुद्र है। आकाशतलमें विद्यमान असंख्य नक्षत्ररूपी मणियोंसे भरा है, इसमें दिन, ऋतु, संवत्सर आदि कालभेदरूप चारों ओर वृद्धिंगत वाडवाग्नि आदिसे उत्पन्न महान् क्षोभके कारण फेन उत्पन्न होता है। चन्द्र, सूर्य आदिरूप तरङ्गोंके भीतर प्रसृत रजसे जलके बिना कभी कीचड़ भी इसमें भरा रहता है ॥ १५, १६ ॥

भद्र, मैं तेज बनकर सुवर्णादिमें सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्यादिमें पराक्रम बन गया, रत्न आदिमें काचकच्य (कान्तिविशेष) बन गया और वर्षा ऋतुमें विद्युत्-प्रकाश (बिजलीकी चमक) बन गया ॥ १७ ॥

राघव, मुखके सदृश चन्द्रबिम्बोंमें मैं ज्योत्स्ना बन गया, बरौनीवाले नेत्ररूपी चिह्नसे (अङ्कसे) युक्त मुखरूपी चन्द्रबिम्बोंमें तो ज्योत्स्नाके सदृश बह रहे स्नेहरूपी अमृतका

कपोलबाहुनेत्राक्षिभ्रूकरालकलासकः ।
निजोऽजेयतया जातो विलासः कामिनीजने ॥ १९ ॥
तृणीकृतत्रिभुवनचपेटास्फोटितद्विषाम् ।
शिरःसु वज्रीकरणं वीर्यं सिंहादिचेतसि ॥ २० ॥
कटुकङ्कटकुट्टाकखड्गसंघट्टटाङ्कृतैः ।
पटु स्फुटाटोपरटि भटेष्वटनमुद्भटम् ॥ २१ ॥
देवेषु दानवारित्वं सुरारित्वं सुरारिषु ।
सर्वभूतेषु स्वोजस्त्वमुन्नामः स्थावरादिषु ॥ २२ ॥
अथ ते मरुवद्धास्वांस्तत्राऽहमनुभूतवान् ।
जगदाकाशकोशेषु तेषु तामरसेक्षण ॥ २३ ॥

पूर या हास सौहार्दयुक्त कमनीय कान्ति बन गया ॥ १८ ॥

कामिनीजनोंमें मैं कपोल, बाहु, नेत्र, भौंह, हाथ, केश आदिको अतिसुन्दरतासे प्रकाशित करनेवाला, सर्वत्र अजेयरूपसे प्रसिद्ध स्वाभाविक कामका विलास बन गया ॥ १९ ॥

श्रीरामजी, तेजकी धारणासे तेज होकर मैं वृत्र आदि असुरोंके, जो त्रिभुवनको तृणके समान समझते थे तथा अपनी चपेटाओंसे अपने शत्रुओंको कँपा डालते थे, मस्तकपर वज्रप्रहार बन गया और सिंह आदिके हृदयमें वीर्यरूप बन गया ॥२०॥

किञ्च, वीर पुरुषोंमें रणाङ्गणोंमें निर्भय विचरण करनेका कारण जो उद्भट पराक्रम प्रसिद्ध है, वह भी मैं बन गया, जैसा तैसा पराक्रम नहीं, किन्तु अति कठोर लोह कवचोंको तोड़नेवाले खड्गोंके परस्पर आघातोंसे उत्पन्न टङ्कार ध्वनिसे अत्यन्त पटु तथा बड़े भारी आडम्बरसे युक्त पराक्रम बन गया ॥ २१ ॥

देवोंमें दानवोंका शत्रु, दानवोंमें देवताओंका शत्रु, सब भूतोंमें उत्तम बल तथा वृक्ष आदि स्थावरोंमें उन्नतिरूप भी मैं बन गया ॥ २२ ॥

हे कमलदललोचन, तदनन्तर अपनी धारणासे कल्पित उन जगदाकाशके कोशोंमें मैं सूर्य होकर नीचे कही जानेवाली समस्त वस्तुओंका अपने अन्दर ऐसे अनुभव करने लगा, जैसे कि प्रसिद्ध मरुस्थली अपने अन्दर नदी आदिकी कल्पनाका अनुभव करती है ॥ २३ ॥

उसीको कहते हैं—'दिगन्त०' इत्यादिसे ।

दिगन्तदशनिस्तीर्णैः करजालैर्जगत्खगम् ।
गृह्णद्द्रचङ्क्रमर्कत्वं ग्रामवद्दृष्टभूतलम् ॥ २४ ॥
कामोत्पले कोशचक्रं वाडवं तिमिरार्णवे ।
ब्रह्माण्डसदने दीपं वृक्षं दिनफलावलेः ॥ २५ ॥
रसायनह्रदाकारमिन्दुत्वं वदनं दिवः ।
निशानिशाचरीहासं विकासं रजनीविशाम् ॥ २६ ॥
जगल्लावण्यलक्ष्मीणां सर्वासामुपमास्पदम् ।
रजनीरोहिणीनारीकैरवाणां परं प्रियम् ॥ २७ ॥
नेत्रवृन्दस्य वक्त्रस्य द्युलतापुष्पजालकम् ।
स्वर्गौघमशकव्यूहं तारकापटलं मृदु ॥ २८ ॥

भद्र, मैंने अपने सूर्यके स्वरूपका अनुभव किया, उस रूपसे मैंने दसों दिशाओंमें फैले हुए हाथरूपी किरणोंसे जगद्-रूपी पक्षीको, जिसके कि बड़े-बड़े पर्वत अवयव थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटेसे गाँवके सदृश प्रतीत हुआ ॥ २४ ॥

मेरा सूर्यस्वरूप चन्द्रकी कामना करनेवाले कुमुदोंके लिए कोशबन्धनका हेतु चक्र बना; अन्धकाररूपी समुद्रके लिए वाडवाग्नि, ब्रह्माण्डरूपी घरके लिए दीपक और दिनरूपी फलसमूहके लिए वृक्ष बना ॥ २५ ॥

इसी तरह मैं चन्द्ररूप भी बन गया। मेरा चन्द्रका जो स्वरूप हुआ, उसका आकार अमृतसे लबालब भरी झीलके सदृश था, वह स्वर्गका मुखके सदृश मुख था, निशारूपी निशाचरीका यानी अभिसारिकाका हासके सदृश हास था तथा रात्रिमें प्रवेश करनेवालोंका प्रकाशकर्ता था ॥ २६ ॥

वह मेरा चन्द्रका रूप समस्त जगत्की सुन्दरतारूपी लक्ष्मियोंके लिए उपमान तथा रात्रि, रोहिणीरूपी नारी एवं कुमुदोंके लिए उत्तम स्नेहका भाजन था ॥ २७ ॥

अधिक क्या कहें, जितने संसारमें प्राणी हैं, उन सबके नेत्र और मुखका आह्लाद और विकासका हेतु होनेके कारण वह अत्यन्त ही प्रिय लगता था। श्रीरामजी, तदनन्तर मैं मृदु तारासमूह बन गया यानी अपनेमें समस्त तारोंके स्वरूपका अनुभव करने लगा। यह मेरी तारात्मता आकाशरूपो लताकी मानो पुष्प-राशि थी, और थी स्वर्गसुखरूपी मकरन्दके प्रवाहमें आसक्त मानो मच्छरोंकी कतार ॥ २८ ॥

वणिङ्मात्रे वणिग्घस्ततुलातोलनदोलितम् ।
रत्नत्वं जलकल्लोलहस्तान्दोलनमब्धिभिः ॥ २९ ॥
अब्धाऽब्धौ शफरावर्तमब्धा गोमञ्जरीगणः ।
अब्दादौ दावदहनं वैद्युतं द्योतनं बनौ ॥ ३० ॥
दारुदारणदुर्वारदीप्तं ज्वलनमाततम् ।
यज्ञाग्निदाहकल्याणं विस्फोटकठिनारवम् ॥ ३१ ॥
कचत्काञ्चनमाणिक्यमुक्तामणिमयं महः ।
तपस्तां नीतमाक्षिप्य पाण्डित्यमिव पामरैः ॥ ३२ ॥

भद्र, मैं रत्न बन गया । कुछ समय मेरा यह स्वरूप बाजारोंमें जौहरियोंके हाथोंसे कांटेपर तोलनेके कारण आन्दोलित हो उठा था तथा कुछ समय समुद्रों द्वारा जल-कल्लोलरूपी हाथोंसे कम्पित किया गया था ॥ २९ ॥

श्रीराघव, समुद्रका जल पी जानेवाला बाडवानल भी मैं बन गया । मैंने अपने बाडवानल रूपसे समुद्रमें डरे हुए छोटे छोटे मत्स्योंके परिभ्रमणका खूब कौतुक देखा । जलको स्वाहा करनेवाला सूर्य-किरणका समूह बनकर मैंने अपने शरीरमें प्रकाशका अनुभव किया । मेघ, पर्वत आदिमें मैंने बिजली और दावाग्निका स्वरूप धारण कर लिया और उन शरीरोंमें अपनेमें अपूर्व प्रकाशका अनुभव किया ॥ ३० ॥

किञ्च, मैंने अग्नि बनकर इस प्रकार दीप्तिपूर्वक जलना आरम्भ किया कि उससे लकड़ियोंका विदारण तत्काल हो जाता था, इसीसे लकड़ियोंके विस्फोटोंसे चारों ओर दुर्वार कठिन शब्द उत्पन्न होते थे तथा यज्ञाग्नि होकर मैंने हविष् दाहका भी आनन्द लूटा ॥ ३१ ॥

जब मैं अग्नि बना तब सुवर्ण, माणिक्य, मोती, मणि आदि जो चमकीली ज्योतियाँ थी, उनका कोशागारके दाह द्वारा पराभव कर उनके स्वामियोंको ऐसा सन्ताप पहुँचाया, जैसे बलवान् अनेक मूर्खोंके द्वारा वितण्डासे एक पण्डितको सन्ताप पहुँचाया जाता है । इस विषयकी कहावत है कि एक पलाशके पेड़को देख कर पण्डितने कहा—यह पलाश वृक्ष है । इसपर वहाँ विद्यमान अनेक मूर्खोंने मिल कर कहा, नहीं यह पाढ़रका पेड़ है । झगड़ा बढ़ा और मूर्खोंने पण्डितकी मुक्कोंसे पूजा आरम्भ की, पण्डित भी दुःखी होकर कहने लगा, हाँ, यह पाढ़रका पेड़ है ॥ ३२ ॥

मोती बनकर जो कुछ अनुभव किया, उसे भी प्रसङ्गवश कहते हैं—**'विश्रान्तम्'** इत्यादिसे ।

विश्रान्तं स्तनशृङ्गेषु मुक्ताहारतया तया ।
असुरोरगगन्धर्वनरनायकयोषिताम् ॥ ३३ ॥
पादाहतिं गतं मार्गे तिलकत्वं वधूमुखे ।
खद्योतेन मया लब्धं पश्याऽवस्थासु चापलम् ॥ ३४ ॥
क्वचिद्विद्युत्तया तेषु शफर्या चाऽर्णवेष्विव ।
खस्थेषु विकृतं चारु वार्यावर्त्तविराविषु ॥ ३५ ॥
क्वचिद्दीपतयाऽऽनीय कलिकाकोमलाङ्गया ।
अन्तःपुरेषु कान्तानां सुरतालोकनं कृतम् ॥ ३६ ॥
क्वचित्कज्जलजालस्य ज्वालाकनकदाकृते ।
खेदिना घनकूर्माभं संगेनैव स्वकोटरे ॥ ३७ ॥
कल्पान्तेषु क्वचित्सर्वजगद्भ्रमघनश्रमात् ।
खे कज्जलासिते लीनं रुद्रेभ इव विद्युता ॥ ३८ ॥

भद्र, तदनन्तर मैं मोती बन गया । और मोतियोंके हार रूपसे असुर, नाग, गन्धर्व और नरनायकोंकी रमणियोंके स्तनोपर मैंने दीर्घकालतक विश्राम किया ॥ ३३ ॥

खद्योत बनकर जो अनुभव किया, उसे कहते हैं—'**पादाहतिम्**' इत्यादिसे ।

खद्योत बनकर मैंने मार्गमें गमन कर रहे मनुष्योंके पैरोंसे खूब रगड़ खानेका अनुभव किया और स्त्रियोंके ललाटपर तिलकरूपताका भी अनुभव किया । स्थानभेदोंसे प्राप्त हुई उत्कर्षापकर्षरूप अवस्थाओंमें मेरी चपलता (अनियतता) तो जरा देखिये ॥ ३४ ॥

जलके आवर्तोंसे शब्दायमान आकाशस्थ मेघोंमें विद्युत्का रूप लेकर मैंने समुद्रमें मछलीके सदृश अत्यन्त सुन्दर ढँगसे चेष्टाएँ कीं ॥ ३५ ॥

मैंने कहीं दीपक रूप भी ले लिया । दीपकके रूपमें जब मेरी अन्तःपुरमें स्थापना हुई, तब रमणियोंकी सुरतक्रीड़ाका भी मैंने अवलोकन किया । दीपकके रूपमें पुष्प-कलिकाके सदृश मेरे कोमल अङ्ग खूब शोभते थे ॥ ३६ ॥

बत्तीके आगेके हिस्सेमें कभी-कभी काजलका एक जाल-सा बन जाता है । यह दीप ज्वालारूप सोनेके टुकड़ेको तोड़-फोड़ देता है, यही इसका स्वरूप है, भद्र, इस कज्जलजालके ही समागमसे कभी मन्दप्रभ बनकर ज्वालादि अङ्गोंको समेट लेनेके कारण दीपकरूपमें मैं घन कूर्मका रूप भी बना लेता था ॥ ३७ ॥

राघव, कभी कल्पान्तका अग्नि बनकर मैंने कल्पान्तमें समस्त जगत्‌में खूब परिभ्रमण किया । भ्रमण करनेके कारण उस समय मुझे जो बड़ा परिश्रम हुआ, उससे कज्जल-

क्वचिदाकल्पमापीय वाडवाग्नितया जलम् ।
जगत्सु गगनेष्वन्ते ननृते जलराशिषु ॥ ३९ ॥

क्वचिदुल्मुकदन्तेन मया ज्वालाभुजात्मना ।
विलोलधूमावर्त्तोग्रकुन्तलेनाऽऽकुलौजसा ॥ ४० ॥

पुरपल्लवदाहेषु कवलीकृतजन्तुना ।
कृताः कृताष्ट काष्ठादिपदार्थाः खादनोचिताः ॥ ४१ ॥

हतेन शस्त्रपाषाणैरयःपिण्डादिवासिना ।
हन्तृदाहार्थमुद्गीर्णाः कणकोपलताः क्वचित् ॥ ४२ ॥

क्वचिन्महाशिलाकोशे पाषाणमणिना मया ।
समस्तभूतादृश्येन स्थितं युगशतान्यपि ॥ ४३ ॥

श्याम आकाशमें कहीं ऐसे विलीन हो जाता था,जैसे इन्द्रके वाहन काले मेघोंमें विद्युत् विलीन हो जाती है ॥ ३८ ॥

कहीं वडवाग्निके रूपसे मैंने कल्पपर्यन्त खूब जलपान किया, तदनन्तर सब जगत् और सब जल जब आकाश यानी शून्यरूप हो गये, तब आकाशमें नृत्य किया ॥ ३९ ॥

मैंने जब अग्निकी देह धारण की थी, तब मेरे ही उल्मुक (जलती लकड़ियाँ) दाँत बन गए, ज्वालाएँ हाथ बन गईं और चञ्चल धूमके आवर्त केश हो गये। इस रूपसे जब नगर और प्ररूढ़ लतापल्लवोंका दाह करना आरम्भ किया तब हे कृताष्ट (दयादि आठ गुणोंको स्थिर बनानेवाले हे श्रीरामजी), जन्तुओंको ग्रास कर जानेवाले मैंने काष्ठ आदि पदार्थोंको अपना खाद्य बना दिया ॥ ४०, ४१ ॥

लोहार आदि कारीगरोंकी प्रयोगशालाओंमें लोहपिण्डोंमें रहकर मैंने मुगदर तथा पत्थरोंसे ताडित होकर ताडन करनेवालेको जलानेके लिए चिनगारियाँ तथा पत्थरके छोटे छोटे कंकर उगले ॥ ४२ ॥

भद्र, कहींपर मैंने बड़ी बड़ी चट्टानोंके अन्दर पाषाणमणिका (हीरा, पन्ना आदिका) रूप लेकर समस्त भूतोंकी दृष्टिसे ओझल होकर सैकड़ों युगतक वास किया ॥ ४३ ॥

श्रीराम उवाच

मुने तस्यामवस्थायामनुभूतं त्वया सुखम् ।
उत दुःखमिति ब्रूहि बोधाय मम मानद ॥ ४४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथा याति नरः सुप्तो जडतां चेतनोऽपि सन् ।
चिद्व्योम गच्छेद् दृश्यत्वं तथा जाड्यं प्रचेतति ॥ ४५ ॥
आत्मानं चेतति ब्रह्म पृथ्व्यादीव यदा तदा ।
सुप्तं जडमिवाऽऽस्तेऽन्तः स्यादस्य न तदन्यथा ॥ ४६ ॥
वस्तुतस्तस्य खोर्व्यादि नाऽसद्रूपं न सन्मयम् ।
द्रष्टृदृश्यमिवाऽऽभाति ब्रह्म चैतत् समं स्थितम् ॥ ४७ ॥

श्रीरामभद्रने कहा—हे मानद, हे मुनिवर, उस पाषाण आदि अवस्थामें क्या आपने सुखका अनुभव किया अथवा दुःखका अनुभव किया, यह मुझसे ज्ञानके लिए कहिए ॥४४॥

चिदानन्दैकरसस्वरूप ब्रह्मभूत मैंने केवल कौतुकवश जगद्रूपताका आरोप देखा था, इसलिए उक्त पाषाण, मणि आदि अवस्थाओंमें मुझको तनिक भी दुःख नहीं हुआ, किन्तु सुख ही हुआ, यों उत्तर देनेके लिए वसिष्ठजी भूमिका बाँधते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, जैसे सुप्त पुरुष चेतनरूप होता हुआ भी जडताका अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप आकाश दृश्यभावको प्राप्त होकर जड़ताका अनुभव करता है ॥ ४५ ॥

जब ब्रह्म अपनेको पृथ्वी आदिके रूपके सदृश समझने लगता है, तब सुषुप्तके सदृश जड़-सा बनकर स्थित रहता है, वास्तवमें इसका जो भीतरी सच्चिदानन्दात्मक स्वभाव है, उसका अन्यथाभाव कभी नहीं होता, इसलिए दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४६ ॥

क्यों ब्रह्मका अन्यथाभाव नहीं होता ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'**वस्तुतः**' इत्यादिसे ।

ब्रह्ममें जो आकाश, पृथ्वी आदि स्वरूप भासते हैं, वे वास्तवमें ब्रह्मके सद् या असदात्मक स्वरूप नहीं हैं, किन्तु यों ही द्रष्टा-दृश्य-से वे भासते हैं, इसलिए ब्रह्म तो सदा ही एक-सा यानी अविकृत ही अवस्थित है ॥ ४७ ॥

एतत्सत्यपरिज्ञानं यस्योत्पन्नमखण्डितम् ।
न तस्य पञ्च भूतानि न दृश्यद्रष्टृविभ्रमः ॥ ४८ ॥
तदा मयैवं शुद्धेन तत् कृतं ब्रह्मरूपिणा ।
ब्रह्मरूपादृते किंचिदेतत्कर्तुर्न युज्यते ॥ ४९ ॥
यदा सर्वमिदं दृश्यं जातं ब्रह्म निरामयम् ।
तदा ब्रह्मपदस्थेन मयाऽऽत्मैवैवमीक्षितः ॥ ५० ॥
यदा पुनरहं पञ्चभूतानीत्येव भासयन् ।
भवामि जड एवाऽहं तदा चेतामि किं किल ॥ ५१ ॥

अपि च, अज्ञान होनेपर ही दुःख आता है, किन्तु वह नहीं है, यह कहते हैं—**'एतत्'** इत्यादिसे ।

भद्र, जिस पुरुषको यह सच्चिदानन्दात्मक अखण्ड ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसकी दृष्टिमें न तो पाँच भूत ही हैं और न उसे दृश्य-द्रष्टाका विभ्रम ही भासता है ॥ ४८ ॥

भद्र, उन धारणाओंमें मैंने जो कुछ उस प्रकारका जगन्निर्माण किया, वह सब विशुद्ध ब्रह्मरूप बनकर ही किया, क्योंकि जगन्निर्माण करनेवालेका शुद्ध ब्रह्मरूपके बिना कुछ रूप हो ही नहीं सकता ॥ ४९ ॥

जब परमार्थ-दशामें यह सब कुछ दृश्य निर्विकार ब्रह्मरूप ही सिद्ध हुआ तब ब्रह्मपदमें ही रहकर मैंने अपनी आत्माको उक्त नानाविध जगत्के रूपमें देखा, यहा बत निश्चितरूपसे आप जान लीजिये ॥ ५० ॥

यदि पाषाणमणि आदिका रूप होनेपर मुझमें चैतन्य न रहता, तो उनका अनुभव और आज स्मरण मुझको होता ही नहीं, इस आशयसे कहते हैं—**'यदा'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, पृथ्वी आदिकी धारणाओं द्वारा अपनेको पृथ्वी आदि पाँच भूतोंके रूपमें प्रकाशित कर । रहा मैं यदि जड़ रूप ही बन जाता, तो मैं उनका अनुभव ही कैसे कर सकता ? ॥ ५१ ॥

तब सुषुप्ति अवस्थामें 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह ज्ञानाभावका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—**'सुप्तोऽस्मि'** इत्यादिसे ।

सुप्तोऽस्मीति दृढं भावं बुद्धवांश्चेतनोऽपि सन् ।
नैद्रमेवेत्यलं जाड्यं लसच्चेतति किंचन ॥ ५२ ॥

यस्तु ज्ञानप्रबुद्धात्मा देहस्तस्याऽऽधिभौतिकः ।
शाम्यत्युदेति विमलो बोधात्मैवाऽऽतिवाहिकः ॥ ५३ ॥

आतिवाहिकदेहेन तेन बोधात्मनाऽणुना ।
बृहता वा यथाकामं निर्वाणात्माऽवतिष्ठते ॥ ५४ ॥

बोधदेहेन हृदयं शिलानामप्यभेदिनाम् ।
प्रविश्याऽऽशु विनिर्याति याति पातालमम्बरम् ॥ ५५ ॥

'मैं सोया हूँ' इस दृढ़ भावको चेतन होकर भी मैंने जाना, उस दशामें निद्रा दोषसे उपस्थित किया गया अज्ञान ही 'मैंने कुछ नहीं जाना' इस प्रतीतिसे प्राप्त करायी गयी जड़ता धारण करता है और प्रकाशमान स्वप्रकाशरूप जो वस्तु है, वह तो उस समय प्रकाशती और अनुभव करती रहती है, यदि यह बात न होती तो सुषुप्तिकालमें अनुभूत अज्ञानका जाग्रत्कालमें स्मरण कैसे होता ? ॥ ५२ ॥

तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिसे स्थूल व्यष्टि-समष्टि देहकी आधिभौतिक भावना नष्ट हो जाती है, इसलिए भी जड़ दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इस आशयसे कहते हैं— **'यस्तु'** इत्यादिसे ।

जिस पुरुषकी आत्मा सत्यज्ञानसे जग गई है, उसकी आधिभौतिक देह तत्काल विलीन हो जाती है यानी देहमें आधिभौतिकताकी प्राप्ति ही नहीं रहती और निर्मल बोधरूप आतिवाहिक देहकी उत्पत्ति हो जाती है ॥ ५३ ॥

बोधरूपी उक्त आतिवाहिक देह छोटी हो चाहे बड़ी हो, उससे अपनी इच्छानुसार पुरुष निर्वाणरूप (समस्त प्रपञ्चोंसे रहित जीवन्मुक्तरूप) होकर स्थित हो जाता है ॥ ५४ ॥

बोधरूप देहके प्रभावसे अभेद्य पाषाण शिलाओंके भी भीतर प्रवेश करके पुरुष अनायास बाहर निकल जाता है, पातालमें चला जाता है और आकाशमण्डलमें भी विचरता है ॥ ५५ ॥

इसलिए मुझे दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई, यह कहते हुए उपसंहार करते हैं— **'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

तस्मान्मया पुरा राम बोधदेहेन तत्तदा ।
तथा कृतमनन्तेन चिन्मयव्योमरूपिणा ॥ ५६ ॥
वज्रपाषाणपातालनभोम्बरगमागमान् ।
कुर्वतस्तादृशस्याऽऽशु न विघ्न उपजायते ॥ ५७ ॥
बोधमात्रशरीरेण यावदास्ते जडेष्वसौ ।
पदार्थेषु तथाभूतस्तावत्तत्राऽवतिष्ठते ॥ ५८ ॥
स्वेच्छयैव चलित्वाऽथ ततोऽन्यत्र प्रयाति चेत् ।
तत्तत्रैव स्थितिं याति तत्तथैवाऽऽगतिर्यथा ॥ ५९ ॥
बोधमात्रं विदुर्देहमातिवाहिकमव्ययम् ।
इदानीं त्वं तमेवेह बुधोऽनुभवसि स्वयम् ॥ ६० ॥

हे श्रीरामभद्र, इसीलिए उस समय बोधरूप देहके कारण अनन्त चिन्मय आकाशरूपी मैंने पृथ्वी आदिकी धारणा बाँधकर पृथ्वी आदि स्वरूपका निर्माण किया था ॥ ५६ ॥

भद्र, वज्र, पत्थर, पाताल, आकाश एवं स्वर्ग आदिमें यातायात कर रहे उसी तरहके विशुद्ध आत्माको तनिक भी विघ्न उपस्थित नहीं होता ॥ ५७ ॥

बोधमात्र शरीरसे यह आत्मा जड़ पदार्थोंमें जबतक रहता है तबतक उसी रूपसे (बोधमात्र शरीरसे ही) उनमें रहता है, अन्यरूपसे नहीं ॥ ५८ ॥

यह सब कौतुक अपनी इच्छासे ही किये गये थे, इसलिए भी दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई, इस आशयसे कहते हैं—'**स्वेच्छयैव**' इत्यादिसे ।

अपनी ही इच्छासे यदि कोई चलकर फिर अन्यत्र जाता है, या वहाँ स्थिति करता है, या वहाँसे वापस चला आता है, तो दुःख नहीं होता, ठीक इसी प्रकारकी यहाँ भी स्थिति है यानी अपनी इच्छासे किये गये कौतुकोंमें मुझे किसी प्रकारका कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि वैसा करना इष्ट ही था, अनिष्ट नहीं ॥ ५९ ॥

आप भी तत्त्वज्ञानी हैं, इसलिए आतिवाहिक देहभाव और धारणाओंके अनुसार जगद्भावरूपी कौतुकोंका दर्शन आपके लिए भी सुलभ है, अतः मेरे कहे गये विषयकी परीक्षा करें, इस आशयसे कहते हैं—'**बोधमात्रम्**' इत्यादिसे ।

भद्र, एकमात्र तत्त्वज्ञान ही अविनाशी आतिवाहिक देह है, यह तत्त्वज्ञोंका मत है, इसलिए अब आप यदि इच्छा करें, तो आतिवाहिक देह और धारणा द्वारा जगद्भावका अवलोकन कर सकते हैं ॥ ६० ॥

चिन्मात्रव्योमरूपोऽस्मीत्यर्कादाविति बोधतः ।
आत्मैवाऽस्तमुपानीतः सन्नेवाऽसन्निवाऽऽत्मना ॥ ६१ ॥
स्थितं स्वप्नादिजगति तमसेवाऽसतेव च ।
आवृतेनेव वाऽन्यासामलभ्येन स तादृशम् ॥ ६२ ॥
तरङ्गलेखयाऽङ्गारसरितः स्वाङ्गलग्नया ।
मनोराज्यश्रियेवाशुक् प्रोत्पन्नस्तद्वदेहया ॥ ६३ ॥
कज्जलालिकया वह्निविपिनं पुष्पशोभया ।
फुल्लस्थलाम्बुजाकारं किंशुकाशोकरूपया ॥ ६४ ॥

इच्छासे ही तत्त्वज्ञ पुरुष सूर्यादि समस्त जगत्को विलीन करके आत्ममात्रस्वरूपसे स्थापित कर सकते हैं, यह कहते हैं—'**चिन्मात्र०**' त्यादिसे ।

इस तरह सूर्य आदि लोकोमें 'चिन्मात्रस्वरूप आकाशरूप मैं ही हूँ,' इस बोधसे अपनी आत्माके असली स्वरूपसे ज्ञात होता हुआ भी सूर्यादिलोक जगत्के बोधसे असत्सा तथा अस्तको प्राप्त-सा हो जाता है यानी तत्त्वज्ञ लोग सूर्य आदि समस्त जगत्को जगद्-रूपसे असत् बनाकर आत्मरूपसे स्थापित कर लेते हैं, यह तात्पर्य है ॥ ६१ ॥

हम लोगोंकी दृष्टिमें जगत् तो सत्य है, फिर वह असत्-सा बनकर स्थित है, यह कैसे कहते हैं ? इस शङ्कापर स्वप्न आदि जगत्के विद्यमान रहते जाग्रत् जगत् जैसे असत्-सा रहता है, यह कहते हैं—'**स्थितम्**' इत्यादिसे ।

जैसे जाग्रत्-पुरुषकी दृष्टिमें विद्यमान ही जगत् सुप्त पुरुषमें प्रसिद्ध स्वप्नादि जगत्में अज्ञानता के कारण असत्-सा, शून्यभाव के कारण आवृत-सा या स्वप्नद्रष्टापुरुषोंके द्वारा अलभ्य-सा बनकर स्थित है, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए ॥ ६२ ॥

भद्र, जैसे कोई कौतुकी पुरुष मनोराज्यसे कल्पित अङ्गारोंकी नदीके तरङ्गोंका अङ्गसे स्पर्श हो जानेपर भी दुःखी नहीं होता, वैसे ही मैं अपनी थोड़ी इच्छाके कारण पाषाण, मणि आदि रूप हो जानेपर भी दुःखग्रस्त नहीं हुआ ॥ ६३ ॥

यों श्रीरामभद्रके प्रश्नका उत्तर देकर अब प्रस्तुत विषयपर आकर श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'**कज्जल**' इत्यादिसे ।

भद्र, इस तरह अग्निरूपधारी मैंने काजलरूपी भ्रमरोंके समूहोंसे समन्वित एवं अशोकरूप फूलोंकी शोभासे युक्त प्रदीप्त ज्वालाओंके कारण अग्निसे व्याप्त जंगलको

वितताऽऽरम्भयाऽप्युच्चैर्ज्वालाज्वलतयेद्धया ।
उपोत्थायाऽङ्ग गलितं खललक्ष्म्येव लोलया ॥ ६५ ॥

तेजस्तयाऽपि परमाणुकणोदरेऽपि
दृष्टेत्थमेवमिह राम मया जगच्छ्रीः ।
अन्या च सा न च चिदम्बरतः परस्मा-
त्स्वप्ने पुराचलगणोऽत्र निदर्शनं वः ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषाणोपाख्याने तैजसजगद्वर्णनं नामैकनवतितमः सर्गः ॥ ९१ ॥

विकसित स्थलकमलके सदृश बना दिया ॥ ६४ ॥

हे प्रिय, दुष्ट पुरुषकी लक्ष्मीके सदृश बढ़ी हुई तथा घटाटोपपूर्ण चञ्चल ऊँची ऊँची ज्वालामालाओंके रूपसे तत्काल ही उत्कर्ष प्राप्त कर मैं सहसा नष्ट भी हो गया ॥ ६५ ॥

हे रामजी, तेजःस्वरूप बनकर मैंने परमाणु कणोंके भीतर इसी तरहकी जिस प्रत्येक जगत्-शोभाका अवलोकन किया, वह जगत्-शोभा और आप जिसे देख रहे हैं, वह जगत्-शोभा दोनों सर्वोच्च चिदाकाशसे भिन्न नहीं हैं, इस विषयमें दृष्टान्त—आपके स्वप्नके प्रसिद्ध नगर या पर्वत—विद्यमान हैं ॥ ६६ ॥

इक्यानबे सर्ग समाप्त

———

द्विनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वातमयीं कृत्वा जगत्प्रेक्षणकौतुकात् ।
धारणां धीरया वृत्त्या विततामहमागतः ॥ १ ॥
संपन्नोऽस्म्यनिलो वल्लीललनालोकलासकः ।
कमलोत्पलकुन्दादिजालकामोदपालकः ॥ २ ॥
सीकरोत्करनीहारहेलाहरणतत्परः ।
सुरतश्रान्तसर्वाङ्गसमाह्लादनतर्षुलः ॥ ३ ॥
तृणगुल्मलतावल्लीदलताण्डवपण्डितः ।
लतौषधिफलोल्लासकुसुमामोदमण्डितः ॥ ४ ॥
मृदुर्मङ्गलकालेषु ललनालोकलालकः ।
भीम उत्पातकालेषु पर्णवत्प्रौढपर्वतः ॥ ५ ॥

बानबे सर्ग

[वायुकी धारणासे वायुभाव प्राप्त हो जानेपर वायुके कार्योंका विस्तार तथा आकाशके साथ सर्वात्मभावमें स्थिति—यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, तदनन्तर मैंने जगत् देखनेकी उत्कण्ठासे वायुमय धारणा बाँधी। फिर धीर वृत्तिसे वायुरूपमें स्थिति प्राप्त हो जाने तकको लम्बी वायुमय धारणाको प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

मैं वायु बन गया। मैं वायु बनकर लतारूपी ललनाओंके साथ विलास करता था तथा कमल, उत्पल, कुन्द आदि फूलोंकी सुगन्धकी, स्वायत्त कर, रक्षा करता था ॥ २ ॥

मैं जलकणोंकी राशिको इधर उधर बखेरने तथा नीहारसमूहको लीलासे (क्रीडासे) दूर दूर तक हरण करनेमें निरत रहता था और सुरतक्रीडासे क्लान्त युगलोंके समस्त अङ्गोंमें आह्लाद पहुँचानेमें रात-दिन सतृष्ण रहता था ॥ ३ ॥

तृण, गुल्म, लता, वल्ली तथा पत्तोंको ताण्डव नृत्य सिखलानेमें महापण्डित भी मैं बन गया एवं लता और औषधियों के फलोंके उल्लासों तथा कुसुमोंके आमोदोंसे विभूषित हो गया ॥ ४ ॥

मङ्गलके अवसरोंमें भावी कल्याणको सूचित करनेके लिए मैं मृदु यानी मन्द,

नन्दने कुन्दमन्दारमकरन्दरजोरुणः ।
नरकेऽङ्गारसंभारभूरिनीहारभासुरः ॥ ६ ॥
सागरे सरलावर्तलेखानुमितसर्पणः ।
दिवि वारिदसंचारमृष्टामृष्टेन्दुदर्पणः ॥ ७ ॥
नक्षत्रक्षत्रसैन्यस्य रथो रंहो विबृंहितः ।
त्रैलोक्यसिद्धसंचारविमानधरणेहितः ॥ ८ ॥
सहोदर इव क्षिप्रगामित्वादस्य चेतसः ।
अनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः स्पन्दानन्दनचन्दनः ॥ ९ ॥
तुषारसीकरासारजरारोमविजर्जरः ।
आमोदयौवनोन्मादो मौनमार्दवशैशवः ॥ १० ॥

सुगन्ध एवं शीतल होकर ललना जनोंके प्रेमका भाजन बन जाता था, उत्पात समयमें तो भावी उत्पातोंको सूचित करनेके लिए भयङ्कर तीक्ष्ण, उष्ण और असह्य बन जाता था, प्रलयकालमें तो पर्वतोंको भी पत्तोंके सदृश उड़ा देता था ॥ ५ ॥

भद्र, नन्दनमें (स्वर्गमें) कुन्द, मन्दार आदिके मकरन्द और पराग (पुष्पधूलि) से धूसर तथा नरकमें अङ्गारोंकी राशि तथा विपुल नोहारसे लदा रहता था ॥ ६ ॥

जब मैं समुद्रमें रहता था, तब मेरी गति सरल तरङ्गोंकी रेखाओंसे अनुमित होती थी और जब मैं आकाशमें रहता था, तब मैं कभी चन्द्रमारूपी दर्पणको मेघरूपी मल हटाकर स्वच्छ बना देता था और कभी मेघरूपी मलिनता लाकर मलिन बना देता था ॥ ७ ॥

मैं नक्षत्र रूपी राजसेनाका बड़े वेगसे आगेकी ओर बढ़ा हुआ रथ था [प्रवह नामका वायु नक्षत्रचक्रको घुमाता है, यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धान्त है], त्रिलोकीमें समस्त सिद्धोंके संचार एवं देवताओंके विमानोंके धारणमें सदा अनुकूल रहता था ॥ ८ ॥

मेरी इतनी शीघ्र गति थी कि मैं चित्त का (मनका) सहोदर भाई-सा था, मैं यों तो अनङ्ग था, फिर भी मैं किसी अङ्गसे रहित न था तथा अपने स्पन्दनोंसे चन्दनोंके बनोंको आनन्द विभोर बना देता था ॥ ९ ॥

तुषार कणोंकी जब महतो वृष्टि होती थी, तब तुषार कणरूपी धवल रोमोंके कारण मैं बूढा-सा लगता था, कुसुम आदि आमोदोंसे मैं यौवनके उन्मादसे

नन्दनामोदमधुरा मधुरोदारसंसृतिः ।
चारुचैत्ररथोन्मुक्तो हृतकान्तारतश्रमः ॥ ११ ॥
चिरं गङ्गातरङ्गाङ्गदोलान्दोलनसश्रमः ।
श्रमस्वरूपाज्ञतया निवारितततश्रमः ॥ १२ ॥
पुष्पभारानताः स्पर्शैर्वसन्तवनितालताः ।
चिरं चपलयन् लोलदलहस्तालिलोचनाः ॥ १३ ॥
चिरं भुक्त्वेन्दुबिम्बाग्रं सुप्त्वा पूर्णाभ्रतल्पके ।
विधूय कमलानीकमपनीतरतश्रमः ॥ १४ ॥
समस्तरजसामेको व्योमगामी तुरङ्गमः ।
आमोदमदमातङ्गसमुल्लासमहासुहृत ॥ १५ ॥

चूर-सा हो जाता था तथा मौन एवं मृदुताके कारण मैं बालकरूप भी हो जाता था ॥ १० ॥

भद्र, नन्दनवनमें मधुर सुगन्धिके कारण मेरा गमन अति मधुर और उदार होता था तथा जब मैं कुबेरके चैत्ररथ नामक उद्यानसे प्रस्थान करता तब कान्ता जनोंके सुरतश्रमको हर देता था ॥ ११ ॥

भगवती भागीरथीके तरङ्गरूपी हिण्डोलोंके आन्दोलनोंसे मुझे श्रम-सा अवश्य लगता था, परन्तु दूसरोंके परिश्रमोंकी निवृत्ति करनेके उत्साहसे उसका मुझे ज्ञान ही नहीं हो पाता था, इसीलिए दूसरोंके असीम श्रमोंको मैं तत्काल ही नष्ट कर देता था ॥ १२ ॥

ऋतुराज वसन्तकी वनिता जैसी लताओंको मैं नर्मस्पर्शोंसे दीर्घकालके लिए चपल बनाता था। वे लतावनिताएँ फूलोंके भारोंसे नत रहती थीं, उनके चञ्चल दल हाथसे प्रतीत होते थे और भ्रमर नेत्रसे लगते थे ॥ १३ ॥

चन्द्रबिम्बमें सर्वश्रेष्ठ अमृतका दीर्घकाल तक पान कर, पूर्ण मेघरूप तल्पपर (शय्यापर) शयन कर तथा कमलोंकी पङ्क्तिको कँपा कर दूसरेके या अपने सुरत-जनित परिश्रमका निवारण करता था ॥ १४ ॥

मैं समस्त धूलियोंके लिए आकाशगामी घोड़ा तथा आमोदरूपी मत्त मातङ्गका उल्लासप्रद महान् मित्र था ॥ १५ ॥

धीरेणाऽप्यतडिच्छृङ्गं पयोदपशुपालकः ।
तन्तुः सीकरमुक्तानामरिधर्मा रजोरुजाम् ॥ १६ ॥
आकाशकुसुमामोदः सर्वशब्दसहोदरः ।
नाडीप्रणालीसलिलं भूताङ्गोपाङ्गवर्तकः ॥ १७ ॥
मर्मकर्मकरैकात्मा हृद्गुहागेहकेसरी ।
नित्यमेकान्तपथिकः सारविज्ञातवेदसः ॥ १८ ॥
आमोदरत्नलुण्टाको विमाननगरावनिः ।
दाहान्धकारशीतांशुः शैत्येन्दुक्षीरसागरः ॥ १९ ॥
प्राणापानकलारज्ज्वा प्राणिनां यन्त्रवाहकः ।
अरिर्मित्रं च द्वीपानां द्वीपसंचारणे रतः ॥ २० ॥

तड़ित्‌रूपी सींगको (गोपाल-बालकोंके वाद्यको) प्राप्त कर उसके नादसे मैं मेघरूपी दुधार पशुओंका एक पालक-सा बन गया, जलकणरूपी मोतियोंके लिए मैं सूत बन गया तथा धूलिनाशक जलके लिए मैंने शत्रुता मोल ली, क्योंकि जलको मैं सुखा देता था ॥ १६ ॥

आकाशरूपी फूलका मैं आमोद था, इसीलिए आकाशके गुण सब शब्दोंका मैं सहोदर भाई भी बन गया तथा प्राणियोंके अङ्ग उपाङ्गोंमें प्रवर्तक बनकर उनकी नाडीरूप प्रणालियोंमें (नालियोंमें) जलरूप-सा भी हो गया ॥ १७ ॥

सब प्राणियोंका प्राणभूत तथा हृदय आदि मर्म स्थानरूप होनेके कारण मर्म कार्य करनेवाले सब स्थानोंका मैं ही एक आत्मा बन गया, हृदय गुहारूप घरका मैं सिंह था, मैं निरन्तर नियमसे संचरण करता रहा, तथा मैं अग्निके बलका ज्ञाता था, क्योंकि दुर्बल जानकर दीपकको बुझा देता था और बलिष्ठ जानकर मित्रभावसे अग्निको बढ़ा भी देता रहा ॥ १८ ॥

सुगन्धरूपी रत्नोंका मैं लुटेरा था, यानी जबरन कलीरूपी गाँठ खोलकर चुरा लेनेवाला विमानरूप नगरोंका धारणकारी था, दाह (ताप) रूपी अन्धकारके लिए मैं चन्द्रमा था और शैत्यरूपी चन्द्रमाके लिए क्षीर-सागर था ॥ १९ ॥

प्राण, अपानकी कलारूप रज्जुसे मैं प्राणियोंके यन्त्रोंका चालक था, द्वीपोंका तरङ्गोंसे खण्डन और धूलियोंसे संवर्धन करनेके कारण शत्रु-मित्र दोनों था तथा द्वीपोंमें संचार करनेमें सदा निरत रहता था ॥ २० ॥

पुरोगतोऽप्यदृश्यात्मा मनोराज्यपुरोपमः ।
तालवृन्ततिले तैलमालानं स्पन्ददन्तिनः ॥ २१ ॥
एकक्षणलवेनैव चालिताखिलभूधरः ।
वर्णावलितरङ्गाणां गङ्गावाह इवैककृत् ॥ २२ ॥
धूमाम्बुवाहरजसां महावर्त्तकृदम्मसाम् ।
द्युनदीवाहवार्योघनभोनीलोत्पलालिकः ॥ २३ ॥
शरीरावेष्टितोन्मुक्तपुराणतृणचोपनः ।
स्पन्दपद्मवनादित्यः शब्दवर्षैकवारिदः ॥ २४ ॥
व्योमकाननमातङ्गः शरीरगृहगर्गटः ।
धूलीकदम्बविपिनमालालिङ्गननायकः ॥ २५ ॥
स्त्यानीकरणसंशोषधृतिस्पन्दनसौरभैः ।
सशैत्यैः कर्मभिः षड्भिरलब्धक्षण आक्षयम् ॥ २६ ॥

भद्र, मैं सामने रहता था फिर भी मेरे स्वरूपको कोई देख नहीं पाता था, अतएव मैं मनोराज्यसे कल्पित नगर के सदृश था । पंखेरूपी तिलोंमें मैं तेलके सदृश तथा स्पन्दनरूप हाथीके लिए मैं बन्धनस्तम्भ आलानरूप था ॥ २१ ॥

प्रलयकालमें एक क्षणांशमें ही बड़े-बड़े पर्वतोंको उखाड़कर फेंक देता था । अनेक वर्णरूप तरङ्गोंको गङ्गा-प्रवाहके सदृश धूलिके सम्मिश्रणसे एकरूप बना देता था ॥ २२ ॥

मैंने वायुरूप होकर धूम, मेघ, रज और जलोंका एक आवर्त-सा खड़ा कर दिया था तथा आकाश-गङ्गाके प्रवाहरूप मकरन्दके जल-समूहसे युक्त आकाशरूप नील कमलका मैं भ्रमर था ॥ २३ ॥

झंझावातरूप शरीरके वेष्टनसे निर्मुक्त जीर्ण-शीर्ण तृणोंमें मैं मन्द मन्द गति देता था, स्पन्दनरूप (सामान्य क्रियारूप) कमलवनका मैं आदित्य यानी विकासका हेतु था और शब्दरूप वृष्टिके लिए मैं मुख्य मेघ था ॥ २४ ॥

व्योमरूपी जंगलका मैं मतवाला हाथी था, शरीररूपी घरका मैं गर्गट (निरन्तर शब्द करनेवाला एक तरहका यन्त्र) था, धूलिरूप रमणीसमूहका तथा वनमालारूप नायिकासमूहका आलिङ्गन करनेमें मैं नायक था ॥ २५ ॥

भद्र, वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकारकी क्रियाएँ करते करते प्रलयपर्यंत कभी भी विश्राम नहीं लिया । मेरे वे छः कर्म थे—हिम, घी आदिका पिण्ड बनाना, कीचड़

रसाकर्षणसव्यग्रो नित्यं भ्रातेव तेजसः ।
हरणादानकर्तॄणामङ्गानां विनियोगकृत् ॥ २७ ॥
शरीरनगरे नाडीमार्गैर्गतिनिरर्गलः ।
रसभाण्डे परावर्तादायुर्मणिमहावणिक् ॥ २८ ॥
शरीरनगरीनाशनिर्माणैकपरायणः ।
रसकिट्टकलाधातुपृथक्करणकोविदः ॥ २९ ॥
प्रतिसूक्ष्माणुकं देहे ततो दृष्टं मया जगत् ।
तत्रेत्थं रूपवानस्मि स्फुटमाभोगि सुस्थिरम् ॥ ३० ॥
परमाणुप्रति त्वत्र प्रोह्यन्त इव सर्गकाः ।
न च किंचित्किलोह्यन्ते खाकृते किमिवोह्यते ॥ ३१ ॥

आदिको सुखाना, मेघ आदिको धारण करना, तृण आदि में हलचल पैदा करना, सुगन्धको इधर उधर ले जाना तथा ताप हरना ॥ २६ ॥

श्रीरामजी, रसके आकर्षणके लिए मैं निरन्तर व्यग्र रहता था, इससे तेजका मैं भाई-सा बन गया था और हरण, आदान आदि करनेवाले हाथ आदि अङ्गों का मैं चालक था ॥ २७ ॥

शरीररूपी महानगरमें नाड़ीके मार्गोंसे किसी तरहकी विघ्नबाधा (रोकटोक) के विना अप्रतिहत गमन करता था तथा अन्नरसमय देहपात्रमें प्राणादिके रूपोंसे आवागमन कर आयुरूपी मणिके रक्षणमें मैं महावणिक् बन गया था ॥ २८ ॥

शरीररूपी नगरोंके नाश और निर्माणमें अकेले मैं तत्पर रहता था। अन्नरसोंके मल, सूक्ष्मतर सारभागरूप त्वचा आदि छः कलाओं एवं वात-पित्त-कफरूप धातुओंके पृथक्करणमें मैं महापण्डित था ॥ २९ ॥

तदनन्तर वायुमण्डलमें भी परमाणु तकके एक-एक द्रव्यके अन्दर भी मैंने रजतकी शिलाके सदृश सुस्थिर, अतिविशाल जगत् देखे। उन जगतोंमें भी इसी तरह पृथ्वी आदि जगत्के रूपमें मैं ही रहा ॥ ३० ॥

यद्यपि यहाँ प्रत्येक परमाणुमें अनेक सृष्टियाँ बहती हुई-सी प्रतीत होती हैं, तथापि परमार्थ दृष्टिसे विचारनेपर न तो कुछ है, न कोई बहती-सी हैं, क्योंकि शून्याकार ब्रह्ममें बहना ही क्या ? ॥ ३१ ॥

प्रत्येक परमाणुमें किन किन पदार्थोंके साथ सृष्टियाँ विद्यमान-सी हैं, इसे कहते हैं—'सचन्द्रा०' इत्यादिसे ।

सचन्द्रार्कानिलाग्नीन्द्रपश्चवैश्रवणेश्वरः ।
सब्रह्महरिगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥ ३२ ॥
ससागरगिरिद्वीपदिगन्तरमहार्णवाः ।
सलोकान्तरलोकेशक्रियाकालकलाक्रमाः ॥ ३३ ॥
सस्वर्गभूमिपातालततलोकान्तरान्तराः ।
सभावाभाववैधुर्यजरामरणसंभ्रमाः ॥ ३४ ॥
एवं नाम तदा राम भूतपञ्चकरूपिणा ।
मया प्रतिहृतं तत्र त्रैलोक्यनलिनोदरे ॥ ३५ ॥
रसः पीतोऽनुभूतश्च क्ष्माजलानिलतेजसाम् ।
मूलजालेन वृक्षाणां प्राणिनां वसता मया ॥ ३६ ॥
रसायनघनाङ्गेषु चन्दनद्रवशोभिषु ।
लुठितं चन्द्रबिम्बेषु तुषारशयनेष्विव ॥ ३७ ॥

उन सृष्टियोंमें चन्द्र, सूर्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुण, कुबेर एवं महेश्वर, ब्रह्मा, हरि और गन्धर्व थे, विद्याधर तथा शेषराज थे। सागर, पर्वत, द्वीप, दिशाएँ एवं महान् समुद्र थे; अन्यान्यलोक, लोकपाल, क्रिया, काल एवं कल्पके क्रम थे ॥३२,३३॥

वहाँ स्वर्ग, भूमि, पातालतल तथा अन्यान्य लोकान्तर थे, भाव, अभाव, वैधुर्य, जरा, मरण, आदिकी भ्रान्तियाँ भी वहाँ विद्यमान थीं ॥ ३४ ॥

यों आकाशभावमें भी आकाशके जो विलास हैं, उनका भी अनुभव समझ लेना चाहिए, इस आशयसे कहते हैं—**'एवम्'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यों उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतोंका रूप धारण कर मैंने उस त्रिलोकीरूप कमलके उदरमें खूब विहार किया ॥ ३५ ॥

जैसे जैसे विहार किया, उसका विस्तारके साथ वर्णन करते हैं—**'रसः'** इत्यादिसे ।

भद्र, पृथ्वी, जल, वायु, और तेजके समूहरूप वृक्षोंके शरीरमें निवास करते हुए मैंने मूलजालके द्वारा पृथ्वीका रस पीया और उसका प्रचुर अनुभव (स्वाद) लिया ॥ ३६ ॥

अमृतसे पूर्ण (घनीभूत) अङ्गोंवाले तथा चन्दनके द्रवके समान शीतत्व आदि गुणोंसे सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर, जो तुषारकी शय्याओं-ऐसे थे, खूब लोट-पोट ली ॥ ३७ ॥

सर्वर्तुवनजालेषु नानामोदानि दिक्ष्वलम् ।
भुक्तानि पुष्पजालानि प्रोच्छिष्टं ददताऽलये ॥ ३८ ॥
ततोन्नतासु मृद्वीषु स्वास्तीर्णास्वम्बराजिरे ।
सुप्तं शुभ्राभ्रमालासु नवनीतस्थलीष्विव ॥ ३९ ॥
सुमनःपत्रमृदुषु नीललक्ष्मीविलासिषु ।
सुरसिद्धाङ्गनाङ्गेषु दूरास्तस्मरवासनम् ॥ ४० ॥
कृतः कुमुदकह्लारकमले नलिनीवने ।
कोमलः कलहंसीभिर्लीलाकलकलारवः ॥ ४१ ॥
सरत्सरिच्छिरासारा मूलभूमण्डलान्विताः ।
अङ्गैरूढाः स्फुरद्भूता लोमालय इवाऽद्रयः ॥ ४२ ॥
खाद्रयः प्रथिता दीर्घसरित्सूत्रैः समुद्रकैः ।
आदर्शैरिव विश्रान्तमङ्गेषु प्रतिबिम्बिभिः ॥ ४३ ॥

अपने उपभोगके बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमरको देते हुए मैंने सभी ऋतुओं-में सब ओर विविध आमोदोंसे पूर्ण पुष्पराशियोंका खूब आनन्द लिया ॥ ३८ ॥

विस्तीर्ण, उन्नत, कोमल तथा आकाशरूपी आँगनमें कलापूर्णरूप रीतिसे बिछाई हुई धवल अभ्रमालाओंके ऊपर, जो मक्खनकी स्थलियाँ-सी थीं, शयन किया ॥ ३९ ॥

भद्र, शिरीषके फूलोंसे भी अधिक कोमल तथा नीलकमलकी-सी मनोहर कान्ति-वाली देवाङ्गनाओं तथा सिद्ध-सहचरियोंके मध्यमें कामकी वासनाको दूर फेंककर ही शयन किया ॥ ४० ॥

कुमुद, कह्लार तथा कमलोंसे पूर्ण रम्य बनोंमें तथा कमलनियोंके जङ्गलोंमें मैंने मधुरभाषिणी हँसियोंके साथ बड़ा ही सुमधुर लीलाकलकल निनाद किया ॥ ४१ ॥

रामजी, बह रहीं नदीरूपी सारवान् नाड़ियोंके मूलभूत भूमण्डलोंसे युक्त तथा स्फुरणशील व्याघ्रादि भूतगणोंसे शोभित पर्वतोंको ब्रह्माण्डरूपधारी मैंने अपने अङ्गों-से रोमोंकी पङ्क्तियोंकी तरह धारण किया ॥ ४२ ॥

जगत्में जो गगन, पर्वत आदि प्रसिद्ध हैं, उन्होंने नदीरूप सूत्र एवं समुद्रोंके साथ मेरे अङ्गोंमें प्रतिबिम्ब सहित आदर्शोंकी नाईं विश्राम किया ॥ ४३ ॥

भूतसर्गेण विश्रान्तं सिद्धविद्याधरादिना ।
मद्देहे चेतितेनेव मक्षिकायौकरूपिणा ॥ ४४ ॥

मत्प्रसादेन मुदितैर्लब्धमर्कादिभिर्वपुः ।
कृष्णरक्तसितापीतहरितैर्हरितैरिव ॥ ४५ ॥

समुद्रमुद्रया सप्तद्वीपसप्तात्मरूपया ।
संस्थया स्थापिता भूमिः प्रकोष्ठे वलयोपमा ॥ ४६ ॥

विद्याधरपुरन्ध्रीणां परामृष्टाङ्गयष्टिना ।
अदृष्टेनैव विहितः पुलकोल्लास आत्मना ॥ ४७ ॥

सरिच्छिरामलस्फाररसानि सुषिराणि च ।
जगन्त्येवास्थिजालानि ममाऽऽसन् संस्थितानि च ॥ ४८ ॥

सिद्ध, विद्याधर आदि प्राणियोंके समूहोंने ब्रह्माण्डभूत मेरे शरीरमें विश्राम किया । वे मेरी देहमें मक्खी और जूं ऐसे प्रतीत होते थे । ॥ ४४ ॥

तब क्या मक्खी, जूं आदिके सदृश भीत एवं प्रतिक्षण हटाये जानेके कारण उद्विग्न होकर उन्होंने ब्रह्माण्डभूत आपकी देहमें निवास किया ? इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'मत्प्रसादेन'** इत्यादिसे ।

हे राघव, मेरी कृपासे प्रसन्न होकर सूर्य आदि देवताओंने शरीरसे कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत, हरित, वर्णोंसे स्निग्ध होकर वृक्षोंके सदृश मेरे शरीरमें स्थिति प्राप्त की ॥ ४५ ॥

भद्र, ब्रह्माण्डरूप होकर मैंने सात समुद्रोंसे वेष्टित तथा सात द्वीपोंके कारण सात रूप धरनेवाली यानी सात अङ्गोंसे युक्त भूमिको अपनी कलाईमें कङ्कणके सदृश धारण कर लिया था ॥ ४६ ॥

मैंने विद्याधरोंकी रमणियोंकी अङ्गरूपी यष्टियोंका स्पर्शकर उनमें अपने अमन्द आनन्दसे पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दीं । मैंने यद्यपि उनमें पुलकावलियाँ उत्पन्न कर दी थीं, तथापि वे मुझको देख नहीं पाती थीं ॥ ४७ ॥

राघव, नदीरूप नाड़ियोंसे निर्मल (शुद्ध) भीतर स्थित प्रचुर रससे पूर्ण, नाना छिद्रोंसे युक्त पर्वत आदि जगत् मेरे शरीरमें अस्थिपञ्जर तथा मांस आदि बन गये थे ॥ ४८ ॥

असंख्यैर्व्योममातङ्गैश्चन्द्रार्कचलचामरैः ।
उदुम्बरान्तर्मशकैरिव मद्धृदये स्थितम् ॥ ४९ ॥
सर्वपातालपादेन भूतलोदरधारिणा ।
खमूर्ध्नाऽपि तदा राम न त्यक्ताऽथ परागुता ॥ ५० ॥
दिक्षु सर्वासु सर्वत्र सर्वदा सर्वकारिणा ।
सर्वात्मनाऽप्यसर्वेण शून्यरूपेण संस्थितम् ॥ ५१ ॥
किंचित्त्वं सदकिंचित्त्वं साकृतित्वं निराकृति ।
अनुभूतं सजाड्यं च चेतनत्वमलं मया ॥ ५२ ॥
मैनाकमुग्धपीनस्य सागरस्याऽवनिं प्रति ।
सन्ति सर्गसहस्राणि स्थाणुभूतान्यथो मया ॥ ५३ ॥

मेरे हृदयाकाशमें असंख्य ऐरावत आदि हाथी, जिनपर चन्द्र, सूर्य रूपी चँवर डुल रहे थे, गूलरके अन्दर मच्छरोंकी नाईं स्थित थे ॥ ४९ ॥

यों यद्यपि मैं अतिविस्तृत ब्रह्माण्डरूप था, तथापि मैंने परम सूक्ष्म चिन्मात्र-स्वभावताका परित्याग नहीं किया, यह कहते हैं—'**सर्व०**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ब्रह्माण्डस्वरूप-दशामें यद्यपि समस्त पाताल मेरे चरण बन गये थे, भूतल मेरा उदर बन गया था और आकाश मेरा मस्तक हो गया था, फिर भी मैंने अपनी चितिमात्रस्वभावरूप सूक्ष्मता कभी नहीं छोड़ी ॥ ५० ॥

यद्यपि मैं समस्त दिशाओंमें, सभी स्थलोंमें, सभी कालोंमें सर्वात्मा बनकर सब-कुछ व्यवहार उस समय कर रहा था, फिर भी असलमें असर्वात्मक अतएव समस्त द्वैत पदार्थोंसे शून्य चिन्मात्र स्वरूपसे स्थित था ॥ ५१ ॥

उस समय मैंने परिच्छिन्नता-अपरिच्छिन्नता आदि सब विरुद्ध धर्मोंका एक साथ अपनी आत्मामें अनुभव किया, यह कहते हैं—'**किञ्चित्त्वम्**' इत्यादिसे ।

उस दशामें किञ्चित्ता-अकिञ्चित्ता, साकारता-निराकरता, जड़ता-चेतनता आदि समस्त परस्पर अतिविरुद्ध धर्मोंका मैंने अपनी आत्मामें एक साथ खूब अनुभव किया ॥ ५२ ॥

जैसे चाँदीकी शिलाके अन्दर अनन्त जगत् विद्यमान हैं, वैसे ही समुद्रके पेटमें जितने प्रदेश पड़े हैं, उनमें भी अनेक जगत् विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया, यह कहते हैं—'**मैनाक०**' इत्यादिसे ।

तदनन्तर मैनाक पर्वतके सदृश भीतर छिपी हुई पर्वतशिलाओंसे मनोहर तथा

जगन्त्यङ्गे मयोढानि गूढानि प्रकटान्यपि ।
प्रतिबिम्बपुराणीव मुकुरेणाऽजडात्मना ॥ ५४ ॥
एवं जलानिलाग्नित्वं भूमित्वं स्वात्मना मया ।
कृतं चितेव स्वप्नेषु बत मायाविजृम्भितम् ॥ ५५ ॥
अपि तस्यामवस्थायां जगन्त्याकाशकोशके ।
मया दृष्टान्यसंख्यानि परमाणुकणं प्रति ॥ ५६ ॥
परमाणुप्रति व्योम परमाणुप्रति स्थितम् ।
सर्गवृन्दं यथा स्वप्ने स्वप्नान्तरयुतं पुरम् ॥ ५७ ॥
स्वमेवाऽहमभूवं भूमण्डलं द्वीपकुण्डलम् ।
सर्वात्मनाऽपि न व्याप्तं किंचनाऽपि मया क्वचित् ॥ ५८ ॥
समुत्पादयताऽशेषं लतातरुतृणाङ्कुरम् ।
भूतलेन रसाः कृष्टा मयाऽर्थेनैव पुंभृताम् ॥ ५९ ॥

असीम विस्तारवाले समुद्रके पेटमें स्थित प्रत्येक प्रदेशके अन्दर हजारों स्थाणुरूप जो सृष्टियाँ विद्यमान हैं, उनका भी मैंने अनुभव किया ॥ ५३ ॥

जैसे दर्पण प्रतिबिम्बरूपसे अनेक नगरोंको धारण करता है, वैसे ही चेतनस्वरूप मैंने अपने अङ्गोंमें गुप्त तथा प्रकट अनेक जगत् धारण किये ॥ ५४ ॥

हे राघव, इस प्रकार जल, वायु एवं अग्निरूपता, भूमिरूपताका अपनी आत्मासे मैंने ऐसे निर्माण किया, जैसे स्वप्नोंमें प्रसिद्ध आत्मचिति मायाविस्तृत नगरादिका निर्माण करती है ॥ ५५ ॥

और उस अवस्थामें मैंने आकाशकोशमें स्थित प्रत्येक परमाणुके भीतर भी असङ्ख्य जगत् देखे ॥ ५६ ॥

भद्र, और भी सुनिये, उस अवस्थामें प्रत्येक परमाणुके भीतर असीम आकाश स्थित था और उस अकाशमें भी उड़ रहे अनेक परमाणु विद्यमान थे, उन परमाणुओंके भीतर भी मैंने उस तरहके असङ्ख्य संसार देखे, जैसे कि स्वप्नके अन्दर अन्य स्वप्नके नगर दिखते हैं ॥ ५७ ॥

मैं आध्यासिक आत्माका ही स्वरूपभूत भूमण्डल तथा द्वीपकुण्डलरूप बन गया था। यों सर्वात्मक होते हुए भी मैंने परमार्थरूपसे कहीं किसीका भी स्पर्श नहीं किया, क्योंकि परमार्थदशामें मैं असङ्ग अद्वयरूप ही हूँ ॥ ५८ ॥

शरीरधारी जो मनुष्य आदि जीव हैं, उनके उपकारार्थ ही लता, तृण, अङ्कुर

अवदाततमे युद्धबोधकालमुपेयुषि ।
जगल्लक्षाणि तिष्ठन्ति न तिष्ठन्ति च कानिचित् ॥ ६० ॥
चिति यास्तु चमत्कारं चमत्कुर्वन्ति यस्स्वतः ।
स्वचमत्कृतयोऽन्तस्थास्तदेताः सृष्टिदृष्टयः ॥ ६१ ॥
अनुभूतं कृतं कष्टं यावत्क्वचन किंचन ।
परमार्थचमत्काराद्दृते नेहोपलभ्यते ॥ ६२ ॥
प्रत्येकं विश्वरूपात्मा सर्वकर्ता निरामयः ।
प्रबुद्धः शुद्धबोधात्मा सर्वं ब्रह्मात्मकं यतः ॥ ६३ ॥

आदि सबका उत्पादन करते हुए मैंने वर्षासे गिरे जलोंको भूतलरूप बनकर खींच लिया ॥ ५९ ॥

जैसे युद्ध जीव-संहारक है, वैसे ही बोधकाल अज्ञान-संहारक है। उक्त बोधदशा प्राप्त करनेपर अति स्वच्छ हुए मुझमें लाखों जगत् रह सकते हैं और कोई भी नहीं रह सकते ॥ ६० ॥

किस रूपसे वे जगत् रहते हैं और किस रूपसे नहीं रहते, इस प्रश्नका उत्तर यह है कि चितिके चमत्कारमात्र रूपसे रहते हैं और उसके विपरीत रूपसे नहीं रहते, यों कहते हैं—**'चिति'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

भद्र, चितिके भीतर जो उसके अनेक चमत्कार हैं, वे चमत्कार जो सत्ता स्फूर्ति रूपसे दूसरा चमत्कार स्वयं करते हैं, यानी सत्ता स्फुरणको जगत्में आरोपित कर प्रकट करते हैं ये ही दूसरे चमत्कार इन सृष्टि-दृष्टियोंके रूपमें (संसारके रूपमें) प्रतीत होते हैं ॥ ६१ ॥

मैंने कहीं भी जो कुछ अनुभव किया, जो कुछ बनाया, जो कुछ कष्ट सहा, वह सब परमार्थभूत चिदात्माका चमत्कार ही था, क्योंकि उसके बिना यहाँ कुछ प्राप्त हो ही नहीं सकता ॥ ६२ ॥

हे श्रीरामजी, इसलिए अध्यारोपदृष्टिसे प्रत्येकमें अपनी सत्ताका समर्पण करनेके कारण मैं विश्वरूपात्मा और सबका कर्ता हूँ तथा अपवाददृष्टिसे प्रबुद्ध होकर मैं शुद्धबोधस्वरूप और कर्तृत्वादि विकारों से रहित हूँ, क्योंकि सब-कुछ तो ब्रह्मात्मक ही ठहरा ॥ ६३ ॥

सर्वः सर्वत्र सर्वात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
एतत्प्रबुद्धविषयमप्रबुद्धं न वेद्म्यहम् ॥ ६४ ॥
आकाशकोशविशदात्मनि चित्स्वरूपे
येयं सदा कचति सर्गपरम्परेति ।
सान्तस्तदेव किल ताप इवाऽन्तरूष्मा
भेदोपलम्भ इति नाऽस्ति सदस्त्यनन्तम् ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० परमार्थसर्गयोरैक्यप्रतिपादनं
नाम द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

—०—

अतएव प्रत्येक वस्तुके अन्दर स्थित ब्रह्ममें समस्त जगत्का अध्यास होनेके कारण ब्रह्मस्वरूप सबकी आत्मा, सर्वगामी और सबका आधारभूत है, यह बात प्रबुद्ध योगियोंके लिए है यानी ज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिमें जगत्का स्वरूप यह निकलता है और अज्ञानी अप्रबुद्धोंकी कथा तो मैं जानता ही नहीं । अबुद्ध अज्ञानी जगत्का जो स्वरूप समझ कर बैठे हैं, उनको ज्ञानी देख ही नहीं सकता ॥ ६४ ॥

इसलिए अद्वय परमात्मामें जो विद्वान् सर्वत्र सर्वात्मकता कहते हैं, वह केवल कल्पनामात्र है, चिदात्मासे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह कहते हैं— **'आकाश०'** इत्यादिसे ।

आकाशकोशके सदृश अत्यन्त निर्मल चितिके स्वरूपमें जो यह अनेकविध सृष्टियोंकी परम्परा प्रकाशित हो रही है, वह अन्तमें चिदात्मक ब्रह्मरूप ही है, उससे अलग नहीं है । जैसे कोई यह शब्द-प्रयोग करे कि 'तापके भीतर उष्णता है' तो उस प्रयोगमें 'ताप', 'भीतर' और 'उष्णता' ये तीनों शब्द एकार्थक ही हैं, उनका पृथक् अर्थ नहीं है, परन्तु प्रयोग कल्पनामात्र है, वैसे ही जगत् और ब्रह्म दोनों शब्द एकार्थ ही हैं, भिन्नार्थक नहीं हैं, केवल कल्पनामात्ररूपसे भेदका उपलम्भ होता है ॥ ६५ ॥

बानबे सर्ग समाप्त

——

त्रिनवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथैवंरूपसंवित्तेः परावृत्य प्रयत्नतः ।
तमम्बरकुटीकोशदेशमागतवनाहम् ॥ १ ॥
यावत्तत्र न पश्यामि स्वदेहं क्वचन स्थितम् ।
पश्यामि केवलं सिद्धं कमप्यन्यं पुरः स्थितम् ॥ २ ॥
उपविष्टं समाधाननिष्ठमिष्टं पदं गतम् ।
सौम्योदयमिवाऽऽदित्यं दग्धेन्धनमिवाऽनलम् ॥ ३ ॥
बद्धपद्मासनं शान्तं समाधाननिरिङ्गनम् ।
गुल्फद्वितयमध्यस्थवृषणं विषयातिगम् ॥ ४ ॥

तिरानबे सर्ग

[श्रीवसिष्ठजीका कुटीमें ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, कुटीके उपसंहारसे उसका पतन और वसिष्ठजीसे निज वृत्तान्त-वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, तदनन्तर—धारणाके प्रभावसे उत्पन्न हुए जगत्-शरीरको देखनेके बाद—उक्त कौतुकदर्शनभावनात्मक संवित्तिसे (सङ्कल्पसे) मैं निवृत्त हो गया, फिर उस पहलेके अपने समाधिस्थान आकाशकुटियाके प्रदेश-की ओर वापस लौट आया ॥ १ ॥

मैं अपनी पहलेकी कुटियापर पहुँच गया। मैंने वहाँ चारों ओर खूब खोज की। कहींपर भी मुझे अपना शरीर दिखाई नहीं दिया, परन्तु मैंने सामने बैठे किसी दूसरे सिद्धको देखा ॥ २ ॥

वे सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर आसन जमाये हुए थे। उन्होंने परम प्रीतिका भाजन निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्मपद प्राप्त कर लिया था। वे ऐसे भासमान हो रहे थे, जैसे सौम्य उदयसे युक्त आदित्य तथा इन्धनको दग्ध कर चुके अग्निदेव भासमान होते हैं ॥ ३ ॥

उन्होंने पद्मासन लगाया था। उनके सारे शरीरमें शान्ति-ही-शान्ति भरी थी। समाधि द्वारा इच्छित ब्रह्मपदमें चित्तके स्थिर हो जानेसे उनका शरीर तनिक भी हिलता डुलता न था, उनके अण्डकोश दोनों एड़ियोंके बीचमें दबे थे तथा वे विषयोंसे परे थे ॥ ४ ॥

मृष्टसौम्यसमाभोगस्कन्धबन्धुरकन्धरम् ।
सुस्थिरोदारविश्रान्तस्फारकस्थितिसुन्दरम् ॥ ५ ॥
नाभीनिकटगोत्तानपाणिद्वितयदीप्तिभिः ।
हृदयाम्भोजतेजोभिर्बहिष्ठैरिव भासितम् ॥ ६ ॥
श्लिष्टपद्मेक्षणं क्षीणसर्वेक्षं स्वच्छतां गतम् ।
सरो निमीलिताम्भोजमिव सुप्तं दिनात्यये ॥ ७ ॥
अविक्षुभितमाशान्तमन्तःकरणकोटरम् ।
दधानं धीरया वृत्त्या शान्तोत्पातमिवाऽम्बरम् ॥ ८ ॥
अपश्यता निजं देहं तं मुनिं पश्यता पुरः ।
इदं मया तदा तत्र चिन्तितं चारुचेतसा ॥ ९ ॥

'समं कायशिरोग्रीवम्' इत्यादि श्लोकसे भगवान्ने जो ध्यानमें आवश्यक देहस्थिति बतलाई है, उसके लक्षण कहते हैं—'मृष्ट०' इत्यादिसे ।

समान (बराबर) विस्तारवाले दोनों कन्धोंसे, जिनके ऊपर भस्मसे त्रिपुण्ड्र-रेखाएँ खिंची थीं, जिनका गाम्भीर्य अत्यन्त ही लुभावना था, उनकी ग्रीवाकी शोभा देखते बनती थी। सनातन उदार ब्रह्म वस्तुमें उनका मन एकदम विश्रान्ति ले रहा था, इससे उनका मुख प्रसन्न था, इस प्रसन्न वदनसे शोभित उनके मस्तककी जो निश्चल स्थिति हुई थी, उससे वे सिद्ध बड़े ही रम्य लग रहे थे ॥ ५ ॥

नाभिके निकट भागमें चित कर रखे हुए उनके दो हाथोंकी शोभा ठीक खिले हुए दो कमलोंकी शोभाके सदृश थी, मालूम पड़ता था कि वे करकमल क्या हैं मानो बाहर आये हुए हृदयकमलके प्रकाश ही हैं। उनकी दीप्तिसे वे प्रकाश-मान थे ॥ ६ ॥

भद्र, उनके दोनों नेत्रोंकी पलकें बन्द थीं, उनके बाह्य इन्द्रियोंके समस्त व्यापार क्षीण हो गये थे और वे अत्यन्त निर्मल हो गये थे, इसलिए ऐसे भास रहे थे जैसे रातमें मुँदे हुए कमलोंसे युक्त निर्मल तालाब भासता है ॥ ७ ॥

विक्षोभोंसे रहित तथा पूर्णरूपसे शान्त अन्तःकरणरूप कोटरको उन्होंने धीर वृत्तिसे ऐसे धारण किया था मानो समस्त उत्पातोंसे रहित आकाशको धारण किया हो यानी शान्त क्षोभरहित उनका अन्तःकरण आकाशके सदृश अत्यन्त विशाल था ॥ ८ ॥

उस कुटियामें जब मैंने अपनी देह नहीं देखी और सामने उक्त मुनिको

अयं कश्चिन्महासिद्धः संप्राप्तोऽस्मिन् दिगन्तरे ।
विचार्याऽहमिवैकान्तं विश्रामार्थी महाम्बरम् ॥ १० ॥
समाधियोग्यमेकान्तं लभेयेतीह चिन्तया ।
कुटी दृष्टेयमेतेन सत्यसंकल्पशालिना ॥ ११ ॥
मदागमनमेतेन ततोऽचिन्तयता चिरम् ।
तं स्वदेहं शवीभूतमपास्येह कृता स्थितिः ॥ १२ ॥
तदिहास्तमहं यामि स्वं लोकमिति निश्चयम् ।
यावद्गन्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तावत्संकल्पनक्षयात् ॥ १३ ॥
सा निवृत्ता कुटी तत्र संपन्नं व्योम केवलम् ।
स सिद्धोऽपि निराधारः पतितोऽधः समाधिमान् ॥ १४ ॥
स्वप्नसंकल्पसंशान्तौ स्वप्नसंकल्पपत्तनम् ।
यदा सा सुकुटी नष्टा मत्संकल्पोपशान्तितः ॥ १५ ॥

देखा, तब वहाँ मैंने अपने शुद्ध अन्तःकरणसे यह विचार किया ॥ ९ ॥

यह कोई बड़े सिद्ध महात्मा हैं । मैंने पहले जैसे एकान्त महाकाशकी, विश्रामके लिए, इच्छा की थी, उसी तरह इन्होंने भी विश्रामके लिए इसकी इच्छा की और सत्यसङ्कल्पके प्रभावसे इस दिशाकी ओर आ गये हैं ॥ १० ॥

मैं समाधियोग्य एकान्त स्थान पाऊँ इस चिन्तासे इन्होंने यहाँ आगमन किया है और यहाँ आकर सत्यसङ्कल्पवश अपनी समाधिके योग्य यह कुटिया देखी है ॥ ११ ॥

उसके बाद दीर्घ काल तक मेरी उपेक्षाके कारण शवरूप यहाँ स्थित मेरी देहको देखा, देखनेके बाद यह नहीं जाना कि मैं यहाँ फिर आऊँगा इससे मेरे शरीरको इन्होंने अन्यत्र फेंक कर इस कुटियामें अपना आसन जमाया है ॥ १२ ॥

अब मेरा तो शरीर वह नष्ट हो गया, अतः मैंने यह निश्चय किया कि इस आतिवाहिक देहसे ही मैं अपने सप्तर्षिलोकको जाऊँ, यों निश्चयकर ज्यों ही मैं जानेके लिए उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसङ्कल्पके नष्ट हो जानेसे वह कुटिया भी अदृश्य हो गई और वहाँ केवल शुद्ध आकाशमण्डल ही रह गया। वह सिद्ध भी समाधि अवस्थामें ही निराधार होकर नीचेकी ओर गिरने लग गये ॥ १३, १४ ॥

स्वप्न-सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेपर जैसे स्वप्नका नगर ध्वस्त हो जाता

स पपात ततो ध्यानी जलोत्पीड इवाऽम्बुदात् ।
खादिवाऽनिलनुन्नोऽब्द इन्दुबिम्बमिव क्षये ॥ १६ ॥
वैमानिक इवाऽपुण्यश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।
खात्यक्त इव पाषाणः स पपात ततोऽवनौ ॥ १७ ॥
अहं यावदियं तावत्कुटिकाऽस्त्विति कल्पने ।
क्षीणे कुटीचये जाते स सिद्धः पतितः क्षणात् ॥ १८ ॥
पतता तेन सिद्धेन ततः सौजन्यकौतुकः ।
मनसैवाऽहमगमं नभसो वसुधातलम् ॥ १९ ॥
सोऽपतत्पवनस्कन्धवलनावर्त्तवृत्तिभिः ।
सप्तद्वीपसमुद्रान्ते गीर्वाणरमणावनौ ॥ २० ॥
प्राणापानोर्ध्वगामित्वात्खाद् यथास्थितमेव सः ।
सृष्टपूर्वोर्ध्वमूर्ध्वोर्व्यां बद्धपद्मासनोऽपतत् ॥ २१ ॥

है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पकी शान्ति हो जानेसे जब वह कुटिया नष्ट हो गई, तब मेघसे जल-समूहके सदृश वहाँसे वह गिरने लगे। उस समय वह ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो वायुसे छिन्न किया गया मेघखण्ड आकाशसे गिर रहा हो या प्रलय कालमें चन्द्रबिम्ब आकाशसे गिर रहा हो या पुण्यका क्षय हो जानेपर वैमानिक गिर रहा हो या मूलके कट जानेपर वृक्ष गिर रहा हो या आकाशसे फेंका गया पत्थर गिर रहा हो। वे आगे कही जानेवाली काञ्चन भूमिके ऊपर गिरे ॥ १५, १७ ॥

भद्र, मेरा पहलेका सङ्कल्प यह रहा कि यह कुटिया तब तक रहे जब तक कि मेरी यहाँ स्थिति बनी रहे। यह मेरा सत्य सङ्कल्प जब सप्तर्षिलोकमें जानेके सङ्कल्पसे क्षीण हो गया, तब तत्काल ही वह सिद्ध गिर पड़े ॥ १८ ॥

तदनन्तर गिर रहे उस सिद्धके साथ मैं उस आतिवाहिक देहसे सुजनतावश कहिये या कौतुकवश कहिये आकाश-मण्डलसे वसुधातलकी ओर गया ॥ १९ ॥

प्रवह आदि पवनस्कन्धोंका जो परिवर्तन है, इससे जनित आवर्त-वृत्तियोंसे यानी जैसे आवर्तमें घूम रहा जल नीचे घुस जाता है, वैसे ही वह सिद्ध सात द्वीप और चार समुद्रोंके पारकी देवताओंकी आश्रय काञ्चन भूमिपर गिरे ॥ २० ॥

भद्र, जब वे आकाशसे पृथ्वीपर गिरे, तब वे वैसे ही गिरे जैसे कि आकाश

न प्रबुद्धो बभूवाऽसौ विचरं तमचेतनः ।
पाषाणदेह इव वा तूलात्मेवैव वा लघुः ॥ २२ ॥
मया तदवबोधार्थमथ यत्नवता तदा ।
कृत्वा जलदतां व्योम्नि वृष्टं गर्जितमूर्जितम् ॥ २३ ॥
करकाशनिपातेन तेन तस्मिन् दिगन्तरे ।
मयूरं प्रावृषेवाऽमुं बुद्धया बोधितवानसौ ॥ २४ ॥
बभूवाऽऽभासिताङ्गश्रीर्विकासितविलोचनः ।
धारानिकरफुल्लात्मा प्रावृषीवाम्बुजाकरः ॥ २५ ॥
प्रबुद्धं संप्रशान्तायां दृष्टौ तमहमग्रतः ।
अपृच्छं स्वच्छया वृत्त्या निवृत्तं परमार्थतः ॥ २६ ॥

की उत्तम कुटियामें पद्मासन बाँधकर स्थित थे। पहले तो उनका पैरका हिस्सा पृथ्वीमें जम गया और उनका मस्तक भी ऊँचा ही रहा, क्योंकि प्राणवायुसे अपनेको, ऊपर आकर्षणसे, ऊर्ध्वगामी पहलेसे ही उन्होंने कर रक्खा था। तात्पर्य यह है कि जैसे कुएँमें उतर रहा घड़ा या तुम्बा रज्जुसे या डंठलसे ऊपरकी ओर स्तंभित रहता है, वैसे ही वह सिद्ध प्राण और अपानसे ऊपरकी ओर स्तंभित रहनेके कारण गिरनेपर भी निम्नमस्तक नहीं हुए ॥ २१ ॥

वह सिद्ध इतने ऊँचेसे गिरे, फिर भी उनका शरीर न तो टूटा और न उनकी समाधि ही भङ्ग हुई, क्योंकि वह योगबलके प्रभावसे वज्रशरीर बन गये थे या तूलपिण्डके सदृश अत्यन्त हलके बन गये थे ॥ २२ ॥

तदनन्तर उनको समाधिसे जगानेके लिए प्रयत्नवान् होकर मैंने उस समय मेघरूप धारण किया और मेघ बनकर खूब बरसा और तेज गर्जना की ॥ २३ ॥

मेघरूप होकर मैंने अपनी बुद्धिके प्रभावसे ओलेरूपी वज्रकी वृष्टि द्वारा उस महात्माको समाधिसे ऐसे जगाया जैसे मेघ वर्षासे मयूरको जगाता है ॥ २४ ॥

समाधिसे जागनेके बाद उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा प्रकाशित होने लग गई और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वह ऐसे प्रतीत हुए मानो वर्षा कालमें धारापातोंसे विकसित हुआ कमलवन हो ॥ २५ ॥

परमार्थ ब्रह्ममें स्थितिकी हेतुभूत समाधिके शान्त हो जानेपर जब मेरे सामने वह प्रबुद्ध (जाग्रत) हो गये, तब मैंने बहुत ही स्वच्छ भावसे उनसे यह पूछा ॥ २६ ॥

क्व स्थितोऽसि करोषीदं किंच भो मुनिनायक।
कस्त्वं कस्मादलं दूरान्न भ्रंशमपि चेतसि ॥ २७ ॥
इत्युक्तो मामसौ प्रेक्ष्य संस्मृत्य प्राक्तनीं गतिम्।
उवाच वचनं चारु चातको जलदं यथा ॥ २८ ॥

सिद्ध उवाच

प्रतिपालय मे यावत्स्ववृत्तान्तं स्मराम्यहम्।
कथयिष्यामि ते पश्चात्पाश्चात्यं वृत्तमात्मनः ॥ २९ ॥
इत्युक्त्वा चिन्तयित्वाऽऽशु स यथावृत्तमक्षतम्।
स्मृतवान् सायमह्नीव समाचरितमात्मनः ॥ ३० ॥
मामथोवाच वचनं चारु चन्द्रांशुशीतलम्।
आह्लादनमनिन्द्यं च निरवद्यं सुखोदयम् ॥ ३१ ॥

सिद्ध उवाच

अधुना त्वं मया ब्रह्मन् परिज्ञातोऽभिवादये।
अतिक्रमोऽयं क्षन्तव्यः स्वभावो हि सतां क्षमा ॥ ३२ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ, आप कहाँ हैं, यह आप क्या कर रहे हैं, आप हैं कौन और इतने दूरसे आपका नीचे पतन हुआ, फिर भी आप अपने चित्तमें उसका अनुभव क्यों नहीं करते ॥ २७ ॥

जब मैंने ऐसा प्रश्न किया, तब उन्होंने मेरी ओर दृष्टि की, फिर पूर्व गतिका स्मरण कर जैसे चातक मेघसे सुन्दर वचन कहता है वैसे ही मुझसे सुन्दर वचन कहे ॥ २८ ॥

सिद्धने कहा—हे मुने, कुछ क्षण आप ठहरिये, तब तक मैं अपना वृत्तान्त याद कर लूं। फिर मैं आपसे पूर्वजन्मका सारा किस्सा कह सुनाऊंगा ॥ २९ ॥

हे श्रीरामजी, ऐसा कह कर उन्होंने सोचकर समस्त जन्मान्तरोंके वृत्तान्तोंके साथ अपना पूर्व वृत्तान्त जैसे पुरुष पूर्वाह्णमें आचरित वृत्तान्तका सायं कालमें स्मरण करता है वैसे ही तुरन्त स्मरण किया ॥ ३० ॥

इसके बाद वह मुझसे यह वचन बोले। उनका वचन सुन्दर, चन्द्र-किरणोंके सदृश शीतल था, आह्लादकारक था तथा अनिन्द्य, निर्दोष एवं सुखोत्पादक था ॥ ३१ ॥

सिद्धने कहा—हे ब्रह्मन्, हाँ, अभी मैंने आपको जाना, अतः आपको मैं अभिवादन करता हूँ। मैंने प्रथम दर्शनमें आपको अभिवादन नहीं किया, इससे जो

मुने चिरमहं भ्रान्तो देवोपवनभूमिषु ।
भोगामोदविमोहेषु षट्पदः पद्मिनीष्विव ॥ ३३ ॥
दृश्यनद्यामथो चित्तजलकल्लोलहेलया ।
चक्रावर्त्तोह्यमानेन मयोद्विग्नेन चिन्तितम् ॥ ३४ ॥
संसारसागरे दृश्यकल्लोलैरहमाकुलः ।
कालेनोद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ३५ ॥
संविन्मात्रैकसारेषु रम्यं भोगेषु नाम किम् ।
अवतिष्ठे गतोद्वेगसंविद्व्योम्न्येव केवलम् ॥ ३६ ॥

मेरा अपराध हुआ, उसे क्षमा कीजिये, क्योंकि अपराध क्षमा करना सज्जनोंका सहज स्वभाव ही है ॥ ३२ ॥

हे मुने, जैसे कमलोंमें भौंरा भ्रमण करता है वैसे ही मैंने दीर्घकाल तक भोग-रूपी सुगन्धसे पूर्ण मोहकारक देवताओंकी उपवनभूमियोंमें उत्तरोत्तर परिभ्रमण किया ॥ ३३ ॥

तदनन्तर चित्तरूपी जलके तरङ्गोंके हिलोरोंसे दृश्यरूपी नदीमें चक्रावर्तनोंसे रात-दिन बह रहे मैंने दीर्घकालके बाद विवेकका आविर्भाव होनेपर संसारसे उद्विग्न होकर यों विचार किया ॥ ३४ ॥

संसाररूपी सागरमें दृश्यरूपी तरङ्गोंसे मैं अत्यन्त व्याकुल हो गया और दीर्घकालके बाद ऐसे उद्वेगको प्राप्त हुआ जैसे कि वृष्टिके अभावमें चातक उद्वेगको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

सिद्धने जो बिचार किया, उसे कहते हैं—'संविन्मात्रै०' इत्यादिसे ।

जिनका सार केवल ज्ञान ही है, उन भोगोंमें रम्य वस्तु है ही कौन ? यदि उनमें संविद्रूपसे प्रकाशमान सुख ही रम्य वस्तु है, तो सुखसे भिन्न सुखसाधन दुःखरूप होनेसे उनका सार दुःख ही ठहरा, इसलिए दुःखांशको छोड़कर सारभूत सुख संविदाकाशमें ही केवल अवस्थित रहूँ, दूसरे समस्त असारसे अब मतलब ही क्या ॥ ३६ ॥

अपरिच्छिन्न सुखको छोड़कर परिगणित परिच्छिन्न असुखमें रमण करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'शब्द०' इत्यादिसे ।

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धमात्रादृते परम् ।
नेह किंचन नामाऽस्ति किमेतावत्यहं रमे ॥ ३७ ॥
चिन्मात्राकाशमेवैतत्सर्वं चिन्मात्रमेव वा ।
तत् किमत्राऽसदाकारे रमे नष्टमतिर्यथा ॥ ३८ ॥
विषया विषवैषम्या वामाः कामविमोहदाः ।
रसाः सरसवैरस्या लुठन्नेषु न को हतः ॥ ३९ ॥
जीर्णा जीवितजम्बालजरच्छफरिकामतिः ।
कायं द्रुतगताऽऽदातुं जरेच्छति बृहद्बकी ॥ ४० ॥
कायोऽयमचिरापायी बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव ।
स्फुरन्नेव पुरोऽन्तर्धिं याति दीपशिखा यथा ॥ ४१ ॥

इस संसारमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध मात्रको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, इसलिए ऐसे तुच्छ पदार्थोंमें क्या रमूं ॥ ३७ ॥

ये शब्द आदि जितने विषय हैं, वे यदि स्वतःसत्तावान् चिदात्मामें चिदात्मासे भिन्न माने जायँ, तो वे शून्यात्मक यानी असत् ही होंगे यदि चिदात्मासे अभिन्न माने जायँ, तो चिदात्माके स्वरूप ही होंगे—यों दोनों तरह असद् आकार-वाले उन शब्दादिमें, उन्मत्तके सदृश, मैं क्या रमण करूं ॥ ३८ ॥

शब्द आदि विषय विषके सदृश मरण, उन्माद आदि विषमता पैदा करने-वाले हैं, स्त्रियाँ कामरूप विमोहमें ही फँसानेवाली हैं, राग सरस पुरुषको भी नीरस बना देनेवाले हैं, इसलिए इनमें पड़नेवाला पुरुष कौन नष्ट नहीं हुआ । हिरण, हाथी आदि एक-एक वस्तुमें आसक्ति रखनेके कारण वध एवं बन्धनको प्राप्त होते हैं, यह सबको विदित है ॥ ३९ ॥

इसी तरह शरीरमें भी आसक्ति उचित नहीं है, यह कहते हैं—'जीर्णाः' इत्यादिसे ।

जल्दी प्राप्त होनेवाली बुढ़ौती एक तरहकी बड़ी बकी है, यह जब जीवन जीर्ण होने लगता है, तब सोचती है कि मैंने इस जीर्ण जीवनरूपी शैवालमें बड़ी मछली पकड़ ली । यों बुद्धि करके वह तत्काल ही शरीरको अपने उदरस्थ कर लेनेकी इच्छा करती है ॥ ४० ॥

यह शरीर-समुद्रमें बुल्लेके सदृश जल्दी ही नष्ट हो जानेवाला पदार्थ है, इसलिए कुछ काल तक स्फुरित होते ही सामने देखते-देखते, दीपशिखाके सदृश, विलीन

विविधाकुलकल्लोला चक्रावर्तविधायिनी ।
मृतिजन्मबृहत्कूला सुखदुःखतरङ्गिणी ॥ ४२ ॥
यौवनोल्लासकलिला जराधवलफेनिला ।
काकतालीययोगेन संपन्नसुखबुद्बुदा ॥ ४३ ॥
व्यवहारमहावाहरेखाजडरवाकुला ।
रागद्वेषघनोल्लासा भूतलालोलदेहिका ॥ ४४ ॥
लोभमोहमहावर्ता पातोत्पातविवर्तनी ।
हा तप्ता जीविताख्येयं नदीनदनशीतला ॥ ४५ ॥
अपूर्वाण्युपगच्छन्ति तथा पूर्वाणि यान्त्यलम् ।
संसारसरिदम्बूनि संगतानि धनानि च ॥ ४६ ॥

हो जाता है ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार जीनेकी भी आशा उचित नहीं है, यह बतलानेके लिए उसका नदीरूपसे वर्णन करते हैं—**'विविध०'** इत्यादिसे ।

यह जीवन नामकी तो एक महानदी है । इसमें विविध प्रकारके विक्षेप तो ज्वारभाटे हैं, चक्र-परिवर्तनोंके सदृश उसमें नानाविध भ्रमण ही आवर्त हैं, मरण और जन्म उसके दोनों तरफके किनारे हैं तथा सुख-दुःख तरङ्ग हैं ॥ ४२ ॥

उसमें यौवनका उल्लास ही कीचड़ भरा पड़ा है, जरारूपी धवल फेन है, काकतालीयके योगसे उसमें कभी कभी सुखरूप बुल्ले भी उठते रहते हैं ॥ ४३ ॥

उसमें व्यवहार महाप्रवाहकी रेखा है—इस व्यवहाररूप महाप्रवाहकी रेखासे उसमें नानाविध मूर्खप्रलापरूपी जलके शब्द हुआ करते हैं यानी वह जलरवोंसे व्याकुल रहती है, राग-द्वेषरूप मेघोंसे वह निरन्तर बढ़ती ही रहती है, भूतलपर उसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है ॥ ४४ ॥

इस जीवननदीमें सदा लोभ-मोहके आवर्त उठते रहते हैं, पतन और उत्पतनसे उसका निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इस प्रकारकी यह जीवननदी शब्दमात्रसे तो अत्यन्त शीतल है, परन्तु अर्थतः वास्तवमें तीनों तापोंका प्रदान करती हुई बहती जाती है, इसलिए इसकी भी आशा करना महान् खेदका ही विषय है ॥ ४५ ॥

संसाररूपी नदीके जलस्थानीय जो इष्ट-पुत्र, मित्र आदिके समागम तथा धन हैं, वे पहलेके तो चले जाते हैं और नवीन आते रहते हैं यानी कोई भी स्थिर नहीं रहते ॥ ४६ ॥

प्रवृत्ता ये निवर्तन्ते तैरलं हतभावकैः ।
अपूर्वा ये प्रवर्तन्ते तेष्वथाऽऽस्थेह कीदृशी ॥ ४७ ॥
सर्वस्याः सरितो वारि प्रयात्यायाति चाऽऽकरात् ।
देहनद्याः पयस्त्वायुर्यात्येवाऽऽयाति नो पुनः ॥ ४८ ॥
शतशः परिवर्तन्ते प्रतिपिण्डं क्षणं प्रति ।
कुलालचक्रकाभावा इव भावा भवाम्बुधौ ॥ ४९ ॥
चरन्ति चतुराश्चौरा विषमा विषयारयः ।
हरन्ति भावसर्वस्वं जागर्मि स्वपिमीह किम् ॥ ५० ॥
आयुषः खण्डखण्डाश्च निपतन्तः पुनः पुनः ।
न कश्चिद्वेत्ति कालेन क्षतानि दिवसान्यहो ॥ ५१ ॥

इस स्थितिमें जो जानेवाले हैं और जो आनेवाले हैं, उनके विषयमें हर्ष-शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'प्रवृत्ताः' इत्यादिसे ।

जो पहले प्राप्त हुए हैं, वे तो निवृत्त हो जाते हैं और जो कभी प्राप्त हुए हो नहीं, वे प्राप्त होते हैं, इसलिए ऐसे नष्टस्थितिवाले पदार्थोंकी प्राप्तिसे क्या और इनमें आस्था करना ही क्या यानी न तो उनसे कोई मतलब निकलेगा और न वे विश्वास करने योग्य ही हैं ॥ ४७ ॥

आयुमें धनादिसे विलक्षणता बतलाते हैं—'सर्वस्याः' इत्यादिसे ।

संसारमें जितनी नदियाँ हैं, उनका जल तो पर्वत, मेघ आदि आकर स्थानसे आता और जाता रहता है, परन्तु देहरूपी नदीका आयुरूपी जल तो चला ही जाता है, फिर पुनः लौट कर नहीं ही आता ॥ ४८ ॥

इस संसाररूपी सागरमें प्रतिदेह और प्रतिक्षण भाव यानी योग्य वस्तुओंका, कुम्हारके चाकपर चढ़ाये गये सकोरोंके सदृश, सैकड़ों बार परिवर्तन होता ही रहता है ॥ ४९ ॥

भयङ्कर शत्रुभूत चतुर विषयरूपी चोर चारों ओर घूमते रहते हैं और विवेकरूपी सर्वस्वका अपहरण करते हैं, इसलिए अब जागूँ यहाँ सोया क्यों हूँ ॥ ५० ॥

आयुके टुकड़े-टुकड़े क्षण क्षणमें बार बार गिरते रहते हैं, परन्तु आश्चर्यकी बात है कि कोई भी प्राणी कालके द्वारा विनष्ट किये गये आयुके दिनोंको जान नहीं पाता ॥ ५१ ॥

इदमद्य तथेदं च तथेदमिदमस्य मे ।
एवं कलनया लोको गतं प्राप्तं न वेत्त्यहो ॥ ५२ ॥
भुक्तं पीतमनन्तासु भ्रान्तं च वनभूमिषु ।
दृष्टानि सुखदुःखानि किमन्यदिह साध्यते ॥ ५३ ॥
सुखदुःखानुभवनाद्भूयो भूयो विवर्तनात् ।
अनित्यत्वाच्च भावानां स्थिता निष्कौतुका वयम् ॥ ५४ ॥
भुक्तानि भोगवृन्दानि दृष्टा चाऽनित्यता भृशम् ।
नोपलभ्यत एवाऽतिविश्रान्तिरिह कुत्रचित् ॥ ५५ ॥
भ्रान्तमुत्तुङ्गशृङ्गासु मेरूपवनभूमिषु ।
लोकपालपुरीषूच्चैः संप्राप्तं किमकृत्रिमम् ॥ ५६ ॥
सर्वत्र दारुभिर्वृक्षा मांसैर्भूतानि भूर्मृदा ।
दुःखान्यनित्यता चेति कथमाश्वास्यते वद ॥ ५७ ॥

आज यह हुआ, कल यह होगा, यह तो मेरा है और वह इसका है, इस प्रकार रात दिन सङ्कल्प-विकल्प करता हुआ प्राणी यह नहीं जान पाता कि मेरी कितनी आयु चली गई और अब मेरी मृत्यु आ गई ॥ ५२ ॥

खूब खाया और पीया, अनन्त विभूतियोंमें विचरण किया, सुख-दुःख भी खूब भोगे, अब दूसरा करनेको बचा ही क्या है ? ॥ ५३ ॥

सुख-दुःखके बार-बारके अनुभवसे, बार बार अनेक तरहके परिवर्तनोंसे तथा पदार्थोंकी नश्वरतासे अब हम भोगोंसे ऊब उठे हैं यानी उनमें अब किसी तरहकी उत्कण्ठा रही नहीं ॥ ५४ ॥

यद्यपि नाना तरहके अनेक भोग भोगे, बार-बार पदार्थोंकी अस्थायिता भी देख ली, परन्तु कहींपर भी यहाँ उत्तम शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकी ॥ ५५ ॥

यद्यपि मैंने उत्तुङ्ग शिखरोंवाले मेरुपर्वतकी उपवन भूमियोंमें खूब विहार किया तथा लोकपालोंकी महान् नगरियोंमें भी खूब विहार किया, तथापि क्या आज तक मैंने स्वाभाविक (अकृत्रिम) सुख पाया अर्थात् नहीं ही पाया ॥ ५६ ॥

अब सब भोगोंकी असारता विवेकपूर्वक बतलाते हैं—'**सर्वत्र**' इत्यादिसे । सभी जगहके वृक्ष काष्ठोंसे ही व्याप्त हैं, प्राणिसमूह मांससे व्याप्त है, पृथ्वी मिट्टीसे भरी पड़ी है, और दुःख एवं नश्वरता सारे संसारको घेर कर खड़ी है, फिर आप कहिये कि उनमें विश्वास कैसे हो ॥ ५७ ॥

न धनानि न मित्राणि न सुखानि न बान्धवाः।
शक्नुवन्ति परित्रातुं कालेनाऽऽकलितं जनम् ॥ ५८ ॥
जनो जीमूतजठरजलवद्गिरिकुक्षिषु ।
यात्यन्तःशून्य एवाऽस्तं पांसूपचयपेलवः ॥ ५९ ॥
न मे मनोरमाः कामा न च रम्या विभूतयः।
इदं मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं च जीवितम् ॥ ६० ॥
क्वेव कस्य कथं नाम कुत आश्वासना मुने।
अद्य श्वो वाऽऽपदं पापो मृत्युर्मूर्ध्नि नियच्छति ॥ ६१ ॥
शरीरं पर्णवद्भ्रंशि जीवितं जीर्णसंस्थिति।
धीरधीरतया ग्रस्ता रसा नीरसतां गताः ॥ ६२ ॥
नीतं मनोरथैरेव नीरसैर्वायुराततम्।
न मम स्वं चमत्कारकारि किंचिदपीहितम् ॥ ६३ ॥

न तो धन, न मित्र, न सुख और न बान्धव ही उस पुरुषकी रक्षा कर सकते हैं, जो कि कालके गालमें फंस चुका है ॥ ५८ ॥

बालूके ढेरके सदृश यह पुरुष अत्यन्त अस्थिर है, पर्वतोंके मध्यमें बरसे हुए मेघके पेटमें विद्यमान जल जैसे क्षण क्षणमें नष्ट होता रहता है, भीतरसे बचावका उपाय नहीं करता और आखिरमें नष्ट हो जाता है ठीक वैसे ही वह पुरुष विषयोंके अन्दर आसक्त होकर क्षण क्षणमें विनाशकी ओर जाता रहता है और अन्तमें मरण ही प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

न तो स्त्रियाँ ही अच्छी हैं और न अनेक तरहकी भौतिक विभूतियाँ (ऐश्वर्य) ही रमणीय हैं। तथा यह जीवन तो मदमस्त अङ्गनाके कटाक्षभङ्गके समान अति चञ्चल है यानी बहुत जल्द ही नष्ट हो जानेवाला है ॥ ६० ॥

हे मुने, अब आप कहिये कि मनुष्य कहाँ, किसका, किस प्रकार और कैसे विश्वास रख सकता है, यानी इन सब प्रत्यक्ष दृष्टान्तोंसे मनुष्यके लिये कोई स्थान आदि ऐसा है ही नहीं कि विश्वास रखकर विश्रान्ति ले, क्योंकि क्रूर मृत्यु आज या कल अवश्य ही माथेपर आपदाएँ प्राप्त करावेगा ही ॥ ६१ ॥

शरीर तो पत्तेके सदृश गिर जानेवाला है, जीवनकी स्थिति भी जीर्णशाली है, बुद्धि अधीरतासे निरन्तर ग्रस्त है और विषय नीरसता लिये हुए हैं ॥ ६२ ॥

नीरस विषयोंने और उनके मनोरथोंने इस बड़ी आयुको ले लिया, परन्तु

मोहोऽद्य मान्द्यमायातो देहो नेहोपयुज्यते ।
अनास्थैवोत्तमाऽवस्था स्थानास्थैवाऽधमा स्थितिः ॥ ६४ ॥
आपदापतितैवेयमहो मोहविधायिनी ।
नित्यमित्येव मन्तव्यं सक्तव्यं नेह संसृतौ ॥ ६५ ॥
विधिभिः प्रतिषेधैश्च शाश्वतैरप्यशाश्वतैः ।
यथेष्टं नीयते लोको जलं निम्नोन्नतैरिव ॥ ६६ ॥
विवेकामोदसर्वस्वं चेतःकुसुमकोशतः ।
हृत्वा मूर्छां प्रयच्छन्ति विषया विषवायवः ॥ ६७ ॥
असदेव तथा नाम दृष्टं सत्तामुपागतम् ।
यथाऽसदेव सद्रूपं संपन्नमसदेव सत् ॥ ६८ ॥

चमत्कारजनक यानी उत्तम पुरुषार्थरूप चमत्कारकी जननी सम्पत्ति मेरे लिये कुछ भी पैदा नहीं की ॥ ६३ ॥

आज ही मेरा मोह मन्द पड़ गया है, देह यहाँ किसी कामके लिए उपयोगी नहीं है, विषयोंमें आसक्ति न करना सबसे श्रेष्ठ स्थिति है और जीवनमें आस्था बाँधकर बैठे रहना सबसे अधम स्थिति है ॥ ६४ ॥

विवेकी पुरुषोंको सम्पत्ति आदिकी प्राप्तिमें भी निरन्तर यही मानना चाहिए कि यह बड़ी भारी आपत्ति ही आई, क्योंकि वही विषयसम्पत्ति पुरुषमें बड़ा भारी मोह पैदा करती है, इसलिए इस तुच्छ संसारमें तो कभी आस्था बाँधनी ही नहीं चाहिए ॥ ६५ ॥

विवेकीको तो कर्मशास्त्र भी व्यामोहकारक ही दीखते हैं, यह कहते हैं—**'विधिभिः'** इत्यादिसे ।

निरन्तरके लिए विधि-प्रतिषेधके प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, चाहे कभी कभी के लिए विधि-निषेधके प्रतिपादक कर्मशास्त्र हों, इनसे तो पुरुष लोकमें उस प्रकार यथेष्ट लुढ़कता फिरता है, जैसे निम्न और उन्नत स्थानोंसे जल ॥ ६६ ॥

क्योंकि ऐहिक और आमुष्मिक विषय कर्मियोंको ही विवेकसे भ्रष्ट कर अनर्थकी ओर पहुँचाते हैं, यह कहते हैं—**'विवेका०'** इत्यादिसे ।

विषयरूप विषपूर्ण वायुमण्डल अन्तःकरणरूपी फूलके कोशसे विवेक सुगन्धरूपी सर्वस्वका अपहरण कर कर्मशास्त्रमें प्रवृत्त पुरुषको मूर्च्छा प्रदान करता है ॥६७॥

वास्तवमें विषयोंका स्वरूप तो असत् ही है, परन्तु भ्रमसे सद्बुद्धिके कारण

दोलायन्त्योऽवनौ देह सागरान् सागराङ्गनाः ।
यथा धावन्ति धावन्ति जनता विषयांस्तथा ॥ ६९ ॥
धावन्ति विषयाँल्लक्ष्यमुन्मुक्ताश्चित्तसायकाः ।
स्पृशन्ति न गुणान् भूयः कृतघ्नाः सौहृदं यथा ॥ ७० ॥
उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवाऽतिशत्रवः ।
बन्धवो बन्धनान्येव धनान्येवाऽतिनैधनम् ॥ ७१ ॥
सुखान्येवातिदुःखानि संपदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥ ७२ ॥

उसे सद्रूपता प्राप्त हुई है, अतः असलमें यह वैसा है नहीं, जैसे मायाके आवरण वश सद्रूप ब्रह्म असत्-सा बन गया वैसे ही मायाके विक्षेपवश असत् सत् ही बन गया। मायामें यह बड़ी पटुता है कि वह अघटित वस्तुको भी घटित कर देती है ॥ ६८ ॥

बाह्य दृष्टियोंको विषयोन्मुखी दृष्टि स्वाभाविक है, यह कहते है—**'दोलायन्त्यः'** इत्यादिसे।

जैसे दोनों तटभूमियोंपर प्रवाहको झूलेके सदृश आन्दोलित करती हुई सागराङ्गनाएँ (नदियाँ) सागरोंकी ओर दौड़ती जाती हैं, वैसे ही मोहग्रस्त जनता विषयोंकी ओर दौड़ती जाती है ॥ ६९ ॥

छूटे हुए चित्तरूपी बाण विषयरूप लक्ष्यकी ओर ही स्वभावतः जाते हैं, फिर वे विवेक आदि गुणोंका ऐसे ही स्पर्श नहीं करते, जैसे कि कृतघ्न पुरुष सहृदयताका ॥ ७० ॥

आयु तो एक उत्पातवायु ही है, जो मित्र हैं, वे तो स्नेहासक्ति द्वारा ध्वंसक महाशत्रु ही हैं, जो बन्धुवर्ग हैं, वह तो बन्धनरूप ही हैं और जो धन है, उसे तो मृत्युका ही एक तरहसे साधन समझना चाहिए ॥ ७१ ॥

आसक्ति पैदा करनेके कारण सुख अतिदुःखरूप ही हैं, सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ ही हैं, भोग संसारमें महारोग हैं और भोगोंसे प्रेम महान् अरति यानी व्यग्रतारूप ही है ॥ ७२ ॥

पूर्वोक्तका विवरण करते हुए कहते हैं—**'आपदः'** इत्यादिसे।

आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवितं मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥ ७३ ॥
बहून् कालपरावर्त्तानिष्टानिष्टान् सुखं मनाक् ।
पश्यन् प्रियवियोगांश्च याति जर्जरतां जनः ॥ ७४ ॥
भोगा विषयसंभोगा भोगा एव फणावताम् ।
दशन्त्येव मनाक् स्पृष्टा दृष्टा नष्टाः प्रतिक्षणम् ॥ ७५ ॥
आयुर्याति निरायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
उदर्कभङ्गुराकारैः करालैः कष्टचेष्टितैः ॥ ७६ ॥
भोगाशाबद्धतृष्णानामपमानः पदे पदे ।
आलानमवलीनानां वन्यानामिव दन्तिनाम् ॥ ७७ ॥
संपदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोत्सङ्गभङ्गुराः ।
कस्तास्वहिफणाच्छत्रच्छायासु रमते बुधः ॥ ७८ ॥

सभी सम्पत्तियाँ आपत्तियाँ ही हैं, सुख केवल दुःखके लिए ही हैं, जीवन मरणके ही लिए है । अहो, यह मायाका बढ़ाव महान् खेदकारक है ॥ ७३ ॥

कालचक्रके प्रभावसे परिवर्तनशील इष्टानिष्ट प्रसङ्गोंको, विषयोंके किञ्चित् सुखको तथा प्रियजनोंके वियोगोंको देखता हुआ मनुष्य जीर्णभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

विषयसेवनरूप भोग तो सर्पोंके फण ही समझ न लेने चाहिए, क्योंकि उनके साथ तनिक ही स्पर्श किया, तो तत्काल ही डँश लेते हैं और प्रतिक्षण देखते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ७५ ॥

यह आयु तो आयासशून्य आत्माकी प्राप्ति करानेमें सामर्थ्यरहित, भयङ्कर तथा परिणाममें नष्ट होनेवाली अनेक कष्टदायक चेष्टाओंसे व्यर्थ ही चली जाती है ॥ ७६ ॥

भोगोंकी अभिलाषासे बद्धतृष्ण जीवोंका पद-पदपर ऐसे ही अपमान होता है जैसे कि खान, पान, उपवास आदिसे कृश हुए बन्धनस्तम्भमें बद्ध जङ्गली हाथियोंका होता है ॥ ७७ ॥

सम्पत्तियाँ तथा ललनाएँ तरङ्गोंके उत्सङ्गके सदृश अतिक्षणभङ्गुर हैं, अतः ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष होगा, जो साँपके फणरूप छातेकी छायाभूत उन सम्पत्ति आदिमें रमण करेगा, इससे सम्पत्ति आदि क्षणभङ्गुर ही नहीं हैं, किन्तु तत्काल मृत्यु-प्रद भी हैं, यह जानना चाहिए ॥ ७८ ॥

सत्यं मनोरमाः कामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥ ७९ ॥
आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥ ८० ॥
द्वन्द्वदोषोपरुद्धानि दुःसाध्यान्यस्थिराणि च ।
धनान्यभव्यसेव्यानि मम जातु न तुष्टये ॥ ८१ ॥
आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥ ८२ ॥
आपातरमणीयानि विमर्दविसराण्यति ।
दुःखान्यापत्प्रदातॄणि संगतानि खलैरिव ॥ ८३ ॥

मान लिया जाय कि विषयभोग मनोरम हैं और ऐश्वर्य भी मनोरम ही है, परन्तु जीवन तो उन्मत्त अङ्गनाओंके अपाङ्गभङ्गके सदृश अति चञ्चल ही है ॥ ७९ ॥

विषय तो आपातरमणीय हैं यानी इन्द्रियसङ्गकालमें ही रम्य भासते हैं, ये परिणाममें अत्यन्त नीरस हैं, इसलिए ऐसे विषयोंमें जो पुरुष रमण करते हैं, वे नरकोंमें ही गिरते हैं, क्योंकि विषयोंके व्यसनियोंको पद-पदपर अधर्म ही होता है ॥ ८० ॥

उसके उपायभूत धनमें दोष बतलाते हैं—'द्वन्द्व०' इत्यादिसे ।

धन द्वन्द्वदोषोंसे आक्रान्त हैं यानी उनका उपार्जन करनेके समय शीतोष्ण, क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वोंका सामना करना ही पड़ता है । अतः वे कष्टसाध्य हैं, और वे स्थिर भी नहीं हैं, क्योंकि राजा, चोर आदिसे उनका विनाश पद-पदमें संभावित है ॥ ८१ ॥

लक्ष्मी ऊपर ऊपरसे ही मधुर है, अन्तमें दुःख देनेवाली है, केवल लोकको मोहमें डालनेवाली है तथा उसका विलास क्षणके लिए ही होता है ॥ ८२ ॥

दुष्टोंके साथ किये गये मैत्री आदि सम्बन्ध जैसे आपातरमणीय, थोड़ेसे संघर्षमें विनाशी, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं, वैसे ही धनके साथ किये गये सम्बन्ध भी आपातरमणीय, थोड़ेमें नष्ट होनेवाले, दुःखरूप तथा आपत्ति देनेवाले होते हैं ॥ ८३ ॥

शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः ।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः ॥ ८४ ॥
अन्तकः पर्यवस्थाता जीविते महतामपि ।
चलन्त्यायूंषि शाखाग्रलम्बाम्बूनीव देहिनाम् ॥ ८५ ॥
जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥ ८६ ॥
भोगाभोगातिगहने सर्वस्मिन् कायकानने ।
परमुल्लासमायाति तृष्णैका विषमञ्जरी ॥ ८७ ॥
बाल्यं यौवनवद्याति यौवनं याति बाल्यवत् ।
उपमानोपमेयत्वं भङ्गुरत्वं मिथोऽनयोः ॥ ८८ ॥

यौवनकी शोभाएँ शरत्कालके मेघकी छायाके सदृश झटपट चली जानेवाली (नश्वर) हैं और विषय अविचारसे रमणीय तथा परिणाममें सन्तापदायी हैं ॥८४॥

चाहे बड़ेसे बड़े हो क्यों न हों, उनके जीवनके ऊपर मृत्युरूप अन्तक अवश्य उपस्थित हो ही जायगा । देहियोंके आयुष्य तो शाखाके अग्रभागमें लटक रहे जलके ओसकी बूँदोंके सदृश स्खलित हो जाते हैं ॥ ८५ ॥

वृद्धावस्था प्राप्त कर रहे पुरुषके केश तथा दाँत जीर्णशीर्ण हो जाते हैं, जीर्ण अवस्थावालेके लिए सब कुछ जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, परन्तु अकेली तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती ॥ ८६ ॥

अब भोगोंको भोग लिया जाय, जन्मान्तरमें विवेक, वैराग्य आदि प्राप्त हो जायँगे, यह सोचा जाय, तो वह व्यर्थ ही है, क्योंकि जन्मान्तरमें विवेकादि प्राप्त होंगे, यह आशा ही नहीं करनी चाहिए, यह कहते हैं—**'भोगा०'** इत्यादिसे ।

भावी देहोंकी परम्परारूप शरीररूपी अरण्यमें, जो भोगोंके विस्तारसे अतिगहन हैं, एकमात्र तृष्णारूपी विषमञ्जरी ही अत्यन्त लहलहाती नजरमें आती है ॥ ८७ ॥

बाल्य आदि अवस्थाओंमें भी विवेकादि की आशा नहीं है, यह कहते हैं—**'बाल्यम्'** इत्यादिसे ।

बाल्य अवस्था युवावस्थाके सदृश चली जाती है और युवावस्था बाल्य अवस्थाके सदृश चली जाती है, यों इन दोनोंमें परस्पर उपमानता, उपमेयता तथा विनश्वरता विद्यमान है ॥ ८८ ॥

जीवितं गलति क्षिप्रं जलमञ्जलिना यथा।
प्रवाह इव वाहिन्या गतं न विनिवर्तते ॥ ८९ ॥
झटित्येवाऽऽगतो देहः कुतोऽप्यर्जुनवातवत्।
याति पश्यत एवाऽस्तं तरङ्गाम्बुददीपवत् ॥ ९० ॥
रम्येष्वरम्यता दृष्टा स्थिरेष्वस्थिरताऽपि च।
सत्येष्वसत्यताऽर्थेषु तेनेह विरसा वयम् ॥ ९१ ॥
सुखं यदात्मविश्रान्तौ गते मनसि सत्त्वताम्।
पाताले भूतले स्वर्गे तन्न भोगेषु केषुचित् ॥ ९२ ॥
अपि संपूर्णहृद्यार्थाः पञ्चाऽपीन्द्रियवृत्तयः।
तावज्जयन्ति मामेता भृङ्गं चित्रलता इव ॥ ९३ ॥

अञ्जलिसे जैसे जल क्षणभरमें चला जाता है, वैसे ही यह जीवन क्षणभरमें गल जाता है। नदीके प्रवाहके सदृश बह गयी आयु फिर लौटकर वापस नहीं आती ॥ ८९ ॥

किसी भी अज्ञात कारणसे, अर्जुन वायुके सदृश, यह दुःखदायी देह आया तो है, परन्तु देखते देखते ऐसे झटसे नष्ट हो जाता है, जैसे तरङ्ग, मेघ और दीपक ॥ ९० ॥

हम लोगोंको विषयोंमें नीरसता इसलिए हुई कि रम्य वस्तुओंमें अरम्यता ही देखी, स्थिर वस्तुओंमें अस्थिरता ही देखी और सत्यरूप समझे गये पदार्थोंमें असत्यरूपता देखी ॥ ९१ ॥

मनके वासनानिर्मुक्त हो जानेपर जो आत्मामें विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस विश्रान्तिसे जो सुख मिलता है, वह न तो पातालमें, न भूतलमें, न स्वर्गमें और न किन्हीं भोगोंमें ही प्राप्त होता है ॥ ९२ ॥

इस समयमें दृढ़ वैराग्यसे युक्त मुझपर सम्पूर्ण विषयोंको लेकर भी समस्त इन्द्रियोंके व्यापार विजय नहीं पा सकते, यह कहते हैं—'अपि०' इत्यादिसे।

जितने प्रिय बुद्धिसे गृहीत मनोरम विषय हैं वे सब तथा पाँचों इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ क्या मुझको जीत सकती हैं अर्थात् वे मुझको ऐसे जीत नहीं सकतीं जैसे कि चित्रगतलता भ्रमरको नहीं जीत सकती ॥ ९३ ॥

अद्य दीर्घेण कालेन निरहङ्कृतिना मया ।
स्वर्गापवर्गवैतृष्ण्यमिदमासादितं धिया ॥ ९४ ॥
चिरमेकान्तविश्रान्त्यै तेनैतन्नभसः पदम् ।
त्वमिवाऽऽगतवानत्र दृष्टवानस्मि तां कुटीम् ॥ ९५ ॥
अथैतत्संपरिज्ञातं यदेषा भवतः कुटी ।
आगन्ता त्वं पुनश्चेति मया तन्न विचारितम् ॥ ९६ ॥
तदा त्वत्र मया ज्ञातं कश्चित्सिद्धोऽयमात्मना ।
देहं त्यक्त्वेह निर्वाणं गत इत्यनुमानतः ॥ ९७ ॥
एतन्मे भगवन् वृत्तमेषोऽस्मीति यथास्थितम् ।
मया ते कथितं सर्वं यथा जानासि तत्कुरु ॥ ९८ ॥
सिद्धैर्न यावदवधानपरैर्विचार्य
निर्णीतमुत्तमधियाऽन्तरशेषवस्तु ।

आज दीर्घकाल व्यतीत हो जानेके पश्चात् निरहङ्कार हुए मैंने अपनी विवेक-बुद्धिसे यह स्वर्ग-अपवर्गके प्रति विरक्ति प्राप्त की है ॥ ९४ ॥

हे मुने, इसी कारण आपकी तरह मैं भी दीर्घकालतक विश्रान्ति करनेके निमित्त इस आकाशस्थानमें, जो कि आपकी कुटियाकी कल्पनाका भाजन रहा, आया और मैंने उस कुटियाको देखा ॥ ९५ ॥

महाराज, आपकी यह कुटी है और भविष्यमें यहाँपर आप पधारेंगे, यह उस समय मैंने नहीं विचारा। आज ही मुझे यह ज्ञात हुआ है ॥ ९६ ॥

आपने उस समय क्या समझा था, इसपर कहते हैं—**'तदा'** इत्यादिसे।

हे मुने, उस समय तो मैंने अनुमानसे यह समझा था कि कोई सिद्ध यहाँ रहता होगा और वह अपने आप अपना शरीर छोड़कर यहाँ मुक्तिको प्राप्त हो गया है ॥ ९७ ॥

हे भगवन्, 'तुम कहाँ स्थित हो' इत्यादि जितने आपने मुझसे प्रश्न किये थे और मेरी जो खरी खरी हकीकत रही, वह सब मैंने कही। अब इसके बाद मुझ अपराधीके ऊपर दण्ड या अनुग्रह इन दोनोंमें से जो कुछ भी आपकी समझमें आता हो, वह कीजिए ॥ ९८ ॥

हे मुने, आपके जैसे सिद्ध भी जबतक समाधिनिष्ठ होकर उत्तम बुद्धिसे

तावत्त्रिकालकलनं न विदन्ति किंचि-
दित्यब्जजादिमनसोऽपि मुने स्वभावः ॥ ९९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पाषा० आकाशमण्डपसिद्धसमागमगाथावर्णनं नाम त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ हेममयाकाशविस्तीर्णायां महाभुवि ।
सौहार्दादेव सिद्धस्य तस्येदमहमुक्तवान् ॥ १ ॥
त्वया न केवलं तावन्मयाऽपि न विचारितम् ।
आध्यात्मिरहिता नाम न संभवति देहिनाम् ॥ २ ॥

अपने भीतर समस्त वस्तुओंका विचार-पूर्वक निर्णय नहीं करते, तबतक वे त्रिकालके सब वृत्तान्तोंका ज्ञान नहीं कर पाते । इसी तरहका ब्रह्मा आदिके मनका भी स्वभाव है, फिर मेरे जैसे पुरुषोंकी तो बात ही क्या ? इसलिए आपके वृत्तान्तका अपरिज्ञान एवं शरीरका हटाना आदि जो मैंने आपके प्रति अपराध किया है, उसे क्षमा कीजिए, यह तात्पर्य निकला ॥ ९९ ॥

तिरानबे सर्ग समाप्त

चौरानबे सर्ग

[दोनोंका—श्रीवसिष्ठजी तथा उस सिद्धका—सिद्धलोकमें गमन तथा पिशाचों एवं देवताओंकी केवल मनके अनुसार स्थिति, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उसके बाद आकाशके समान विस्तीर्ण सात समुद्र और सातों द्वीपोंके बाहर स्थित काञ्चनमय विशाल भूमिमें मैत्रीके कारण ही मैंने उस सिद्धसे यह कहा—मित्र, अकेले आपने ही विचार नहीं किया हो सो बात नहीं है, किंतु मैंने भी विचार नहीं किया । साधारण लोगोंकी बात जाने दीजिये, जो बड़े बड़े योगी हैं, उनको भी ध्यानपूर्वक सब विषयोंमें मनोयोगके बिना भूत, भविष्यत् पदार्थोंका परिज्ञान कदापि नहीं हो सकता ॥ १, २ ॥

कस्मान्मया तवोदन्तं विचार्याऽसौ स्थिरीकृता ।
न कुटी व्योम्नि तेन त्वमभविष्यः स्थिरस्थितिः ॥ ३ ॥
उत्तिष्ठ सिद्धलोकेषु निवसावो यथास्थितम् ।
स्वास्पदस्थितयः सौम्याः स्वात्मसिद्धौ सुसाधनम् ॥४॥
इति निर्णीय तावुच्चैरुत्सृतौ तारकोपमौ ।
सममेकपुटोड्डीनौ व्योमयन्त्रोपलाविव ॥ ५ ॥
प्रणामपूर्वमन्योन्यमथ कृत्वा विसर्जनम् ।
गतः सोऽभिमतं देशमहं चाऽभिमतं गतः ॥ ६ ॥
इति वृत्तान्तमखिलमुक्तवानस्मि राघव ।
तवाऽऽश्चर्यमयीं पश्य संसृतीनां विचित्रताम् ॥ ७ ॥

यदि प्रणिधान (ध्यान) द्वारा सब विषयोंमें मनोयोग हो सकता तो आपका पतन कदापि न होता और संकल्पकुटी स्थिर बनायी गई होती, यह कहते हैं—**'कस्मात्'** इत्यादिसे ।

मित्र, मैंने आपका वृत्तान्त विचार कर वह कुटी आकाशमें चिरस्थायिनीं क्यों न बना दी । यदि मैं ऐसा कर देता तो अवश्य ही आपकी स्थिति स्थिर हो गई होती, आपका पतन न हो पाता । मित्र, हम दोनोंसे ही परस्पर अपराध हुआ, अतः परस्पर दोनोंको क्षमा कर देनी चाहिये ॥ ३ ॥

अब उठिये, हम दोनों सिद्ध लोकोमें पूर्ववत् निवास करें—आप नन्दनवनमें चलकर विहार कीजिये और मैं सप्तर्षिलोकमें जाकर रहूँ । बिना हलचलके अपने स्थानमें रहना अपनी विक्षेपशून्य स्थितिके लिए उत्तम साधन है ॥ ४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ऐसा निर्णय कर तारोंके सदृश वे दोनों सिद्ध गुलेलसे उड़े हुए दो पत्थरोंके समान एक-साथ बड़ी तेजीसे उड़े ॥ ५ ॥

परस्पर प्रणामपूर्वक एक दूसरेको बिदा कर वह सिद्ध अपने अभीष्ट देशको चला गया और मैं भी अपने अभिमत देशमें आ गया अर्थात् वह सिद्ध नन्दन वनको गये और मैं सप्तर्षिलोकोंमें आया ॥ ६ ॥

हे राघव, इस प्रकार पाषाणोपाख्यान एवं सिद्धका सारा वृत्तान्त मैंने आपसे कह सुनाया । देखिये, संसृतियोंकी कैसी आश्चर्यमयी विचित्रता है ॥ ७ ॥

कुटोमें स्थित जो आपका स्थूल शरीर था, उसे उस सिद्धने फेंक दिया, यह मेरा अनुमान है ऐसा आपने ही मुझसे कहा है । फेंका गया जो पार्थिव शरीर है

श्रीराम उवाच

भगवंस्तव देहोऽसौ पृथिव्यामणुतां गतः ।
भ्रान्तः केन शरीरेण सिद्धलोकांस्ततो भवान् ॥ ८ ॥

वसिष्ठ उवाच

आ स्मृतं शृणु वृत्तान्तं ततो मम जगद्गृहे ।
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु च ॥ ९ ॥
अहमिन्द्रपुरं प्राप्तो न कश्चित्तत्र दृष्टवान् ।
मामिमं देहरहितमातिवाहिकदेहिनम् ॥ १० ॥
अहं किल तदा राम संपन्नो गगनाकृतिः ।
न चाऽऽधारो न चाऽऽधेयश्चिदाकाशमयात्मकः ॥ ११ ॥
न ग्रहीता न च ग्राह्यस्त्वादृशार्थावबोधिनाम् ।
न चैव देशकालानां क्वचिदावृत्तिकारकः ॥ १२ ॥

वह तो समय पाकर पृथ्वीमें धूल-रूप हो जाता है, यह अर्थतः ही ज्ञात हुआ। ऐसी स्थितिमें एकमात्र मानसिक शरीरसे सिद्धोंके लोकोंमें जाकर वहाँके निवासी जनोंके साथ आपने कैसे व्यवहार किया ? न तो मनोमात्र आत्मा दूसरोंके साथ व्यवहार कर सकता है और न दूसरे ही उसके साथ व्यवहार कर सकते हैं, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'भगवन्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, जब आपका यह भौतिक शरीर पृथ्वीमें धूल बन गया, यानी धूलमय हो गया तब आपने किस शरीरसे सिद्धलोकोंमें संचार किया ? ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, हाँ, मुझे स्मरण हो आया, सुनिये उसके बादकी मेरी आत्मकहानी । सुवर्णमयी भूमिसे चलकर जगद्रूपी घरमें सिद्धोंकी सेनाओं तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण करता हुआ मैं इन्द्र भगवान्के नगरमें पहुँचा । चूँकि मैं इस स्थूल शरीरसे रहित मनोमात्र शरीरधारी था, अतः वहाँ मुझे कोई देख न सका ॥ ९,१० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इसमें सन्देह नहीं कि उस समय मैं गगनाकार हो गया था। न तो मेरा कोई आधार था और न कोई आधेय था। मैं तो चिदाकाशप्रचुर जो मन है, तद्रूप हो हो गया था ॥ ११ ॥

उस समय न तो मैं आपके सदृश स्थूल पदार्थोंके अवबोध करनेवालोंकी तरह

मनोमननमात्रात्मा पृथ्व्यादिपरिवर्जितः ।
संकल्पपुरुषाकारः पदार्थानामरोधकः ॥ १३ ॥
अरुद्धश्च पदार्थौघैः स्वयं स्वानुभवोन्मुखः ।
व्यवहर्त्ता तथाभूतैरेवं पुंभिर्मनोमयैः ॥ १४ ॥
स्वप्नानुभूतयो राम दृष्टान्तोऽत्राऽविखण्डितः ।
अनुभूत्यपलापं तु यः कुर्यात्तेन तेऽस्त्वलम् ॥ १५ ॥
यथा स्वप्नचरो गेहे व्यवहर्ता न दृश्यते ।
तथा तदा न दृष्टोऽस्मि पुरस्थोऽपि नभोगतैः ॥ १७ ॥
अहमन्यान् प्रपश्यामि पार्थिवाकारभासुरान् ।
मामातिवाहिकात्मानं न कश्चिदपि पश्यति ॥ १७ ॥

ग्रहीता (ग्रहणकर्ता) था और न ग्राह्य ही था । हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं प्रेषण, प्रतीक्षण आदिके द्वारा दूसरोंके देशों और कालोंका परिवर्तन करनेवाला भी नहीं था ॥ १२ ॥

मनका जो मनन है एकमात्र वही मेरा स्वरूप था, मैं पृथ्वी आदिसे बिलकुल रहित था, मेरा आकार संकल्पके पुरुषके तुल्य था और मैं स्पर्श न होनेके कारण स्तम्भ, कुम्भ आदि विविध पदार्थोंका रोधक नहीं था ॥ १३ ॥

अपने अनुभवको ओर उन्मुख हुआ मैं यानी स्वानुभवरूप मैं स्वयं भी पदार्थ-समूहोंसे अवरुद्ध नहीं होता था । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरह मैं स्वप्नमनोराज्यके समान मनोमय भूतोंके साथ ही व्यवहार करता था ॥ १४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस तरहके अर्थकी संभावनामें स्वप्नके अनुभव पूर्ण दृष्टान्त हैं । जो अनुभवका अपलाप करते हैं—अनुभवको प्रमाण नहीं मानते हैं उन नैया-यिकोंके साथ बातें करना ठीक नहीं है, व्यर्थ है * ॥ १५ ॥

जिस प्रकार घरमें सोये हुए स्वप्नमें विचरण करनेवाले स्वप्नमें व्यवहार कर रहे पुरुषको उस घरके दूसरे प्राणी नहीं देख पाते, उसी प्रकार उस समय आकाशमें विहार करनेवाले देवताओंने सामने स्थित रहनेपर भी मुझे नहीं देखा ॥ १६ ॥

पार्थिव आकारके तुल्य भासुर यानी देदीप्यमान अन्य प्राणियोंको मैं तो देखता था, लेकिन स्थूलशरीरधारी मुझे वहाँ कोई भी नहीं देखता था ॥ १७ ॥

* ज्ञानमात्रमें अवच्छेदकता सम्बन्धसे देहकी कारणताके सदृश त्वक् एवं मनके संयोगकी भी कारणता है, इसीलिए सुषुप्तिमें त्वङ्मनोयोगका अभाव रहनेसे ज्ञानका अभाव है,

श्रीराम उवाच

न दृश्यते विदेहत्वाद् भवान् व्योमवपुर्यदि ।
तत्कथं तेन सिद्धेन दृष्टोऽसि कनकावनौ ॥ १८ ॥

वसिष्ठ उवाच

अस्मदादिर्जनो नाम यथा संकल्पकल्पितान् ।
नाऽसंकल्पितमाप्नोति सत्यकामवपुर्यतः ॥ १९ ॥

मुझे वहां कोई नहीं देखता था, यह आपका कहना आपके ही पूर्वके कथनसे विरुद्ध है; क्योंकि अभी आपने पहले कहा है कि मैं वहां सिद्धसे देखा गया। मैं अन्य प्राणियोंको देखता था, आपका यह कहना भी असंगत है, कारण कि मनकी बाहर स्वतन्त्रता न होनेसे स्वप्नमें अपने मनोमय पदार्थोंका ही अवलोकन होता है, इस आशयसे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'**न दृश्यते**' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महर्षे, आकाशमय शरीरधारी आप यदि विदेह होनेके कारण यानी पार्थिव शरीर शून्य होनेके कारण किसीके द्वारा नहीं दिखते रहे, तो फिर उस सुवर्णमयी पृथिवीमें उस सिद्धके द्वारा आप कैसे देखे गये? ॥ १८ ॥

सत्य सङ्कल्पानुसारी दर्शनकी व्यवस्थासे श्रीवसिष्ठजी दोनोंका परिहार करते हैं—'**अस्मदादि०**' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, हमारे सदृश ज्ञानयोगसिद्ध पुरुष जैसे सङ्कल्पसे कल्पित पदार्थोंका अवलोकन करता है, वैसे ही असंकल्पित पदार्थोंको प्राप्त नहीं करता, क्योंकि वह सत्यसङ्कल्पशरीरवाला है ॥ १९ ॥

ज्ञानसिद्ध महानुभावोंका सदा ही सूक्ष्म शरीर रहता है, उनका तो स्थूल शरीर होता ही नहीं, यह आपने अनेक बार मुझसे कहा है, ऐसी दशामें उनका

ऐसा जो नैयायिक प्रलाप करता है, वह मूर्ख है, उसके साथ आपको संभाषण करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि भाषण करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि जाग्रत्कालमें स्मृति होनेसे सुषुप्तिमें भी सुखस्वप्नादिका ज्ञान तो होता ही है। 'स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ॥ शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ॥' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध भी होता है तथा निमिके शापसे जब मैंने शरीरका परित्याग कर दिया, तो भी मुझे दुःखका अनुभव तो होता था, उसी के निवारणके लिये ब्रह्माकी आज्ञासे मिले हुए वरुणसे उत्पन्न शरीरका मैंने ग्रहण किया था।

व्यवहारेषु मग्नेन लौकिकेष्वमलात्मना ।
क्षणाद्विस्मर्यते पुंसा सातिवाहिकतात्मनः ॥ २० ॥
मया पश्यतु मामेष इति संकल्पितं तदा ।
तेन मां दृष्टवानेष स्वसंकल्पार्थभाजनम् ॥ २१ ॥
जनो जरठभेदत्वान्न संकल्पार्थभाजनम् ।
स एष जीर्णभेदत्वात् सत्यकामत्वभाजनम् ॥ २२ ॥

स्थूलदेहबुद्धिसे दूसरेको देखना, उससे बातचीत करना आदि सत्य सङ्कल्प कैसे हो सकता है? ऐसी आशङ्का करनेपर श्रीरामजी कहते हैं—'**व्यवहारेषु**' इत्यादिसे ।

निर्मलात्मा सूक्ष्म शरीरधारी सिद्ध पुरुष भी लौकिक व्यवहारोंमें मग्न होकर क्षणभरमें ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है, तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि और विवेक कालमें सत्यसङ्कल्पन होता है वैसे ही व्युत्थान— व्यवहार—कालमें सूक्ष्म शरीरभावका विस्मरण भी होता है, इसलिए उनका परदर्शन, संवाद आदि-का सङ्कल्प सम्भव है ॥ २० ॥

यह जो सिद्ध था, वह भी सत्यसङ्कल्प तथा सिद्ध था, अतः मुझे देख सकता था, इस आशयसे उसमें विशेषता दिखलाते हैं—'**मया**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी उस समय मैंने यह सिद्ध मुझे देखे, ऐसा सङ्कल्प किया था, इससे उस सिद्धने मुझे, जो स्वसङ्कल्पित अर्थका भाजन था, देखा ॥ २१ ॥

साधारण लोगोंकी अपेक्षा सिद्ध पुरुषमें विशेषता बतलाते हैं—'**जनः**' इत्यादिसे ।

चिरकालकी वासनासे जिस पुरुषका भेद बहुत दृढ़ हो चुका है, वह साधारण पुरुष चिरकालकी वासनासे भेदबुद्धिके दृढ़ होनेके कारण सङ्कल्पित अर्थका भाजन नहीं होता, किन्तु भेदवासना मिट जानेके कारण यह सिद्ध सत्य सङ्कल्पका भाजन था ॥ २२ ॥

जहां दो सिद्ध परस्परविरुद्ध सङ्कल्प करें—जैसे एक तो यह सङ्कल्प करे कि 'मैं' इसे देखूँ और दूसरा यह सङ्कल्प करे कि 'मुझे यह न देखे' ऐसी स्थितिमें वहां कैसी व्यवस्था होगी? इस आशङ्कापर कहते हैं—'**द्वयोस्तु**' इत्यादिसे ।

द्वयोस्तु सिद्धयोः सिद्धविरुद्धेप्सितयोर्मिथः ।
अधिकैकावदातात्मा जयी पुरुषयत्नवान् ॥ २३ ॥
भ्रमतः सिद्धसेनासु लोकपालपुरीषु मे ।
विस्मृता व्यवहारौघैः साऽऽतिवाहिकताऽऽत्मनः॥ २४ ॥
यदा तदाहमपरैर्व्यवहर्तुं महाम्बरे ।
प्रवृत्तो न च मां कश्चित्तत्र पश्यति चञ्चलम् ॥ २५ ॥
अत्यन्तमप्यारटतः शब्दो न श्रूयते मम ।
केनचित्सुरलोकेषु स्वप्नपुंस इवाऽनघ ॥ २६ ॥
अवष्टब्धुं प्रवृत्तस्य नाऽन्यावष्टब्धये मम ।
संपद्यते किंचिदपि मनोमननदेहिनः ॥ २७ ॥

परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध अभीष्टवाले दो सिद्धोंमें जो अधिक निर्मलात्मा यत्नवान् रहता है वह बाजी मार ले जाता है। जैसे एक राज्यसिद्धिके लिए प्रयत्न कर रहे दो राजकुमारोंमें जिसमें शौर्य आदि अधिक मात्रामें रहते हैं, उसीकी विजय होती है वैसे ही यहां भी समझना चाहिये ॥ २३ ॥

ऐसा ही सही, परन्तु आपके इस कथनसे प्रकृतमें क्या आया, इसपर कहते हैं—"भ्रमतः" इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, सिद्धोंको सेनाओं तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें विचरण करते हुए मेरी वह सूक्ष्मरूपता व्यवहारोंकी अधिकतासे जब विस्मृत हो गई——जब मैं अपना सूक्ष्म स्वरूप भूल गया तब महाकाशमें अन्य लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें प्रवृत्त हो गया, परन्तु मेरा ऐसा चञ्चल रूप था कि वहां मुझे कोई नहीं देख पाता था ॥ २४, २५ ॥

हे अनघ, मैं वहाँ सुरलोकोंमें अत्यन्त जोरसे शब्द कर रहा था, फिर भी वहाँ जैसे स्वप्नके पुरुषका शब्द कोई नहीं सुनता वैसे ही मेरा वह शब्द कोई नहीं सुन पाता था ॥ २६ ॥

वहाँपर जब कोई गिरता तथा नोचेसे ऊपरकी ओर चढ़ता तो वैसे मौकोंमें मैं झट अपने हाथ आदिका उसे अवलम्बन देनेके लिए उद्यत हो जाता था। लेकिन हे रामजी, उसके सहारेके लिए उद्यत होनेपर भी मननशील मनरूपशरीरधारी मेरा हाथ आदि कुछ भी उसके अवलम्बनके लिए समर्थ नहीं होता था ॥ २७ ॥

एवं व्योमपिशाचोऽहं संपन्नो रघुनन्दन ।
मयाऽनुभूता काऽप्येषा देवागारपिशाचता ॥ २८ ॥

श्रीराम उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् किमाकाराः किमास्पदाः ।
किंजातीयाः किमाचाराः कीदृशाः कीदृशाशयाः ॥ २९ ॥

वसिष्ठ उवाच

पिशाचाः सन्ति लोकेऽस्मिन् यादृशास्तादृशान् शृणु ।
न सभ्योऽसौ न यो वक्ति प्रसंगापतितं वचः ॥ ३० ॥
पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति त्वमिवाऽऽकृतिम् ॥ ३१ ॥
छायया भयदायिन्या त्वन्यत्र भ्रमरूपया ।
ते चित्ताक्रमणं कृत्वा बोधयन्ति नराशयम् ॥ ३२ ॥

हे रघुनन्दन, इस तरह मैं आकाशका पिशाच हो गया और देवताओंके घरोंमें इस एक अनिर्वचनीय पिशाचताका मैंने अनुभव किया ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, कृपाकर यह बतलाइये कि इस लोकमें पिशाच किस आकारके होते हैं, वे कहाँ रहते हैं, किस जातिके होते हैं, उनका आचार कैसा होता है तथा वे किस तरहके अभिप्रायवाले होते हैं ॥ २९ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस लोकमें पिशाच जिस तरहके होते हैं, उनका मैं आपसे वर्णन करता हूँ, आप सुनिये । जो मनुष्य प्रसङ्गप्राप्त वचन नहीं बोलता वह सभ्य नहीं है ॥ ३० ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कोई पिशाच आकाशके सदृश सूक्ष्म शरीरवाले—मनोमय देहवाले स्वप्नके समान कल्पित हाथ, पैर आदिसे युक्त होते हैं और आप ही के समान आकारको देखते हैं ॥ ३१ ॥

पिशाच मनोमात्रमय शरीरवाले हैं तो वे दूसरोंके ऊपर आक्रमण कैसे करते हैं, क्योंकि मनमें बाहर आक्रमण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, इस शङ्कापर कहते हैं—'**छायया**' इत्यादिसे ।

अन्य मनुष्यके चित्तमें प्रविष्ट होकर भ्रमरूप भयदायिनी अपनी छायासे आक्रमण करके वे सब पिशाच नानाविध दुःख आदि प्रदान करनेवाली चेष्टाओंसे मनुष्यके आशयको उद्बोधित करते हैं ॥ ३२ ॥

घ्नन्त्यदन्ति पिबन्त्याशु लघुसत्त्वबलं जनम् ।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥ ३३ ॥
आकाशसदृशाः केचित्केचिन्नीहारसन्निभाः ।
केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि खात्मकाः ॥ ३४ ॥
केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः ।
केचिद् भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥ ३५ ॥
ग्रहीतुं नैव युज्यन्ते ग्रहीतुं शक्नुवन्ति नो ।
आकाशशून्यवपुषः पश्यन्त्याकृतिमात्मनः ॥ ३६ ॥
शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च ।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥ ३७ ॥

उसका यदि मरणके अनुकूल कर्माशय होता है तो मर्मस्थानमें पहुँचकर इनमें कोई पिशाच शीघ्र प्राणियोंको मारते हैं और स्वयं अपने ऋणके अनुबन्धके अनुसार उसके देहधातुओंका भक्षण करते, रुधिर आदि पीते तथा बल एवं सत्त्वको नष्ट करते हैं और चित्तमें आक्रमण करके जीवोंको नष्ट कर डालते हैं* ॥ ३३ ॥

'किमाकाराः किंजातीयाः' इन दो प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे।

इनमें कोई आकाशके सदृश, कोई नीहारके तुल्य और कोई स्वप्नकालके मनुष्योंके आकारके समान आकारवाले साकार होते हुए भी शून्यात्मक होते हैं ॥ ३४ ॥

कोई मेघखण्डके समान, कोई वायुमय देहवाले और कोई प्राणीकी भ्रान्तिके अनुसार देहधारी होते हैं। हे श्रीरामचन्द्रजी, ये सबके सब बुद्धि-मनोमय ही होते हैं ॥ ३५ ॥

इन पिशाचोंको पकड़ना सम्भव नहीं है और ये भी यदि किसीको पकड़ना चाहें, तो पकड़ नहीं सकते हैं। आकाशके समान शून्य शरीरवाले वे अपनी आकृतिका स्वयं अनुभव करते हैं और परस्पर देखते हैं ॥ ३६ ॥

तथा वे सब शीत और आतपसे उत्पन्न हुए सुख और दुःखका भी अनुभव करते हैं। किन्तु वे बाहरके जल आदि पी नहीं सकते, अन्न आदि खा नहीं सकते,

---

*इससे 'किमाचाराः' इस प्रश्नका समाधान किया गया है।

इच्छाद्वेषभयक्रोधलोभमोहसमन्विताः ।
मन्त्रौषधतपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥ ३८ ॥
सत्त्वावष्टम्भयन्त्रेणमन्त्रेणाऽऽराधितेन वा ।
दृश्यन्तेऽपि च गृह्यन्ते कदाचित् केनचित् क्वचित् ॥ ३९ ॥
देवयोनिर्हि सा तेन केचिद्देवोपमादयः ।
केचिन्नरसमश्रीकाः केचिन्नागसमन्वयाः ॥ ४० ॥
श्वशृगालोपमाः केचिद् ग्रामजङ्गलवासिनः ।
कुल्यावकररथ्यासु वसन्ति निरयेषु च ॥ ४१ ॥

किसी पदार्थका अवलम्बन नहीं कर सकते—स्वयं खड़े नहीं हो सकते तथा लेने-देने आदिका यथेष्ट व्यवहार भी वे नहीं कर सकते ॥ ३७ ॥

वे सब इच्छा, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ और मोहसे युक्त रहते हैं और मन्त्र, औषध, तप, दान, धैर्य एवं धर्मसे वशीभूत होते हैं ॥ ३८ ॥

तब किस उपायसे उन्हें मनुष्य देख पाते हैं, यह कहते हैं—**'सत्त्वा०'** इत्यादिसे ।

सत्त्वका अवष्टम्भरूप योगधारणाका जो एक भेद है, उससे भूतोंके अवलोकनके अनुकूल बीजाक्षरसे घटित रजतादि पत्रके ऊपर लिखित कण्ठ आदिमें धारण किये गये यन्त्र तथा आराधित मन्त्रसे वे दिखाई देते हैं तथा भूतविद्या जाननेवाले किसी एक पुरुषके द्वारा कभी वशीभूत होकर सेवा आदिमें नियुक्त भी किये जाते हैं; किसी देश में यह प्रसिद्ध है ॥ ३९ ॥

देवयोनिके ग्यारह भेदोंके भीतर यह भूतयोनि है, इसलिये अणिमा आदि ऐश्वर्योंके तारतम्यसे सुखभोग भी उनमें है । यह सूचित करते हुए उनकी जाति तथा आकृतिके भेदका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—**'देवयोनिर्हि'** इत्यादिसे ।

चूँकि यह भूतयोनि भी देवयोनि ही है, इसलिए इन पिशाचोंमें कोई देवरूप ऐश्वर्य सम्पन्न होते हैं, कोई मनुष्योंके समान लक्ष्मीसे सम्पन्न होते हैं और कोई साँपोंके सदृश होते हैं ॥ ४० ॥

इनमें कुछ ऐसे होते हैं जिनकी उपमा कुत्तों तथा शृगालोंसे दी जा सकती है। कोई ऐसे होते हैं, जो गाँवोंमें तथा जङ्गलोंमें निवास करते हैं तथा कोई ऐसे भी होते हैं जिनका नहरों, कुओं, मार्गों एवं नरकसदृश अपवित्र देशोंमें ही सदा वास रहता है ॥ ४१ ॥

एतदास्पदमेतेषामित्याकाराः प्रकीर्तिताः ।
पिशाचा एवमाचारा जन्मैषां श्रूयतामिदम् ॥ ४२ ॥
अचेत्यचिन्मयं ब्रह्म सर्वशक्तिस्वभावतः ।
यत्स्थितं बुद्धमेवाऽन्तश्चेत्यं संकल्पयन्निव ॥ ४३ ॥
तं जीवं विद्धि स प्रौढस्त्वहंकार इति स्मृतः ।
सोऽहंकारः स्मृतः पुष्टो मन इत्युदितात्मभिः ॥ ४४ ॥
स एव कथ्यते ब्रह्मा संकल्पाकाशरूपवान् ।
असदेवाऽसतो बीजं जगतो विगताकृतिः ॥ ४५ ॥
एवं मनःस्थितो ब्रह्मा सदेहोऽप्यमलं नभः ।
तत्स्वप्नपुरुषाकारः सन्नेवाऽसद्वपुः सदा ॥ ४६ ॥
पृथ्व्यादिमूर्त्तिरहितस्त्वातिवाहिकदेहवान् ।
पृथ्व्यादयः किल कुतः संकल्पपुरुषस्य खे ॥ ४७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, इनके यही सब रहनेके स्थान हैं, इसी तरहके आकारके तथा ऐसे ही आचारके वे पिशाच होते हैं, यह सब मैंने आपसे कह दिया अर्थात् आपने जो प्रश्न किया था कि वे किस आकारके होते हैं उनका आचार क्या है तथा वे कहाँ रहते हैं, इसका उत्तर मैंने आपको दे दिया। अब इनका आप यह जन्म सुनिये ॥ ४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, कार्यब्रह्मसे विलक्षण जो मायाशबल ब्रह्म है, वह समस्त शक्तियोंके स्वभावसे विषयका सङ्कल्प करते हुए मनोमय पुरुषके समान भीतर अवबुद्ध होकर स्वरूपसे जो स्थित है उसीको जीवनामक प्रथम अङ्कुर समझिये। अभिमानसे परिपूर्ण वही अहङ्कार कहा गया है तथा परिपुष्ट हुए उस अहङ्कारको ही उन महानुभावोंने, जिन्हें आत्माका आविर्भाव हो गया है, मन कहा है ॥ ४३,४४ ॥

वह मनरूप जो जीव है वही समष्टिरूपसे सङ्कल्पाकाशरूपधारी ब्रह्मा कहलाता है। असद्रूप इस जगत्का बीज भी एकमात्र असद्रूप ही है, उसकी कोई आकृति नहीं है ॥ ४५ ॥

इस प्रकार मन ही ब्रह्मा बनकर स्थित है। वह ब्रह्मा सदेह होनेपर भी निर्मल आकाशरूप ही है। स्वप्नके पुरुषके आकारके सदृश उपस्थित रहनेपर भी उसका वह शरीर असत् ही है ॥ ४६ ॥

पृथ्वी आदि पञ्चभूतोंकी मूर्तिसे रहित होनेपर भी वह ब्रह्मा सूक्ष्म शरीरसे

भवन्मनो यथाकाशपुरं पश्यति कल्पितम् ।
तथा मनो विरञ्चित्वं पश्यत्यात्मनि कल्पितम् ॥ ४८ ॥
यद्वेत्ति कल्पितं तत्सत्पश्यत्यनुभवत्यपि ।
यो यावन्मात्रकस्तत्स कस्मात्किल न पश्यति ॥ ४९ ॥
स यत्पश्यति तत्तादृक् शून्यात्मा शून्यमम्बरे ।
ब्रह्म ब्रह्मणि वा ब्रह्मा तदिदं जगदुच्यते ॥ ५० ॥
तथा संप्रतिभासोऽस्य चिरकालैकभावनात् ।
घनीभूतः स्थितः पुष्टः सुदीर्घस्वप्नसुन्दरः ॥ ५१ ॥
आतिवाहिकदेहस्य तस्य तच्चिरभावनात् ।
सर्गानुभवनं भूरि ब्रह्मणो ब्रह्मरूप्यपि ॥ ५२ ॥
गतं प्रकटतोत्कर्षादाधिभौतिकदेहताम् ।
तेनैव सर्ग इत्युक्तो भेदसन्ततिभासुरः ॥ ५३ ॥

सम्पन्न है। हे श्रीरामचन्द्रजी, आप ही सोचिये कि आकाशमें सङ्कल्पपुरुषके पृथ्वी आदि कहाँसे हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

आपका मन जैसे आकाशमें कल्पित नगरका अवलोकन करता है, वैसे ही अपनेमें कल्पित विरञ्चिरूपताका भी अवलोकन करता है ॥ ४८ ॥

एकमात्र यह कारण है कि वह ब्रह्मा अपने जिस जिस सङ्कल्पको जानता है तत्तत् पदार्थोंके आकारसे उसका अवलोकन करता है। और स्वयं उसका अनुभव भी करता है। जो जिस परिमाणका जीव है वह सब चिद्रूप सत् ही है। इसलिये ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न वह क्यों न अवलोकन करे ॥ ४९ ॥

निराकार मनरूप वह ब्रह्मा ब्रह्मस्वरूप चिदाकाशमें एकमात्र जिस शून्य स्वरूप ब्रह्माण्डाकारका अवलोकन करता है वही जगत् कहलाता है ॥ ५० ॥

तथा इसका प्रतिभास ही इस समय चिरकालकी एकमात्र भावनासे घनीभूत पुष्ट होकर सुदीर्घ स्वप्नके समान सुन्दर अवस्थित है ॥ ५१ ॥

सूक्ष्मशरीरधारी उस ब्रह्मका यह सर्गानुभव ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी चिरकालकी भावनासे अधिक प्रकटताके उत्कर्षसे यानी अधिक प्रकट होनेसे आधिभौतिक शरीरताको प्राप्त हो गया है, जो अनेक भेदसमूहोंसे भासुर है, ॥५२,५३ ॥

स ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्ममात्रात्मनोस्तयोः ।
अजातयोरेव सदा तदात्मजगतोर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
अभिन्नयोरेव भृशं शून्यत्वाम्बरयोरिव ।
ऐकात्म्येनैव वसतोः पवनस्पन्दयोरिव ॥ ५५ ॥
वेत्ति भूतमयत्वं तन्मिथ्यैव न तु वास्तवम् ।
तथा यथा त्वं संकल्पपुरुषस्य सतोऽसतः ॥ ५६ ॥
ततः शरीरधातूनां तेन पृथ्व्यादिकाः कृताः ।
अभिधाः पञ्च चित्पुष्टा जगदित्येव ताः स्थिताः ॥ ५७ ॥
यथा त्वसत्य एवाऽयं संकल्पः सत्य एव ते ।
तथाऽसावात्मसंकल्पं सत्यमेवाऽनुभूतवान् ॥ ५८ ॥
स स्वयं चिन्मयाकाशः ससंकल्पश्चिदम्बरम् ।
अतः स्वप्नो जगत्सर्वं कृतौ नाशोद्भवौ स्थितौ ॥ ५९ ॥

वह ब्रह्मा ब्रह्ममात्रात्मा ब्रह्मस्वरूप ही हैं। ब्रह्मात्मरूप जीव और जगत्, ये दोनों अनुत्पन्न हैं तथा ये दोनों ऐसे अभिन्न हैं जैसे कि आकाश और शून्यत्व और ये दोनों ऐसे एक रूपसे स्थित हो रहे हैं जैसे कि पवन और स्पन्दन ५४,५५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, जैसे आप अपने सङ्कल्पपुरुषमें तथा असत् होते भी सद्रूप नगर आदिमें पृथ्वी आदि पञ्चभूतमयता देखते हैं वैसे ही ब्रह्माजी भी इन दोनोंमें भूतमयता देखते हैं। परन्तु वह भूतमयता मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ५६ ॥

भूतमयता देखनेके बाद ब्रह्माण्डात्मक अपने शरीरके धातुओंके कठिन एवं द्रवीभूत भागोंकी, जो चितिसत्तासे पुष्ट हैं, पृथ्वी आदि पाँच संज्ञाएँ उन्होंने की हैं। वे ही पाँचों मिलकर 'जगत्' इस नामसे प्रसिद्ध होकर स्थित हैं ॥ ५७ ॥

जैसे आप अपने असत्य सङ्कल्पको बिलकुल सत्यरूप ही अनुभव करते हैं वैसे ही उस ब्रह्माने भी अपने सङ्कल्पको सत्यरूप ही अनुभव किया ॥ ५८ ॥

जैसे वह ब्रह्मा स्वयं चिन्मयाकाश ही हैं वैसे ही परमार्थतः उनका सङ्कल्प भी चिदाकाशरूप ही है। अतः यह समस्त जगत् उस ब्रह्मदेवका एक स्वप्न है तथा उनके सङ्कल्पजनित इसके नाश और प्रादुर्भाव भी दोनों स्वप्नके तुल्य स्थित हैं ॥ ५९ ॥

यथैवैतन्मनः सत्यं तदंशाः सत्यमेव ते ।
तथैव तत्कृताश्चन्द्ररुद्रार्केन्दुमरीचयः ॥ ६० ॥
एवं स्थिते जगज्जालं तन्मनोराज्यमुच्यते ।
तच्च शून्यं निरालम्बमाकाशकचनं चिति ॥ ६१ ॥
यथा स्वप्नपुरं व्योम संकल्पाद्रिर्यथा नभः ।
तथा ब्रह्मजगच्चैव खमेवाऽच्छमनाकृति ॥ ६२ ॥
एवमाभासमात्रस्य कचतोऽनिशमव्ययम् ।
सर्गादिमध्यान्तदशो मुधैवाऽत्रोदिताः स्थिताः ॥ ६३ ॥
किंचिदाकाशकोशस्य तव वा मम वाऽनघ ।
जगतो वाऽपि जायेत किं वा नश्यति मे वद ॥ ६४ ॥

तब उनके द्वारा निर्मित हुए चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सर्वविध अर्थक्रियामें हेतु कैसे हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'यथैवै०' इत्यादिसे ।

जैसे यह मनरूप ब्रह्मदेव सत्य हैं वैसे ही उनके द्वारा निर्मित हुए उनकी वृत्तिरूप वे चन्द्र, रूद्र, सूर्य तथा चन्द्रकिरण आदि भी सत्य ही हैं यानी प्रवृत्ति आदि अर्थ-क्रियाके सम्पादनमें समर्थ हैं ॥ ६० ॥

ऐसी स्थितिमें यह समस्त जगत् सत्य उस ब्रह्मदेवका एकमात्र मनोराज्य ही कहा जाता है और यह सब चितिमें निरालम्ब शून्य आकाशका स्फुरणरूप ही है ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्नका नगर चिदाकाशरूप है जैसे सङ्कल्पका पर्वत चिदाकाश स्वरूप है वैसे ही ब्रह्मदेवका यह जगत् निराकार स्वच्छ चिदाकाशरूप ही है ॥६२॥

इस तरह एकमात्र आभासस्वरूपसे सर्वदा स्फुरित हो रहे इस जगत्की जन्म, स्थिति और प्रलयकी प्रतीतियाँ मिथ्या ही यहाँ उदित होकर स्थित हैं । हे श्रीराम-चन्द्रजी, यथार्थमें तो एकमात्र अविनाशी वह ब्रह्म ही सर्वत्र स्थित है ॥ ६३ ॥

एकमात्र यही कारण है कि आत्माकी चिदाकाशरूपताका अनुसन्धान करनेपर आपके, मेरे या अन्य किसीके भी ये सर्ग आदि कुछ भी नहीं हैं, यह कहते हैं—**'किञ्चिदा०'** इत्यादिसे ।

इसलिए हे निष्पाप श्रीरामचन्द्रजी, यह मुझसे कहिये कि चिदाकाशस्वरूप मेरा, आपका या संसारका ही क्या उत्पन्न होता है तथा क्या नष्ट होता है ॥ ६४ ॥

तत्किमर्थमनर्थाय　निरर्थकमपार्थकाः ।
कस्मादभ्युदिता ब्रूहि रागद्वेषभयादयः ॥ ६५ ॥
वस्तुतोऽङ्ग न सर्गादिर्न सर्गो नाऽप्यसर्गता ।
विद्यते सकृदाभातमिदमित्थं सदैव तत् ॥ ६६ ॥
आशून्ये विपुलाभोगे स्वच्छचिज्जलपूरिते ।
कलनापङ्ककलिले भविष्यति चिदम्बरे ॥ ६७ ॥
अन्तरिक्षाक्षयक्षेत्रे स्वात्मनो गगनात्मिका ।
तस्माद्बीजादियं जाता भूरिभूतशिलावलिः ॥ ६८ ॥
नाऽस्ति किंचिदिह क्षेत्रं व्युप्तं नाम न किंचन ।
न बीजमस्ति नो जातं किंचित्सर्वं च संस्थितम् ॥६९॥

कहिये यह निरर्थक संसार क्यों अनर्थके लिए उदित हुआ है ? बिना किसी मतलबके यानो बिलकुल अर्थशून्य ये राग, द्वेष, भय, रोग आदि क्यों उदित हुए हैं ? ॥ ६५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वस्तुतः न तो सृष्टिका कोई कारण है, न सर्गता है और न असर्गता ही है, किन्तु सिर्फ एक बार अवभासित हुआ पुनः आवरण होनेके कारण प्रपञ्चरूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त यह प्रत्यग्रूप ब्रह्म ही सर्वदा विद्यमान है ॥ ६६ ॥

सर्वदा शून्य, विपुल आभोगवाले, स्वच्छ चितिरूपी जलसे परिपूर्ण,, चिदाकाशरूपी अविनाशी क्षेत्र (खेत) के अज्ञानकल्पनारूपी पङ्कसे व्याप्त होनेपर उसमें उस चिदाकाशस्वरूप बीजसे ही चिदाकाशात्मक यह अनन्त पञ्चभूतरूप ब्रह्माण्डबीजशिलाओंकी पङ्क्ति उत्पन्न हुई हैं और आगे चलकर भी होगी ॥६७, ६८॥

कल्पनारूपी पङ्कके अभावमें बतलाते हैं—'नाऽस्ति' इत्यादिसे ।

वस्तुतः यहाँपर न तो कोई खेत है, न कुछ उसमें बोया गया है, न कोई बीज है और न कुछ उत्पन्न ही हुआ है, किन्तु एकमात्र कल्पनासे सब कुछ यहाँ स्थित है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार पिशाचजातिके वर्णनके प्रसङ्गसे सृष्टिके तत्त्वका वर्णन करके अब प्रस्तुत विषयके अनुकूल होनेसे पूर्ववर्णित पञ्चभूतशिलाके अवयव आदि रूपसे भिन्न-भिन्न जातियाँ दिखलाते हैं—'याः' इत्यादिसे ।

या: शिलावलयस्तत्र पुष्टास्ता विबुधादयः ।
यास्तु वर्णोज्ज्वला एताः स्वास्थिता बुद्धबुद्धयः ॥७०॥
यास्त्वर्धपक्कास्ता एता नरनागादिजातयः ।
यास्त्वश्याना रजोनष्टास्ताः कृमिस्थावरादयः ॥ ७१ ॥
यास्तु गुर्व्यः फलैर्हीनाः शून्याकाराः क्षयक्षताः ।
अशरीराः शरीरिण्यस्ताः पिशाचादिकाः स्मृताः ॥७२॥
नहि संकल्पितुः स्वेच्छा कचित्पर्यनुयुज्यते ।
तास्तथेच्छा विरिञ्चस्य तथा नाम तथोदिताः ॥ ७३ ॥
सर्वा एव चिदाकाशरूपिण्यो भूतजातयः ।
आतिवाहिकदेहिन्यः पृथ्व्यादिरहितात्मिकाः ॥ ७४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उस कल्पनारूपी पङ्कसे व्याप्त उस चिदाकाशरूपी खेतमें जो ब्रह्माण्डरूपी शिलाओंकी अनेक पङ्क्तियाँ परिपुष्ट हुई हैं, वे सब देव आदि जातियाँ हैं । [यह सामान्यरूपसे कहा गया है, अब विशेषरूपसे उनका विभाग करके कहते हैं—'यास्तु' से] इनमें जो अत्यधिक सौन्दर्यसे उज्ज्वल रत्नरूप हैं, वे तो देव, ऋषि आदिकी जातियाँ हैं ॥ ७० ॥

इनमें जो शिलाएँ अर्ध उज्ज्वल हैं वे नर, नाग आदि की जातियाँ हैं तथा जो मलिन और रजोगुणसे दूषित शिलाएँ हैं वे सब कृमि, कीट, स्थावर आदि हैं ॥ ७१ ॥

इनमें जो बड़ी, बड़ी वजनदार, कान्ति, प्रकाश आदि फलोंसे हीन, शून्याकार, क्षयक्षत, देहाकारसे रहित तथा शरीरसे युक्त शिलाएँ हैं वे सब पिशाच आदि कही गई हैं ॥ ७२ ॥

उस खेत में उत्तम देवादिरूप रत्न ही पैदा होवें, यही सङ्कल्प हिरण्यगर्भको क्यों नहीं हुआ, वृथा पाषाणरूप पिशाचादि जातियाँ पैदा करनेका उनका क्यों सङ्कल्प हुआ, यह आक्षेप आप सङ्कल्प करनेवाले विधाताकी इच्छाके ऊपर कदापि नहीं कर सकते, क्योंकि विधाताकी वे इच्छाएँ पैदा होनेवाले जीवोंके पूर्वजन्मकी कर्मवासनाके अनुसार ही हुई हैं, अतएव वे पिशाचजातियाँ भी वैसी ही यानी अपने पूर्वजन्म की कर्मवासनाके अनुसार ही उदित हुई हैं ॥ ७३ ॥

शिलारूपताकी उत्प्रेक्षा करनेके बाद अब भूतजातियोंमें प्रसक्त भौतिकताका वारण करते हैं—'सर्वा एव' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वास्तवमें तो सभी भूतजातियाँ पृथिवी आदि पञ्चभूतोंसे रहित

ताश्चिराभ्यासवशतस्त्वाधिभौतिकसंविदम् ।
प्राप्ता दीर्घानुभवनात्स्वप्नजाग्रद्दशामिव ॥ ७५ ॥
पिशाचाद्यास्तथा एते तथा भूताधिभौतिकाः ।
तिष्ठन्ति तुष्टमनसः स्वसंसारविहारिणः ॥ ७६ ॥
पश्यन्ति काश्चिदन्योन्यं ग्राम्या ग्राम्येयकानिव ।
स्वप्नैकलोकवास्तव्या इवैता भूतजातयः ॥ ७७ ॥
काश्चिद्बहु नरप्राप्तस्वप्ननिर्माणलोकवत् ।
नाऽन्योन्यमपि पश्यन्ति नानासंस्थानसंस्थिताः ॥७८॥

स्वरूपव्यापी मनोरूप सूक्ष्मदेहसे युक्त चिदाकाशरूप ही हैं ॥ ७४ ॥

तब हम लोगोंकी देहमें भौतिकताका अनुभव कैसे होता है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'ताश्चिराभ्यास०' इत्यादिसे ।

चिरकालके अभ्यासके वश वे सबके सब आधिभौतिक संवित्‌को ऐसे प्राप्त हो गये हैं जैसे दीर्घकालके अनुभवसे यानी दीर्घकालकी भावनासे स्वप्न जाग्रत् ? दशाको प्राप्त होता है ॥ ७५ ॥

ये पिशाच आदि भी चिरकालके अभ्याससे आधिभौतिक रूपताको प्राप्त होकर अपने संसारमें विहार करते हुए अपनी योनिके भोग्य भोगोंसे सन्तुष्टचित्त हो अवस्थित रहते हैं । तात्पर्य यह कि उनकी पिशाच देह और कुत्सित भोग भी उन्हें अत्यन्त प्रिय ही लगते हैं, बीभत्स नहीं ॥ ७६ ॥

स्वप्नलोकमें निवास करनेवालोंके सदृश कोई कोई पिशाचोंकी ये जातियाँ भी परस्पर एक दूसरेको इस तरह देखती हैं [यानी दर्शन आदिके द्वारा एक दूसरे के साथ ऐसे व्यवहार करती हैं,] जैसे गाँवमें रहनेवाले प्राणी गाँवके निवासियोंको ॥ ७७ ॥

इनकी नाना संस्थानोंमें अवस्थित कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं, जो बहुधा मनुष्यके स्वप्नमें निर्मित होनेवाले लोगोंकी तरह परस्पर भी नहीं देखती ॥ ७८ ॥

पिशाचजातियोंकी तरह कुम्भाण्डादि जातियोंकी भी प्रायः सूक्ष्मदेहता होती है तथा इनमें भी चेष्टा आदि ठीक वैसे ही पाये जाते हैं, यह कहते हैं—'**स्थिता**' इत्यादिसे ।

स्थिता यथैता जगति पिशाचाद्याः कुजातयः ।
प्रायस्तथैताः कुम्भाडयक्षप्रेतादयः स्थिताः ॥ ७९ ॥

यथा तत्रेह वै निम्ना जलं तत्राऽवतिष्ठते ।
तथा यत्र पिशाद्यास्तमस्तत्राऽवतिष्ठते ॥ ८० ॥

मध्याह्नेऽपि पिशाचश्चेदजिरे तिष्ठति स्वयम् ।
तत्तस्याऽन्धं तमस्तत्र संनिधानं करोत्यलम् ॥ ८१ ॥

न निहन्ति च तद्भानुर्न चान्यस्तत्प्रपश्यति ।
स एव चाऽनुभवति पश्य मायाविजृम्भितम् ॥ ८२ ॥

अग्नेरादित्यचन्द्रादेस्तैजसं मण्डलं यथा ।
पिशाचादेरजन्यात्म तामसं मण्डलं तथा ॥ ८३ ॥

हे श्रीरामचन्दजी, इस संसारमें जैसे पिशाच आदि दुष्ट जातियाँ स्थित हैं प्रायः वैसे ही ये कुम्भाण्ड, यक्ष तथा प्रेत आदि भी स्थित हैं ॥ ७९ ॥

जैसे ऊँच-नीच जमीनके तारतम्यमें जलकी स्थितिमें तारतम्य रहता है वैसे ही पापके तारतम्यसे उनमें तमोगुणका तारतम्य स्थित रहता है, यह कहते हैं— **'यथा तत्रेह'** इत्यादिसे।

जैसे इस संसारमें गहरी जमीनमें जल स्थित रहता है वैसे ही जहाँ पिशाच आदि रहते हैं वहाँपर उनके पापके तारतम्यसे थोड़ा-वहुत तमोगुण भी स्थित रहता है ॥ ८० ॥

यदि मध्याह्नकालमें धूपसे युक्त आँगनमें भी पिशाच विद्यमान रहे, तो वहाँपर भी घोर अन्धकार अच्छी तरह उसकी सन्निधि करता ही है यानी उसके सम्मुख अवस्थित हो ही जाता है ॥ ८१ ॥

उस अन्धकारको सूर्य नहीं नष्ट करते और उसको दूसरा कोई देखता भी नहीं है। एकमात्र वह पिशाच ही उसका अनुभव करता है। हे श्रीरामचन्द जी, देखिये मायाका विकास कैसा है ॥ ८२ ॥

जैसे हम लोगोंके प्रकाशके लिए अग्नि तथा सूर्य आदिका तैजसमण्डल विद्यमान है वैसे ही पिशाच आदिकोंकी व्यवहारसिद्धिके लिए इन्धन आदिसे अनुत्पन्नस्वरूपवाला तामस-मण्डल विद्यमान रहता है ॥ ८३ ॥

याति तेजस्यनोजस्त्वं तमस्योजःप्रधानताम् ।
उलूकवत्पिशाचाद्या आश्चर्यं तत्स्वभावतः ॥ ८४ ॥

एषा पिशाचाजनितस्य जातिः
प्रोक्ता मया ते समयानपेता ।
पिशाचतुल्यः सुरलोकपाल-
लोकेषु जातोऽहमिति प्रसङ्गात् ॥ ८५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणो-रैक्यप्रतिपादनं नाम चतुर्नवतितमः सर्गः ॥९४॥

उलूकके समान पिशाच आदि अपने स्वभावसे ही प्रकाशमें निर्बल हो जाते हैं और अन्धकारमें ओजकी प्रधानताको प्राप्त हो जाते हैं यानी प्रबल हो जाते हैं। देखिये, यह कैसा आश्चर्य है ॥ ८४ ॥

हे श्रीरामचन्द्जी, पिशाचयोनिमें उत्पन्न जीवकी जातिका मैंने आपसे वर्णन कर दिया, जैसा कि आपने मुझसे पूछा था। पूछी गई बातोंका अवश्य उत्तर देना ही चाहिये, यह व्याख्याताओंका सम्प्रदाय है, इससे शून्य यह पिशाच-जाति न थी। अर्थात् सुरलोकपालोंके लोकोंमें मैं पिशाचतुल्य हो गया, यह जो मैंने आपसे कहा था, उसीके प्रसङ्गमें आपने मुझमें पिशाचजातिके विषयमें पूछ दिया था [1] ॥ ८५ ॥

चौरानबे सर्ग समाप्त

---

[1] एकमात्र यही कारण है कि मैंने पिशाचजातिके विषयमें आपसे वर्णन किया है, अन्यथा यहाँ इसके वर्णनकी कोई आवश्यकता न थी।

पञ्चनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततश्चिदाकाशवपुर्भूतपञ्चकवर्जितः ।
विहरन्नहमाकाशे पिशाच इव संस्थितः ॥ १ ॥
न मां पश्यन्ति चन्द्रार्कशक्रा हरिहरादयः ।
न देवसिद्धगन्धर्वकिन्नरा नाऽप्सरोगणाः ॥ २ ॥
नाऽऽक्रामन्ति मयाऽऽक्रान्ता न च शृण्वन्ति मद्वचः ।
इत्यहं मोहमापन्नो विक्रीत इव सज्जनः ॥ ३ ॥
अथ चिन्तितवानस्मि सत्यकामा इमे वयम् ।
पश्यन्तु मां सुरगणास्तेन तस्मिन् सुरालये ॥ ४ ॥
द्रष्टुं प्रवृत्ता मामग्रेवास्तव्याः सर्व एव ते ।
झटित्येव पुरं प्राप्तमिन्द्रजालद्रुमं यथा ॥ ५ ॥

पञ्चानबे सर्ग

[सत्यसङ्कल्पताकी स्मृतिसे पुनः प्राणियोंके साथ व्यवहार तथा अपने आकाश-वसिष्ठ आदि नामोंकी प्राप्तिका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, तदनन्तर उस समय पञ्चभूतोंसे रहित केवल चिदाकाशमात्र शरीरधारी मैं पिशाचके सदृश आकाशमें विहार करता हुआ स्थित था ॥१॥

उस समय मुझे न तो सूर्य, चन्द्र, इन्द्र तथा हरि, हर आदि देख पाते थे और न सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर तथा अप्सराएँ ही देख पाती थीं ॥ २ ॥

मैं पादन्यास, आरोहण आदिके द्वारा उनके ऊपर आक्रमण करता था, परन्तु वे मेरे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकते थे। वे लोग मेरा वचन भी नहीं सुन सकते थे, इसलिये मैं मोहको प्राप्त हो गया—मुझे पूर्वापरकर्तव्यताका कुछ भी प्रतिसन्धान न रहा। अतः हे श्रीरामचन्द्रजी, उस समय मैं विक्रीत सज्जनके समान हो गया ॥३॥

इसके अनन्तर मैंने विचार किया कि हम तो सत्यकाम हैं, इसलिए मैंने यह सङ्कल्प किया कि ये देवगण मुझे देखें। मेरे सङ्कल्प करते ही देवलोकवासी उन देवताओंमें सबके-सब ही, जो मेरे सामने रह रहे थे, नगरमें प्राप्त इन्द्रजाल-वृक्षके सदृश मुझे देखनेमें शीघ्र ही प्रवृत्त हो गये ॥ ५ ॥

अथ गीर्वाणगेहेषु सम्पन्नो व्यवहार्यहम् ।
यथास्थितसमाचारः स्थितो निःशङ्कचेष्टितः ॥ ६ ॥
यैरविज्ञातवृत्तान्तैर्दृष्टोऽहमजिरोत्थितः ।
वसिष्ठः पार्थिव इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ७ ॥
व्योमन्यादित्यरश्मिभ्यो दृष्टोऽहं यैर्नभोगतैः ।
वसिष्ठस्तैजस इति लोकेषु प्रथितोऽस्मि तैः ॥ ८ ॥
वातात् समुदितो दृष्टो यैरहं गगनास्पदैः ।
सिद्धैर्वातवसिष्ठाख्यस्तैरहं समुदाहृतः ॥ ९ ॥
यैरहं सलिलाद् दृष्टः प्रोत्थितस्तैर्मुनीश्वरैः ।
उक्तो वारिवसिष्ठोऽहमिति मे जन्मसन्ततिः ॥ १० ॥
ततःप्रभृति लोकेऽहं पार्थिवः प्रथितः क्वचित् ।
अम्मयः क्वचिदन्येषां तैजसो मारुतः क्वचित् ॥ ११ ॥

इसके बाद हे श्रीरामचन्द्रजी, उन देवताओंके घरोंमें सर्वविध शङ्काओंसे शून्य चेष्टावाला तथा यथास्थित अपने सब आचारोंसे सम्पन्न मैं सम्भाषण आदिके द्वारा व्यवहरणशील हो गया। वहाँ उनके साथ अब मेरा कोई संकोच नहीं रह गया था ॥ ६ ॥

जिन महानुभावोंको मेरा वृत्तान्त मालूम नहीं था, उन लोगोंने सर्वप्रथम मुझे आँगनमें आविर्भूत हुआ देखा। अतः उस पृथ्वीसे ही मेरी उत्पत्तिकी कल्पना करते हुए उन सज्जनोंने पार्थिव वसिष्ठ नामसे लोकोंमें मुझे प्रसिद्ध कर दिया ॥ ७ ॥

मुझे आकाशवासी जिन महानुभावोंने आकाशमें भगवान् सूर्यदेवकी किरणोंसे निकला हुआ देखा, उन्होंने तैजस वसिष्ठ नामसे मुझे विख्यात किया ॥ ८ ॥

तथा मुझे आकाशवासी जिन सिद्धोंने वायुमण्डलसे आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगोंके द्वारा मैं वातवसिष्ठ कहा जाने लग गया ॥ ९ ॥

जिन मुनीश्वरोंने मुझे जलसे आविर्भूत हुआ देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम से पुकारा। हे श्रीरामचन्द्रजी, इस प्रकार विभिन्न कल्पनाओं द्वारा मेरी यह जन्मपरम्परा है अर्थात् जिन जिन महानुभावोंने जहाँसे मुझे जैसे निकलते देखा उन्होंने वैसे ही मेरे नाम और जन्मकी कल्पना कर दी ॥ १० ॥

तभीसे मैं लोकोंमें कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस और कहींपर मारुत वसिष्ठ नामसे अन्यान्य लोगों द्वारा प्रसिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

अथ कालेन मे तत्र तस्मिन्नेवाऽऽतिवाहिके ।
आधिभौतिकता देहे रूढा रूढान्तरेरिता ॥ १२ ॥
यदेतदातिवाहित्वमाधिभौतिकता च खम् ।
द्वयमप्येकदेहात्म ततः कचति मे चितिः ॥ १३ ॥
एवमात्म क्वचिद् व्योमकचनात्माऽप्यहं नभः ।
परमेव निराकारं युष्मास्वाकारवानपि ॥ १४ ॥
जीवन्मुक्तो व्यवहरंस्तथाऽऽस्ते ब्रह्मखात्मकः ।
तथैवाऽदेहमुक्तोऽपि तिष्ठति ब्रह्ममात्रकः ॥ १५ ॥

इसके अनन्तर काल पाकर मेरे उसी सूक्ष्म शरीरसे आधिभौतिकता प्रादुर्भूत हुई, जो चिरकालके अभ्याससे परिणत हुए मनसे प्राप्त हुई थी यानी मनसे ही प्राप्त की गई ॥ १२ ॥

तब अज्ञ प्राणियोंकी नाईं भौतिक देहवाले ही आप क्यों नहीं हुए, इसपर कहते हैं—**'यदेतत्'** इत्यादिसे ।

चूँकि आतिवाहिकता (सूक्ष्मता) और आधिभौतिकता—ये दोनों ही चिदाकाशरूप ही हैं। चिदाकाशरूपसे एक ही देहात्मा है, यही मैंने तत्त्वतः समझा है इसलिए हे श्रीरामचन्द्रजी मेरी चिति ही आत्मभावसे स्फुरित होती है, न कि देहात्मभावसे देहात्मभाव स्फुरित है ॥ १३ ॥

इस तरह कहीं आकाशादि पञ्चभूतरूपसे स्फुरित होनेपर भी मैं चिदेकस्वभाव निराकार परम चिदाकाशरूप ही हूँ ।

तब आप आकारयुक्त कैसे दिखाई देते हैं, इस आशङ्कापर कहते हैं—**'युष्मास्वा०'** से । लेकिन आप लोगोंमें उपदेशादि व्यवहारकी सिद्धिके लिए आकारवान् भी मैं दीखता हूँ ॥ १४ ॥

वस्तुतः सदेह और विदेह मुक्त—ये दोनों एक ही रूपके हैं, यह कहते हैं—**'जीवन्मुक्तः'** इत्यादिसे ।

जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ ब्रह्माकाशरूपसे स्थित रहता है वैसे ही विदेहमुक्त भी ब्रह्माकाशरूपसे ही अवस्थित रहता है ॥ १५॥

मम न ब्रह्मतापेता तादृग्व्यवहृतेरपि ।
असंभवादन्यदृशो युष्मदादिष्वहं त्वहम् ॥ १६ ॥
यथाऽज्ञस्य स्वप्ननरे निर्जन्मनि निराकृतौ ।
आधिभौतिकताबुद्धिस्तथा मे जगतोऽपि च ॥ १७ ॥
एवमेवाऽवभासन्ते सर्वं एव स्वयंभुवः ।
सर्गाश्च न तु जायन्ते प्रयाता इव चोदिताः ॥ १८ ॥
एष सोऽहमिहाऽऽकाशवसिष्ठः पुष्टतामिव ।
गतोऽद्य स्वात्मनाऽभ्यासाद्भवतां वा भवत्स्थितिः १९ ॥
आकाशात्मान एवैते सर्वं एव स्वयंभुवः ।
यथात्वे तन्मनोमात्रमिमे सर्गास्तथैव हि ॥ २० ॥

ब्रह्मसे अन्य दृष्टिका संभव न होनेसे वैसा व्यवहार करते रहनेपर भी मेरी ब्रह्मता नष्ट नहीं हुई—ज्योंकी त्यों स्थित रही। तथा आप जैसे सज्जनोंके बीच उपदेश देनेके लिए मैं वसिष्ठदेहसे स्थित हूँ ॥ १६ ॥

तब आपका यह कथन कैसे ठीक समझा जाय कि शून्य देहमें आधिभौतिकता रूढ हुई, इस शङ्कापर कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे।

निराकार तथा जन्मशून्य स्वप्नके मनुष्यमें अज्ञानीको जैसे आधिभौतिकता बुद्धि होती है वैसे ही मुझे तथा अन्य जगत्को भी होती है ॥ १७ ॥

इसी तरह ब्रह्माके शरीर तथा तत्कृत सर्ग जो जगत् तथा अन्य लोगोंको उदित हुए-जैसे अवभासित हो रहे हैं वे सबके-सब परकी दृष्टिसे ही आधिभौतिक हैं। वस्तुतः वे नहीं हैं, वे तो कभी उत्पन्न ही नहीं होते ॥ १८ ॥

वह जो मैं आकाशवसिष्ठ हूँ, सो आज यहाँ अपने मनके अभ्याससे ही परिपुष्टताको मानो प्राप्त हुआ हूँ। अथवा आपके मनके अभ्याससे आपकी बुद्धिके अनुसार यह मेरी भौतिकदेहस्थिति है ॥ १९ ॥

मेरी अपनी दृष्टिसे जैसे यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक है वैसे ही हिरण्यगर्भकी अपनी दृष्टिसे भी यह जगत् ब्रह्माकाशात्मक ही है, यह कहते हैं—'**आकाश०**' इत्यादिसे।

मेरे ही समान ब्रह्माकी दृष्टिमें आये जितने सर्ग हैं, वे सबके-सब ब्रह्माकाशात्मक ही हैं जैसे स्वयं ब्रह्माजी मनोमात्र हैं वैसे ही उनकी सब सृष्टि भी है। अतः परीक्षकदृष्टिसे यह सब जगत् मनोमात्र ही है ॥ २० ॥

अहमादिरयं सर्गस्त्वपरिज्ञानदोषतः ।
वेताल इव बालानां गतो वो वज्रसारताम् ॥ २१ ॥
परिज्ञातस्तु कालेन स्वल्पेनैवोपशाम्यति ।
वासनातानवात्स्नेहो बन्धौ दूरगते यथा ॥ २२ ॥
घनत्वमहमासाद्य तथा सर्वस्य शाम्यति ।
परिज्ञाता यथा स्वप्ननिधेरादेयभावना ॥ २३ ॥
शाम्यन्ति संपरिज्ञाताः सकला दृश्यदृष्टयः ।
यथा मरुनदीवेगवारिग्रहणबुद्धयः ॥ २४ ॥
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
एतदासाद्यते नित्यं किमेतावति दुष्करम् ॥ २५ ॥
संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः ।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः २६

'अहम्', 'त्वम्', जगत् आदि सारी सृष्टि अपरिज्ञानके दोषसे आप अज्ञ जनोंकी दृष्टिमें वज्रके तुल्य ऐसे ही दृढ़ताको प्राप्त हो गई है जैसे कि बालकोंकी दृष्टिमें वेताल ॥ २१ ॥

दूर गये हुए स्वजनमें जैसे काल पाकर वासना कम हो जानेसे स्नेह उपशान्त हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, यथार्थ रूपमें जब यह संसार खूब परिज्ञात हो जाता है तब यह थोड़े ही समयके बाद उपशान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

ज्ञान होनेपर अहङ्काररूप स्थूलता सबकी ऐसे शान्त हो जाती है, जैसे कि भली भाँति ज्ञात हो जानेपर स्वाप्निक धनमें उपादेयताकी वासना ॥ २३ ॥

ये समस्त दृश्यदृष्टियाँ भली भाँति ज्ञान हो जानेपर ऐसे बिलकुल शान्त हो जाती हैं, जैसे मरुभूमिकी नदीके वेगमें जलग्रहणकी बुद्धियाँ ॥ २४ ॥

महारामायणके सदृश शास्त्रोंके एकमात्र अवलोकनसे ही यह जीवन्मुक्तत्व सदा प्राप्त किया जा सकता है। इतनेमें क्या दुष्करता है ॥ २५ ॥

संसारमें अधिक आसक्तिके कारण जो अध्यात्मशास्त्रसे पराङ्मुख रहता है, उसकी निन्दा करते हैं—'संसार०' इत्यादिसे ।

जिस प्राणीकी बुद्धि संसारवासनावश देहेन्द्रियभोग्यादिरूप अवस्तु स्वभावमें संसक्त रहती है। मोक्षविषयमें जिसकी आकांक्षा नहीं होती वह प्राणी कुत्ता है अथवा

भोगाभोगः किलाऽयं यः स जीवन्मुक्तबुद्धिना ।
कीदृशो भुज्यमानः स्यात्कीदृक्स्यान्मौर्ख्यसेविना २७
महारामायणप्रायशास्त्रप्रेक्षणमात्रतः ।
अन्तःशीतलतोदेति पराऽर्थेषु हिमोपमा ॥ २८ ॥
मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः संतप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नाऽर्थित्वमहो लोकस्य मूढ़ता ॥ २९ ॥

कीट है, मनुष्य नहीं है* क्योंकि जैसी अपवित्रता तथा भोगोंमें आसक्ति कुत्तों तथा कीट-पतङ्गोंमें पायी जाती है वैसे ही अपवित्रता एवं भोगोंमें आसक्ति उस प्राणीमें भी विद्यमान है ॥ २६ ॥

जैसे अत्यन्त पवित्र हविः पुरोडाशादिरूप ही अन्न देव, द्विज आदि खाते हैं तथा उच्छिष्ट, पुरीष आदि अपवित्र पदार्थ कुत्ते एवं कीट, पतङ्ग आदि सब खाते हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त महानुभाव लोग शुद्धचिन्मात्रानन्दस्वरूप शास्त्रादि भोगोंका उपभोग करते हैं, किन्तु जो मूर्ख हैं वे लोग अत्यन्त, अपवित्र विषयरूप भोगका उपभोग करते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**भोगाभोगः**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन्मुक्तबुद्धि पुरुष द्वारा उपभुक्त हो रहा भोगोंका समूह कैसा होता है तथा अन्यथा वस्तुवेदनरूप मौर्ख्यका सेवन करनेवाला जो मूर्ख प्राणी है उसके द्वारा उपभुक्त हो रहा भोग कैसा होता है, इसका विचार करना चाहिए ॥ २७ ॥

किञ्च, अज्ञ प्राणियोंके भोग्यार्थोंमें (भोग्य पदार्थों में) अग्निकी तरह तृष्णा, क्रोध, लोभादिरूप सन्ताप ही उत्पन्न होता है, किन्तु शास्त्रोंका परिशीलन करनेवाले विद्वानोंको तो समस्त पदार्थोंमें सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है, यह एक दूसरी विशेषता है, यह कहते हैं—'**महारामायण०**' इत्यादिसे ।

एकमात्र महारामायण-जैसे शास्त्रोंके अवलोकनसे ज्ञानियोंको समस्त पदार्थोंमें हिमसदृश सर्वोत्कृष्ट अन्तःशीतलता प्रादुर्भूत होती है ॥ २८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, शीतलचित्तता यानी चित्तका शीतल होना मोक्ष है तथा सन्तप्तचित्तता यानी चित्तका सन्तप्त होना ही बन्ध है । परन्तु ऐसे भी मोक्षमें संसारका अभिलाष नहीं होता । अहो संसारकी मूढ़ता कैसी आश्चर्यमयी है ॥ २९ ॥

* अर्थात् ज्ञानाधिकारके योग्य मनुष्य-देहके वह अयोग्य है ।

अयं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतः
परस्परं स्त्रीधनलोलुपो जनः ।
यथार्थसंदर्शनतः सुखी भवे-
न्मुमुक्षुशास्त्रार्थविचारणादितः ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायंतनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽगाम ॥३१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे पिशाचवर्णनप्रसंगेन जगद्ब्रह्मणो-रैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

यह प्राणी स्वभावसे ही विषयोंके वशीभूत है । एकमात्र यही कारण है कि परस्पर युद्ध, चोरी, हरण आदिसे भी स्त्री तथा धन आदिके सम्पादनमें यह लोलुप है । यह नानाविध भ्रान्तिके सन्तापोंसे जल रहा प्राणी मुमुक्षुशास्त्रोंके अर्थोंके विचारपूर्वक निदिध्यासन आदि उपायोंसे यथार्थ वस्तुके अर्थात् आत्माके संदर्शन-से ही सन्तापशून्य पूर्णानन्दरूप होता है । कहनेका तात्पर्य यह है कि संसारसे विरक्त होकर प्राणी जब श्रुति आदिके श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदिसे आत्मा-तत्त्वका साक्षात्कार कर लेता है तब सर्वविध सन्तापोंसे शून्य सुखी हो जाता है—आनन्दघनपरब्रह्मपरमात्मस्वरूप हो जाता है ॥ ३० ॥

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुनिजीके ऐसा कहनेपर दिन बीत गया । सूर्य भगवान् अस्ताचलको चले गये । इधर मुनियोंकी सभा भी सायंकालके कृत्यके लिए स्नान करने चली गई और रात बीतनेपर भगवान् सूर्यकी किरणोंके साथ २ फिर मुनियोंकी सभा आकर जम गई ॥ ३१ ॥

पंचानवे सर्ग समाप्त

सत्रहवाँ दिवस

षण्णवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

पाषाणाख्यानमेतत्ते कथितं कार्यकोविद ।
अनयेमाः स्फुरद्दृष्ट्या सृष्टयो नभसि स्थिताः ॥ १ ॥
न च स्थितं किंचनाऽपि क्वचनाऽपि कदाचन ।
स्थितं ब्रह्मघने ब्रह्म यथास्थितमखण्डितम् ॥ २ ॥
ब्रह्म चिन्मात्रकं विद्धि तद्यथा स्वप्नदृष्टिषु ।
पुरं भवन्निजाद्रूपान्न कदाचन भिद्यते ॥ ३ ॥

छियानबे सर्ग

[पाषाणोपाख्यानके तात्पर्यके रूपमें चितिका विवर्तरूप जगद्भ्रम और अजर अमर चितिरूप आत्मा ही ब्रह्मानन्द है, यह वर्णन]

विस्तारसे वर्णित पाषाणोपाख्यानको सर्वश्रेष्ठ प्रकृत आत्मविषयमें घटाते हैं—'पाषाण०' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे कार्यज्ञ श्रीरामचन्द्रजी, आपसे मैंने यह पाषाणोपाख्यान कहा । पाषाणाख्यायिकासे जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही आप निश्चय कीजिये कि सभी सृष्टियाँ चिदाकाशमें या शून्यतामें ही स्थित हैं ॥ १ ॥

भद्र, किसी भी कालमें कहीं भी कुछ भी वस्तु स्थित नहीं है, किन्तु अखण्ड यथावस्थित ब्रह्म ही चैतन्यानन्दघनरूप स्वभावमें स्थित है और कुछ नहीं है ॥ २ ॥

जगत् चैतन्यमात्रका विवर्त है, यह सबको अपने अपने स्वप्नके अनुभवसे सिद्ध है, यह कहते हैं—'ब्रह्म' इत्यादिसे ।

राघव, आप ब्रह्मको केवल चेतनरूप ही जान लीजिये । वह अपने असली स्वभावसे कभी भी ऐसे ही च्युत नहीं होता जैसे कि आत्मा स्वप्नमें नगररूप होता हुआ भी अपने स्वभावसे च्युत नहीं होता, इससे विवर्तका लक्षण यही निकला कि स्वरूपसे च्युत न हुए पदार्थकी अन्यरूपसे प्रतीति विवर्त है । यह लक्षण जगत्में प्रसिद्ध ही है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्न आत्माका विवर्त है, वैसे ही समस्त जगत् ब्रह्मात्माका विवर्त है, यह जानना चाहिए, यह कहते हैं—'स्वयंभूत्व०' इत्यादिसे ।

स्वयंभूत्वसमापत्तौ तथा दृश्यत्व्यवस्थितौ ।
स्वरूपमजहत्त्वेव चिदाकाशमजं स्थितम् ॥ ४ ॥
न स्वयंभूर्न च जगन्न स्वप्नपुरमस्त्यलम् ।
स्थितं संविन्महादृष्ट्या ब्रह्म चिन्मात्रमेतया ॥ ५ ॥
यथा पुरं भवत्स्वप्ने चिद्रूपं स्वात्मनि स्थितम् ।
अखण्डमेवमासृष्टेरामहाप्रलयस्थितेः ॥ ६ ॥
हेमहेमाश्मनोः स्वप्नपुरचेतनयोर्यथा ।
भेदो न संभवत्येवं न भेदश्चितिसर्गयोः ॥ ७ ॥
चितिरेकाऽस्ति नो सर्गो हेमाऽस्ति न तदूर्मिका ।
स्वप्नाचले चिदेवाऽस्ति न तु काचन शैलता ॥ ८ ॥

चिदाकाश ब्रह्म समष्टिजीवके रूपमें चाहे सूक्ष्म उपाधिको प्राप्त करे चाहे स्थूल दृश्यरूप उपाधिको प्राप्त करे, उभयथापि अपना निर्विकार स्वरूप त्यागे बिना ही स्थित है ॥ ४ ॥

यदि जगत् ब्रह्मका विवर्त है तो परमार्थदृष्टिसे क्या स्थित है ? इसपर कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

न तो स्वयंभूकी (समष्टि हिरण्यगर्भकी) स्थिति है, न जगत्की स्थिति है, न स्वप्न-नगरकी ही असली स्थिति है, किन्तु इस परिपूर्ण आत्मदृष्टिसे केवल चिन्मात्र ब्रह्मको ही स्थिति विद्यमान है ॥ ५ ॥

दृष्टान्तमें भी यह बात समान है, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें नगरादिरूप होकर भी चिन्मय आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित है, वैसे ही सृष्टिसे लेकर महाप्रलयपर्यन्तकी अवस्था तक जगद्रूप होकर भी ब्रह्मरूप चैतन्य अपने स्वरूपमें ही स्थित है ॥ ६ ॥

जितनी सृष्टियाँ हैं, उन सबका जो अनुभव होता है, उसमें चितिकी बराबर अनुवृत्ति होती है, इससे भी यह निश्चय होता है कि चिति ही जगत्-के रूपसे स्थित है, यह कहते हैं—**'हेम०'** इत्यादिसे ।

जैसे सुवर्ण और सुवर्ण-पत्थरका (सुमेरु पर्वतपर सुवर्णपत्थर प्रसिद्ध हैं) अथवा स्वप्न-नगर और स्वप्न-द्रष्टा आत्माका परस्पर कभी भेद नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही चिति और सृष्टिका भी परस्पर कभी भी भेद नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

जो भी कुछ है, वह केवल चिति ही है, सृष्टि नहीं, हेमके विकार कटकादि-

चिदेव शैलवद्भाति यथा स्वप्ने निरामया।
तथा ब्रह्म निराकारं सर्गवद्भाति नेतरत् ॥ ९ ॥
चिन्मात्रमिदमाकाशमनन्तमजमव्ययम् ।
महाकल्पसहस्रेषु नोदेति न च शाम्यति ॥ १० ॥
चिदाकाशो हि पुरुषश्चिदाकाशो भवानयम् ।
चिदाकाशोऽहमजरश्चिदाकाशो जगत्त्रयम् ॥ ११ ॥
चिदाकाशं वर्जयित्वा शवमेव शरीरकम् ।
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसौचिदाकाशो न शाम्यति ॥ १२ ॥
अतो न किंचिन्म्रियते न च किंचन जायते ।
चित्त्वात्ततश्चित्कचनं जगदित्यनुभूयते ॥ १३ ॥

स्थलमें जैसे वास्तवमें सुवर्ण ही है, कटकादि नहीं वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। भद्र, स्वप्न-पर्वतस्थलमें क्या है? चिति ही तो स्वप्नपर्वत है, उसको छोड़कर दूसरा कोई पर्वतका रूप वहाँ नहीं रहता ॥ ८ ॥

जैसे स्वप्नमें एकमात्र निर्विकार आत्मचिति ही पर्वतके सदृश भासती है, वैसे ही निराकार विकाररहित ब्रह्म ही सृष्टि-सा भासता है, दूसरा नहीं, यह जानिए ॥ ९ ॥

चिन्मात्र निर्मल एवं निर्लेप आकाशरूप यह आत्मा नाश रहित, जन्म रहित तथा वृद्धि आदि विकारोंसे वर्जित है, अतः हजारों महाकल्पोंमें भी यह न तो उत्पन्न होता है और न विनष्ट ही होता है ॥ १० ॥

जीवरूपी पुरुष चेतनरूप निर्मल आकाश ही है, अतः ये आप चिदाकाशरूप हैं, मैं अजर चिदाकाशरूप हूँ और ये तीनों जगत् भी निराकार चिदाकाश रूप हैं ॥ ११ ॥

यदि शरीरमें चिदाकाश न रहे तो वह निर्जीव ही हो जायगा। यह चिदाकाश काटा नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता और न नष्ट ही किया जा सकता है अर्थात् आत्मा छेदन, ज्वलन एवं नाश इन सबका अविषय है ॥ १२ ॥

भद्र, इन सब कारणोंसे न कुछ मरता है और न कुछ उत्पन्न होता है। चितिमें प्रकाशन स्वभाव है, इसीसे चित्प्रकाश ही जगत्‌के रूपमें भासता है ॥ १३ ॥

चितिका मरण या भेदन माननेमें कोई प्रमाण नहीं है और यदि मानोगे तो सभीका मरण हो जायगा, यह कहते हैं—'**चिन्मात्र०**' इत्यादिसे।

चिन्मात्रपुरुषो जन्तुर्म्रियते यदि नाम वा ।
ततोऽमरिष्यत्तत्पुत्रो निःसन्देहं पितुर्मृतौ ॥ १४ ॥
एकस्मिन्प्रमृते जन्तावमरिष्यंस्तु सर्वदा ।
सर्वं एव जनाः शून्यमभविष्यन्महीतलम् ॥ १५ ॥
न चाऽद्यापि मृतं राम चिन्मात्रं कस्यचित्क्वचित् ।
न च शून्या स्थिता भूमिस्तस्माच्चित्पुरुषोऽक्षयः ॥१६॥
एकं चिन्मात्रमेवाऽहं वाऽहं न शरीरादयो मम ।
इति सत्यनुसन्धाने क्व जन्ममरणादयः ॥ १७ ॥
अहं चिन्मात्रममलमित्यात्मानुभवं स्वयम् ।
अपहन्त्यात्महन्तारो निमज्जन्त्यापदर्णवे ॥ १८ ॥

यदि चेतनमात्र स्वरूप जीवका मर जाना ही मान लिया जाय, तो पिताके मर जानेपर उसका पुत्र भी मर जायगा, इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि पिता पुत्र तो एकरूप ही हैं, भिन्न नहीं है, इसलिए चेतनात्मा जीव नहीं मरता, यही मत निश्चित है ॥ १४ ॥

'एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें स्थित है' इस श्रुतिसिद्धान्तके अनुसार भूतात्मा-का मरण माननेपर सब भूत (प्राणी) मर जायँगे, यह कहते हैं—**'एकस्मिन्'** इत्यादिसे ।

यदि एक प्राणीके मरनेपर सदा ही सब जन्तु मर जाते, तो ऐसी स्थितिमें सारा भूतल जनोंसे रहित-शून्य ही हो जाता, अतः आत्मा मरता नहीं ॥ १५ ॥

श्रीरामजी, आजतक किसी भी स्थानमें किसीका भी चिन्मात्रस्वरूप मरा नहीं है और चेतनसे शून्य भूतल भी किसी समय नहीं रहा है, इसलिए पुरुषात्मा चेतनको अविनश्वर ही समझिए ॥ १६ ॥

इस स्थितिमें चेतनात्माके परिज्ञानसे ही जन्म-मरणादिरूप अनर्थकी निवृत्ति सिद्ध हुई, यह कहते हैं—**'एकम्'** इत्यादिसे ।

मैं एकमात्र चेतनात्मस्वरूप ही हूँ, मेरा शरीर आदि अनर्थोंके साथ संसर्ग है ही नहीं—इस तरहका जब ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ रहे ही कहाँ ॥ १७ ॥

भद्र, मैं निर्मल चेतनमात्ररूप हूँ, इस तरहके आत्माके अनुभवका जो पुरुष कुतर्कोंसे खण्डन करते हैं, वे पुरुष आपदाओंके समुद्रमें डूबते ही रहते हैं ॥ १८ ॥

चिदहं गगनादच्छा नित्याऽनन्ता निरामया ।
किं जीवितं मे किंवाऽपि मरणं वा सुखासुखे ॥ १९ ॥
व्योमात्मचेतनमहं के शरीरादयो मम ।
इत्यात्महाऽपह्नुतेऽन्तर्योऽनुभूतं धिगस्तु तम् ॥ २० ॥
चिदाकाशमहं स्वच्छमनुभूतिरिति स्फुटा ।
यस्याऽस्तमागता मूढं तं जीवन्तं शवं विदुः ॥ २१ ॥
अहं वेदनमात्रात्मा कानि देहेन्द्रियाणि मे ।
लब्धात्मानमिति स्वच्छं प्रविलुम्पन्ति नाऽऽपदः ॥ २२ ॥
चिन्मात्रं शुद्धमात्मानं योऽवलम्ब्य स्थिरः स्थितः ।
नाऽऽधयस्तं विलुम्पन्ति महोपलमिवेषवः ॥ २३ ॥
चित्त्वं स्वभावं विस्मृत्य बद्धास्था ये शरीरके ।
तैः सुवर्णं परित्यज्य गृहीतं भस्म वस्तुतः ॥ २४ ॥

मैं चेतनरूप हूँ, गगनसे भी अति स्वच्छ हूँ, सनातन हूँ, व्यापक हूँ और हूँ सब तरहके विकारोंसे शून्य; इसलिए क्या मेरा जीना, क्या मरना और क्या सुख-दुःख ॥ १९ ॥

मैं आकाशके सदृश निर्मल निर्लेप केवल चेतनस्वरूप हूँ, ये शरीर आदि अनर्थ मेरे होते कौन हैं ? इस तरह विद्वानोंके द्वारा अन्तःकरणमें अनुभूत अनुभवका जो अपने कुतर्कोंके बलसे खण्डन करता है, वह पुरुष अपनी आत्माका ही हनन करता है, ऐसे पुरुषको हजार बार धिक्कार है ॥ २० ॥

मैं चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्मात्मा हूँ, इस तरहका विस्पष्ट अनुभव जिस पुरुषका नष्ट हो गया हो, वह भले ही जीता हो, लेकिन उस मूढको विज्ञजन मुरदा ही जानते हैं ॥ २१ ॥

मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्मात्मा ही हूँ, मेरे देह, इन्द्रिय होते कौन हैं ? इस तरहके अपरोक्ष ज्ञानसे आत्माको प्राप्त कर चुकनेवाले, अविद्यादि मलोंसे निर्मुक्त अतएव अतिविशुद्ध हुए पुरुषको मरण आदि आपदाएँ नष्ट नहीं कर पातीं ॥ २२ ॥

चिन्मात्ररूपी विशुद्ध आत्माको पकड़कर जो पुरुष अचल बनकर स्थित है, उस महापुरुषको मानसिक पीड़ाएँ उस तरह छिन्न-भिन्न नहीं करतीं, जिस तरह महा पाषाणको बाण ॥ २३ ॥

जो पुरुष अपने चेतन स्वभावको भूलकर तुच्छ शरीरमें आस्था बाँधकर बैठे

बलं बुद्धिश्च तेजश्च देहोऽहमिति भावनात् ।
नश्यत्युदेत्येतदेव चिदेवाऽहमिति स्थितेः ॥ २५ ॥

चिदाकाशमहं शुद्धं के मे मरणजन्मनी ।
एवं स्थिते स्युः किंनिष्ठा लोभमोहमदादयः ॥ २६ ॥

चिदाकाशादृते देहान् योऽन्यत्सारमवाप्नुयात् ।
तस्मै तद्युज्यते वक्तुं सन्ति लोभोदयस्त्विति ॥ २७ ॥

न च्छिद्ये न च दह्येऽहं चिन्मात्रं वज्रवच्चिति ।
न देही निश्चयो यस्य तं प्रत्यन्तकरस्तृणम् ॥ २८ ॥

अहो नु मुग्धता ज्ञानदृष्टीनां यद्विदन्त्यलम् ।
शरीरशकलाभावे नश्याम इति मोहिताः ॥ २९ ॥

हैं, उन्होंने असली सोनेको छोड़कर राखको ही सोना समझकर ग्रहण किया है, यही वास्तवमें जानना चाहिए ॥ २४ ॥

मैं देहरूप ही हूँ, इस भावनासे पुरुषका बल, बुद्धि और तेज नष्ट हो जाता है और मैं चेतनात्मा ही हूँ, इस ज्ञाननिष्ठासे उसका बल, बुद्धि और तेज उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है ॥ २५ ॥

मैं आकाशके सदृश अतिस्वच्छ विशुद्ध परमात्मारूप हूँ, मेरे जन्म-मरण ही क्या, इस प्रकारकी निष्ठा हो जानेपर पुरुषमें लोभ, मोह आदि दोष रहेंगे ही कहाँ, क्योंकि वे आत्मामें तो रहते नहीं, इसलिए ज्ञानी पुरुषकी वे क्या क्षति पहुँचायेंगे ॥ २६ ॥

चिदाकाशको छोड़कर दूसरे दूसरे तुच्छ स्थूल आदि देहोंको जो पुरुष अलगसे सत्यरूप आत्मा समझकर देखता है, उसी मूढ़के लिए यह कहना उचित है कि लोभ आदि अनर्थ हैं ॥ २७ ॥

मैं न तो छेदा जाता हूँ, न मैं जलाया जाता हूँ, मैं वज्रके सदृश दृढ़ चेतन-मात्र स्वरूप हूं, न मैं शरीरी हूं । इस प्रकारका निश्चय जिस महामतिको है, उस महामतिके प्रति यमराज भी तृणके सदृश तुच्छ है ॥ २८ ॥

भद्र, बड़ा ही आश्चर्यका विषय है कि पण्डितोंको भी मोह--व्यामोह देखा जाता है, इसीलिए वे शरीररूप एक जड़ टुकड़ेका नाश उपस्थित हो जानेपर हम नष्ट हो रहे हैं, यों मोहित होकर जोरसे चिल्लाने लग जाते हैं ॥ २९ ॥

अहं चिन्नभ एवेति सत्ये भावे स्थिरे सति।
वज्रपातयुगान्ताग्निदाहाः पुष्पोत्करोपमाः ॥ ३० ॥
चिन्मात्रममरं नाऽहं यन्नश्यामीति रोदिति।
अनष्ट एव तद्देहो जातापूर्वा खरोलिका ॥ ३१ ॥
इदं चेतनमेवाहं नाऽहं देहादिदृश्यः।
इति निश्चयवान्योऽन्तर्न स मुह्यति कर्हिचित् ॥ ३२ ॥
अहं चेतनमाकाशो नाशो मे नोपपद्यते।
चेतनेन जगत्पूर्णं केव संदेहिताऽत्र वः ॥ ३३ ॥

मैं चिदाकाशस्वरूप ही हूँ, इस प्रकारका परमार्थ सत्यरूप भाव जब स्थिर हो जाता है, तब वज्रपात और युगान्तके (प्रलयकालके) अग्निदाह भी फूलोंकी ढेरीसे हो जाते हैं ॥ ३० ॥

मैं अमर चिदात्मारूप नहीं हूं, देहरूप हूँ, इसीसे नष्ट हो रहा हूँ, यों समझकर पुरुष जो रोदन करता है, उसका वह रोदन तो आत्माके नष्ट न होनेपर ही होता है, इसलिए विवेकीकी दृष्टिसे नटके सदृश रोदनविडम्बना एक परिहासका खेल ही है, दूसरा कुछ भी नहीं ॥ ३१ ॥

यह सदा अपरोक्षरूप चेतनरूप ही मैं हूँ, देह आदि दृश्यरूप मैं नहीं हूं, इस प्रकारके निश्चयसे जिस पुरुषका अन्तःकरण पूर्ण है, वह महात्मा कहींपर भी मोहमें नहीं फँसता ॥ ३२ ॥

मैं चेतनात्मक आकाश हूं, मेरे विनाशका कोई भी सटीक हेतु नहीं है, सारा जगत् चेतन-सत्तासे व्याप्त है। अतः तुम लोगोंको यहाँ जन्म-मरण आदिका संशय ही नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

चेतनसे अन्य हम लोग हैं, ऐसा जो कहते हैं, वे क्या चैतन्य युक्त होकर कहते हैं अथवा चैतन्यसे शून्य होकर कहते हैं, पहला पक्ष लेते हैं, तो अपना चेतन स्वभाव जानकर वैसा कहना ही नहीं बनता। यदि दूसरा पक्ष लेते हैं, तो जो चैतन्यसे शून्य हैं, वे हम अचेतन हैं, इसका अनुभव या अपलाप, अधिक क्या कहें किसीका भी अपलाप नहीं कर सकते, इस आशयसे कहते हैं—**'चेतनम्'** इत्यादिसे।

चेतनं वर्जयित्वाऽन्यत्किंचिद्ब्रूयं जना यदि ।
यदुच्यतां महामूढाः स्वात्मा किमपलप्यते ॥ ३४ ॥
तच्चेतनं चेन्म्रियते तज्जनाः प्रत्यहं मृताः ।
ब्रूत किं न मृता यूयं तन्मृतं किल चेतनम् ॥ ३५ ॥
तस्मान्न म्रियते किंचिन्न च जीवति किंचन ।
जीवामीति मृतोऽस्मीति चिच्चेतति न नश्यति ॥ ३६ ॥
चिच्चेतति यथा वा यत्तत्तथा साऽऽशु पश्यति ।
आबालमेषोऽनुभवो न क्वचित्सा च नश्यति ॥ ३७ ॥

यदि चेतनके स्वरूपको छोड़कर और अन्य किसी जड़रूप पदार्थ बनकर मनुष्य प्रश्न करते हैं तो आप उनसे कहिए कि हे महामूढ़, अपनी आत्माका अपलाप क्यों करते हो ॥ ३४ ॥

किञ्च, यदि चैतन्य अपना मरण देखता है, यह माना जाय तो वह सदा ही अपना मरण देखा करेगा, ऐसी स्थितिमें जी रहे पुरुषोंको सदा ही मरणका अनुभव होता रहेगा, यह कहते हैं--**'तच्चेतनम्'** इत्यादिसे ।

आत्मरूप चेतन यदि मरता हो, तो प्रतिदिन यानी निरन्तर आत्मारूप जीव मरे हुए ही हैं, यह मानना होगा, फिर क्या आप लोग मरे हुए ही हैं, यह कहिए, क्योंकि चेतनको तो आप लोगोंने मृत ही माना ॥ ३५ ॥

यों जब मरण ही अप्रसिद्ध है, तब तद्भिन्न जीवनकी भी कल्पना व्यर्थ है वह आशय रखकर कहते हैं--**'तस्मान्न'** इत्यादिसे ।

इससे न कुछ मरता है और न कुछ जीता ही है । मैं जीता हूँ या मैं मरा हूँ, इस प्रकार चिति केवल भ्रान्तिका अनुभव करती है, वास्तवमें वह मरती नहीं है ॥ ३६ ॥

अविनाशी चेतनके अनुसार ही सबको वस्तुओंका अनुभव होता है, उससे विरुद्ध प्रकारसे नहीं, यह कहते हैं--**'चिच्चे०'** इत्यादिसे ।

चितिरूप आत्मा जिस प्रकारसे जिस वस्तुका भ्रान्तिसे अनुभव करता है, उसको उस प्रकारसे तत्काल ही देख लेती है, यह बालकतकका अनुभव है, अतः चिति कहीं भी नष्ट नहीं होती ॥ ३७ ॥

परिपश्यति संसारं परिपश्यति मुक्तताम् ।
सुखदुःखानि जानाति स्वरूपात्तन्न भिद्यते ॥ ३८ ॥

अपरिज्ञातदेहात्तु धत्ते मोहाभिधां स्वयम् ।
परिज्ञातस्वरूपात्तु धत्ते मोहाभिधां स्वयम् ॥ ३९ ॥

नाऽस्तमेति न चोदेति न कदाचन किंचन ।
सर्वमेव च चिन्मात्रमाकाशविशदं यतः ॥ ४० ॥

न तदस्ति न यत्सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा ।
यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तं प्रति स्थितम् ॥ ४१ ॥

चिति संसार देखती है, मुक्ति देखती है, और सुख दुख भी जानती है, इतना होनेपर भी अपने स्वरूपसे कालभेद, देशभेद या वस्तुभेद द्वारा भिन्न नहीं होती ॥ ३८ ॥

तब बन्ध और मोक्षमें विशेष किस बातको लेकर है, इसे बतलाते हैं--**'अपरिज्ञात०'** इत्यादिसे ।

चिति अपने असली स्वरूपको न जाननेके कारण स्वयं मोह नाम धारण करती है यानी संसारग्रस्त हो जाती है और जब अपना असली रूप जान जाती है, तब मोक्षनामको स्वयं धारण कर लेती है यानी मोक्षरूप बन जाती है ॥ ३९ ॥

किसी समय कोई कुछ भी न तो नष्ट होता है और न पैदा ही होता है, क्योंकि जो भी कुछ है, वह सभी आकाशवत् अतिविशद चैतन्यमात्ररूप आत्मा ही है ॥ ४० ॥

इन सब बातोंसे निचोड़ यह निकला कि जगतके नाना रूपोंमें सत्यता या असत्यता केवल अपने-अपने मन्तव्योंके अनुसार स्थित है, वास्तवमें नहीं, यह कहते हैं—**'न तदस्ति'** इत्यादिसे ।

ऐसी कोई चीज नहीं है, जो सत्य न हो या ऐसी कोई चीज नहीं है, जो झूठी न हो, क्योंकि अपनी-अपनी मतिके अनुसार जिसने जैसा निश्चित किया, उसके सामने वैसी ही वस्तु उपस्थित हो जाती है, परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं है ॥ ४१ ॥

कथित अर्थका निगमन करते हुए उपसंहार करते हैं—**'यद्य०'** इत्यादिसे ।

यद्यद्यथा जगति चेतति चेतनात्मा
तत्तत्तथाऽनुभवतीत्यनुभूतिसिद्धम् ।
दृष्टं विषामृतदृशेव पदार्थजातं
नाऽतोऽस्ति संविदविधेयमिति प्रसिद्धम् ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे अमरत्वप्रतिपादनं नाम
षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

संविन्मयत्वाज्जगतः स्वप्नस्य परमात्मनः ।
ब्रह्माकाशतया सर्वं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥ १ ॥

श्रीरामजी, इस जगत्में पुरुष भ्रान्तिसे जिस वस्तुको जिस रूपसे कल्पना कर लेता है, उस वस्तुका उसी रूपसे अनुभव करने लग जाता है, यह बात सर्वविदित है। इसलिए ये सब पदार्थ विषामृतदृष्टिके सदृश (यानी विषको अमृत समझनेके सदृश) कालादिवश अनियतादि ज्ञानरूप संविद्के अनुसार ही व्यवस्थित है, अतः कुछ भी वस्तु चितिरूप आत्मासे भिन्न है ही नहीं, यह बात निर्विवादरूपसे सिद्ध हो चुकी ॥ ४२ ॥

छियानवे सर्ग समाप्त

सत्तानवे सर्ग

[ब्रह्मके सर्वशक्ति होनेके कारण सर्ववादियोंकी उक्तिकी सत्यता, सब लोगोंकी भोगोंमें आसक्ति तथा तत्त्वज्ञानियोंकी विरलताका वर्णन]

ब्रह्मके सर्वशक्ति होनेके कारण सभी वादियोंकी उक्ति सत्य है, इस कहे जानेवाले अर्थमें उपयोगी 'न तदस्ति' इस पूर्व सर्गकी अन्तिम उक्तिसे प्रतिपादित तत्त्वका समर्थन करनेके लिए भूमिका बाँधते हैं—'संविन्मयत्वाद्' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, परमात्माका स्वप्नरूप जो यह जगत् है, वह चितिरूप

भ्रमस्य चाऽतिदृश्यत्वाददृश्यत्वान्महाचितेः ।
मदशक्तिवदात्मेति सत्यताऽस्याऽपि युज्यते ॥ २ ॥
असत्त्वाद्दृश्यविश्रान्तेरलभ्यत्वान्महाचितेः ।
उपलब्धुरभावाच्च शून्यनाम्नीव सत्यपि ॥ ३ ॥

तथा ब्रह्मरूप आकाशात्मक है. अतः सब कुछ ब्रह्म ही है, इस स्थितिमें सत्यरूप जगत्का ही सब अनुभव करते हैं, इसलिए कुछ भी असत्य नहीं है, यह कहा गया ॥ १ ॥

यों ब्रह्मरूपसे सब सत्य होते हुए भी प्रतीयमान रूपसे कैसे सब सत्य हुआ ? क्योंकि रज्जुरूपके सत्य होते हुए भी उसमें अध्यस्त साँप तो सत्य नहीं है, इस प्रश्नपर कहते हैं—'भ्रमस्य' इत्यादिसे ।

जगद्रूप भ्रम अत्यन्त ही दृश्य है और उसका अधिष्ठान महाचैतन्य अदृश्य है । सारांश यह कि रज्जुसर्पस्थलमें रज्जु भी दृश्य है और साँप भी दृश्य है, दोनों दृश्य होनेके कारण जब रज्जुका दर्शन होता है, तब सर्पका बाध हो जानेके कारण सर्पकी असत्यरूपता हो जाती है । जगद्भ्रममें तो केवल जगद्भ्रान्ति देखी जाती है, परन्तु उसका अधिष्ठान ब्रह्म तो देखा नहीं जाता, अतः रज्जुसर्पसे यह जगत् विलक्षण है । जब यह वस्तुस्थिति हुई, तब मदशक्तिके समान स्वयं अदृश्य होकर दृश्यभ्रमका हेतु बनकर कार्यरूपसे ही आत्मा अपनी सत्ता प्रकट करता है, अतः जगत्का स्वरूप सत्य है, यह कथन युक्तिसङ्गत है ॥ २ ॥

तब पहले यह जो कहा गया है कि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जो झूठी न हो, इस वचनकी क्या गति होगी ? क्योंकि ब्रह्म झूठा है नहीं, इसपर कहते हैं—'असत्त्वाद्' इत्यादिसे ।

भद्र, परमार्थ वस्तुमें भी शून्यता-सा व्यवहार किया जा सकता है, क्योंकि संसारकालमें सर्वदृश्यविश्रान्तिरूप मोक्ष प्राप्त रहता नहीं और उसके बिना अद्वितीय चिदात्माकी प्राप्ति नहीं होती, इसी तरह मोक्षकालमें भी अन्तःकरणवाले प्रमाता जीव तथा उपलम्भक प्रमाण आदिका बाध हो जानेसे अभाव है, इसलिए आत्माकी एक तरहसे अप्रसिद्धि-सी है, इसलिए वैसा कहा गया है ॥ ३ ॥

इस स्थितिमें जितने भी वादी हैं, उन सबके वचन अपने-अपने अनुभवसे सिद्ध अर्थोंका ही प्रतिपादन करते हैं, अतः सत्यरूप ही हैं, यों सविस्तर प्रतिपादन करते हुए सांख्योक्ति दर्शाते हैं—'चिन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

चिन्मात्रं पुरुषोऽकर्ता समेत्यव्यक्ततो जगत् ।
एवं दृष्टेः सत्यमेतदेवमर्थानुभूतितः ॥ ४ ॥
विवर्तो ब्रह्मणो दृश्यमित्येवंवादिनोऽपि सत् ।
मतमेवं स्वरूपाणामर्थानामनुभूतितः ॥ ५ ॥
परमाणुसमूहात्म जगदित्यपि सत्यतः ।
संवेद्यते यथा यद्यत्तत्तथैवाऽनुभूतितः ॥ ६ ॥
यथा दृष्टं तथैवेदमिह लोके परत्र च ।
नाऽसन्न सदिति प्रौढा सत्यमाध्यात्मिकी गतिः ॥ ७ ॥

भद्र, महाज्ञानी कपिलमुनिजी यह कहते हैं कि पुरुष चिन्मात्र है, वह कोई कार्य नहीं करता, उसीके भोग और मोक्षके निमित्त सृष्टि प्रवृत्त होती है, यह सारा जगत् सुख-दुःख और मोहरूप है, इसलिए सत्त्व आदि तीन गुणोंकी साम्य अवस्थारूप मूलकारण अव्यक्तसे (प्रधानसे) प्रकृतिसे महत्त्व आदिके क्रमसे यह सारी सृष्टि हुई है । कपिलजीका यह मत भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म सर्वशक्ति है, यह निर्विवाद है ॥ ४ ॥

जो कि वेदान्तियोंका मत है—यह सारा दृश्यवर्ग ब्रह्मका विवर्त है, वह भी सत् है । क्योंकि उस तरह विमर्श करनेपर उसी तरहके समस्त पदार्थ अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

इसी प्रकार कणाद, गौतम, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, जैन आदिके मतोंमें जो यह माना गया है कि सारा जगत् परमाणुओंका समूह ही है, वह भी सत्य है, क्योंकि वैसी उनकी कल्पना उनके अनुभवके अनुसार ठीक ही है, यह कहते हैं—**'परमाणु'** इत्यादिसे ।

जिन वादियोंकी कल्पना है कि यह जगत् परमाणुओंका समूहरूप ही है और वही यथार्थरूपसे अनुभूत होता है, वह भी सत्य है, क्योंकि उनको जिस-जिस पदार्थके विषयमें जैसा-जैसा अनुभव हुआ उस-उस अनुभवके अनुसार की गई उनकी कल्पना ठीक ही है ॥ ६ ॥

इस लोक और परलोकमें जो कुछ देखा जाता है, वह वैसा ही है, न वह सत् है या न असत् ही है यानी इन दोनों कोटियोंमें उसकी स्थिति नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय है, यों प्रौढ़ दृष्टिसृष्टिवादी लोग जो मनकी कल्पनामात्ररूप जगत्‌की

बाह्यमेवाऽस्ति नाऽस्त्यन्यदित्यन्ये सत्यवादिनः ।
स्वामन्यक्षगणातीतं प्राप्नुवन्ति न ते यतः ॥ ८ ॥
अनारतविपर्यासदर्शनात् क्षणभङ्गधीः ।
युक्तैव तद्विदामाद्यं सर्वशक्ति हि तत्पदम् ॥ ९ ॥
कलविङ्कघटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम् ।
तथात्मसिद्धेर्म्लेच्छानां तद्देशेषु न दुष्यति ॥ १० ॥
समाः सन्तश्च विप्राग्निविषामृतमृतिष्वपि ।
भान्त्येवं तद्विदां सर्वमिदं सर्वात्मकं यतः ॥ ११ ॥

स्थिति मानते हैं, उनका भी कहना ठीक ही है, क्योंकि उनका वैसा ही अनुभव है ॥ ७ ॥

इसी तरह जो दूसरे वादी यानी चार्वाक हैं, वे कहते हैं कि पृथ्वी आदि चार भूतोंका ही यह जगत् है, दूसरा आत्मरूप नहीं है, यह भी उनका कथन सत्य है—वे भी सत्यवादी ही हैं, क्योंकि वे अपनी देहमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे अगम्य आत्माको, विमर्श करते हुए भी, देख नहीं पाते हैं या जान नहीं पाते हैं ॥ ८ ॥

जो क्षणिकवादी हैं, उनका जो यह कहना है कि प्रतिक्षणमें परिणामको प्राप्त करनेवाले पदार्थमें निरन्तर उलट-पुलट देखनेमें आता है, अतः सब पदार्थ क्षणिक ही हैं, यह भी उनका कहना सत्य है, क्योंकि उनकी बुद्धि (क्षणभङ्गबुद्धि) के अनुसार वैसी स्थिति हो सकती है ॥ ९ ॥

जैसे घड़ेमें बन्द बटेर घड़ेका मुँह खोल देनेपर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देहके भीतर बन्द देह जितना बड़ा जीव कर्मक्षय हो जानेपर उड़कर परलोकमें चला जाता है, यों जैनोंकी कल्पना है, यह भी सत्य है, इसी प्रकार यवन लोग मानते हैं कि जीव देह जितना ही बड़ा है उसका उत्पादन ईश्वरने किया है। शरीर जहाँ गाड़ा जाता है, वहीपर वह रहता है, कभी कालान्तरमें ईश्वर उसके विषयमें विचार करते हैं, तब उन्हींकी इच्छासे उसकी मुक्ति होती है या स्वर्ग नरकमें उसको छोड़ देते हैं, यह भी म्लेच्छोंका मत युक्त ही है, क्योंकि उनकी वैसी ही भावना है ॥ १० ॥

जो सन्त पुरुष हैं वे तो ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण, जन्म आदि सभीमें जो कभी-कभी अत्यन्त विषमरूप धारण कर आते जाते रहते हैं, निरन्तर

स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम्।
अन्विष्टा याति नो प्राप्तिं बुद्धिमत्सर्वकर्तृता ॥ १२ ॥
एकः सर्वत्र कर्तेति सत्यं तन्मयचेतसाम्।
सोऽयं निश्चयवान्सोऽत्र तदाप्नोतीत्यबाधितम् ॥ १३ ॥

समान भाव ही रखते हुए देखे जाते हैं. यह भी ठीक है, क्योंकि जितनी भी वस्तु या सिद्धान्तस्थितियाँ हैं, वे सब यह अपरोक्ष आत्मरूप ब्रह्म ही हैं, इसलिए सभी वादियोंको अपना-अपना अभिमत (इष्ट) सिद्ध हो जाता है ॥ ११ ॥

यह जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न होता है एवं नष्ट हो जाता है, जगत्का कोई भी कर्ता नहीं है, यों स्वभाववादियोंका जो मत है, वह भी युक्त ही है। इन स्वभाववादियोंके मतमें यह दलील है कि यद्यपि घट, पट आदि स्थलमें बुद्धिमान् कुलाल आदि कर्ता देखे जाते हैं, परन्तु वृष्टि, वायु आदि स्थलमें खोजे जानेपर भी कोई कर्ता देखनेमें नहीं आता, इसलिए सब पदार्थोंका एक बुद्धिमान् कर्ता हाथ लग सकता ही नहीं। असमयकी वर्षा, उत्तम खेतमें उत्पन्न तृण आदि, जो धान पैदा करनेवाले खेतिहरोंके अनिष्ट हैं, कर्ताके बिना स्वभावसे ही उत्पन्न होते रहते हैं, वे अपने कर्ताकी कल्पना सह नहीं सकते, क्योंकि सबका अनिष्ट करनेवाला कोई है नहीं और न उसे अकालवर्षण और पर खेतमें तृण आदिके उत्पादनसे प्रयोजन है, यह कल्पना की जा सकती है ॥ १२ ॥

पृथ्वी, अङ्कुर आदि सब कार्योंमें एक ही कर्ता है, यों कल्पना जो कोई करते हैं, वह भी सत्य है, क्योंकि इस प्रकारके निश्चयवाले उपासकोंको एक कर्ता ईश्वरकी प्राप्ति, उसकी अनुकम्पा, वरदान आदि प्राप्त होते देखे जाते हैं, यह कहते हैं—'**एकः**' इत्यादिसे

अङ्कुर आदि सब कार्योंका एक ही कर्ता है, इस प्रकारकी कल्पना करनेवाले तन्मय अन्तःकरणवाले वादियोंका मत भी युक्त है, क्योंकि इस तरह एक कर्ताका निश्चय कर उपासना करनेवाला अपने अन्तःकरणमें तदुपास्य सर्वकर्ता एक परमात्माको प्राप्त करता है। पूर्ववादीके सदृश उसे बाधित नहीं मानता। अकाल-वृष्टि और अच्छे खेतमें तृण आदि सबके लिए अनिष्ट नहीं हैं और सब कर्मोंके फलदाता ईश्वर दुष्कर्मफलरूप अनिष्टका भी यदि कर्ता हो जाय, तो कोई दोष भी नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

अयं लोकः परश्चाऽस्ति स्नानाग्न्यादि च नेतरत् ।
एतदेतादृशं सत्यं विद्धि भावितभावनम् ॥ १४ ॥
अशेषं शून्यमेवेति बौद्धानामेतदेव सत् ।
लभ्यते तद्विचारेण यत्र किंचन नैव हि ॥ १५ ॥
चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥ १६ ॥
नेदं शून्यं न चाऽशून्यमित्यवस्तु न तद्विदाम् ।
सर्वशक्तिर्हि सा शक्तिर्न तद्विद्यत एव तत् ॥ १७ ॥
तस्मात्स्वनिश्चये यस्मिन् यः स्थितः स तथा ततः ।
अवश्यं फलमाप्नोति न चेद्बाल्यान्निवर्तते ॥ १८ ॥

आस्तिकोंके मतमें जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है, अतः परलोकार्थियोंके लिए तीर्थ-स्नान, अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं। इस तरहकी उन आस्तिकोंके द्वारा यह जो निर्धारित कल्पना है, वह भी सत्य ही है ॥ १४ ॥

समस्त प्रपञ्च शून्यात्मक ही है, इस प्रकारकी बौद्धोंकी कल्पना है। उनकी यह कल्पना भी सत्य ही हैं, क्योंकि ऐसे विचारसे उनको सर्वशून्यता हाथ लग ही जाती है। शून्यवादमें पदार्थोंमें अशून्यतापादक जब प्रमाण ही नहीं है, तब प्रमेय-शून्यत्वकल्पना कोई असंभव है ही नहीं ॥ १५ ॥

सब वादियोंको अपना अपना जो अभीष्ट सिद्ध हो जाता है, उसमें प्रमाण कहते हैं—'चिति०' इत्यादिसे।

आत्मचिति एक चिन्तामणि-सी है और कल्पवृक्ष-सी है, इसलिए वह आकाशवत् निर्मल होती हुई भी अपनेसे ही अपने स्वरूपमें जो भी अभीष्ट रहता है, उसे तत्काल ही सम्पादन करती है ॥ १६ ॥

यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य है, किन्तु अनिर्वचनीय है, इस प्रकार एक तृतीय अनिर्वचनीय प्रकारको माननेवाले अनिर्वचनीय वादियोंका मत भी सत्य ही है, क्योंकि सर्वशक्तिरूप ब्रह्मकी जो माया शक्ति न तो शून्यरूपा है और सत् (विद्यमान ब्रह्मरूपा) भी नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय ही है ॥ १७ ॥

इसलिए जिस किसी अपने निश्चयमें दृढ़रूपसे स्थित जो भी कोई हो, वह यदि चपलतावश उस निश्चियसे हटे नहीं, तो उस उस निश्चयके अनुसार अवश्य फल प्राप्त कर सकता है। अथवा अज्ञानके कारण अपने अभीष्ट निश्चयसे न हटे, तो

विचार्य पण्डितैः सार्धं श्रेष्ठवस्तुनि धीमता ।
स रूढो निश्चयो ग्राह्यो नेतरत्र यथा तथा ॥ १९ ॥
संभवत्युत्तमप्रज्ञः शास्त्रतो व्यवहारतः ।
यो यत्र नाम तत्राऽसौ पण्डितस्तं समाश्रयेत् ॥ २० ॥
सतां विवदमानानां सच्छास्त्रव्यवहारिणाम् ।
यः समाह्लादकोऽनिन्द्यः स श्रेष्ठस्तं समाश्रयेत् ॥ २१ ॥
सर्व एवाऽनिशं श्रेयो धावन्ति प्राणिनो बलात् ।
परिनिम्नं पयांसीव तद्विचार्य समाश्रयेत् ॥ २२ ॥

निश्चयानुसार अवश्य फल पाता है। इससे जब तक अज्ञान रहता है, तबतक अनेक सिद्धान्त सत्य हैं, अज्ञानके हट जानेपर आत्मज्ञान-कालमें तो आत्मा ही सत्य ठहरता है, दूसरा नहीं ॥ १८ ॥

इसीलिए अविचारोंसे जिस किसीका सिद्धान्त मान लेना अच्छा नहीं, यह कहते हैं--'**विचार्य**' इत्यादिसे ।

भद्र, बुद्धिमान् पुरुषको सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तुके विषयमें विद्वानोंके साथ विचार-विमर्श कर लेना चाहिए, फिर विचारके बाद जो भी दृढ़ निश्चय निकले, उसीको ग्रहण करना चाहिए, दूसरे जैसे तैसे निश्चयको ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

श्रेष्ठ पण्डितका लक्षण कहते हैं--'**यो यत्र**' इत्यादिसे ।

अध्ययन और सदाचरणसे जिस देशमें जो भी उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, उस देशमें वही पण्डित है, उसीका आश्रय लेना चाहिए ॥ २० ॥

भद्र, सत् शास्त्रके अनुसार व्यवहार करनेवाले, तत्त्वबोधार्थवाद करनेवाले सज्जन पुरुषोंके मध्यमें जो भी सर्वश्रेष्ठ आह्लादकारक तथा निन्दनीय निषिद्धाचरणोंसे रहित हो, वह पण्डित है, बुद्धिमान् उसीका अवलम्बन करें ॥ २१ ॥

तब क्या अन्य श्रेष्ठ निश्चयोंमें निष्ठा रखना निष्फल है, इस प्रश्नका नकारात्मक उत्तर देते हैं--'**सर्वः**' इत्यादिसे ।

भद्र, सभी पुरुष रात-दिन जोर-शोरसे अपने निश्चयके अनुसार माने गये अभीष्ट पदार्थकी ओर ऐसे ही दौड़ते हैं जैसे कि नीचेकी ओर जलराशि दौड़ती है। और उसे प्राप्त करते हैं, परन्तु उनमें परम पुरुषार्थका साधन कौन है, इसका विचार कर सत् शास्त्र एवं सद्गुरुका पुरुषको आश्रय लेना चाहिए ॥ २२ ॥

कल्लोलैरुह्यमानानां नृणां संसारसागरे ।
अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव बिन्दवः ॥ २३ ॥
श्रीराम उवाच
जगत्पूर्वं लतेवाऽपि विश्रान्ता वितते पदे ।
पूर्वापरविचारेण के परामावदर्शिनः ॥ २४ ॥
वसिष्ठ उवाच
जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते ।
येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव ॥ २५ ॥

सत्-शास्त्र और सद्गुरु दोनोंका जल्दीसे जल्दी आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वासयोग्य नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'**कल्लोलै०**' इत्यादिसे।

रामजी, संसारसागरमें मनरोधरूपी तरङ्ग परम्पराओंसे बहे जा रहे मनुष्योंके दिन ऐसे अलक्षित रूपसे व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकोंके अग्रभागपर लटके हुए जलबिन्दु ॥ २३ ॥

भोगोंकी तृष्णाएँ अति प्रबल हैं, अतः उनसे विरक्त मुमुक्षु दुर्लभ हैं, उनमें भी परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले श्रेष्ठ पण्डित, जिनका आपने उल्लेख किया है, अतिदुर्लभ हैं, इस अर्थको विस्तारसे सुननेके लिए श्रीरामजी पूछते हैं—'**जगत्**' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, अतिविस्तृत परमब्रह्मरूप पदमें पहलेसे ही प्राणियोंकी भोग-तृष्णा जगद्रूप हजारों वृक्षोंके वितनोंके जालका विस्तार कर, लताके सदृश, स्थित है। ऐसी स्थितिमें पूर्वापर जगत्स्वरूप अनर्थके विचार तथा सारासारके विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान्, जिनका आपने कथन किया, कौन होंगे अर्थात् ऐसे विद्वान् ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

सत्य है, ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदि-में प्रयत्नपूर्वक खोजनेसे वैसे विद्वान् मिल सकते हैं, ऐसा कहते हैं—'जातौ जातौ' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, देव, दानव, मनुष्य आदि हर एक जातिमें कुछ श्रेष्ठ विद्वान् विद्यमान हैं, जिनका कि 'यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियोंमें उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान सूर्यके सदृश उन्हीं विद्वानोंके प्रकाशसे दिवस दिवसरूप होते हैं ॥ २५ ॥

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चक्रावर्तविवर्तनैः ।
सर्वे तृणवदुह्यन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ ॥ २६ ॥
नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
देवा दिवि दवेनाऽद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥ २७ ॥
पातिता मदसंपन्ना दानवा दानवारिभिः ।
गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥ २८ ॥
न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम् ।
गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ।२९॥
विद्याधराश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नाऽऽदरम् ॥ ३० ॥
यक्षा विक्षोभितभुवो दत्ततामक्षता इव ।
दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥ ३१ ॥

उन विद्वानोंको छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागरमें संसार-चक्रोंके आवर्तन-परावर्तनसे ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृणके सदृश बहते रहते हैं॥२६॥

देव आदि जाति विशेषोंमें उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'नष्टात्म०' इत्यादिसे ।

जिन देवताओंकी आत्मामें निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्गमें भोगरूपी अग्निकी ज्वालाओंमें ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्निसे पर्वतपर वृक्ष जलते रहते हैं ॥ २७॥

मदसे चूर दानव तो दानवशत्रु देवताओंके द्वारा नरायणरूपी गड्ढेमें ऐसे गिराये गयें हैं, जैसे कि आलानसे (बाँधनेके खंभेसे) रहित गज बड़े गड्ढेमें गिराया गया हो ॥ २८ ॥

गन्धर्व लोगोंकी तो बात ही जाने दीजिये । वे तो गानरूपी मद्यमें रात-दिन आसक्त (मस्त) रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञानका लेश भी दिखला नहीं सकते । हरिणोंके सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याधके समीप वे जा रहे हैं ॥२९॥

विद्याधरोंमें ब्रह्मविद्याकी योग्यता है, इसलिए वे विद्याके आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकोंकी ओर वे आदर नहीं रखते, केवल मोहमें फँसकर भोगविद्याओंमें ही रात-दिन पड़े रहते हैं—इन्हींमें मस्त रहते हैं ॥ ३० ॥

यक्षोंकी भी बात न्यारी है, वे मनुष्योंकी निवासभूमिको क्षुब्ध किये हुए हैं,

दन्तिनामिव मत्तानां रंहसा हरिणाऽरिणा ।
कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥ ३२ ॥
भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया ।
धूमान्धकारानिलया ज्वालयाऽऽहुतयो यथा ॥ ३३ ॥
नागजालमृणालानि मग्नानि धरणीतले ।
नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥ ३४ ॥
विवरं शरणं येषां कीटानामिव भूतले ।
तेषामसुरबालानां विवेकेषु कथैव का ॥ ३५ ॥

अपनेको अविनाशी-सा समझते हैं यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदिके बलोंसे विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरोंके ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं ॥ ३१ ॥

जो राक्षस हैं, उनका तो शत्रुभूत विष्णुके द्वारा पूर्वमें अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्यमें करेंगे। राक्षस काम, बल और शौर्यके कारण हाथीके सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं। इसलिए इनके प्रमादका फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥ ३२ ॥

पिशाच तो सदा भूखसे ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरनेकी चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—**'भृशम्'** इत्यादिसे।

जैसे अग्निमें गिरी आहुतियाँ अपनेको निरन्तर धूम युक्त ज्वालाओंसे जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियोंको खा जानेकी चिन्तासे, जो कि अज्ञानरूपी धूमान्धकारको वायुके सदृश क्रोध, हिंसा आदिकी ज्वालारूप बना देती है, अपनेको जले हुए ही देखते हैं ॥ ३३ ॥

इसी तरह नागजातिमें भी विवेक नहीं है, यह कहते हैं—**'नागजाल०'** इत्यादिसे।

यह पाताललोकमें जो नागोंका जालरूप विसतन्तुओंका समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षोंके मूल समूहके सदृश जड़ (विवेकहीन) ही है ॥ ३४ ॥

कीटोंके सदृश भूतलके छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकोंके विवेककी तो कथा ही क्या यानी असुरोंमें तत्त्वज्ञानका जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥ ३५ ॥

अल्पमात्रकणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम् ।
पिपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥ ३६ ॥
सर्वासां भूतजातीनां व्यग्राणां व्यर्थदीर्घया ।
क्षीबाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥ ३७ ॥
न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम् ।
जलेऽगाधे निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥ ३८ ॥
नीयन्ते नियमाधूता मानवा मानवायुभिः ।
काम्पिकैः स्फुटतापूताः किरारुनिकरा इव ॥ ३९ ॥
पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः ।
दुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः पामरा इव ॥ ४० ॥

यों बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न देवोंसे लेकर असुर तकके लोगोंको जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरोंके लिए तो कहा ही क्या जाय, इस आशयसे कहते हैं—'अल्पमात्र०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिकाके समानधर्मा ही हैं, क्योंकि छोटेसे कणोंके लिए रातदिन वे घूमा करते हैं ॥ ३६ ॥

मद्यपियोंके सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियोंके दिन निरर्थक लम्बी-लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओंसे व्यतीत होते जाते हैं, विवेकका नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥ ३७ ॥

जैसे अगाध जलमें डूब रहे पुरुषका धूलि स्पर्श नहीं करती, वैसे ही विषयोंमें डूब रहे किसी पुरुषके भीतर निर्मल विवेक कभी स्पर्श नहीं करता ॥ ३८ ॥

राघव, देह आदिमें होनेवाले अभिमान एक प्रकारसे प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओंके झकोरोंसे मनुष्य अक्रोध आदि नियमोंसे चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं। इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य। जैसे सूप चलानेवाले खेतिहरोंके द्वारा धान्यको शुद्ध वनानेके लिए वह खरिहानमें उड़ाया जाता है और उस सार रहित धान्यको वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

जो योगिनियोंका गण है, वह तामस भोगासक्ति रूप तालाबके दल-दलमें जो कि सुरापान, रुधिरपान तथा मांसभोजन आदि रूप कीचड़ोंसे भरा है, पामरोंके सदृश फँसा हुआ है, उनको भी विवेककी मात्रा नहीं है, यह समझना चाहिए ॥ ४० ॥

केवलं यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कवरुणानिलाः ।
जीवन्मुक्ता हरिब्रह्मगुरुशुक्रानलादयः ॥ ४१ ॥

प्रजापतीनां सप्तर्षिदक्षाद्याः कश्यपादयः ।
नारदाद्याः कुमाराद्याः सनकाद्याः सुरात्मजाः ॥ ४२ ॥

दानवानां हिरण्याक्षबलिप्रह्लादशम्बराः ।
मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥ ४३ ॥

बिभीषणाद्या रक्षस्सु प्रहस्तेन्द्रजिदादयः ।
शेषतक्षककर्कोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥ ४४ ॥

ब्रह्मविष्ण्विन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुक्तदेहिनः ।
मुक्तस्वभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥ ४५ ॥

मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः ।
जीवन्मुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥ ४६ ॥

यों देव आदि योनियोंमें विवेक ज्ञानकी दुर्लभता बतला कर अब उनमें जो प्रबुद्ध हैं, उनमें कुछको, परिगणन कर, बतलाते हैं—'केवल०' इत्यादिसे ।

देवादिमें यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु, हरि, हर, ब्रह्मा, बृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि; प्रजापतियोंमें सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार; दानवोंमें हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि; राक्षसोंमें विभीषण आदि, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि; नागोंमें शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णु-लोक, इन्द्रलोकमें निवास करनेवाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं । इसी तरह कोई तुषित (देवयोनि भेद), सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं ॥ ४१-४५ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ, मनुष्योंमें राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोड़ों राजा आदिमें जीवन्मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ ४६ ॥

सभी जातियोंमें जीवन्मुक्त हैं ही, परन्तु वे अति दुर्लभ हैं, यह जो कहा गया, उसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—'भूतानि०' इत्यादिसे ।

भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
बोधान्वितानि विरलानि भवन्ति किन्तु ।
वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
कल्पद्रुमास्तु विरलाः खलु संभवन्ति ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे विवेकिविरलत्ववर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः ॥ १ ॥
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाऽऽविशन्त्याहरन्ति च ।
उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च ॥ २ ॥

अनेक तरहके असङ्ख्य प्राणी चारों ओर दिशाओंमें भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञानसम्पन्न बहुत ही विरल होते हैं, ठीक ही है, फलों, पल्लवोंसे युक्त वृक्ष होते तो असङ्ख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥ ४७ ॥

सत्तानबे सर्ग समाप्त

अट्ठानबे सर्ग

[तत्त्वज्ञानी सन्तोंके लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उनके दोषोंकी उपेक्षा कर उनका आश्रयण करनेका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्ममें विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओंके लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोहकी अल्पता ही जब तत्त्वज्ञोंका लक्षण है, तब उनकी निर्दोषतामें तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥

महात्मा तत्त्वज्ञानी न तो किसीसे प्रसन्न होते हैं, न किसीपर क्रोध करते हैं, न किसी विषयमें अभिनिवेश (आसक्ति) करते हैं, न खाद्य वस्तुओंका

न नास्तिक्यान्न चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवैदिकाः ।
मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः ॥ ३ ॥

सङ्गादाह्लादयन्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥ ४ ॥

अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव ।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपरावराः ।
हेयोपादेयवेत्तारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥ ६ ॥

संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न लोगोंको ही उद्विग्न करते हैं ॥ २ ॥

शरीरको अधिक क्लेश पहुँचानेवाले पारलौकिक वैदिक कर्मोंमें भी शुष्क वैदिकके सदृश हठसे प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावनासे जनित अभिमानप्रयुक्त हठसे न कष्टकारक वैदिक अनुष्ठानमें निरत रहते हैं । उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञ लोग अपने सङ्गसे चन्द्रकिरणोंके सदृश अन्तःकरणको उल्लास युक्त बना देते हैं । करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्योंसे विवेक कर एक क्षणमें ही सन्देह मिटा देते हैं ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञोंके आचरणसे कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं । बाहरसे उनका आचरण सभीके सदृश होता है, परन्तु भीतरसे वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञ शास्त्रोंके अर्थोंमें बड़ा ही रस लेते है, उत्तम और अधम लोकोंको जानते हैं, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भली भाँति जानते हैं तथा समयपर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥ ६ ॥

विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
अनावरणसौगन्ध्यैः परास्पदसुखाशनैः ॥ ७ ॥

पूजयन्त्यागतं फुल्ला भृङ्गं पद्मा इवाऽर्थिनम् ।
आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥ ८ ॥

शीतलास्पदवत्स्निग्धाः प्रावृषीव पयोधराः ।
भूभृद्भङ्गकरं धीरा देशभङ्गदमाकुलम् ।
रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ॥ ९ ॥
उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ।

चन्द्रबिम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ॥ १० ॥
यशःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ।
पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ॥ ११ ॥

लोकशास्त्रके विरुद्ध आचरणोंसे सदा विरत रहते हैं, सज्जनोंके बीच स्थितिमें यानी सदाचरणमें अत्यन्त रसिक होते हैं। उपदेशसे हृदयकमलको खोल कर उसमें भरे गये ज्ञानके सौगन्ध्योंसे तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादिसे आये हुए अतिथियोंकी पूजा करते हैं। पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगत भ्रमरका आश्रयदान आदिसे सत्कार कर रहे विकसित कमलोंके सदृश लगते हैं। जनताके सन्तापोंका अपहरण करनेके कारण वे जनताको अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकालके मेघोंके सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यानके सदृश स्निग्ध होते हैं। भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक, देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दुर्भिक्ष आदिसे जनित जनता क्षोभको तपस्याके प्रताप, सत्कर्मोंके अनुष्ठान, साम आदि उपायोंसे ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्पको पर्वत ॥ ७, ९. ॥

नानाविध उत्तम गुणोंसे पूर्ण, चन्द्रबिम्बके सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम भार्याके सदृश अनेक गुणोंसे पूर्ण शान्ताकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियोंमें उत्साह देते हैं और सम्पत्तियोंमें सुख पहुँचाते हैं ॥ १० ॥

यशरूपी फूलोंसे सारी दिशाओंको निर्मल बनानेवाले, भावी उत्तम फलके हेतु तथा कोकिलके सदृश मधुरभाषण करनेवाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥ ११ ॥

कल्लोलबहुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ।
लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ॥ १२ ॥
वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ।
तच्च रोधयितुं शक्तास्तटस्थाः साधुपर्वताः ॥ १३ ॥
आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ।
संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ॥ १४ ॥
एभिश्चिह्नैरथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ।
आश्रयेतैकविश्रान्त्यै श्रान्तः संसारवर्त्मना ॥ १५ ॥
यस्मादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ।
विना सत्सङ्गमन्येन पोतकेन न तीर्यते ॥ १६ ॥
आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ।
इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ॥ १७ ॥

अज्ञानी राजा आदिके चित्तको एक महार्णव ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरहके कल्लोल ही बड़े बड़े आवर्त हैं, व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त शिशिर पवनसे विक्षिप्त तरङ्गोंके व्याजसे हेमन्तके सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हँस आदिके निवासस्थान पद्मवनको विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े बड़े तरङ्ग हैं। उस महार्णवको उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकनेमें अत्यन्त समर्थ हैं ॥ १२, १३ ॥

भद्र, आपदाओंमें, बुद्धिनाशमें भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मरण आदि कलोलोंमें, व्याकुल देशोंमें तथा दुरन्त सङ्कटोंमें सज्जनोंकी सन्त ही गति हैं ॥ १४ ॥

हे श्रीरामजी, इन लक्षणोंसे तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणोंसे उन उत्तम अन्तः-करणवाले महात्माओंका परीक्षण कर आप आत्मामें शान्ति प्राप्त करनेके निमित्त उनका आश्रयण कीजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्गमें भ्रमण करते करते श्रान्त हो गये हैं ॥ १५ ॥

भद्र, यह संसाररूपी साँपोंसे भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्सङ्गरूपी जहाजको छोड़कर दूसरे किसी भी जहाजसे नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्सङ्गका आश्रयण करना ही होगा ॥ १६ ॥

हमको आत्मा या सत्पुरुषके सम्बन्धमें विचार करनेसे क्या, प्रारब्धवश जो

एकोऽपि विद्यते यस्य गुणस्तं सर्वमुत्सृजन् ।
अनादृतान्यतद्दोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ॥ १८ ॥
गुणान्दोषांश्च विज्ञातुमाबाल्यात्स्वप्रयत्नतः ।
यथासंभवसत्सङ्गशास्त्रैः प्राग्धियमेधयेत् ॥ १९ ॥
दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।
स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्क्रमात् ॥ २० ॥
याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ।
यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ॥ २१ ॥

भी कुछ समयपर हो जायगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा—यों भीतर प्रमाद करके गर्तकीट के सदृश कभी भी पुरुषको नहीं बैठे रहना चाहिए ॥ १७ ॥

भद्र, मैंने अभी अभी आपसे जिन उत्तम गुणोंका वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसीमें उपलब्ध हो जाय, तो दूसरे गुणोंकी या उसमें विद्यमान अन्य दोषोंकी परवाह न कर उतने गुणके उद्देश्यसे उस महात्माका आश्रयण करना चाहिए ॥ १८ ॥

गुण और दोषोंको जाननेके लिए बाल्यावस्थासे लेकर अपने आप प्रयत्न करना चाहिए, अपने प्रयत्नसे ही यथासंभव सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंसे पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥ १९ ॥

यदि दोषका कुछ लेश होवे, तो उसका अनादर कर सज्जनकी नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोषवाले पहलेके परिजनोंका क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥ २० ॥

पूर्व परिजनोंका त्याग न करनेपर कौन दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—**'याति'** इत्यादिसे ।

उनका परिहार न करनेपर शोधित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादिसे कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्तिसुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोकमें जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोकमें इस प्रकार दोष परिजनोंके अपरिहारमें देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

भले ही ऐसा हो, उससे भी क्या दोष हुआ ? इसपर कहते हैं—**'एष'** इत्यादिसे ।

एष सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ।
देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ॥ २२ ॥
सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥ २३ ॥
न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद्भवे-
द्भजेत साधून्विनयक्रियान्वितः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं
विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः सर्गः । ९८ ॥

यह जगत्का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही देश-कालवश जनताके दुरदृष्टोंके कारण महोत्पातरूपसे भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्रकी लुब्ध (लोभी) अमात्योंके समर्थनसे वसिष्ठजीकी कामधेनुके हरणमें प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर वैरकी वृद्धिसे जगत्में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥ २२ ॥

कथितका अनुवाद कर उपसंहार करते हैं—**'सर्व०'** इत्यादिसे ।

सब कर्मोंको छोड़कर सज्जनोंका ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूपसे इहलोक एवं परलोक दोनोंका साधन है यानी दोनों लोकोंकी प्राप्ति करता है ॥ २३ ॥

इस प्रकारका सज्जनसमागम, गुणोपार्जनक्रमसे जबतक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तबतक, बीचमें कभी छोड़ना नहीं चाहिए, यह कहते हैं—**'न'** इत्यादिसे ।

भद्र, किसी भी कालमें सज्जन सद्गुरुसे दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओंसे युक्त होकर साधु पुरुषोंकी निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओंके पास जानेमात्रसे विसरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवालेमें ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलोंकी सुगन्ध तिलोंमें सम्बन्धमात्रसे मिश्रित हो जाती है ॥ २४ ॥

अट्ठानबे सर्ग समाप्त

नवनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
मन्त्रौषधितपोदानतीर्थपुण्याश्रमाश्रयाः ॥ १ ॥
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
कथं स्थिताः किमारम्भास्तेषां दुःखक्षयः कथम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥ ३ ॥

निन्नानबे सर्ग

[कृमि, कीट, पतङ्ग, तिर्यग्योनि, स्थावर आदि जातियोंका इस संसारमें जैसा भोग होता है, उस सबका वर्णन]

कृमि, कीट आदि अतिमूढ़ जन्तुओंका तो जीवन ही दुर्लभ हो जायगा, क्योंकि तात्कालिक दुःखशान्तिका उपाय वहाँ है ही नहीं, उनमें ऐसी शक्ति है नहीं जिससे कि वे दुःखशान्तिका उपाय जान सकें। ऐसी स्थितिमें वे किस तरह जीते हैं, यों श्रीरामजी उनकी संसारस्थितिको, जातिप्रसङ्गसे, जानने की इच्छासे पूछते हैं—**'सन्ति'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, हम मनुष्य-जातिके लोगोंके दुःखक्षयके लिए तो शास्त्र, सत्सङ्ग, मन्त्र, ओषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रममें निवास आदि उपाय हैं; परन्तु कृमि, कीट, पतङ्ग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपायसे होगा, उपायके अभावमें उनका जीवनयापन कैसे ? यानी वे किस तरह जी सकते हैं ॥ १, २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस संसारमें जितने भी जीव हैं वे चाहे स्थावर हों, चाहे जङ्गम हों, वे सब अपने अपने योग्य भोगोंके उचित सुखसत्तामें ही विश्राम किये रहते हैं और उसीसे अपना अपना जीवन भी धारण किये हुए है, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत्-योनियोंमें भोग्य जो विषय-सुखकी मात्रा है, वही तत्-तत् जीवोंका महान् पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्रासे

भूतानामणुमात्राणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
किन्त्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वचलसंनिभाः ॥ ४ ॥
यथा विराट् प्रयतते वालखिल्यास्तथैव खे ।
बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याऽहंकृतिजृम्भितम् ॥ ५ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः ।
शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥ ६ ॥

वे विश्रान्ति लेते हैं और उसीकी आशासे अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, छोटे छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनिके अनुसार हम मनुष्य जातिके लोगोंकी जैसी ही सुख भोगनेकी इच्छाएँ रहती ही हैं, परन्तु हम लोगोंको उन भोगोंमें एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करनेमें कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषोंकी अधिकताके कारण तथा विवेककी मात्राके अभावसे उन भोगोंमें अधिक आस्था है और उनको पानेमें उन्हें पर्वतके सदृश बड़े बड़े विघ्नोंका सामना भी करना पड़ता है ॥ ४ ॥

यदि प्रश्न हो कि भोगोंमें बहुत आस्था है, यह आपने कैसे जाना, तो इसका उत्तर है—प्रयत्नकी अधिकता, इस आशयसे कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

भद्र, जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभानेकी अनेक चेष्टाओंके द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशोंके अग्रभागके सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालककी मुट्ठीके छेदकी अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाशमें प्रयत्न करते हैं, देखिये तो सही कि कैसी अहङ्कारकी महिमा है ॥ ५ ॥

एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाशमें उत्पन्न होते हैं और वहींपर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्नसे तनिक भी हटते नहीं ॥ ६ ॥

कण आदिके उपार्जनमें पिपीलिका आदिका अधिक प्रयत्न देखा जाता है, इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोगकी आस्था बहुत है, इस आशयसे कहते हैं—**'पिपीलिका०'** इत्यादिसे ।

पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
अस्मद्दिवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥ ७ ॥
त्रसरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः ।
गमने व्यग्रता तस्य गरुडस्येव लक्ष्यते ॥ ८ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम् ।
जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोच्चैर्गुणैः कृमेः ॥ ९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम् ।
क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥ १० ॥
पादपाः किंचिदुन्निद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥ ११ ॥

भद्र, देखिये---ग्रास तथा निवासका सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओंसे यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिकाके लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जनप्रयत्नके लिए क्षणके सदृश पर्याप्त ही नहीं है ॥ ७ ॥

भद्र, यह एक और नवीनता सुनिये---तिमिनामका जो अत्यन्त छोटा त्रसरेणुके बराबरका जीव है, उसकी गमनमें ऐसी व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड़की गमनमें व्यग्रता दीखती हो ॥ ८ ॥

देहमें और देहभोग्य वस्तुओंमें अहंममताका अध्यास मनुष्य और कृमि दोनोंको एक सा है, यह कहते हैं---**'अयम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह, वह, मैं, यह मेरा है, वह मेरा है, इस तरह कल्पित अध्यास-रूप जगत् जैसे मनुष्योंके लिए अनेक ऊँचे गुणोंके कारण अत्यन्त आस्थाका भाजन है, ठीक वैसे ही कृमिके लिए भी है ॥ ९ ॥

विषयोंकी आस्थाके कारण आयुका जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदिका समान है, यह कहते हैं---**'देश०'** इत्यादिसे ।

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयोंकी प्राप्तिके निमित्त व्यग्र बुद्धिसे जैसे हम लोगोंका जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटोंका भी उक्त व्यग्र बुद्धिसे जीवन क्षीण हो जाता है ॥ १० ॥

वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही

शरीरनाश एवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत्।
अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥ १२ ॥
जनो द्वीपान्तरं यादृग्विक्रीतः परिपश्यति।
पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥ १३ ॥
अस्माकमिव संसारस्तिरश्चां सुखदुःखदः।
पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥ १४ ॥
हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः।
पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥ १५ ॥

रहते हैं यानी घनी नींदसे सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्योंके जैसे अपने अपने उचित विषयभोगमें निद्रा एवं जागरण—दोनोंसे युक्त रहते हैं ॥ ११ ॥

शरीरकालमें सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगोंके सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन (शरीरमें प्राणस्थिति) सुख पैदा करनेवाला है ॥ १२ से

हम लोगोंके भोग्य, घर, महल, धन आदिको वे कैसे देखते हैं, इसे कहते हैं—**'जनः'** इत्यादिसे।

जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीपको उदासीनतासे मुग्धदृष्टि होकर देखता है, वैसे ही पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थोंको उदासीनतासे मुग्धदृष्टिसे देखते हैं ॥ १३ ॥

जैसे हम मनुष्यजातिके जीवोंको संसार सुख-दुःख देनेवाला है, वैसे ही तिर्यग्योनि पशुओंको भी है। केवल भेद इतना है कि उत्कर्षापकर्ष बुद्धिके कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥ १४ ॥

बेचे गये मनुष्यकी समानता पशुमें बतलाते हैं—**'हृदयात्'** इत्यादिसे।

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मनसे भीतर भीतर सुख दुःखसे खींचे जाते हैं और बाहरसे नाथ रज्जुके द्वारा नासिका प्रदेशसे खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनतासे खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरहके द्वीपान्तरमें विक्रीत पामर जन भी होते हैं, इस लिए दोनोंकी समता है ही ॥ १५ ॥

सुप्तानां यादृगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुद्दामवेदनम् ॥ १६ ॥
यादृगस्माकमीत्यर्थक्रमसंसारपातिनाम् ।
पदार्थवेदनं तादृक्तिरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥ १७ ॥
आह्लादमात्रसौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥ १८ ॥

वृक्ष आदिके सुख, दुःखके अनुभव की प्रणाली हमारे सुख दुःखके अनुभवके अनुरूप ही है, ऐसा उपपादन करते हैं—**'सुप्तानाम्'** इत्यादि श्लोकसे।

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निद्रादेवीकी गोदमें अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो सुखशून्य नींदमें हमें जैसे महाक्लेशका अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेशका अनुभव पेड़, पौधे, अङ्कुर आदिको होता है। श्लोकमें अङ्कुरका ग्रहण अति सुकुमार होनेके कारण उसे कृमि, कीड़ों आदिके काटनेपर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करनेके लिए है ॥ १६ ॥

पूर्वमें जो यह कहा था कि हम लोगोंकी भाँति ही पशु, मृगादिको भी संसार सुख ओर दुःखदायक है, किन्तु वे पदार्थोंके गुण, क्रियोपयोग (इसमें यह गुण है यह इस कार्यके उपयोगी है) आदि विवेचनसे, जिससे उत्कर्ष और अपकर्षका ज्ञान होता है, सर्वथा कोरे हैं। इस बातको उपपादनके द्वारा अनुभवमें चढ़ाते हैं—**'यादृग'** इत्यादिसे।

जैसे देशविप्लवके समय पलायन द्वारा धावन आदि गतिके लिए कुश, काँटे, जली हुई बालूपर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतोंपर पड़े हुए हम लोगोंको चारों ओरसे भयकी आशङ्कासे पूर्ण पदार्थज्ञान होता है वैसा ही पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनिवाले जीवोंको भी सदा होता है ॥ १७ ॥

यदि मन विकल्प-ज्ञानोंसे शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्दमें और भोजन, निद्रा, मैथुन आदिसे होनेवाले सुखोंमें इन्द्र और कीड़ेकी मनकी प्रसन्नतारूप सौम्यता एक सी है। केवल विकल्प ही दोनोंके लिए—इन्द्र ओर कीड़ेके लिए—हिमालयके समान अलङ्घ्य है ॥ १८ ॥

रागद्वेषभयाहारमैथुनोत्थं सुखासुखम् ।
तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥ १९ ॥
ऋते पदार्थभूतार्थमविष्यद्वस्तुबोधतः ।
शेषं बभ्व्रहिगोमायुगजादीनां नृभिः समम् ॥ २० ॥
निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः ।
स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥ २१ ॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्रीसंग जनित सुख और दुःख तथा जन्म-मरणके समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़ेका समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १९ ॥

शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थोंके सिवा शेष ज्ञान नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिका मनुष्यका-सा ही है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है यानी नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिको शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, मनुष्यको हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्यको है वैसा ही नकुल आदिको भी है ॥ २० ॥

तो पर्वत आदि कैसे अनुभव करते हैं? इस आशङ्कापर कहते हैं—'**निद्रा०**' इत्यादिसे ।

गाढ़ निद्रावाले (सुषुप्तिमें स्थित) वृक्षादिकी अत्यन्त मूढभावसे जो अपनेमें स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाशका अनुभव करते हुए सदा समाधिमें स्थित हैं ॥ २१ ॥

इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रामें मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्तामें स्थित हैं, जंगम जीवोंमें भी तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाशस्वरूप ही हैं । हाँ, कतिपय अज्ञानी जङ्गम जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है । किन्तु उनकी दृष्टि उक्त बहुतसे लोगोंकी दृष्टिसे विरुद्ध जगत्सत्ताकी सिद्धि नहीं कर सकती, इस आशय से कहते हैं—'**आपीन०**' इत्यादिसे ।

आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्थास्तथाऽद्रयः ।
जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किंचित्कदाचन ॥ २२ ॥
अखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भूरुहाम् ।
द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात् खमेवैकमतो जगत् ॥ २३ ॥
परिज्ञातं जगद्यावदपरिज्ञानसंयुतम् ।
न त्वं नाऽहं न चैवाऽस्तिनास्ती न च भविष्यति ॥ २४ ॥
यथास्थितं सदैवेदं मौनमेव शिलाघनम् ।
अनाद्यन्तमविच्छिद्रमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥ २५ ॥
पूर्वं सर्गाद्यथैवाऽऽसीत्तथैवैकं समस्थितम् ।
भविष्यत्यधुनाऽनन्तं कालमेवं तथैव च ॥ २६ ॥

वृक्ष आदि गाढ़ निद्रामें हैं और पर्वत आदि अपनी सत्तामें स्थित हैं। जो जङ्गम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, मोक्ष आदि अवस्थाओंमें चिदाकाश-रूप ही हैं । जङ्गम जीवोंमेंसे किन्हींको कभी (स्वप्नमें) अर्धविकाससे और कभी (जागरणावस्थामें) पूर्ण विकाससे भासमान भी जगत् बहुतोंकी दृष्टिके अनुरोधसे चिदाकाश ही है ॥ २२ ॥

जो पर्वत आदिकी सत्ता और जो वृक्षोंकी निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होनेके कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टिसे जगत् एक अज्ञानोपहित चिन्मात्र ही है ॥ २३ ॥

औरोंकी दृष्टिसे भी आत्मतत्त्व जबतक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्वका परिज्ञान होनेपर तो न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत्का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटिमें जगत्की स्थिति नहीं है ॥ २४ ॥

शिलाके समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूपसे अप्रच्युत, उत्पत्ति-नाशसे रहित, निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है । वह जैसे निद्रा आत्मामें ही स्वाप्नजगत्-वैचित्र्यकी कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे अपनेमें ही जगद्वैचित्र्यकी कल्पना कर रहा है, वास्तवमें वह निर्विकार है ॥ २५ ॥

परमार्थदृष्टिसे तो सद् ही एकरूप है, यह कहते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे ।

सृष्टिके पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान कालमें भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥ २६ ॥

नैवाऽऽत्मता न परता न जगत्ता न शून्यता ।
न मौनता न मौनित्वं किंचिन्नेहोपपद्यते ॥ २७ ॥
त्वं यथास्थितमेवाऽऽस्व यथास्थितमहं स्थितः ।
सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहाऽस्ति किंचन ॥ २८ ॥
परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे वद ।
विद्यते किल तच्छान्तं चिद्व्योमाऽच्छमनामयम् ॥ २९ ॥
अपरिज्ञप्तिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते साऽपि न क्वचित् ॥ ३० ॥
परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किंचन ।
ग्रहस्तदेनं प्रति किं स्नेहो वन्ध्यासुते तु कः ॥ ३१ ॥
स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नमणावणौ ।
किमुपादेयता काऽऽस्था प्रबोधेऽसौ न किंचन ॥ ३२ ॥

सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर और भेद क्यों कर होंगे, यह कहते हैं,—'नैव' इत्यादिसे।

न तो आत्मता है, न परता है, न जगत्ता है, न मौनता है, न मोनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूपमें कुछ भी उपपन्न नहीं है ॥ २७ ॥

आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ, परम आकाशमें सुख और दुःखका नाम नहीं है और पराकाशके सिवा यहाँ कुछ नहीं है ॥ २८ ॥

जरा बतलाइये तो सही स्वप्ननगरमें परमाकाशताको छोड़कर क्या है? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्ननगर है ॥ २९ ॥

केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। जब परम ब्रह्मका परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञानका भी कहीं पता नहीं रहता ॥ ३० ॥

जब जगत्‌रूपी स्वप्नका ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती। जगत्‌के प्रति अभिनिवेश (आसक्ति) वन्ध्यापुत्रमें स्नेह करनेके सदृश ही उपहासास्पद है ॥ ३१ ॥

स्वप्नकालके ज्ञात होनेपर प्रत्येक अणुमें जगत्-स्वप्नकी सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्थामें जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या तो-उपादेयता है और क्या उसपर आदर किया जाय ॥ ३२ ॥

यन्न किंचित्प्रबोधेऽस्ति नाऽप्रबोधेऽस्ति तत्क्वचित् ।
यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥ ३३ ॥
विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा ।
बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाऽखिलम् ॥ ३४ ॥
यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसां क्षतिः ।
तथा देहेन निहते देहे नाऽस्ति चितेः क्षतिः ॥ ३५ ॥
चितावाकाश एवाऽहं देह इत्युपजायते ।
संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥ ३६ ॥
प्रबुद्धस्यैव चिद्व्योम्नः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
पृथ्व्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥ ३७ ॥
सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्व्यादिवस्तुधीः ।
स्वप्नार्थे सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥ ३८ ॥

जिस वस्तुकी प्रबोधावस्थामें कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्थामें भी कहींपर नहीं है। जो अप्रबोधावस्थामें उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीतिके रूपसे प्रसिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है। ये सब वस्तुएँ अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तवमें कुछ नहीं हैं ॥ ३४ ॥

ऐसी स्थितिमें मिथ्या देह आदिके मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उन दोनोंके अधिष्ठानरूप-आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ा, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे एक लहरके आघातसे दूसरी लहरके छिन्न-भिन्न होनेपर जलकी कुछ हानि नहीं होती वैसे ही एक देहसे दूसरी देहके नष्ट होनेपर चित्को भी क्षति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

आकाशरूप चित्में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्थामें भ्रमात्मक ज्ञानरूप देहके नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

ज्ञानघन चिदाकाश ही स्वप्न जगत्‌रूपसे प्रसिद्ध है। चूँकि यह जगत् स्वप्न-जगतके समान पृथिवी आदिसे शून्य है, इसलिए स्वप्नरूप है ॥ ३७ ॥

पूर्व चित्के स्वप्नसे सृष्टिके आदिमें पृथिवी आदि पदार्थबुद्धिका उदय

पूर्वात्पूर्वतरस्याऽस्य स्वप्नस्याऽवयवस्थितौ ।
सत्यैवाऽसत्यरूपायां पृथ्व्यादिकलना कृता ॥ ३९ ॥
सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथाऽसत्यैव सत्यताम् ।
परमामागता तत्तु सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४० ॥
वस्तुतस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाऽऽततं स्थितम् ।
न च तत्संस्थितं किंचित्स्मर्ताऽस्मर्ता किमात्मकः ॥ ४१ ॥
एवंमात्रापरिज्ञानमेवाऽत्र प्रतिबोधकम् ।
अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटपविघाटनम् ॥ ४२ ॥

हुआ। स्वप्नके पदार्थमें सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार पूर्वसे पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्नके अवयवोंमें मूढोंने सत्य पृथ्वी आदिकी कल्पना ऐसे हो कर डाली जैसे कि आधुनिक असत्य वस्तुमें सत्य कल्पना की जाती है ॥ ३९ ॥

वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यताको प्राप्त हो गई। किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मलका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४० ॥

असत्यस्वरूप जगद्भ्रान्तिको मूढोंने अपनी कपोलकल्पनासे सच सी मान लिया है, यों 'इव'से सत्यसे उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पनामें सत्यार्थ-कल्पनाकी समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो। दूसरी हालतमें यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'वस्तुतस्तु'** इत्यादिसे।

वास्तवमें अपने स्वरूपसे अच्युत सच्चिदानन्दरूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यरूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा। ऐसी परिस्थितिमें जब उसके अनुभवकी सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करनेवाला या विस्मरण करनेवाला भला कौन होगा? ॥ ४१ ॥

तब असत्य पदार्थमें अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यताकी समानताका प्रतिबोधक क्या होगा? ऐसी आशङ्कापर स्वप्रकाश सत्यस्वरूपका अज्ञान ही असत्यमें सत्यत्वके सादृश्यका प्रतिबोधक है, यह कहते हैं—**'एवं मात्रा०'** इत्यादिसे।

यथार्थस्वरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्रविषयक अज्ञान ही जगत्में (असत्यमें) सत्यत्वकी समानताका प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्वका परिज्ञान ही आवरणरूप

पारिशेष्यान्न पृथ्व्यादि किंचित्संभवति क्वचित् ।
यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥ ४३ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बाद्बिम्बं भाति जगत्तथा ।
चिद्व्योमनि स्वतो भातमबिम्बादेव बिम्बितम् ॥ ४४ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बं न दृष्टमपि किंचन ।
तथा चिद्व्योमगं विश्वं न दृष्टमपि किंचन ॥ ४५ ॥
लभ्यते यद्विचारेण यत्सकारणकं स्थितम् ।
तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥ ४६ ॥
भवेद्भ्रमात्मकमपि किंचिदर्थक्रियाकरम् ।
स्वप्नाङ्गनाऽपि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४७ ॥

अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति-कपाटका उद्घाटन है ॥ ४२ ॥

अज्ञान-कार्यके साथ अज्ञानका नाश होनेपर चिन्मात्र शेष रहनेसे पृथ्वी आदि किसीका कहींपर भी संभव नहीं है। जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥ ४३ ॥

जैसे दर्पणमें निमित्तभूत बाहरी बिम्बसे भीतर प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्बके बिना ही अपने-आप चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित जगत् प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

दर्पणके दृष्टान्तसे विवक्षित अंशको कहते हैं—'मुकुरे' इत्यादिसे ।

जैसे दर्पणके अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तवमें कुछ नहीं है वैसे ही चिदाकाशमें प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थदृष्टिमें कुछ भी नहीं है ॥ ४५ ॥

जो वस्तु शास्त्रीय विचारसे प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाणरूप कसौटीसे प्रमाणित है वही सत् है उससे अन्य तो प्रतिभामात्र है, वह तीनों कालोंमें सत्ता-शून्य है—न भूतकालमें था, न वर्तमानमें है और भविष्यत्में होगा । भला वह सत् कैसे हो सकता है ॥ ४६ ॥

यदि जगत् असत् है तो वह व्यवहारार्थ क्रियाके योग्य कैसे है, इस शङ्का-पर कहते हैं—'भवेद्' इत्यादिसे ।

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती हैं, जैसे स्वप्नस्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्योंकी सत्य वीर्यविसर्जनरूप अर्थक्रिया करती ही है ॥ ४७ ॥

यत्तद्भानं तु सा चिद्भा परमं तच्चिदम्बरम् ।
इति क्वाहं क्व विश्वश्रीः क्व त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥ ४८ ॥
मृत्वा पुनर्भवनमस्ति किमङ्ग नष्टं
मृत्वा न चेद्भवनमस्ति तथापि शान्तिः ।
विज्ञानदृष्टिवशतोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
स्तन्नेह किंचिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥ ४९ ॥
मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदज्ञ एव
जानात्यसौ नहि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।
मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
जानाति तच्चपलवीचिविवर्तनानि ॥ ५० ॥

'अहम्' आदि जगत्की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकारकी नहीं है। जो जगत्का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्यका प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भानका व्यावर्तक दृश्यरूप यदि भानसे पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भानका व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करनेपर जगत्का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्वशोभा है, कहां आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं ?

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदारमति आपकी, जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टिसे चिन्मात्र-स्वरूप हैं, देहके विनाशसे मरकर फिर अन्य देहकी उत्पत्तिसे उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई ? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयानन्दरूप चैतन्यका नाश और उत्पत्तिसे तनिक भी स्पर्श नहीं है यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपञ्चका उपशम ही है। इसलिए उक्त दोनों ही पक्षोंमें तनिक भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है ॥ ४९ ॥

तब मूर्खको मरण और जन्ममें क्योंकर दुःख प्राप्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसके प्रति उस दुःखप्राप्तिका मूर्खको ही अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं—**'मूर्खस्य'** इत्यादिसे।

मूर्खको जिस प्रकारका दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगोंकी जानकारीके बाहरकी बात है। देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदीके जलमें 'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपताका अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी

अन्तर्बहिस्त्वमहमित्यपि चैवमादि
सर्वात्मकं तपति चिन्नभ एकमेव ।
शाखाशिखाविटपपत्रफलैकदेहः
संकल्पवृक्ष इव बोधखमात्रसारः ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये ।
तेषां येषामयं पक्षः श्रूयतामुच्यतां ततः ॥ १ ॥

नदीकी) चञ्चल लहरोंका लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा–नदीकी भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा ॥ ५० ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत् बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलोंके रूप-धारण द्वारा सङ्कल्पवृक्ष बनकर मनोराज्यमें प्रकाशमान होता है ॥ ५१ ॥

निन्नानबे सर्ग समाप्त

सौ सर्ग

[देहको आत्मा माननेवालोंके मतमें आग्रह रखनेवालोंकी भी बुद्धि जैसे वास्तविक तत्त्वकी ओर आकर्षित हो जाय वैसी युक्तिका प्रतिपादन]

पहले सृष्टिवादियोंकी उक्तिकी सत्यताके वर्णनके सिलसिलेमें 'स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम्' इससे चार्वाककी उक्तिको समुचित कहा, उक्त कथन उनके अभिमत सब आस्तिक जनोंके विपक्षरूप देहात्मवादके विषयमें कैसे उचित है अथवा उनकी पुरुषार्थसिद्धि कैसे होती है, यह सब जाननेके लिए इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'युक्तिः' इत्यादिसे ।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।
तत्तथैवाऽनुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ ३ ॥
यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्व्योम सर्वगम् ।
तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थस्याऽत्यसंभवात् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न ध्यान देकर सुननेकी कृपा कीजिये तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देनेका अनुग्रह कीजिये। जब तक जीवे, आरामसे जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। [जीतेजी अपनी मृत्युका प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरोंकी मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्युका भी उसी तरह अनुमान हो सकता है। यदि कहिये चार्वाकोंके मतमें अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्षके सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते। अच्छा, उनके मतमें देह-नाश ही मृत्यु हो। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मतमें देह-नाश ही सकल दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वाञ्छनीय ही है इस आशयसे कहते हैं—'भस्मीभूतस्य'।] सकलदुःखोंकी निवृत्तिको प्राप्त भस्मीभूत देहका पुनः आगमन कैसे हो सकता है। ऐसा जिनका सिद्धान्त है, इस संसारमें उनकी दुःखशान्तिके लिए कैसी युक्ति है? ॥ १,२ ॥

संवित्को अपने निश्चयके अनुसार ही विवर्तका अनुभव होता है, ऐसा नियम है। उक्त नियममें ही संवित्की देहात्मभावमें भी उपपत्ति होती है और मोक्षमें भी उपपत्ति होती है। इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उसका समर्थन करते हैं—**'यम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—संवित् जो जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्योंका त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है ॥ ३ ॥

जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त है वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है। वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगोंसे कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्तके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तुका अत्यन्त असंभव है ॥ ४ ॥

अन्य वस्तुके असंभवमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टिके पूर्व

सर्गादौ तद्दतेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि ।
अकारणत्वान्नाऽस्त्येव ब्रह्मैवेदमतस्ततम् ॥ ५ ॥
समस्तवेदशास्त्रार्थं ये महाप्रलयादि च ।
नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥ ६ ॥
सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वं ब्रह्मेदमित्यलम् ।
स्थितं सानुभवं योक्तृ येषां तैर्न कथाक्रमः ॥ ७ ॥

यह सत् ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे परिपोषित युक्ति कहते हैं—**'सर्गादौ'** इत्यादिसे ।

सृष्टिकी पूर्वावस्थामें, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलयका ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्मके सिवा कोई पदार्थ था ही नहीं, उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्वमें होनेकी संभावना हो । इसलिए यह ब्रह्म ही जगत्के रूपसे व्याप्त है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि हम ब्रह्मरूपी महाप्रलय ही नहीं मानते, जैसे बीजाङ्कुर आदिकी परम्परा अनादि है वैसे ही पृथिवी आदि महाभूतोंका प्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है, अतः इससे विलक्षण जगत् कभी रहा ही नहीं । इस तरहके पूर्वमीमांसक आदि कर्मकाण्डियोंके पक्षका खण्डन करते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस परम पदका प्रतिपादन करते हैं), 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (उसीको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध सकल वेद और शास्त्रोंके प्रतिपाद्य महाप्रलयरूप ब्रह्मको, जीवोंकी ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्तिको तथा मुक्तिके साधन तत्त्वज्ञानको जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढताका क्या ठिकाना है । मोक्षशास्त्रके अप्रामाणिक होनेपर तुल्ययुक्तिसे कर्मशास्त्रकी अप्रमाणताका भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं । जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टिमें वे मरे हुएसे हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानके उपदेशके अयोग्य हैं ॥ ६ ॥

जिन महापुरुषोंका देह, इन्द्रिय आदिकी सकल व्यवहारोंमें नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रोंसे अविरुद्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकारके ज्ञानसे प्रचुरमात्रामें पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषोंके साथ भी उपदेशकथा करना उचित नहीं है । केवल जिज्ञासु पुरुषोंके लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥ ७ ॥

नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये ।
भूयते तन्मयेनैव पुंसा देहोऽस्तु माऽथवा ॥ ८ ॥
बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत् ।
विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥ ९ ॥
जगच्चिद्व्योमकचनमात्रमेवेति भाविते ।
तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥ १० ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त विषयकी समाप्ति कर प्रस्तुत विषयपर आते हैं—'**नित्या०**' इत्यादिसे ।

हृदयमें जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूपसे सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है। देह हो चाहे न हो। भाव यह है कि चार्वाकोंके संमत देहात्मभावमें भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित्का उदय ही अन्वय और व्यतिरेकसे हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होनेसे हेतु नहीं है ॥ ८ ॥

इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादिज्ञानकी दृढतासे उसमें दुःखमयता सबको अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'**बोधात्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यदि संवित्के बोधसे पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा ॥ ९ ॥

यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीतिसे दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाशका स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करनेसे उसके वास्तविक स्वरूपका दर्शन होनेपर भ्रान्तिसे कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटीकी शान्ति हो जाती है। देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें, तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'**जगत्**' इत्यादिसे ।

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादिका वेदन कैसे हो सकेगा ? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशसे कैसे किसको दुःखका बोध होगा ? कोई द्वितीय हो और कोई दुःखका निमित्त हो तभी तो दुःखका संभव है। जब एकमात्र आनन्दघन चिदाकाश ही है तब दुःखबोधकी क्या कथा है ॥ १० ॥

उक्त अर्थमें 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्थामें अद्वैतको देख रहे पुरुषको कौन मोह और कौन शोक) इस श्रुतिको अर्थतः उदाहृत करते

न कानिचित्प्रधावन्ति एकनिश्चयसंविदाम्
पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नभसामिव ॥ ११ ॥
संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
आबालमेतत् संसिद्धं केनाऽपह्नूयते कथम् ॥ १२ ॥
न देहः पुरुषो वाऽपि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
संवित् सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥ १३ ॥
सा सत्याऽप्यथवाऽसत्या तया देहोऽनुभूयते ।
स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥ १४ ॥

हैं—'**न कानिचित्**' इत्यादिसे ।

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषोंको किन्हीं सुख या दुःखोंका ऐसे ही स्पर्श नहीं होता, जैसे कि आकाशको धूलियोंका स्पर्श नहीं होता ॥ ११ ॥

अपने अपने दृढ़ निश्चयके अनुसारी पदार्थके अनुभवमें संवित्‌की प्रमाणता और चित्तवृत्तिकी सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभावमें पहलीकी (संवित्‌की) प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तिमें दूसरी (चित्तवृत्तिकी सत्यता) नहीं है इस आशयसे कहते हैं—'**संवित्**' इत्यादिसे ।

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनोंका नियम नहीं है । किन्तु निश्चय इस तरहके सत् और असत् अर्थके अनुभवमें कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है । इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है । भाव यह कि अनुभव विरुद्धका आश्रय लेकर अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥

इसलिए सकलवादियोंके अभिमत तत-तत् वेषोंको धारण करनेमें समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियोंको समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**न देहः**' इत्यादिसे ।

चार्वाकोंका अभिमत शरीर, सांख्योंका अभिमत पुरुष और मीमांसक आदिका अभिमत जीव या भोक्ता संवित्‌से पृथक् उपलब्ध नहीं होता, अतः सब वादियोंके कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं । वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥ १३ ॥

वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथिवी आदि कारणोंकी अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देहका अनुभव होता है जैसे

संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
स यथानिश्चयो नूनं तत् सत्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्ध्यति ।
सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एष एवेति मे मतिः ॥ १६ ॥
तस्मादबोधता याऽऽस्ते यथा संवित्तथैव सा ।
भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभागिनी ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यवेदशास्त्रैषणाश्रमैः ।
अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥ १८ ॥

स्वप्नमें, पातालमें, आकाशमें, जलमें और स्वर्गमें केवल कल्पनासे ही देहका अनुभव होता है ॥ १४ ॥

संवित् चाहे सत्य हो, चाहे असत्य हो, संविद्‌मात्र ही आत्मा है । उक्त संवित्‌मात्र आत्मा जिस प्रकारके निश्चयवाला होता है वह सत्य (उसकी क्रिया [व्यवहारक्रिया] में समर्थ) होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

संवित् ही जब सब वादियोंके अभिमत आत्मादिके रूपसे स्थित होती है तो ऐसी परिस्थितिमें सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थोंके तत्-तत् अभिमत अर्थक्रियामें समर्थ होनेके कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं—**'प्रामाण्यम्'** इत्यादिसे ।

संविद्-मात्र आत्मासे ही सब शास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्-अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियोंका उपजीव्य होने और पुरुषार्थहेतु होनेसे सब सिद्धान्तोंका शिरोमणि सिद्धान्त है ॥ १६ ॥

तो क्या संवित् ही तत्-तत् वादियोंके अभिमत देहादिके आकारसे तत्-तत्-निश्चयके अनुसार परिणत होती है ? इसपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'तस्मात'** इत्यादिसे ।

संवित्में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्-तत् वादियोंकी जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदिके समय वैसे ही बन जाती है । वही जब तत्त्वज्ञान रूपसे परिणाम होनेपर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥ १७ ॥

इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश कालमें स्नान, दान आदि कर्मोंसे, रसायन, मन्त्र, ओषधि आदि द्रव्योंसे, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा

आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥ १९ ॥
संविदेव नृणां जीवः स यदा दृढभावनः ।
तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येष निश्चयः ॥ २० ॥
संविच्चेदस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने ।
नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवाऽवशिष्यते ॥ २१ ॥
यत्तयैव च संवित्त्या वेदनेनैव लभ्यते ।
अयं स्वभावज्ञप्त्याऽन्तर्जाड्यं पुंसेव निद्रया ॥ २२ ॥

और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियोंसे वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥ १८ ॥

बोध होनेपर जब अविद्या छिन्न-भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भावमें कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब-जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायगा, ऐसा कहते हैं—**'आविर्भवति'** इत्यादिसे ।

आत्यन्तिक बाधसे क्षीण हुई अविद्याकी पुनः प्राप्तिकी आशङ्का भी नहीं है। यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभरमें आविर्भूत हो जायगी, तो जीवका दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसीसे भी शान्त न हो सकेगा ॥ १९ ॥

संवित् ही मनुष्योंका जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥ २० ॥

प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्धको दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगोंकी वही शरण है । उसके अभावमें सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायगा । मोक्षकी आशा तो दुराशा ही हो जायगी, ऐसा कहते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे ।

संवित्का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियोंके संसारनाशमें वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिलाके समान जड़ अन्धकार ही अन्धकार शेष रह जाता है ॥ २१ ॥

कैसे अन्धकार ही शेष रह जाता है ? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसपर कहते हैं— **'यत्तयैव'** इत्यादिसे ।

चूँकि स्वप्रकाशरूप उसीसे प्रत्यगात्मसंवित् रूप जीवको निद्रा द्वारा अपनी

श्रीराम उवाच

दिक्ष्वधस्ताच्च नाऽन्तोऽस्या भावी नाऽपि जगत्क्षयः ।
अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताभावबुद्धिना ॥ २३ ॥
विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता ।
पश्यता च यथादृष्टं सर्वत्त्वयमपश्यता ॥ २४ ॥
तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने ।
इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्रैकं तावदुचितं पूर्वमेव तथोत्तरम् ।
द्वितीयमुत्तरं न्याय्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ २६ ॥

जड़ताके सदृश अन्धकार तुल्य अज्ञानसे ही यह प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, यदि संवित्का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायगा ॥ २२ ॥

कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था यानी जगत्का अभाव नहीं था ऐसा मानकर जो महाप्रलय नहीं मानते वे शास्त्रशून्य मुरदे ही हैं, यों आपने पूर्वमें जिनकी निन्दा की है, उनके मतके अनुसारी दृढ़ निश्चयवाले लोगोंको तत्त्वज्ञान-प्राप्तिमें युक्ति है या नहीं इस विषयमें सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं— 'दिक्ष्व०' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इस सृष्टिका पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओंमें ऊर्ध्व दिशामें (ऊपर) और नीचे भी अन्त नहीं हैं, न यह आगे उत्पन्न होनेवाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत्के प्राग् अभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—इन तीनों अभावोंको तिलाञ्जलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत्का विनाश न देख रहे जिस पुरुषने जगत्की उक्तरीतिसे सत्यताकी भावना की, उसके संसाररूपी दुःखकी निवृत्तिमें कैसी युक्ति है ? हे ब्रह्मन्, बोधकी वृद्धिके लिए मेरे इस सन्देहको पुनः निवृत्त करनेकी कृपा कीजिये ॥ २३—२५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यहाँपर एक तो पूर्वोक्त ही (शास्त्रशून्य वे हम तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें मृतकसे ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही) उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादीके प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते

ईदृग्भावस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान्न् पुरुषोत्तम ।
स तावच्चेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥ २७ ॥
स चाऽऽकारविनाशेन युज्यते नाऽत्र संशयः ।
अथाऽविनाशो देहश्चेत्तद्दुःखस्याऽत्र कः क्रमः ॥ २८ ॥
भवेद् भागविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः ।
अवश्यं तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥ २९ ॥

संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है, वही उचित है। ऐसी परिस्थितिमें चैतन्यसे जबतक संवित्‌का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्यका बोध कराकर पूर्व निश्चय उसीका विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुभवमें अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥ २६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, इस प्रकारके आशयवाले जिस पुरुषका आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देहसे अतिरिक्त चेतनको आत्मा माननेवाला है, या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देहको आत्मा माननेवाला है, या स्थूल देहको आत्मा माननेवाला है, या शुद्ध संवित्‌को आत्मा माननेवाला है, या अज्ञानसे आवृत संवित्‌को आत्मा माननेवाला है या संवित्‌का अपलाप करनेवाला है। यदि वह चेतनामात्रका (चिदाभासरूपका) अस्तित्व स्वीकार करता है तो उसे क्रमसे आत्मतत्त्वका अनुभव होता ही है, उसके संसारसे उद्धारमें कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि देहादि आकारवाली उपाधिका विनाश होनेसे वह परमात्माके साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। यदि उसकी विनाशी अन्नमय देहमें आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओरसे विनाशकी शङ्कासे दुःख होगा ही। यदि अविनाशीमें आत्मत्वका निश्चय हो तो उसे देहाकार समझने मात्र अपराधसे उसको दुःखप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देनेपर—ज्ञानचर्चा सुनानेपर—वह भी आत्मतत्त्वको प्राप्त हो ही जायगा ॥ २७, २८ ॥

तीसरे पक्षमें कहते हैं—'**भवेद्**' इत्यादिसे।

अवयवघटित स्थूल शरीरको आत्मा समझनेवालेने स्थूल देहके अवश्यम्भावी विनाशका विचार नहीं किया। जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसीके रोके रोका नहीं जा सकता है—अवश्यम्भावी है। इससे वह भी स्थूल देहसे अतिरिक्त आत्माको मानता है, यह सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

मृतः स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम्।
ज्ञानधौता न या संविन्न सा तिष्ठत्यसंसृतिः॥ ३० ॥
अथवा नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान् यदि।
ततस्तादृग्वेदनतो भवत्येव दृषज्जडः॥ ३१ ॥
यथावेदनमर्थेषु चित्त्वे देहक्षयात् क्षते।
मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नाऽनुभवादिति॥ ३२ ॥
असंभवच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये।
जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते॥ ३३ ॥

चतुर्थ पक्षमें कहते हैं—**'मृतः'** इत्यादिसे।

शुद्धसंवित्को आत्मा माननेवाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीलासे जगत्का दर्शन करता हुआ भी मृत्युके बाद विदेहतामात्रसे कैवल्यको प्राप्त होकर फिर संसारको नहीं जानता है—नहीं देखता है। जो संवित् तत्त्वज्ञानसे शुद्ध नहीं है, वह संसारकी प्राप्तिके बीजका नाश न होनेसे संसारके बिना नहीं रहती, अवश्य संसारमें आती है। उसका भी किसी न किसी जन्ममें ज्ञानका उदय होनेसे संसारसे निस्तार हो जाता है॥ ३० ॥

छठे पक्षमें कहते हैं—**'अथवा'** इत्यादिसे।

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकारका निश्चयवाला (संवित्का अपलाप करनेवाला) हो तो इस प्रकारके ज्ञानसे वह चिरकालतक पत्थरके समान जड़ होता ही है॥ ३१ ॥

उसने उस अवस्थामें क्या अथवा कैसा श्रेय देखा? इसपर कहते हैं—**'यथावेदनम्'** इत्यादिसे।

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञानके अनुसार ही देहपातके बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्तिके सदृश मृत्युको हो (नैयायिकोंके मोक्षके तुल्य) दुःखशून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्दके अनुभवसे उस मूर्खने श्रेयका दर्शन नहीं किया॥ ३२ ॥

जो शून्यवादी हैं, जिनका आत्माके अभावमें दृढ निश्चय है, वे जब मरते हैं तब किस गतिको जाते हैं? इसपर कहते हैं—**'असम्भवात्'** इत्यादिसे।

जिनके मतमें शुद्धसंवित्के अस्तित्वका संभव नहीं है, वे जब शरीररहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़को तत्त्व माननेवाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकारसे

ये चाऽपि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः ।
तेषामिदमिवाऽशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतो भवेत् ।
भूतस्थैर्ये तथाऽस्थैर्ये सुखं चैवाऽसुखं समम् ॥ ३५ ॥
स्थिरमस्त्वस्थिरं वाऽपि मह्यादि महतामपि ।
चिद्भामात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥ ३६ ॥

पूर्ण होते हैं। इस विषयमें श्रुति भी है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकारसे आच्छन्न असुर्य नामक लोकोंमें जाते हैं) ॥ ३३ ॥

जो विज्ञानवादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्ननगरके तुल्य है, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहारसिद्धि पूर्वोक्त मतवालेके समान है, ऐसा कहते हैं—**'ये' चापि** इत्यादिसे।

क्षणिक और विकारी चित्को आत्मा माननेवाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत्को स्वप्ननगरके समान देखते हैं, उनका यह साराका सारा जगज्जाल प्रवृत्त हो रहता है, निवृत्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

जो लोग जगत्को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनोंके ही सुख-दुखभोगपर्यन्त सभी व्यवहार समान हैं, यह कहते हैं—**'स्थैर्या०'** इत्यादिसे।

स्थिरता और क्षणिकतासे जगद्व्यवहारवैचित्र्यबुद्धिमें क्या अन्तर होगा ? भूत चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान हो होंगे ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानियोंका भूमि आदि भूतोंकी क्षणिकता और स्थिरतामें कोई आग्रह नहीं है। अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्मसे ही सारवान् है। इसलिए शुक्ति और रजतके मूल्यके विचारकी भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरताका विचार व्यर्थ है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'स्थिरम्'** इत्यादिसे।

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं। जब तक अज्ञानका साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है ॥ ३६ ॥

संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ताको व्याप्त नहीं कर सकता, संवित्की व्याप्तिके बिना उन दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित्के क्षणिकत्वका कथन संभव नहीं है, यह कहते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे।

संविदा संविदोऽसत्तामिहाऽव्याप्य विनष्टया ।
निर्णीयाऽङ्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्बालकैरलम् ॥ ३७ ॥

येषां विद्भ्यः शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
शरीरेभ्यो विदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥ ३८ ॥

चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशकृमिजालवत् ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥ ३९ ॥

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनोंका स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित्से संवित्की जड़ता और क्षणिकताका निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकारके मूर्खोंसे संभाषण तक नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

इसलिए कूटस्थ चित्से विवर्त रूपसे चिद्से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपञ्चकी उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं, क्योंकि उनके मतमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्यायसे विकारको असत्य समझनेपर चित् ही अवशिष्ट रहती है। अचिद् देह आदिसे चित्की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख हैं। चित्के विनाशसे जड़का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थका साधन ही है, इस आशयसे कहते हैं—**'येषाम्'** इत्यादिसे ।

जिनके मतमें चित्से शरीरोंकी उत्पत्ति है, वे पुरुषश्रेष्ठ वन्दनीय हैं। जिनके मतमें शरीरसे चित्की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमोंसे भाषण करना भी ठीक नहीं है ॥ ३८ ॥

जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवोंके रूपसे ऊपर नीचे लोकोंमें गमन आदि द्वारा संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है, ऐसा कहते हैं—**'चिद्रूपः'** इत्यादिसे ।

जैसे माट, मटकोंमें भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छड़ोंके समूहकी तरह तिरछे, ऊपर और नीचेके लोकोंमें गमन, आगमन द्वारा संसारको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

हिरण्यगर्भकी जो कर्तृरूप नाना जीवोंका समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित्की स्वकल्पनाके आग्रह वश ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—**'चेत्यते'** इत्यादिसे ।

चेत्यते येन कर्ताऽन्यो बीजौघेन स तत्परः ।
तथैवाऽनुभवत्यन्तः स्वयमेव विवल्गति ॥ ४० ॥

यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाऽऽशु तेन तत् ।
चिद्रूपेणाऽऽप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥ ४१ ॥

यथा धूमस्य नभसि यथाम्भोधौ महाम्भसः ।
आवर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्व्योम्नि संसृतेः ॥ ४२ ॥

पुरी भवति चिद्व्योम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
तथाऽऽदिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत् स्थितम् ॥ ४३ ॥

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभावसे अपनी समष्टिताकी भावना कर उनकी वासनाके अनुसार ही सृष्टिके आदिमें बहुत प्रकारसे भिन्न व्यष्टिरूप कर्त्ताकी अपने अन्तःकरणमें भावना करता है, वह उक्त भावनामें आसक्त होकर उसी भावनासे नाना कर्तृरूपका अन्तःकरणमें स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसारको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे भी वही सिद्ध हुआ जिसको हमने पहले प्रतिज्ञा की थी, ऐसा कहते हैं—**'यद्यथा'** इत्यादिसे ।

जो जिस पदार्थकी जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकोंसे लेकर बड़े-बूढ़ों तक सबपर प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए उन जीवचेतन्योंकी विचित्र विचित्र वासनाओंके अनुरूप तत्-तत् सृष्टिके चेतनोंकी विचित्रतासे अनन्त सृष्टिवैचित्र्य है, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें धुंएकी विचित्र विचित्र भ्रमियाँ (आवर्त) होती हैं और जैसे महासागरमें जलराशिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाशमें जगत्सृष्टिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही मनुष्यके प्रति नगरीका रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टिसे लेकर चिदाकाश ही जगत्का रूप धारण कर स्थित है ॥ ४३ ॥

सहकारी कारणोंके बिना ही सृष्टिके आदिमें केवल प्रतिभामात्रसे सिद्ध होनेके कारण भी जगत्की स्वप्नसमता ही है, ऐसा कहते हैं—**'सहकारि०'** इत्यादिसे ।

सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै।
पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवाऽऽदौ जगत्स्थितेः ॥ ४४ ॥
अज्ञानां स्वप्ननगरे वसुधा विविधाः कृताः।
यास्ता एव जगत्स्वप्ननगरे पुष्टतां गताः ॥ ४५ ॥
चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः।
केवाऽत्र रञ्जनाऽन्या खे यद्वाभाति खमेव तत् ॥ ४६ ॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्कं शीतलाऽऽह्लादकारिणी।
तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥ ४७ ॥
अद्यैवाऽऽद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम्।
चिदुन्मेषनिमेषाभ्यां खात्मोदेत्यस्तमेति च ॥ ४८ ॥

जैसे स्वप्नमें स्वप्ननगर आदिकी उत्पत्तिके लिए सहकारी कारण नहीं हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें जगत्स्थितिके सहकारी कारण पृथिवी आदि महाभूत नहीं हैं ॥ ४४ ॥

स्वप्ननगरमें नगरके अवयवरूप महल, घर आदिके उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये गये थे, वे ही जगत्रूपी स्वप्ननगरमें पूर्ण विकास द्वारा पुष्टताको प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

द्वैत और ऐक्यसे विहीन ये सकल प्रजाजन चिदाकाशरूप ही हैं। चिदाकाशमें दूसरी रंजना (राग—द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ॥ ४६ ॥

त्रिविध तापकी शान्ति करनेके कारण शीतल, आह्लादजनक चित्रूपी चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बखेर रही है। उक्त चेतनारूपी आलोकका ही पदार्थरूपसे स्फुरण यह जगत है ॥ ४७ ॥

सृष्टिके पूर्व और सृष्टिके बाद (प्रलयमें) सृष्टि रहित स्वभाववाले चिन्मय आकाशमें केवल आज ही (वर्तमान क्षणमें ही) सृष्टिका दर्शन प्रसिद्ध है। और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है। वह आत्मचित्के परिच्छिन्नरूपसे उन्मेष होनेपर पलक भरमें स्वप्नके तुल्य उदित होता है और आत्मचित्के अपरिच्छिन्नरूपसे निमेष होनेपर अपने आप स्वप्नकी भाँति अस्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

चित् यदि अपनी सत्ताके बलसे सत् बना कर जगत्को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

यद्यथा वेत्ति यत्तत्सत्तथैवाऽनुभवत्यलम् ।
यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमित्राऽत्र न विद्यते ॥ ४९ ॥

शरदाकाशविशदं संविदः सौम्यमानसाः ।
असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥ ५० ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
तिष्ठन्ति कार्यव्यवहारदृष्टौ
निरामया यन्त्रमया इवैते ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) यतः जिस जिस वस्तुको सृष्टिके आदिमें जैसा जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये साराका सारा जगत् चित्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? ॥ ४९ ॥

शरत् ऋतुके समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्वका साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित्से पृथक्रूपसे असत् ही हैं और चिद्रूपसे तो सत् ही हैं ॥ ५० ॥

उनकी उस प्रकारकी स्थितिकी लक्षण द्वारा पहचान कराते हैं—**'निर्मान०'** इत्यादिसे ।

मान और मोहसे विहीन, संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदिकी आसक्तिसे रहित), लोकप्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरोंकी कार्यव्यवहारदृष्टिमें स्थित होते हैं ॥ ५१ ॥

सौ सर्ग समाप्त

एकाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ १ ॥
तच्चाऽवदातमाकाशं तन्मये द्रष्टृदृश्यते ।
तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥ २ ॥
न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥ ३ ॥

एक सौ एक सर्ग

[सर्वत्र सदा निर्मल संवित्रूपी एक आत्माका साक्षात्कार कर रहे पुरुषकी, भयके हेतुओंकी प्राप्ति न होनेसे, निर्भयस्थितिका वर्णन]।

केवल चिन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर सभी वादियोंकी अभय पदमें जिस तरह प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, वैसा वर्णन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—**'चिन्मात्रमेव'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र ही पुरुष है । वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदिरूपसे एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदिके रूपसे अवस्थित है ॥ १ ॥

उसीका उपपादन करते हुए उसका फल कहते हैं—**'तच्च'** इत्यादिसे ।

और वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है । द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं । चिन्मात्र ही जब यह जगत् है । तब हे श्रीरामचन्द्रजी इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँसे हो सकती है ? ॥ २ ॥

हेय और उपादेयके अभावमें राग और द्वेषकी प्रसिद्धि नहीं होती—यह विज्ञानैकस्कन्धवादी बौद्धको भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है, यह कहते हैं—**'न विद्यते'** इत्यादिसे ।

बृहस्पति द्वारा * प्रणीत बुद्धशास्त्रके अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्धके मतसे क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मतमें भी विषयोंका सर्वथा

* बृहस्पतिने रजिपुत्रों तथा असुरोंको विमोहित करनेके लिए बुद्धशास्त्रकी रचना की थी, यह मत्स्यपुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
संविद्व्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ४ ॥
इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्खमात्मनि ।
निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥ ५ ॥
संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
भावाभावादयोऽस्याब्धेस्तरङ्गावर्तवृत्तयः ॥ ६ ॥

अभाव होनेके कारण ही राग-द्वेष कहाँसे हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है। किन्तु संवित्से अन्य उसके मतमें नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है, जिसको कि संभावनासे वह उस संवित्की नित्यता स्वीकार नहीं करता † ॥ ३ ॥

कूटस्थ संवित्का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्तमें तो राग-द्वेषकी किसी तरह प्राप्ति है ही नहीं, यह कहते हैं—**'इष्टानिष्टदृशः'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियोंके मतमें तो यह जगत् नामका स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्टकी दृष्टियाँ (यह इष्ट है यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा तन्मूलक राग और द्वेष किस आकारके होंगे, यह कहिये ॥ ४ ॥

अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाध्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाशमें कोई अन्तर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे ।

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाध्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है। उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मामें (संविदाकाशमें) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँपर यह इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरहकी दृष्टि कैसी ? ॥ ५ ॥

संसारके सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदिकी भी संभावना नहीं हो सकती, यह कहते हैं—**'संविन्नरो०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, नर, अमर, नाग, स्थावर, तथा जंगम—ये सबके सब

---

† विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, यह तो वह भी मानता है, लेकिन विज्ञानको वह नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, सिर्फ इसी एक उसके क्षणिक अंश में हमें वाद है ।

संविदाकाशमेवाऽहं भवानपि जना अपि ।
म्रियामहे नो कदाचित् संवित्किल कदा मृता ॥ ७ ॥
संविदो नाऽस्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
चित्त्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क वा स्थिते ॥ ८ ॥
संविन्मात्रादृते तस्माद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
कथ्यतां म्रियते तच्चेत्तद्ध्येमे कुतो वयम् ॥ ९ ॥
वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
संविदाकाशमुत्सृज्य यन्मयन्ते तदुच्यताम् ॥ १० ॥

संविद्रूप ही हैं । भाव, अभाव, * आदि भी इसी संविद्रूप सागरकी तरङ्ग, भ्रमि आदि वृत्तियाँ हैं ॥ ६ ॥

मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनोंके अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं । हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । बतलाइये तो सही संवित् क्या आजतक कभी मरी है ? ॥ ७ ॥

सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब संवित्से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या है, अपनेमें ही स्वसंवेद्यताकी कल्पना तो अपने कन्धेपर अपनेको चढ़ा लेनेकी कल्पनाके सदृश ही है, यह कहते हैं—'**संविदो**' इत्यादिसे ।

हे विशालनयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित्का कोई संवेद्य नहीं है । यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यताको प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया-कर्म-भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व—ये दोनों कहाँ रहे ॥ ८ ॥

कहिये, उस संवित्के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है ? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं ? ॥ ९ ॥

इन सब बातोंका निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियोंके अपने-अपने अभिमत पदार्थोंके आकारसे सर्वत्र प्रतीत होता है । उसके बिना अन्य कोई गति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**वादिनः**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक)

---

* जन्म, मरण आदि ।

संविदाकाशमेवैतत् केनचिद् ब्रह्म कथ्यते ।
केनचित् प्रोच्यते ज्ञानं केनचिच्छून्यमुच्यते ॥ ११ ॥
केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित् पुरुषाभिधम् ।
केनचिच्च चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥ १२ ॥
चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न क्वचिदन्यताम् ।
यस्मात् स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नेतरत् ॥ १३ ॥

आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाशके सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मवादीको आगे कर, उसका सर्वप्रथम नाम लेकर उक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—**'संविदाकाश०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संविदाकाशको ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥ ११ ॥

कोई (१) मदिरा मदके तुल्य † (देहाकारमें परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकारकी कल्पना करनेपर भी चितिके स्वरूपके विषयमें किसी तरहकी क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पोंकी साक्षी होनेसे स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है, यह कहते हैं—**'चिन्मात्र०'** इत्यादिसे ।

इस तरह इसके स्वरूपके विषयमें नाना तरहकी कल्पना होनेपर भी यह चिन्मात्र स्वरूपवाली चितिशक्ति कहीं अन्यरूपताको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकारसे विकल्पित यह अपने आत्माको स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं ॥ १३ ॥

† जैसे अन्नादि विविध वस्तुओंका संमिश्रण ही मदरूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकारमें परिणत पृथिवी आदि महाभूतोंका धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाकोंका मत है ।

(१) देहात्मवादी चार्वाक्, (२) सांख्य, (३) योगी, (४) शैव लोग इसे शिव, ईश्वर, आत्मा, अणु और जीव कहते हैं ।

चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥ १४ ॥
मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा म्रियेत चेत् ।
तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥ १५ ॥
न जायते न म्रियते संविदाकाशमक्षयम् ।
भवेत् कथं कथय किं किलाऽऽकाशस्य संक्षयः ॥ १६ ॥
जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥ १७ ॥
जगद्भानं दधद्दाहं चिन्नभःस्फटिकाचलः ।
अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सारे अङ्ग चूर्ण-चूर्ण हो जायँ, या सुमेरु पर्वतके सदृश विशाल हो जायँ, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई ? ॥ १४ ॥

हम लोगोंके पितामह आदिके शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी । यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्यायसे हम लोगोंका भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥ १५ ॥

यह संविदाकाश अक्षय है। न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाशका नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहिये ॥ १६ ॥

इस तरह संविद्के नाशका संभव न होनेसे जगद्रूप स्फुरणवाले उदय और अस्तमयसे रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मामें ही स्थित है ॥ १७ ॥

चिदाकाशरूपी स्फटिक-पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाशको धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्निसे उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है । यह आदि, अन्त तथा मध्यसे शून्य है * ॥ १८ ॥

---

* जैसे स्वच्छ स्फटिक-पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवनको पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब वह्निभावको प्राप्त हुए अपने ही द्वारा उस वनको जलाकर स्वरूपमात्रमें अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, यह आशय है ।

यथा यथाऽन्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
किमप्यज्ञाऽभ्रचक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥ १९ ॥
यथाऽम्बुधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
स्थितोऽदधत्तथैवेदं चिदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥ २० ॥
चिन्मात्रमेव पुरुषः खवत् स च न नश्यति ।
कदाचनाऽपि तद् व्यर्थं यन्नश्यामीति शोकिता ॥ २१ ॥
देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ २२ ॥

ज्यों-ज्यों ज्ञान प्रबल होता जाता है त्यों-त्यों अज्ञानजनित यह जगत् भी नष्ट होता जाता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—**'यथा यथा'** इत्यादिसे ।

जैसे अन्धकार द्वारा रातमें बनाया गया कुछ एक तरहका मेघसंघात जगत्का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है यानी ज्यों ज्यों सूर्यका प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देरके बाद पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञानका प्राबल्य होनेपर अन्तमें बिलकुल नष्ट होकर स्वरूपमें प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरङ्ग आदिमें आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अङ्ग धारण करता रहता है वैसे ही चिदाकाश भी अपने स्वरूपमें ही जगद्रूपी अङ्ग धारण करता हुआ स्थित है ॥ २० ॥

चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए 'मैं नष्ट होता हूँ' इस तरहका जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥ २१ ॥

जीर्ण शरीरके त्यागसे अत्यन्त नूतन शरीरकी प्राप्तिमें निमित्तभूत मृत्युके उपस्थित होनेपर हर्ष मनाना ही उचित है, शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—**'देहाद्देहा०'** इत्यादिसे ।

जीर्ण शरीरत्यागसे अन्य नूतन शरीरकी प्राप्ति होनेपर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये । अरे मूढ़ पुरुषो, हर्षरूप मरणके उपस्थित होनेपर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? ॥ २२ ॥

मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राऽप्युपचयो महान् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥ २३ ॥
मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
नाऽस्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्थमभिजृम्भते ॥ २४ ॥
मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ २५ ॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः ।
भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥ २६ ॥

पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्युसे ही सर्वविध अनर्थोंका निवारण हो जाता है, यह कहते हैं—'**मृत०**' इत्यादिसे ।

मृत प्राणी पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थोत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र उस मरणसे ही शान्तिको प्राप्त हो गये ॥ २३ ॥

इस प्रकार जब जन्म और मरणके रहते भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशामें भला दुःखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'**मरणम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है; किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूपसे स्फुरित हो रहा है ॥ २४ ॥

मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है या नहीं, यह सन्देह बना रहनेसे मृत्युसे भय माननेवालेके प्रति पूर्वोक्त अर्थको ही पुनः उक्तिवैचित्र्यसे कहते हैं—'**मृतस्य**' इत्यादिसे ।

यदि मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगोंसे ग्रस्त कारागृहके सदृश पूर्व शरीरका नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥ २५ ॥

मृत्युके बाद कुकर्मियोंको नरक आदिके श्रवणसे यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियोंको भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्डका भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मोंका फल प्राणीको इसी लोकमें जीते जी भोगना

कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
तानि मा कार्षं भोस्तस्माल्लोकद्वितयसिद्धये ॥ २७ ॥
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषसे ।
भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामीति नेक्षसे ॥ २८ ॥
क नाम जन्ममरणे क भवाभवभूमयः ।
संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥ २९ ॥
संविदाकाशमात्रात्मा पिब भुङ्क्ष्वाऽऽस्स्व निर्ममः ।
आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥ ३० ॥
स्वप्रवाहबलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
भवान् भुङ्क्तेऽभयो भव्यः पावनान् पावनादपि ॥ ३१ ॥

पड़ता है,' यों पाप कर्मोंके फलश्रवणसे यहाँ भी उन्हें भय होता ही है, इसलिए समान भय होनेसे आप कुकर्म ही न करें, यह कहते हैं—**'कुकर्मभ्यः'** इत्यादिसे ।

कुकर्मोंसे जो भय है, वह तो इस लोकमें तथा परलोकमें भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकोंकी उत्तम फल-प्राप्तिके लिए कुकर्म ही नहीं करने चाहिये ॥२७॥

मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरनेके बाद भी मैं चिद्रूपसे सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

परमार्थ दृष्टिसे तो जन्म और मरणकी प्राप्ति नहीं है, यह कहते हैं—**'क नाम'** इत्यादिसे ।

विचार कर देखिये न, वस्तुतः जन्म और मरण कहाँ हैं, उत्पत्ति और विनाशकी भूमियाँ कहाँ हैं, यह सब सर्वात्मक चिदाकाश ही चिदाकाशमें विवर्तभावको प्राप्त हो रहा है ॥ २९ ॥ सर्वात्मक

ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओंका इच्छाशून्य व्यवहार होनेसे उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं—**'संविदाकाश०'** इत्यादिसे ।

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये, पीजिये । आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये । आप तो आकाशकोशके सदृश निर्मल हैं । भला आपमें इच्छाका उदय कहाँसे हो सकता है ? ॥ ३० ॥

अपने प्रवाह-बलसे प्राप्त प्रयत्नसे तथा देश और कालके वशसे प्राप्त हुए शब्दादि विषयोंका, और उनमें भी जो पावनसे भी अत्यन्त पापन हैं, उनका

मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितात् ।
अनादृत्याऽन्तरेवाऽऽस्ते सुप्तधीरवहेलयन् ॥ ३२ ॥
न दुःखमेति मरणात् सुखमेति न जीवितात् ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥ ३३ ॥
मरणजीवितजन्मजरत्तृणा-
न्यविमृशन्विगतेच्छमवासनः ।
विदितवेद्य इहाऽज्ञ इवोदितो
वसति वीतभयस्त्वचलो यथा ॥ ३४ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

यानी जो मनको मलिन बनाने तथा उसके विक्षेपमें हेतु नहीं हैं उनका अध्यात्मा पुरुष निर्भय होकर उपभोग करता है ॥ ३१ ॥

बीच बीचमें यानी देशमें जब किसी तरहका उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुषको दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें समाधिसुखका अनुभव करके उस दुःख-ग्रस्त कालकी अवहेलनाकर देता है, यह कहते हैं-- **'मध्यमध्य०'** इत्यादिसे ।

बीच-बीचमें आ टपके देशकालके वश उदित हुए नानाप्रकारके दोषोंका अनादर करके उनकी अवहेलना करता हुआ वहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें निर्विकल्पक समाधिमें सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

निर्विकल्पक समाधिमें निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्युसे दुःखको प्राप्त होता है और न जीवनसे सुखको ही प्राप्त होता है। वह किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता और न किसीसे द्वेष ही करता है। वह वासनाशून्य होकर समाधि-स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

इस सर्गमें कही गई बातोंका संक्षिप्तरूपसे उपसंहार करते हैं—**'मरण०'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन-मरण तथा जन्मको जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छा-शून्य तथा वासनासे रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदितवेद्य होनेपर भी अतिमूढकी तरह भयशून्य हो इस संसारमें ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥ ३४ ॥

एक सौ एक सर्ग समाप्त

द्व्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

परिज्ञाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि ।
संपद्यते वद ब्रह्मन् कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः ।
यावज्जीवं कथं चैव किमाचारोऽवतिष्ठते ॥ २ ॥
उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
वनमध्ये स्थितस्याऽपि स्वजना मृगपोतकाः ॥ ३ ॥

एक सौ दो सर्ग

[तत्त्वज्ञानीकी लक्षणावलिका, जिसके दृढ़ अभ्याससे बोध दृढ़ हो जाय, पुनः वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हेब्रह्मन्, आदि और अन्तसे शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तुका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष किन-किन लक्षणोंसे विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तुका जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त नरोत्तम कैसा होता है और जीवन-पर्यन्त वह किस तरहके स्वभावसे तथा किस आचारसे युक्त होकर अवस्थित रहता है, यह [मैं आपसे कहता हूँ] आप सुनिये ॥ २ ॥

उन लक्षणोंमें स्वभावभूत आभ्यन्तर लक्षणोंको पहले कहनेके लिये उपक्रम करते हैं—**'उपला अपि'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जंगलके बीचमें रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठके पत्थर भी मित्र, वनके वृक्ष भी बन्धु तथा मृगोंके बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं । कहनेका तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदिमें संयोग तथा वियोग होनेपर भी उसकी स्थिति एक-सी बनी रहतो है—मित्र आदिके संयोग और वियोगमें उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥ ३ ॥

आकीर्णं शून्यमेवाऽस्य विपदश्चाऽतिसंपदः ।
स्थितस्याऽपि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥ ४ ॥
असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवाऽत्यकर्मता ॥ ५ ॥
जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
करोति सर्वमाचारं न करोति च किंचन ॥ ६ ॥
रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्घृणो बन्धुवत्सलः ।
निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयाऽन्वितः ॥ ७ ॥

महान् राज्यमें स्थित रहनेपर भी उस पुरुषके लिए मनुष्योंसे ठसाठस भरा स्थान भी बिलकुल शून्य है, उस महात्माके लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदिका नाश भी) सम्पत्तिरूप हैं । वध, बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकारके दुःख ही उसके लिए महान् उत्सवके तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखोंको वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सवके समान मानता है ॥ ४ ॥

उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःखको ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है । यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके वे सब कर्म अकर्मता ही है ॥ ५ ॥

वह जाग्रदवस्थामें स्थित रहनेपर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मामें स्थित रहता है । जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभावमें स्थिति होनेसे मृत प्राणीके तुल्य है । समस्त आचार भी यह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मामें प्रतिष्ठित होनेसे कुछ नहीं करता ॥ ६ ॥

उसकी विषयसुखोंमें एकमात्र आत्मसुखकी दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टिसे तो वह अत्यन्त विरक्त है । चूँकि किसी व्यक्तिविशेषमें वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए उसमें करूणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मता-बुद्धिसे निरुपाधि प्रेम होनेके कारण वह बन्धुओंमें वत्सल है । दयाविषय द्वितीय वस्तुको वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीरकी उपमा द्वारा वह दूसरेके शरीरमें भी सुख–दुःखका अवलोकन करनेसे अत्यन्त करुणासे युक्त है । इसी तरह परिपूर्ण होनेसे वह तृष्णासे शून्य है, किन्तु अज्ञ जनोंका उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उनके हितकी तृष्णासे अन्वित है ॥ ७ ॥

सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारबहिष्कृतः ।
वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु सः ।
परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥ ९ ॥

नाऽभिनन्दति संप्राप्तं नाऽप्राप्तमभिवाञ्छति ।
आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥ १० ॥

दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनाऽपराजितः ॥ ११ ॥

कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किंचिन्न रोचते ।
स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥ १२ ॥

'किमाचारोऽवतिष्ठते' इससे पूछे गये बाह्य वर्णन करते हैं—**'सर्वाभि०'** इत्यादिसे ।

सर्वाभिनन्दित आचारोंसे युक्त होनेपर भी वह समस्त आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय तथा आयाससे रहित होनेपर भी वह अज्ञ जनोंका दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥ ८ ॥

न तो उस जीवन्मुक्त प्राणीसे संसार भयभीत होता है और न वही संसारसे भीत होता है। अन्य जनकी दृष्टिमें संसारमें रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसारसे परम उद्विग्न यानी वैराग्यको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ९ ॥

वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्तकी अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषादमें कारणभूत पदार्थके अनुभूत होनेपर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥ १० ॥

किसी दुःखी प्राणीको देख लेनेपर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित प्राणीको कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुषके मिल जानेपर उससे सुखकी कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदयसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सुख एवं दुःखसे अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥ ११ ॥

सुकृत कर्मसे अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टासे जो शून्य होना है वह उन महात्माओंका स्वभाव ही है अर्थात् महात्माका यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥ १२ ॥

नाऽऽलम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् ।
नाऽर्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ १३ ॥
यथाशास्त्रव्यवहृतैः सुखदुःखैः क्रमागतैः ।
अनागतोऽपि चाऽऽयाति न हर्षं न विषादिताम् ॥१४॥
संप्रहृष्टाश्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा ।
न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसारारभटीनटाः ॥ १५ ॥
आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु ।
बुद्‌बुदेष्विव तोयानां न स्नेहस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥ १६ ॥
अस्नेह एव सुघनस्नेहार्द्रहृदयो यथा ।
वत्सलां दर्शयन् वृत्तिं ज्ञस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥ १७ ॥

वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसीमें आसक्तिका अवलम्बन करता है और न कहीं बिरक्तिका ही अवलम्बन करता है। वह धनोंके लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता। वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥ १३ ॥

शास्त्रानुकूल व्यवहारसे क्रमशः प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे संस्पृष्ट न होनेपर भी उनका स्पर्श-सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषादिताको कभी प्राप्त नहीं होता है ॥ १४ ॥

सुख और दुःखसे वह एक तरहसे स्पृष्ट-सा होता है, यह जो ऊपर कहा है, उसका हेतुके प्रदर्शन द्वारा विवरण करते हैं—**'संप्रहृष्टाश्च'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा लोग सुख-दुखके कारणोंसे प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयानन्दप्रतिष्ठासे उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभावका वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसाररूपी नाट्यशालाके नट हैं ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वदर्शी महात्माओंको मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थसमूहोंसे ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जलोंके बुद्‌बुदोंमें ॥ १६ ॥

स्नेहरहित होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष सुधन स्नेहसे आर्द्र हृदयवालेके समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥ १७ ॥

परन्तु अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियोंकी तरह अनासक्तिपूर्वक विषयोंका भोग करना नहीं जानते, यह कहते हैं—**'वायूनिव'** इत्यादिसे।

वायूनिव प्रवाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान् मुधा ।
देहसत्ताविषान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥ १८ ॥
बहिः सर्वसमाचारमन्तः सर्वार्थशीतलम् ।
नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इति तिष्ठति ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक ।
वद सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥ २० ॥
अश्ववद् ब्रह्मचर्येण चरन्तोऽचारुचेतसः ।
मिथ्या तपस्विदार्ढ्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, लेकिन अज्ञानी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विषसे मूर्छितसे होकर कामादि-सन्तापको शान्तिके लिए अत्यधिक आसक्तिके कारण विषयोंके उदरमें लीन होते हैं तथा विषयोंके उदरमें लीन होते हुए भी वे उन विषयोंका कुछ थोड़ा-सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदीके प्रवाहमें पड़े नरकीय पुरुष ऊपर भागसे कुछ थोड़ा-सा व्यर्थ वायुओंका स्पर्श कर पाते हैं। तत्त्वतः विषयका अनुभव करके वे विश्रान्तिको नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहरसे समस्त शिष्टोंके आचारोंको करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थोंसे शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट-सा स्थित रहता है ॥ १९. ॥

उक्त लक्षणोंसे तत्त्वज्ञानीका परिचय होना बड़ा कठिन है। क्योंकि मूर्ख, दाम्भिक, वञ्चक, तपस्वीमें भी बलात् सम्पादित हुए इन लक्षणोंका दर्शन हो सकता है, यों श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'**स्वरूप०**' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, तत्त्वज्ञानीका ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है। यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणोंसे युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोकमें देख पड़ता है ॥ २० ॥

हे मुने, अश्वकी तरह ब्रह्मचर्यव्रतका परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावोंकी नकलकर झूठमूठमें अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलानेके लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्याकी दृढ़ प्रख्याति

वसिष्ठ उवाच

असत्यं वाऽस्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम् ।
विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥ २२ ॥
अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवद् ।
गतहासा हसन्त्यज्ञान् सहसा करुणाकुलाः ॥ २३ ॥
चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम् ।
पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥ २४ ॥
अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन ।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तवः ॥ २५ ॥

करनेके लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशयसे ऐसे होते हैं ॥ २१ ॥

अपनेको तपस्वी बतलानेके लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणोंका फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणोंसे युक्त पुरुषोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसे पुरुषोंका अनुसरण करनेपर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—**'असत्यं वा'०** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालतमें अच्छा ही है यानी दुर्लभ होनेसे उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि उन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुषकी उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो। और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं उनमें तो ये लक्षण स्वभावानुभव बलसे ही प्रतिष्ठित होते हैं। हठात् सम्पादित नहीं होते ॥ २२ ॥

वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिशून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागीके समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हाससे युक्त होकर अज्ञानियोंके ऊपर हँसते हैं ॥ २३

वे लोग समस्त दृश्यको चित्तरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित कपट भूमिके तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्नमें परिज्ञात हस्तगत सुवर्णको असद्रूप देखते हैं ॥ २४ ॥

जैसे चन्दनकी लकड़ीकी सुगन्धको कृमि, कीट आदि जन्तु दूरसे नहीं जान

ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
जानन्ति तांस्तथैवाऽन्तरहेः पादानिवाऽहयः ॥ २६ ॥
भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
ग्राम्यैर्धनैः किलाऽनर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥ २७ ॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाऽङ्ग ते ॥ २८ ॥

पाते, वैसे ही इनकी उस अन्तःकरणकी शीतलताको कोई नहीं जान पाते ॥ २५ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानीके स्वरूपको अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं, यह कहते हैं—'**ये तु**' इत्यादिसे ।

जो विज्ञेय पदार्थका भलीभाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हींके समान पवित्र अन्तःकरणवाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरणमें उन्हें ठीक उसी तरहसे ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपोंके पैरोंको साँप जानते हैं ॥ २६ ॥

दाम्भिक लोग सर्वत्र अपनेमें तत्त्वज्ञके लक्षणोंका प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानो हैं, वे लोग अपने स्वरूपको छिपाये फिरते हैं; उन्हें इसकी चाट नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें। हे श्रीरामजी, इसी विशेषता-से वे पहिचाने जा सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'**भावम्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भावको छिपाये-फिरते हैं, क्योंकि गाँवों तथा नगर आदिके धनोंसे जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणिको भला बाजारमें बेचनेके लिए कौन फैलायेगा ॥ २७ ॥

जैसे बेचनेके लिए बाजारमें फैलाई गई चिन्तामणिको कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है वैसे हो जबर्दस्ती अपने गुणका प्रचार करने करानेवालोंको सभो लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है—संसारको धोखा देता है। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'**तस्मिन्**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी. उन तत्त्वज्ञानी महानुभावोंका अपने गुणोंको छिपा रखनेमें ही तात्पर्य रहता है। दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति करानेमें नहीं, क्योंकि वे लोग वासनासे शून्य, द्वैतरहित एवं अभिमानसे रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ २८ ॥

एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञमयस्तु तान् ।
सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥ २९ ॥
स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता ।
नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥ ३० ॥
गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥ ३१ ॥
क्रियाफलानि चिद्व्योमगमनादीनि राघव ।
अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥ ३२ ॥
यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः ।
अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्त्वज्ञ एव वा ॥ ३३ ॥
आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि ।
सर्वस्यैवाऽस्ति तन्नूनं तद्वता समवाप्यते ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन महात्माओंको एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदिका अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान—ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदिकी समृद्धि होनेपर जनसमाजके द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदिसे तत्त्वज्ञानीके आत्मसुखानुभवमें विच्छेद पड़ने लगता है ॥ २९ ॥

विदितवेद्यताका (तत्त्वज्ञताका) जो सार (निरतिशय आनन्दरूप सार) है, वह एकमात्र स्वानुभवसे ही ज्ञेय है । वह किसी दूसरेको दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमीको भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूपको जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूपसे वह अनुभूत होता है ॥ ३० ॥

मेरे इस गुणको संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियोंको होती है, जीवन्मुक्त विवेकियोंको नहीं होती ॥ ३१ ॥

हे राघव, इस संसारमें आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मन्त्र, ओषधिके वशसे अज्ञानियोंको भी अक्सर प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

जो जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है । चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥ ३३ ॥

चन्दनके आमोदकी तरह विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभी जन्तुओंके अपने हृदयमें ही अपूर्वरूपसे विद्यमान है । समय पाकर आविर्भूत हुए उसे अवश्य

अहन्तावासनाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु ।
यस्याऽस्त्यसौ साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥ ३५ ॥

इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति ज्ञस्तु वेत्ति यः ।
सोऽवासनः कर्मवात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥ ३६ ॥

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३७ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥ ३८ ॥

जगदेव तृणं यस्य न किंचिद्रज एव वा ।
किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥ ३९ ॥

तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओंमें 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न आत्मकल्पना जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रिया-फलको सिद्ध कर लेता है ॥ ३५ ॥

जो ज्ञानी -यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रममात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाशमात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधीसे भ्रमणप्राय आकाश-गमन आदि सिद्धि-फलवाली मन्त्रौषधादि क्रियाओंकी क्यों सिद्धि करने जायगा ॥ ३६ ॥

तत्त्वज्ञानीका इस संसारमें न तो कर्मसे ही कोई प्रयोजन है और न कर्माभावसे कोई प्रत्यवायप्राप्तिरूप अनर्थ है तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें इस विवेकीका, किसी आत्मप्रयोजनको अपेक्षा करके, आश्रयणीय कोई भी नहीं है ॥ ३७ ॥

पृथिवीपर, स्वर्गमें देवताओंमें, अन्तरिक्ष या कहींपर भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानीके लोभके लिए हो यानी उसे लुभा सके ॥ ३८ ॥

जिसके लिए सारा संसार तृणके बराबर है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्माके लिए आत्मासे अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥ ३९ ॥

निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः ।
यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥ ४० ॥
नित्यान्तःशीतलो मौनी सत्त्वीभूतमनोवनिः ।
परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥ ४१ ॥
रसायनपरापूर्णह्रदवत् ह्लादमात्मनि ।
धत्ते करोति वाऽन्यस्य सकलेन्दुरिवाऽमलः ॥ ४२ ॥
मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः ।
न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥ ४३ ॥
चन्द्रबिम्बैर्वसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरमालोकभोगिषु ॥ ४४ ॥

लोकसंग्रहके लिए जगत्के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वस्वरूपमें ज्योंका त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरणमें शीतल, मौनी, सत्त्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागरके समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥ ४१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे सरोवरके समान अपने आत्मामें स्वयं आनन्दकी हिलोरें लेता रहता है तथा निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरेको भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥ ४२ ॥

वह अन्यको आनन्दप्रदान करता है, इसका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं—**'मन्दार'** इत्यादिसे ।

मन्दारकी मञ्जरीके कुञ्जोंसे पिञ्जर देवताओंके नन्दनवनकी भूमि मनुष्यको वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा पण्डितोंकी बुद्धियाँ देती हैं ॥ ४३ ॥

सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियोंमें चन्द्रबिम्बोंसे, सौगन्ध्यभोगियोंमें वसन्तसे तथा सौभाग्यभोगियोंमें तत्त्ववेत्ताओंके रागादिसे अनुपहत आशयोंसे सार ग्रहण करता है ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञानियोंके आशयोंसे किस सारका ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे, तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत्को मिथ्या देखता है उसके बाद

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥ ४५ ॥
शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
अन्यदेहगतानीव ज्ञः पश्यत्यवहेलया ॥ ४६ ॥
करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिधीरया ।
नीरसो नीरसारां तु सारतां सरति स्थितिम् ॥ ४७ ॥
व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
चराचराणां भूतानामुपर्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४८ ॥

क्रमशः समस्त अपनी इच्छाओंका त्यागकर देता है, यह कहते हैं—**'भ्रान्तिमात्रम्'** इत्यादिसे ।

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजालके समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकारका निश्चय करके दिन-प्रति-दिन अपनी इच्छाओंका त्याग करता जाता है ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्वकी सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मीका जो सहन करना है, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—**'शीता०'** इत्यादिसे ।

अपने शरीरमें प्राप्त भी शीत, आतप आदि दुःखोंको ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थके समान अनादरसे देखता है ॥ ४६ ॥

तदनन्तर समस्त भूतोंके ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथाप्राप्त जलमात्रसे भी सन्तोष कर लेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—**'करुणोदारया'** इत्यादिसे ।

एकमात्र दूसरेके उपयोगके लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लताके सदृश, करुणाके कारण उदार वृत्तिसे अन्य दुःखी प्राणीका परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरहकी उत्तम-वृत्तिसे जिसमें सन्तोषका हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्तिसे स्थितिरूप सारताको प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकी पुरुष समस्त चराचर प्राणियोंके ऊपर (उत्कर्षमें अथवा ऊर्ध्वमूलभूत ब्रह्ममें) अवस्थित रहता है ॥ ४८ ॥

ज्ञानीकी ऊपर स्थिति कैसे रहती है, यह दिखलाते हैं—**'प्रज्ञाप्रासाद०'** इत्यादिसे ।

प्रज्ञाप्रासादमारुढस्त्वशोच्यः शोचते जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्रज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४९ ॥
चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
परं पारमुपागत्य परां विश्रान्तिमेति सः ॥ ५० ॥
हसन् स शान्तया वृत्त्या प्राक्तनीर्जागतीर्गतीः ।
स्मयमान इवाऽऽस्तेऽन्तर्जनताश्च घनभ्रमाः ॥ ५१ ॥
एताः कान्तारनिर्मग्नमिताः संसारदृष्टयः ।
असत्यो हृतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥ ५२ ॥
दृष्ट्वाऽष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे तृणायते ।
इत्युपैत्युपशान्तत्वात् स्मयमानोऽपि न स्मयम् ॥ ५३ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी प्रासादके ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियोंके विषयमें शोक करता है । वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वतपर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनोंको देखते हैं ॥ ४९ ॥

उसी समय वह चिरकालसे पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखोंसे मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं—**'चिरम्'** इत्यादिसे ।

भ्रमरूपी सागरमें राग, द्वेष आदि लहरोंसे चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा पर पारको प्राप्त होकर परम विश्रान्तिको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

प्राक्तन संसारकी गतियोंको अतिशान्त वृत्तिसे हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रमसे परिपूर्ण यानी महान् अज्ञानसे भरे जनसमूहोंके प्रति अपने अन्तःकरणमें मुस्काता हुआ-सा स्थित रहता है ॥ ५१ ॥

ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियां, जो जंगलमें रास्ता न मिलनेसे अन्धा बनकर इधर उधर भटक रहे अन्धपुरुषसे उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मयको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृणके समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होनेसे गर्व नहीं करता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानीके स्थानादिका नियम नहीं है, यह कहते हैं—**'कश्चित्'** इत्यादिसे ।

कश्चिद्गिरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याश्रमाश्रयः ।
कश्चिद् गृहस्थाश्रमवान् कश्चिद्बहु रटन् स्थितः ॥ ५४ ॥
कश्चिद्भिक्षाचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः ।
कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥ ५५ ॥
कश्चिद्विपश्चिद्विख्यातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः ।
कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिदज्ञ इव स्थितः ॥ ५६ ॥
गुटिकाञ्जनखड्गादिसिद्धः कश्चिन्नभोगतः ।
कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥ ५७ ॥
कश्चित्त्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः ।
कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रव्रज्यां कश्चिदाश्रितः ॥ ५८ ॥

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतोंकी गुफाको अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रममें रहता है, कोई गृहस्थ आश्रममें ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर-उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुषका कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥ ५४ ॥

कोई भिखमंगोंके आचरणसे युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्तमें तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यानमें ही परायण रहता है ॥ ५५ ॥

कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति-स्मृतिका श्रोता भी दीखता है। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई अज्ञानीके समान स्थित रहता है ॥ ५६ ॥

कोई गुटिका, अञ्जन या खड्ग आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कलासे अपनी जीविकाका सम्पादन करता है और कोई पामरके समान रूप धारणकर स्थित रहता है ॥ ५७ ॥

कोई समस्त आचारोंसे शून्य होता है, तो कोई आचार-अनुष्ठानमें श्रोत्रियोंका नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुषके तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यास-धर्म धारण कर स्थित रहता है ॥ ५८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नवाक्यमें 'कीदृशः पुरुषोत्तमः' इस पदको सुनकर उसके अर्थकी जिज्ञासाकी संभावना करते हुए श्रीवसिष्ठजी पुरुषवर्णनपूर्वक उसमें उत्तमता दिखलाते हैं—**'पुरुषो न'** इत्यादिसे ।

पुरुषो न शरीरादि न च चित्तादि किञ्चन ।
पुरुषश्चेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥ ५९ ॥
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसावक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥ ६० ॥
इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति ।
तथा तिष्ठतु तत्रात्र स्थानस्थानियमेन किम् ॥ ६१ ॥
पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेषणमेव येन
चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षो० निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे मरणाद्यभावोपदेशो नाम
द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

पुरुष शरीर आदि और चित्त आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एकमात्र चेतन ही है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता * ॥ ५९ ॥

यह चेतन पुरुष किसीसे छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जलसे भिगा नहीं सकता और कोई इसे सुखा भी नहीं सकता है; यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है † ॥ ६० ॥

ऐसे पुरुषोत्तमके तत्त्वपरिज्ञानसे वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम-मर्यादाका परिपालन करनेसे, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादाका पालन न करनेपर भी उसकी पुरुषोत्तमतामें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—**'इति सम्यक्'** इत्यादिसे ।

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहां जैसे रहना चाहे वैसे ही यहां या वहां जहाँ कहींपर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रमधर्मको मर्यादाके परिपालनमें आस्था रखनेसे या किसी तरहके नियमसे कोई मतलब नहीं है ॥ ६१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जानेकी इच्छासे पातालमें प्रवेश कर

---

* वह कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अविनाशी है, अत; वही उत्तम है ।
† छेदन, भेदन आदि विनाशके कारणोंका संस्पर्श न रहनेसे भी वही उत्तम है ।

त्र्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च।
चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥ १ ॥

जाय, आकाशको लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डलमें भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतोंसे वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोशके सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है—उपप्लव रहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥ ६२ ॥

एक सौ दो सर्ग समाप्त

एक सौ तीन सर्ग

[चितिकी नित्यता, एकता तथा स्वातन्त्र्य का साधन तथा इस सत्-शास्त्रकी महिमा और हितोपदेशका वर्णन]

सबसे पहले चितिसामान्यकी अविनाशिताका सबके अनुभवबलसे साधन करते हैं—**'भामात्रम्'** इत्यादिसे

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें अन्तःकरणके साक्षीरूपसे तथा सुषुप्ति-दशामें अज्ञान, स्वप्नादिके साक्षीरूपसे प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे और व्यवहारसे तथा स्मृति प्रमाणोंसे जो आदि एवं अन्तसे रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है। उसका भला नाश किस कारणसे होगा? यदि कहो, उससे असाधित कारणसे उसका नाश होगा सो उससे असाधित कारण ही प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाशका हेतु कैसे हो सकता है? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। यदि आप कालको उसके नाशका निमित्त बतावें, तो काल भी उसके नाशका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि कालकी भी सिद्धि तो उसीके अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है॥१॥

अविनाशी पुरुष चिन्मात्रस्वरूप रहे, इससे प्रकृतमें क्या आया? इसपर कहते हैं—**'तावन्मात्रम्'** इत्यादिसे।

तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित् स न नश्यति ।
यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम् ॥ २ ॥

न चाऽन्यदन्यच्चिन्मात्रं क्वचित् किञ्चन कस्यचित् ।
सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम साऽन्यता ॥ ३ ॥

सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः ।
चिन्मात्रस्याऽवदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥ ४ ॥

चूँकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता । यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि नाशके अनन्तर दूसरी चित् उत्पन्न हो जायगी, उससे पुनः सृष्टि होगी, तो इसपर कहते हैं—'**न च**' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्रसे भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एकमात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उत्तरकाल-में सर्वांशमें सादृश्य है । उसकी भला कैसी भिन्नता होगी ? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है ॥ ३ ॥ *

यदि कोई कहे कि पुरुषके भेदसे चित्का भेद होगा, तो उसपर कालभेदकी तरह पुरुषभेदसे भी चित्का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदिमें शैत्य आदिकी तरह चितिमें भी किसीको विलक्षणताका अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'**सर्वस्यैव**' इत्यादिसे ।

जब सभी लोगोंको हिम शीतल है, अग्नि ऊष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्रमें ही भेद कैसे भासेगा ? ॥ ४ ॥

* भाव यह कि पूर्वकालकी चितिसे उत्तरकालकी चितिका भेद किंमूलक है ? क्या मध्य-में विच्छेदज्ञानसे उसकी कल्पना की जाती है या वह पहलीसे विलक्षण है, इसलिए भेदकी कल्पना की जाती है ? विच्छेदज्ञानसे वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चित् है, अनुभव रहते विच्छेदकी सिद्धि नहीं हो सकती । पूर्व चित्से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो 'अचित्' हो जायगी । पूर्व और उत्तरकालकी चित्में सर्वांशमें अनुभवकी समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी ? अर्थात् पूर्व और उत्तर चित्की भिन्नता मिथ्या ही है ।

शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् ।
हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥ ५ ॥
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्नभः ।
देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छैर्दृष्टा पिशाचता ॥ ६ ॥
यावच्छरीरसत्ता चेच्चेतनस्य तदुच्यताम् ।
शवः कस्मान्न चलति सत्यखण्डे शरीरके ॥ ७ ॥
पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत् स सर्वदा ।
किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥ ८ ॥
जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्तादृशत्वं नरः कथम् ।
मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥ ९ ॥
तस्मात् सर्वात्मकं त्वेतच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।
यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्तत्राऽवगच्छति ॥ १० ॥

सुख-दुःखरूप विशेष ज्ञानके सिवा चैतन्य कुछ नहीं है । विशेष्य ज्ञानमें अव-च्छेदकता सम्बन्धसे शरीर कारण है । शरीरका नाश होनेसे ज्ञानका नाश माननेवाले चार्वाक और वैशेषिकोंकी शङ्का उभाड़कर उसका निराकरण करते हैं–'**शरीर०**' इत्यादिसे।

शरीरके नाशसे ही यदि चिन्मात्रका नाश हो गया, तो मरणसे ही संसारका नाश हो गया, फिर हर्षकी जगह विषाद क्यों ? ॥ ५ ॥

शरीरका नाश होनेपर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता । क्योंकि बन्धुओंका शरीर नष्ट होनेपर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥ ६ ॥

जबतक शरीर है तभी तक चेतनकी भी सत्ता है, यदि यह कहा जाय, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहनेपर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है ? ॥ ७ ॥

पिशाच देखना यदि जीवका धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता । बन्धुके मृतक बन जानेपर ही क्यों देखता है ? ॥ ८ ॥

बन्धुमरणज्ञानविशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धुके जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तरमें उसकी कल्पित मृत्यु सुननेपर पिशाचताको मनुष्य क्यों नहीं देखता ॥ ९ ॥

इसीलिए चित्के भेद और विनाशका योग न होनेसे चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है,

अबाधितैवैकघना संविद्भवति यादृशी ।
तादृश्येवाऽनुभूतिर्हि तत्स्वभावोऽत्र कारणम् ॥ ११ ॥
अन्यन्न संभवत्यत्र सर्गादावेव कारणम् ।
यन्नाम तदिदानीं स्यात्कथ्यतां कीदृशं कथम् ॥ १२ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्ना न चैवाऽद्याऽवभासते ।
विकल्पश्रीर्जगद्भासा केवलं भाति चिन्नभः ॥ १३ ॥
आभासमात्रमेवेदं दृश्यमित्यवबुध्यते ।
दृश्यमित्यवबोधेन तदृते स्यात्क्व दृश्यता ॥ १४ ॥

वस्तुकृत परिच्छेदसे भी वह नियन्त्रित नहीं है। अतः जिस जिस वस्तुको चिति जब जहाँ जानती है, तब वहाँ अपने स्वरूपको ही तत् तत् वस्तुके रूपसे वह जानती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कोई भी वेद्य वस्तु चितिसे पृथक् नहीं है ॥ १०॥

इस प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सत्यसंकल्प होनेके कारण जिसके मार्गमें कोई विघ्नबाधा (रुकावट) उत्पन्न नहीं होती ऐसी संवित् अपने संकल्पानुसार जैसी ही होती है वैसी ही इस समय सब लोगोंकी अनुभूति है। संवित्का स्वभाव ही इसमें कारण है ॥ ११ ॥

सत्यसंकल्प ब्रह्मरूपी संवित्के सिवाय प्रधान (प्रकृति), परमाणु आदि सृष्टिके आरम्भमें कारण कदापि नहीं हो सकते। ब्रह्मसे अतिरिक्त जो भी कारण वादियोंको जँचता हो, कृपया वे उसका स्वरूप तथा उसके कारण होनेमें जो युक्ति हो, उसका उपपादन करें। मैं उनका झटपट श्रुति और युक्तियों द्वारा खण्डन करूँगा ॥ १२ ॥

यदि वादी प्रश्न करे कि कृपया आप ही बतलाइये आपका कैसा सिद्धान्त है, तो इसपर कहते हैं—'सर्गादा०' इत्यादिसे।

द्वैत न तो सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न हुआ और न आज ही इसका अवभास होता है, एकमात्र चिदाकाश ही जगत्के रूपसे प्रतीत होता है ॥ १३ ॥

यदि केवल चिदाकाश ही प्रतीत होता है, तो सब लोगोंको 'दृश्य' रूपसे किसका बोध होता है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'आभासमात्र०' इत्यादिसे।

यह आभासमात्र (विवर्तमात्र) 'दृश्य' रूपसे लोगोंको ज्ञात होता है। 'दृश्य' रूपसे ज्ञात हो रहे इस शुक्तिरजत, मरुनदी, आदिरूप विश्वकी चिदाकाशके बिना क्या कहीं सत्यता दिखाई दी ? ॥ १४ ॥

स्वचमत्कारचातुर्यं चारु चिन्नभसा रसात् ।
बोधेन बुध्यते दृश्यमित्यबोधान्न बुध्यते ॥ १५ ॥

बोधोऽबोधश्च तद्रूपमेवमेव निरामयम् ।
भेदोऽत्र वाचि न त्वर्थे तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्यता ॥१६॥

या चाऽऽसीदृश्यतैषां तां विद्धि त्वमविचारणाम् ।
सा चेदानीं विचारेण विनष्टाऽतः क्व दृश्यता ॥ १७ ॥

अस्मिन्नेव धियो यत्न आत्मज्ञानविचारणे ।
यत्नेन परमोऽभ्यासः स लोकद्वयसिद्धिदः ॥ १८ ॥

चिदाकाश अपनी चमत्कार चातुरीको ही आसक्तिवश जाग्रत् और स्वप्नबोधसे 'दृश्य' समझता है और सुषुप्ति अवस्थामें बोध न होनेसे नहीं जानता है ॥ १५ ॥

वे बोध और अबोध कौन हैं ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'बोधः' इत्यादिसे।

बोध और अबोध चिदाकाशका ही निरामय (निर्विकार) रूप है, जड़का नहीं है, इसलिए चिदाकाशरूपसे वह एक ही है। बोधके बिना अबोधका रूप ही प्रसिद्ध नहीं होता और बोध हो जानेपर अबोधका संभव नहीं है, इसलिए 'राहोः शिरः' (राहुका सिर) 'शिर एव राहुः' (सिर ही राहु) इसके समान केवल वाणीमात्रसे भेद है, किन्तु अर्थमें कुछ भेद नहीं है। इसलिए दृश्यता है ही नहीं ॥ १६ ॥

अथवा यह समझिये कि आत्मतत्त्वके अविचारसे ही चित्में दृश्यता थी और इस समय विचार करनेपर वह नष्ट हो गई है, ऐसा कहते हैं—'या च' इत्यादिसे।

जो इन लोगोंकी दृश्यता थी, उसे आप अविचारणा जानिये यानी आत्मतत्त्वके अविचारका ही वह फल था और वह विचारसे अब नष्ट हो चुकी है, अतः दृश्यता कहाँ है ॥ १७ ॥

इसलिए विचारके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये यह बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ, ऐसा कहते हैं—'अस्मिन्नेव' इत्यादिसे।

इस आत्मज्ञानके विचारमें ही बुद्धिका यत्नपूर्वक उपयोग करना चाहिये। यत्नपूर्वक किया गया परम विचार इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सिद्धि देनेवाला है। सूत्रमें भी कहा है—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (दुर्ज्ञेय आत्मसाक्षात्कार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण आदि-

अविद्योपशमस्त्वेष जातोऽपि भवतामिह ।
अभ्यासेन विना साधो न सिद्धिमुपगच्छति ॥ १९ ॥
त्रोद्वेगं संपरित्यज्य गृहीत्वाऽनुदिनं क्षणम् ।
लोकद्वयहितं पथ्यमिदं शास्त्रं विचार्यताम् ॥ २० ॥
विज्ञातमप्यविज्ञातमात्मज्ञानमिदं भवेत् ।
भवतां भूरिभागानां संभूयाऽभ्यसनं विना ॥ २१ ॥

से साध्य है, अतः उसकी आवृत्ति करनी चाहिये), 'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धेन तद्दर्शनात्' (विद्यासे अविरुद्ध फलवाले फलोन्मुख कर्मसे प्रतिबन्धका अभाव होनेपर इस जन्ममें भी विद्योत्पत्ति हो सकती है, प्रतिबन्ध होनेपर जन्मान्तरमें भी हो सकती है, इस प्रकार अनियम है, उक्त अनियम श्रुतियोंमें देखा गया है) ॥ १८ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि नित्य अपरोक्ष वस्तुके विषयमें प्रवृत्त उपदेशवचन एकबारकी प्रवृत्तिसे ही अज्ञानका विनाश कर वस्तुको प्रकट कर ही देगा, फिर अभ्यासकी क्या आवश्यकता है ? तो इसपर कहते हैं—'अविद्यो०' इत्यादिसे ।

हे सज्जन, यद्यपि आप लोगोंका यहाँपर यह अज्ञान विनष्ट हो चुका है फिर भी अभ्यासके बिना वह जीवन्मुक्ति प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ १९ ॥

तो किस ग्रन्थको लेकर विचारका अभ्यास करना चाहिये जिससे जल्दीसे जल्दी बोध सिद्धिको प्राप्त हो सकता है, ऐसा यदि कोई पूछे तो उसपर कहते हैं—'त्रोद्वेगम्' इत्यादिसे ।

शम, दम आदि साधनोंसे सम्पन्न पुरुषको आलस्य, बेचैनी आदि उद्वेग और उनके कारणभूत यथेष्ट भोजन, कुसंगति आदिका परित्याग कर और क्षणभरके लिए गुरुसेवा आदिका नियम लेकर इस महारामायण नामक शास्त्रका प्रतिदिन विचार करना चाहिये । यह इस लोक और परलोक—दोनों लोकोंमें हितकारी और कल्याणकारी है ॥ २० ॥

उसपर भी बहुतसे सहपाठियोंके साथ मिलकर अभ्यास करना आपसमें एक दूसरेके अनुभवके आदान-प्रदान द्वारा बहुत जल्द ज्ञानप्रतिष्ठाका हेतु है, ऐसा कहते हैं—'विज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह आत्मज्ञान तरह तरहकी असंभावना, विपरीतभावना आदि रखनेवाले आप लोगोंके मिलजुल कर अभ्यास न करनेसे, ज्ञात होता हुआ भी, अज्ञातप्राय हो जाता है ॥ २१ ॥

यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तमवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ २२ ॥

तस्मादस्मान्निवर्तध्वमसच्छास्त्रविचारणात् ।
शान्तिं प्राप्स्यथ सच्छास्त्राज्जयलक्ष्मीं यथा रणात् ॥ २३ ॥

विवेके चाऽविवेके च वहत्येषा मनोनदी ।
यत्रैव वाह्यते यत्नात्तत्रैव स्थितिमृच्छति ॥ २४ ॥

अस्माच्छास्त्रादृते श्रेयो न भूतं न भविष्यति ।
ततः परमबोधार्थमिदमेव विचार्यताम् ॥ २५ ॥

स्वयमेव विचार्येदं परो बोधोऽनुभूयते ।
संसाराध्वश्रमहरो न त्वेतद्वरशापवत् ॥ २६ ॥

ज्ञान दुर्लभ है, इस भयसे श्रवणका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, यह कहते हैं— 'यः' इत्यादिसे ।

जो जिस वस्तुको चाहता है, उसके लिए यत्न करता है और वह यदि थक कर बीचमें ही अपना विचार न बदल दे, तो उसे अवश्य प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

अनात्मशास्त्रोंके अभ्याससे विमुख हुए पुरुषोंको इस शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे ।

इसलिए असत् शास्त्रोंकी विचारणासे आप लोग निवृत्त हो जाइये । जैसे युद्धसे विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है वैसे ही इस सत्-शास्त्रके अभ्याससे आप लोगोंको अवश्य शान्ति प्राप्त होगी ॥ २३ ॥

यह मनरूपी नदी विवेक और अविवेक दोनों ओर बहती है जिस ओर प्रयत्नसे (विरोधी दूसरे स्रोतको रोकनेके यत्नसे) बहाई जाय, वहींपर स्थिर हो जाती है ॥ २४ ॥

इस शास्त्रके सिवा विवेकका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो कोई हुआ और न आगे होगा, इसलिए परम बोधकी प्राप्तिके लिए इसीका पुनः पुनः मनन करना चाहिए ॥ २५ ॥

जो पुरुष इस श्रेष्ठतम शास्त्रका विचार कर चुका है, उसे प्रत्यक्षरूपसे आत्मतत्त्व बोधका, जो कि संसाररूपी मार्गकी थकावट दूर करनेवाला है, अनुभव होता है वरदान अथवा शापके समान चिरकालके विलम्बसे उसका अनुभव नहीं होता ॥ २६ ॥

यन्न पित्रा न वा मात्रा न चाऽपि सुकृतैः कृतम् ।
श्रेयस्तद्वः परिज्ञातमिदमाशु करिष्यति ॥ २७ ॥
भवबन्धमयी साधो विषमेयं विषूचिका ।
आत्मज्ञानादृते दीर्घा न कदाचन शाम्यति ॥ २८ ॥
महामोहमयी माया मिथ्यैवाऽहमिति स्थिता ।
शास्त्रार्थभावनेनाऽऽशु मुच्यतां परशोच्यता ॥ २९ ॥
यात माऽऽपातमधुरं व्योम व्योमैकरूपिणीम् ।
शून्यं वायुं लिहन्तोऽन्तर्लेलिहाना इवाऽहयः ॥ ३० ॥
यान्ति वो दिवसाः कष्टमविज्ञातगमागमाः ।
व्यवहारे हि तैरेव प्रतिपालयतां मृतिम् ॥ ३१ ॥
तावदाश्वासनैषाऽस्ति भवतां भवभागिनाम् ।
दिनानि कतिचिद्यावन्नाऽऽयाति मरणावधिः ॥ ३२ ॥

यह शास्त्र माता, पिता आदिकी भी अपेक्षा अत्यन्त हितकारी है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे ।

आपका जो हित पिताने नहीं किया या जो हित माँने नहीं किया अथवा जो हित पुण्योंने नहीं किया वह हित यह शास्त्र तुरन्त करेगा; यदि विचार द्वारा आप लोग इसे जान लें ॥ २७ ॥

हे सज्जनशिरोमणे, यह भवबन्धनरूपी विषय-विषूचिका असीम है, आत्मज्ञानके अतिरिक्त अन्य उपायसे कभी भी इसका शमन नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

'अहम्' यों मिथ्या ही खड़ी हुई महामोहमयी मायाका और उक्त मायासे प्राप्त हुई अपरिमित शोचनीयताका शास्त्रार्थभावना द्वारा शीघ्र ही परित्याग कीजिये ॥२९॥

आरम्भमें आपाततः मधुर प्रतीत होनेवाले शून्यस्वरूप विषयोंका आस्वाद ले रहे आप लोग एकमात्र आकाशरूपिणी अपार सृष्टिकी ओर—भूखे अतएव रसशून्य वायुको चाट रहे सर्पोंके समान—न बढ़ें ॥ ३० ॥

बड़े खेदकी बात है, दिनों द्वारा ही मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे आप लोगोंके जीवनके सारे दिन व्यवहारमें ही व्यतीत होते हैं । कब दिन आया और कब गया यह भी आप लोगोंको ज्ञात नहीं होता ॥ ३१ ॥

कुछ ही दिनों तक जबतक कि आयुकी मरणरूप अवधि नहीं आती है, संसार-

आगच्छन्त्यां मृतौ कष्टं परितापमवाप्स्यथ ।
तं यत्राऽङ्गाङ्गविच्छेदः शीतचन्दनलेपनम् ॥ ३३ ॥
क्रीणन्ति प्राणपण्येन धनं मानं घनभ्रमाः ।
यथाशास्त्रैः कथं बुद्ध्या न क्रीणन्त्यजरं पदम् ॥ ३४ ॥
पदं परमयत्नेन क्रियते यैश्चिदम्बरे ।
कथं तैः सह्यतेऽज्ञानशत्रुपादः स्वमूर्धनि ॥ ३५ ॥
निर्मानमोहमापन्ना गतिं गच्छत माऽधमाम् ।
क्रियते स्वात्मबोधेन मूलकाषो महापदाम् ॥ ३६ ॥

सागरमें निमग्न हुए आप लोगोंके लिए सत् शास्त्रकी अवलम्बनयोग्यता द्वारा यह आश्वासन है ॥ ३२ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि उसके बाद क्य होगा ? तो इसपर कहते हैं—**'आगच्छन्त्याम्'** इत्यादिसे ।

दिनपरदिन समीपमें आ रही मृत्युके प्राप्त होनेपर ऐसा दुःख प्राप्त होगा कि जिसमें अङ्ग-अङ्गका छेदन भी शीतलचन्दनलेपके समान अवश्य भोगना पड़ेगा ॥ ३३ ॥

मूर्ख लोग युद्ध आदिमें प्राणोंकी बाजी लगाकर भी धन और विजयाभिमानका उपार्जन करते हैं, किन्तु वे विवेक, वैराग्य, श्रवण आदि उपायोंसे प्राप्त हुई तत्त्वबुद्धिसे अजर-अमर मोक्षपदका उपार्जन क्यों नहीं करते ? ॥ ३४ ॥

जो विवेकशील पुरुष अनायास (एकमात्र आत्मतत्त्वज्ञानसे) ब्रह्माकाशमें स्थान बनाते हैं, अज्ञानरूपी शत्रुका वध करनेमें समर्थ उन सर्वोत्कृष्ट पुरुषों द्वारा उत्तम शास्त्रकी उपेक्षासे अपने सिरपर अज्ञानरूपी शत्रुकी लात कैसे सही जा सकती है ? ॥ ३५ ॥

हे पुरुषो, आप लोग अभिमान तथा मोहसे रहित विवेकको प्राप्त होकर यानी तत्त्व जानकर मोक्षगतिको प्राप्त हों अधम संसारगतिको प्राप्त न हों । आत्मबोध द्वारा बड़ी-बड़ी विपदाओंकी जड़ खोदी जाती है ॥ ३६ ॥

यह वसिष्ठ चिरकालसे हम लोगोंके उद्बोधनमें कमर कसकर लगा है, मारे चिल्लाहटके इसका कण्ठ सूख गया है, यह बेचारा कण्ठ सूखने से बच जाय यों मेरे ऊपर दयासे मेरा वचन ध्यानसे सुनकर आप लोग अपना स्वरूप जानिये, यों अतिशय वात्सल्यवश कहते हैं—**'प्रलपन्तम्'** इत्यादिसे ।

प्रलपन्तमहोरात्रं युष्मदर्थेन मामिमम् ।
यं प्रदर्श्येदमाकर्ण्य स्वात्मनैवाऽऽत्मताऽर्प्यताम् ॥ ३७ ॥
अद्यैव न चिकित्सां यः करोति मरणापदः ।
संप्राप्तायां मृतौ मूढः करिष्यति किमातुरः ॥ ३८ ॥
अस्माद्ग्रन्थादृते ग्रन्थो नाऽन्यः स्वात्मावबोधने ।
नूनमर्थकरो ग्राह्यस्तिलस्तैलार्थिनामिव ॥ ३९ ॥
आत्मज्ञानमिदं शास्त्रं प्रकाशयति दीपवत् ।
पितेव बोधयत्याशु कान्तेव रमयत्यलम् ॥ ४० ॥
विद्यमानमपि ज्ञानं ज्ञातं शास्त्रगणान्न यत् ।
दुर्बोधं मधुरं तत्तु ज्ञास्यन्तीतो न संशयः ॥ ४१ ॥

आप लोगोंके उद्बोधनके लिए जी-जानसे लगे हुए, आप लोगोंके लिए रात-दिन प्रलाप कर रहे, कण्ठ सूखने आदि क्लेशोंसे नित्य पीड़ित हो रहे मेरी (जगत्प्रसिद्ध इस वसिष्ठकी) ओर देखकर दयावश मेरे वचनोंको आदरसे सुनकर, उद्बुद्ध हो, देहेन्द्रियादि परिच्छिन्न आत्मभावका परित्याग कर यथार्थब्रह्मात्मता प्राप्त कीजिए ॥३७॥

आज ही आत्मज्ञानसे क्या प्रयोजन है आगे चलकर कभी आत्मज्ञान कर लेंगे यों सोचनेवालेके प्रति कहते हैं—'अद्यैव' इत्यादिसे ।

जो पुरुष आज ही मृत्युरूपी आपत्तिकी चिकित्सा (प्रतीकारका उपाय) नहीं करता वह मूढ़ मृत्युके सरपर सवार होनेपर व्याकुलावस्थामें क्या करेगा ? ॥३८॥

अपने असली स्वरूपका ज्ञान करानेकेलिए इस ग्रन्थको छोड़कर दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसलिये जैसे तैलार्थी (तेल चाहनेवाले) तिलोंका संग्रह करते हैं वैसे ही अपना कल्याण चाहनेवालोंको यह अभिलषित अर्थ देनेवाला है इस बुद्धिसे इस ग्रन्थका संग्रह करना चाहिये ॥ ३९ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि अन्य अध्यात्म ग्रन्थोंकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मज्ञानम्' इत्यादिसे ।

यह शास्त्र (ग्रन्थ) दीपकी नाईं आत्मरूप ज्ञानको प्रकाशित करता है, पिता के समान हितोपदेश देता है और कान्ताके सामान अत्यन्त आनन्द देता है ॥ ४० ॥

नित्यप्राप्त भी जिस आत्मरूप ज्ञानको अनेक शास्त्रोंसे लोग नहीं जान सके, उस दुर्बोध मधुर ज्ञानको इस ग्रन्थके अभ्याससे जान जायँगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ४१ ॥

इदमुत्तममाख्यानं मुख्यानां शास्त्रदृष्टिषु ।
सुखेन बोधदं हृद्यमपूर्वं न तु किंचन ॥ ४२ ॥

नानाख्यानकथाचित्रं विनोदेन विचारयन् ।
इदं शास्त्रं परं याति पुमान्नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ ४३ ॥

यो ह्यद्याऽपि न संप्राप्तः पण्डितैरविखण्डितैः ।
स इतः प्राप्यते बोधः सुवर्णमिव सैकतात् ॥ ४४ ॥

शास्त्रकर्तरि मङ्क्तव्यं न कदाचन कुत्रचित् ।
शास्त्रार्थ एव तन्नित्यं युक्तियुक्तानुभूतिदे ॥ ४५ ॥

शास्त्रोंमें मुख्य आख्यानोंमें यह आख्यान सर्वोत्तम है यह अनायास ज्ञान देनेवाला अत्यन्त मनोहर एवं अनादि है। इसमें तत्त्ववेत्ताओंके सम्प्रदायमें प्रसिद्ध वस्तुसे अतिरिक्त स्वकपोलकल्पित कुछ भी वस्तु नहीं है ॥ ४२ ॥

विविध आख्यानों और कथाओंसे विस्मयजनक इस शास्त्रका कौतुकवश विचार करता हुआ पुरुष आत्मबोध प्राप्त कर लेता है, इसमें जरा भी संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत पण्डितोंको भी जो बोध (आत्मज्ञान) आजतक प्राप्त नहीं हुआ वह इस शास्त्रसे प्राप्त हो जाता है जैसे कि सोनेकी खानमें चालने, धोनेसे अलग किये गये बालूसे सुवर्ण प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

यदि कोई आशङ्का करे कि इसी शास्त्रसे यदि ज्ञान होता है, तो इस शास्त्रके रचयिताको किस शास्त्रसे ज्ञान हुआ ? जहाँसे उसे ज्ञान हुआ वहींसे हम भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेंगे। यदि इस शास्त्रके रचयिताने ज्ञान हुए बिना ही रचना की है तो इस शास्त्रसे ज्ञानोदयकी कौन आशा है? इसपर कहते हैं—'शास्त्रकर्तरि' इत्यादिसे।

यदि यह शास्त्र युक्तियुक्त न होता और विचार करनेपर अनुभूतिप्रद न होता तो इस शास्त्रके कर्ताको कहाँसे बोध हुआ यों उसके कर्तामें बोधके कारणोंकी छानबीनमें निरत होना ठीक होता। यह शास्त्र तो स्वतः हजारों युक्तियोंसे युक्त है और अनुभवप्रदान करनेवाला है। इसके विचारनेपर स्वानुभवसे ही सब शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं, इसलिए इसीमें सदा निमग्न होना ठीक है। शास्त्रके रचयितामें बोध है या नहीं यह शङ्का कहीं कभी ध्यानमें नहीं लानी चाहिए ॥ ४५ ॥

अज्ञानान्मत्सरान्मोहादविचारिभिरेकता ।
अवहेलितशास्त्रार्थैः कर्तव्या नाऽऽत्महन्तृभिः ॥ ४६ ॥
जानाम्येव यथैवेमा यदहं त्वं यथा धियः ।
तथा बोधितकारुण्यात्स्वभावो हि ममेदृशः ॥ ४७ ॥
युष्मत्संविल्लवः शुद्ध एवं वक्तुमिह स्थितः ।
अहं नरो न गन्धर्वो नाऽमरो न च राक्षसः ॥ ४८ ॥

अतएव इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवालोंके साथ भूल कर भी कभी मैत्री नहीं करनी चाहिये, यह कहते हैं—'अज्ञानात्' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे, डाहसे अथवा मोहसे इस शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले अविवेकी आत्महत्यारों* के साथ कदापि मित्रता नहीं करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

यदि प्रश्न हो कि यदि ऐसा है, तो आप हम लोगों एवं अन्य अज्ञानियोंके साथ क्यों मित्रता करते हैं ? मित्रताके कारण ही तो आप दयावश उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं ? इसपर कहते हैं—'जानामि' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, ये श्रोता लोग जिस प्रकारके अधिकारी हैं, आप जैसे अधिकारी हैं और जैसी श्रवण-धारणाके अभ्यासमें पटु आप लोगोंकी बुद्धियाँ हैं एवं जैसे मैं आप लोगोंको उपदेश देनेके लिए आपके पिताजी द्वारा आज्ञप्त हुआ यह सब मैं भली भाँति जानता हूँ । अतः आप लोगोंके महाभाग्योदयसे जागी हुई करुणासे आप लोगोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ, चूँकि मेरा स्वभाव ही ऐसा है, दीन जनोंमें मेरी दया सदा जागी रहती है, निष्ठुरताका तो मुझमें नाम तक नहीं है; इसलिए आप लोगोंका हित चाहनेवाले मेरे वचनोंपर आप लोग आदर करें, यह भाव है ॥४७॥

अथवा मैं आप लोगोंका आत्मा ही हूँ आप लोगोंके पुण्यसे शुद्ध आत्मतत्त्वका आप लोगोंको उपदेश देनेके लिऐ आया हूँ । और मेरे भी आप लोग परम प्रेमास्पद आत्मा ही हैं, इसलिए आप लोगोंका मित्र-सा हो गया हूँ, ऐसा कहते हैं—'युष्मत्०' इत्यादिसे ।

मैं न मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूं और न राक्षस हूँ, किन्तु आप लोगोंका शोधित संविद्रूप सूक्ष्मार्थ (आत्मा) हूँ तथा आप लोगोंको आत्मज्ञानका उपदेश देनेके लिए यहाँपर स्थित हूँ । हे श्रीरामजी, आप लोग भी संविद्रूप ही हैं, अति

---

* इस मोक्षशास्त्रकी अवहेलना करनेसे आत्मज्ञानकी अप्राप्ति ही आत्महत्या है ।

संविन्मात्रा भवन्तो हि तद्भावोऽस्त्यतिनिर्मलः ।
स्थितोऽस्मीति भवत्पुण्यैर्ननु नाऽस्मि न चाऽपरः॥ ४९ ॥
श्यामायमाना नाऽऽयान्ति यावन्मरणवासराः ।
सारः संह्रियतां तावद्वैरस्यं वस्तुदृष्टिषु ॥ ५० ॥
इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ ५१ ॥
सर्वभावेषु वैरस्यं न यावत्समुपागतम् ।
भावानां भावना तावत्तानवं नोपगच्छति ॥ ५२ ॥
आत्मानमलमुद्धर्तुं वासनातानवादृते ।
नास्त्युपायो महाबुद्धे कश्चनाऽपि कदाचन ॥ ५३ ॥

निर्मल संविद्रूप ही मैं आप लोगोंके पुण्योदयसे स्थित हूँ । मैं आप लोगोंकी आत्मासे अतिरिक्त नहीं हूँ ॥ ४८,४९ ॥

मैं आप लोगोंका अत्यन्त आप्त हूं, इसलिये जबतक रात्रिके समान अन्धकार पूर्ण मृत्युदिवस पासमें नहीं आते तब तक मेरे द्वारा कहा गया सब वस्तुओंमें वैराग्यरूप पहला सार पदार्थ बटोरकर रख लीजिये ॥ ५० ॥

जो पुरुष इसी लोकमें नरकरूपी व्याधिके प्रतीकारका उपाय नहीं करता, वह ओषधिरहित (जहाँ ओषधि दुर्लभ है) स्थानमें जाकर नरकरूपी रोगोंसे छटपटाता हुआ क्या करेगा ॥ ५१ ॥

यदि कोई आशङ्का करे कि वैराग्य ही परम सार क्यों है ? तो इसपर वैराग्यके बिना वासनाओंकी तनुता (अल्पता) की सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं—'सर्वभावेषु' इत्यादिसे ।

जबतक सकल पदार्थोंमें वैराग्य नहीं प्राप्त होता तबतक पदार्थोंकी बासना कम (निवृत्त) नहीं होती ॥ ५२ ॥

वासनाको निवृत्तिमें आपका इतना बड़ा आग्रह क्यों है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'आत्मानम्' इत्यादिसे ।

हे महामते, आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिए वासनाकी निवृत्तिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय न कभी था और न होगा ॥ ५३ ॥

पदार्थोंके रहते उनकी वासनाकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्कापर कहते हैं—'भावास्तु' इत्यादिसे ।

भावास्तु यदि विद्यन्ते तद्धि ते वस्तुभावना ।
किन्त्वेते नैव सन्तीह शशशृङ्गादयो यथा ॥ ५४ ॥
सर्व एव जगद्भावा अविचारितचारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचाराद्विशरारवः ॥ ५५ ॥
प्रामाणिकविचारेषु न विद्यन्ते कृतेषु ये ।
कथं सन्ति जगद्भावास्ते के सन्ति सदैव वा ॥ ५६ ॥
सर्व एव जगद्भावाः कारणाभावतो भृशम् ।
सर्गादावेव नोत्पन्ना यच्चेदं भाति तत्परम् ॥ ५७ ॥
पदे सर्वेन्द्रियातीते मनःषष्ठेन्द्रियात्मनाम् ।
भावानां कारणं नाऽस्ति मनःषष्ठेन्द्रियात्मकम् ॥ ५८ ॥

यदि पदार्थ सत्यरूपसे रहें तो उनमें से अपने अनुकूल पदार्थोंमें यह मेरे लिए आवश्यक है इसका मुझे सम्पादन करना चाहिये इत्यादि वासना होती है, किन्तु ये पदार्थ तो शशके सींग आदिकी तरह यहाँ हैं ही नहीं; जगत्में जितने पदार्थ हैं, उनपर जबतक विचार नहीं किया जाता तभी तक रमणीय प्रतीत होते हैं, वस्तुतः उनकी सत्ता है नहीं। विचार करनेपर वे सामने खड़े ही नहीं होते हैं, न मालूम कहाँ विलीन हो जाते हैं ॥ ५४, ५५ ॥

यद्यपि ये पदार्थ वेदान्तियोंके विचारमें नहीं हैं तथापि कपिल, कणाद आदिके विचारमें तो हैं ही, ऐसी अवस्थामें आपने उन्हें असत्य ही कैसे मान लिया ? इस शङ्कापर कहते हैं—'प्रामाणिक'० इत्यादिसे।

प्रामाणिक विचार करनेपर जो जगत्पदार्थ नहीं टिकते हैं, वे कैसे हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? वे एक एक वस्तुरूप हैं या सर्ववस्तुरूप हैं, सदा ही रहते हैं, या कभी ही रहते हैं ? सभी प्रकारसे पहले सैकड़ों वार हम उनका खण्डन कर चुके हैं, यह अर्थ है ॥ ५६ ॥

सभी जगत्के पदार्थ कारणके अत्यन्ताभावसे सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुए, जो यह प्रतीत होता है वह परम ब्रह्म ही है ॥ ५७ ॥

कारणका अभाव कैसे है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—'पदे' इत्यादिसे।

सभी इन्द्रियोंसे अज्ञेय स्वप्रकाश चिदेकरस परब्रह्ममें मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य होनेवाले पदार्थोंके मनसहित पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे वेद्य कारणकी प्रलयकालमें संभावना तक नहीं की जा सकती है ॥ ५८ ॥

भावानां विविधाख्यानामनाख्यं कारणं कुतः ।
कुतो वस्तुन्यवस्तुत्वं व्योमन्यव्योमता कुतः ॥ ५९ ॥

साकारस्य हि साकारं वटधानादिवद्भवेत् ।
बीजं तद्वस्तु साकारं जायतेऽन्यत्कुतोऽन्यथा ॥ ६० ॥

न किंचिदपि यत्राऽस्ति बीजमाकृतिमन्मनाक् ।
तत आकृतिमद्विश्वं भवतीति विडम्बनम् ॥ ६१ ॥

कार्यकारणभावादि तस्मिन्नहि परे पदे ।
वाचालत्वेन यन्नाम कल्प्यते मौर्ख्यमेव तत् ॥ ६२ ॥

सहकारिनिमित्तानामभावे हि न कारणात् ।
कार्यं भवेदन्यदेति बालैरप्यनुभूयते ॥ ६३ ॥

नाम और रूप युक्त जगत्का अनाम और अरूप ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, यों दूसरी युक्ति दर्शाते हैं—'भावानाम्' इत्यादिसे ।

विविध नाम-रूपवाले पदार्थोंका नाम-रूपविहीन कारण कैसे हो सकता है। इसी एकरीतिसे वस्तु अवस्तुका कारण तथा शून्य अशून्यका कारण नहीं कहा जा सकता, यह कहते हैं—'कुतः' से । वस्तुमें अवस्तुता कैसे हो सकती है और व्योममें अव्योमता कैसे हो सकती है ? ॥ ५९ ॥

वटके बीजके समान साकारका साकार ही बीज हो सकता है । बीज वह वस्तु हो उससे साकार विसदृश अन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६० ॥

जिसमें तनिक भी आकृतिवाला कुछ बीज नहीं है, उससे आकृतिवाला विश्व उत्पन्न होता है, यह कथन विडम्बनावाक्यके समान निरर्थक है ॥ ६१ ॥

उस परम पदमें कार्यकारणभावादि नहीं है, बकवासके कारण जो उसमें कार्यकारणभावादिकी कल्पना की जाती है, वह निरी मूर्खता है ॥ ६२ ॥

सहकारी और निमित्त कारणके अभावमें कारणसे (उपादानकारणसे) कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती सहकारी और निमित्तकारणके अस्तित्वमें होती है, यह बात बच्चोंको तक विदित है ॥ ६३ ॥

जगद्ज्ञानरूप होनेके कारण भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, क्योंकि घटज्ञानमें घटकारणता नहीं दिखाई देती, ऐसा कहते हैं—'तन्मात्र०' इत्यादिसे ।

तन्मात्रवेदनं भूयः पृथ्व्यादीनां च कारणम् ।
किमस्ति कथ्यतां छाया कथमास्ते वदाऽऽतपे ॥ ६४ ॥
परमाणुसमूहा ये जगदित्यप्यवास्तवम् ।
शशशृङ्गं धनुःप्रख्यमज्ञानादभिधीयते ॥ ६५ ॥
परमाणुसमूहश्चेत्संभूय कुरुते जगत् ।
यदृच्छयैव तमसि शीर्यते च यदृच्छया ॥ ६६ ॥

कहिये तो सही जगत्-मात्रज्ञानरूप चित् पृथिवी आदिका कारण कैसे हो सकता है। चित्में अचित्की स्थिति नहीं हो सकती, इसलिए भी चित् जगत्कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं—'छाया' से। भला कहिए तो सही धूप में छाया कैसे रह सकती है? ॥ ६४ ॥

इसीसे परमाणुकारणवादी बौद्ध आदिके मतका खण्डन हो गया। कारण कि अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) परमाणुसमूह इन्द्रियगोचर नहीं देखा जाता, ऐसा कहते हैं—'परमाणु०' इत्यादिसे।

जो बुद्ध आदि लोग परमाणुओंका समूह ही जगत् है, ऐसा कहते हैं उनका कथन वास्तविक नहीं है, जैसे कोई शशका सींग धनुषके तुल्य है, कहे वैसे ही यह भी अज्ञानसे कहा जाता है ॥ ६५ ॥

यदि परमाणु आपसमें मिलकर जगत्की रचना करें तो उनका सदा आकाशमें उड़ना, गिरना दिखाई देनेके कारण प्रत्येक घरमें प्रतिदिन पहाड़की चोटीसी और कुएँका गड्ढासा हो जायगा, ऐसा कहते हैं—'परमाणु०' इत्यादि दो श्लोकोंसे।

यदि परमाणुओंका समूह मिलकर जगत्की रचना करता, तो अवयवभूत वे जब चाहते तब आकाशमें उड़ते और जब चाहते नीचे गिरते इस प्रकार जगह जगह, घर घर प्रतिदिन उसकी अपूर्व धूलिकी अम्बार लग जाती अथवा बड़ा गड्ढा हो जाता और दूसरी बात यह भी है कि परमाणु नामक निरवयव कोई द्रव्य किसी-को दिखाई नहीं देता है, जालोंके अन्दर सूर्य-किरणोंमें सावयव ही रजःकण दिखाई देते हैं। यदि कहिये उन्हींके अवयव जहाँ तक हो सकते हैं उसकी चरमसीमा निरवयव है ऐसा अनुमान होता है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह परस्पर संयोगके अयोग्य होनेसे अद्रव्य हो जायगा। निरवयवका अन्यके साथ संयोग नहीं हो सकता। संयोग एक देशमें होता है ऐसा नियम है। संयोग न होनेसे

तदङ्गमिङ्गते नित्यं देशे देशे गृहे गृहे ।
अपूर्वात्मरजःशृङ्गं खातं वा स्यादिने दिने ॥ ६७ ॥

न च तद्दृश्यते किंचित्कस्य तत्कर्म तादृशम् ।
भवेद् व्यर्थमभव्यस्य जडास्तु परमाणवः ॥ ६८ ॥

नाऽबुद्धिपूर्वं तत्कर्म संभवत्यङ्ग कस्यचित् ।
बुद्धिपूर्वं तु यद् व्यर्थं कुर्यादुन्मत्तको हि कः ॥ ६९ ॥

जडस्य बुद्धिपूर्वेहा मरुतो नाऽस्ति तां विना ।
न संभवत्यणुचयो नाऽन्यत्कर्तोपपद्यते ॥ ७० ॥

द्व्यणुक आदिकी सिद्धि नहीं होगी । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि अतीन्द्रिय आकाशपुष्पसे परमाणुओंके संयोजन द्वारा जगत्की रचना करना किसका काम है ? क्या किसी असंसारी पुरुषका वह काम है या संसारीका ? संसारीकी शक्ति तो परमाणुओंसे जगत्की रचना करनेमें कतई नहीं है, यह बिलकुल साफ है । यदि कहो कि संसारके अयोग्य ईश्वर या जड़का यह काम है, तो उनसे ईश्वरका बिना प्रयोजनके जगत्का निर्माण व्यर्थ है । नित्यमुक्त ईश्वरको कोई प्रयोजनापेक्षा भी नहीं है अथवा सृष्टिका कोई प्रयोजन उपपत्तितः सिद्ध भी नहीं किया जा सकता । और जड़ परमाणु अपने-आप जगत्सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, यह भाव है ॥६६–६८॥

यदि कोई शङ्का करे कि चेतनको बुद्धिपूर्वक किये गये काममें प्रयोजनकी अपेक्षा होती है अबुद्धिपूर्वक किये गये काममें तो प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है, तो इसपर कहते हैं—'ना०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्र, उक्त जगत्सृष्टिरूप कार्य[1] किसीका अबुद्धिपूर्वक तो नहीं हो सकता और बुद्धिपूर्वक तो उस व्यर्थ कर्मको कौन पागल करेगा ? ॥ ६९ ॥

इस कथनसे वायु ही परमाणुका संघात करेगा, बुद्धिपूर्वक व्यापारके बिना ही अणुओंका संघात (मेलन) हो जायगा, इस आशका भी निराकरण हो गया, ऐसा कहते हैं—'जडस्य' इत्यादिसे ।

जड़ वायुकी बुद्धिपूर्वक चेष्टा नहीं है । बुद्धिपूर्वक चेष्टाके बिना परमाणुओंका एकत्रीकरण नहीं हो सकता । जड़ और सर्वज्ञसे (ईश्वरसे) अतिरिक्त जीव, प्रलयमें

१ जिसकी सुन्दर रचना मनको चक्करमें डालदेनेवाली है, अनेक भुवन, गिरि, नदी, तालाब आदिसे युक्त है तथा जरायुज, अण्डज आदि चार प्रकारके प्राणियोंसे पूर्ण है ।'

वयमात्मान एवेमे खात्मानः खात्मका जनाः।
तथा स्थिता यथा स्वप्ने भवतां स्वप्नमानवाः ॥ ७१ ॥

तस्मान्न जायते किंचिद्विश्वं नाऽपि च विद्यते।
इत्थं चिन्नभ एवाऽच्छं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि॥ ७२ ॥

विश्वाकाशं चिदाकाशे विष्वग्विश्रान्तिमागतम्।
स्पन्दो द्रवत्वं शून्यत्वमनिलेऽम्भसि खे यथा ॥ ७३ ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ निमेषेणाऽतिदूरतः ।
संविदो यद्वपुर्मध्ये चिद्व्योम्नो विद्धि तद्वपुः ॥ ७४ ॥

शरीर नहीं होनेके कारण, असमर्थ ही था; इसलिए सृष्टिके आरम्भमें इसके किसी कर्ताकी उपपत्ति नहीं हो सकती है ॥ ७० ॥

यदि कर्ताके अभावसे जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ तो हम लोगोंका क्या स्वरूप है ? कैसे जगत्में स्थित हैं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'वयम्' इत्यादिसे।

ये हम लोग देह आदि मूर्ततासे रहित चिदात्मरूप ही हैं एवं अन्य लोग भी हमारी नाईं ही चिदात्मरूप ही हैं तथापि जैसे स्वप्नमें आपके स्वप्न-मानव होते हैं वैसे ही अपनी कल्पनासे ही स्थित हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार सब कुछ उपपन्न होनेसे ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त ही निर्बाध है, यह कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए न तो जगत् कुछ उत्पन्न ही होता है और न विद्यमान ही है। इस प्रकार जगत्के रूपसे निर्मल चिदाकाश ही अपनेमें अपने आप विकसित होता है ॥ ७२ ॥

जैसे वायुमें स्पन्द, जलमें द्रवता और आकाशमें शून्यता इनसे (वायु आदिसे) अभिन्न ही चारों ओर विश्रान्त हैं वैसे ही चिदाकाशमें विश्वाकाश अभिन्न होकर ही चारों ओर विश्रान्त है ॥ ७३ ॥

जगत्-शून्य चिदाकाशका जो स्वरूप पहले दृष्टान्तपूर्वक अनेक बार अनुभवमें बैठाया गया है, उसीका स्मरण कराते हैं—'देशात्' इत्यादिसे।

अत्यन्त दूरसे भी दूर एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें दोनों देशोंके मध्य-में एक क्षणभरके लिए संवित्का जो स्वरूप है, वही निर्विषय चिदाकाशका स्वरूप समझिये ॥ ७४ ॥

स स्वभावो हि सर्वेषामर्थानां ते च तन्मयाः ।
तादृशास्तन्नभोरूपास्तेन विश्वमतो नभः ॥ ७५ ॥
स्वभावस्य परा वृत्तिर्मनागेवाऽऽशु तस्य सा ।
स्वभावादविभिन्नैव सेदं जगदिति स्थिता ॥ ७६ ॥
जगच्चिन्नभसोस्तस्मान्न कदाचन भिन्नता ।
एकमेव द्वयो रूपं पवनस्पन्दयोरिव ॥७७ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ विदो मध्ये हि यद्वपुः ।
शान्ताशेषविशेषात्म तन्मुख्यं नेतरद्विदुः ॥ ७८ ॥
स स्वभावोऽङ्ग भूतानां तत्र तिष्ठन्ति पण्डिताः ।
तस्मान्न विचलन्त्येते नित्यध्यानाद्धरादयः ॥ ७९ ॥
आभासाकाशमेवेदं भामात्रमवभासनम् ।
विश्वमाकाररहितं स्वभावं विदुरव्ययम् ॥ ८० ॥

सब पदार्थोंका संविदाकाश ही परमार्थ स्वभाव है, वे सब पदार्थ संविदाकाशमय, चिदाकाशसदृश और चिदाकाशरूप ही हैं, इसलिए विश्वकी चिदाकाशरूपसे ही भावना करनी चाहिये शून्यरूपसे भावना नहीं करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

पूर्वोक्त चिदाकाशकी स्वभावसे अभिन्न ही विवर्तभावसे जो परम स्थिति है उसीको आपातदर्शी व्यवहारी 'जगत्' नामसे पुकारते हैं ॥ ७६ ॥

इसलिए जगत् और चिदाकाश ये दो कदापि परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं जैसे पवन और स्पन्द दोनोंका एक ही रूप है वैसे ही इनका एक ही स्वरूप है ॥ ७७ ॥

क्षणभरमें एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें ज्ञानका सकल विशेषोंसे शून्य जो स्वरूप है वही अनुभवका मुख्य दृष्टान्त है उससे अन्य नहीं ॥ ७८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, वही अशेष विशेषोंसे शून्य चिदाकाश सब भूतोंका स्वभाव है, उसीमें पण्डित लोग समाधि द्वारा स्थित रहते हैं, चिदाकाशरूप उससे ये पृथिवी आदि पदार्थ विचलित नहीं होते हैं ॥ ७९ ॥

यह विश्व चिद्रूपी दर्पणमें आभासाकाश ही है, उसका अवभासन भी चित्की प्रभारूप ही है । निराकार अविनाशी चितस्वभावको ही विद्वान् पुरुष जगत् कहते हैं ॥ ८० ॥

न जायते न म्रियते न भूत्वा भावि कुत्रचित् ।
अनन्यदेव चिद्व्योम्नः शून्यत्वमिव खाज्जगत् ॥ ८१ ॥
न विश्वमस्ति नैवाऽऽसीन्न च नाम भविष्यति ।
इदमाभासते शान्तं चिद्व्योम परमात्मनि ॥ ८२ ॥
चिन्मात्रमेव कचति स्वप्ने पुरतया यथा ।
तथैव जाग्रदाख्येऽस्मिन्स स्वप्ने कचति स्वयम् ॥ ८३ ॥
सर्गादावेव भावानामसत्त्वेत्यस्ति देहकः ।
कुतस्तस्माच्छरीरत्वं स्वप्न एव नभश्चितेः ॥ ८४ ॥
स्वयंभ्वाख्यं शरीरं स्वं पूर्वः स्वप्नो महाचितेः ।
इतउत्थानास्तदनु स्वप्नात्स्वप्नान्तरं वयम् ॥ ८५ ॥
गण्डस्योपरि जातानां स्फोटानामत एव नः ।
परमेण प्रयत्नेन न मनो नाम यास्यति ॥ ८६ ॥

यह जगत् न तो उत्पन्न होता है, न उत्पन्न होकर विनष्ट होता है और न कभी भविष्यमें होनेवाला ही है। यह चिदाकाशसे वैसे ही अभिन्न है जैसे कि आकाशसे शून्यता अभिन्न है ॥ ८१ ॥

न जगत् है, न कभी था और न कभी होगा। यह परम शान्त चिदाकाशका आत्मामें ही अवभास हो रहा है ॥ ८२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ही नगर, पर्वत आदिके रूपसे प्रकाशमें आता है वैसे ही इस जाग्रत् नामक स्वप्नमें वह चिदाकाश ही स्वयं जगत्के रूपसे प्रकाशित हो रहा है ॥ ८३ ॥

सृष्टिके आरम्भमें पृथिवी आदि पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है, इसलिए पार्थिव आदि देहका कैसे संभव हो सकता है? इसलिए यह भासमान शरीरता आकाशरूप चितिका स्वप्न ही है ॥ ८४ ॥

स्वयम्भू नामका अपना शरीर महाचितिका पहला स्वप्न है। तदनन्तर स्वयम्भू शरीरसे उत्पन्न हुए हम लोग स्वप्नसे दूसरे स्वप्नके सदृश हैं ॥ ८५ ॥

इसलिए जैसे गलगण्डमें (गण्डमालामें) निकले हुए फोड़ेका गलेसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है वैसे ही ब्रह्मसे हमारा भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है यों व्यवहित सम्बन्धकी दृढ़-भ्रान्ति होनेके कारण हमारा मन भी, चाहे कितने ही प्रयत्नसे क्यों न प्रेरित किया जाय, ब्रह्ममें शीघ्र नहीं जायगा ॥ ८६ ॥

ब्रह्मैवाऽसत्यपुरुषः सत्यवच्चाऽनुभूयते ।
स्थितं ततः प्रभृत्येव न त्वलीकमिदं ततम् ॥ ८७ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमलीकं जायते जगत् ।
यथा स्वप्ने तथाऽलीकमेवमाशु विनश्यति ॥ ८८ ॥
चिद्व्योमैवैत्य विश्वत्वं यथा स्वप्ने विनश्यति ।
अनुदित्वैव विश्वत्वं जाग्रदाख्ये तथैव च ॥ ८९ ॥
अनुभूतमलीकं चाऽप्यलीकं सत्यवत्स्थितम् ।
संविदेव यथा स्वप्ने नगरादितयोदिता ॥ ९० ॥
साकारेव निराकारा स्थिता तद्वज्जगत्तया ।
संविदाकाशमाकाशादणु मेरोरणुर्यथा ॥ ९१ ॥

जैसे गला ही गण्डमालाके रूपमें स्थित होकर गण्डमालाके ऊपर निकले हुए फोड़ेके रूपसे भी स्थित यानी उससे अभिन्न है फिर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म ही हिरण्यगर्भ व्यष्टिजीवरूप असत्य पुरुष होकर देहरूपसे पृथक् प्रतीत होता है। जभींसे ब्रह्म जीवरूप हुआ तभीसे यह मिथ्या जगत् स्थित है ॥ ८७ ॥

ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त सारा जगत् स्वप्नजगतके समान अलीक (असत्य) ही उत्पन्न होता है और स्वाप्न जगत्के समान ही नष्ट हो जाता है ॥ ८८ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही जगतका रूप धारणकर लीन हो जाता है वैसे ही जाग्रत् नामक स्वप्नमें भी, जन्म धारण किये बिना ही, जगत्का रूप धारण कर नष्ट होता है ॥८९॥

यदि यह जगत् असत् (अनृत) है तो इसका अनुभव कैसे होता है और कैसे यह सत्यकी नाईं स्थित है, क्योंकि शशके सींगोंमें, जो असत् हैं, ये दोनों बातें नहीं दिखाई देतीं ? इस शङ्कापर कहते हैं—'**अनुभूतम्**' इत्यादिसे।

जैसे स्वप्नमें संवित् ही नगर, पर्वत, नदी आदिके रूपसे उदित होती है वैसे ही अलीक (असत) होते भी अनुभूत और असत् होते भी सत्यवत् स्थित यह जगत् संवित्से ही उदित है, अतः संविद्रूप ही है। शून्यरूप नहीं है ॥ ९० ॥

स्वप्ननगर आदिके समान ही निराकार होती हुई भी साकार-सी संवित् जगत् रूपसे स्थित है। जैसे मेरु पर्वतके धूलि-कण परमाणुके समान अणु हैं वैसे ही संविदाकाश आकाशसे भी अणु है ॥ ९१ ॥

किल यत्तस्य नाम स्यादाकाशादणुता कुतः ।
कारणाभावतोऽन्यस्य नाऽऽकार उपपद्यते ॥ ९२ ॥

सर्गादावेव योऽजातो जातोऽयं जगतः कुतः ।
यदेव वेदनाकाशे पुरं स्वप्ने तदेव नः ॥ ९३ ॥

भेदः स्वप्नाद्रिचिद्व्योम्नोर्न शून्याम्बरयोरिव ।
यदेव चिन्नभो नाम तदेव स्वप्नपत्तनम् ॥ ९४ ॥

आकाशसे भी बढ़कर अणुता नामका धर्म कहाँ प्रसिद्ध है ? जो कि संविदाकाश-का (ब्रह्मका) धर्म होगा, इसलिए आकाशसे भी बढ़कर अणुता उसका धर्म नहीं है। तब अणुता कहनेका तात्पर्य क्या है ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'**कारणा०**' से जगत्का स्थूल आकार अणुरूप कारणके बिना नहीं बन सकता, यह कहनेके लिए उसे अणु कहा है ॥ ९२ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ईंट आदिसे नगर आदिकी उत्पत्ति दिखलाई देती है, अतः जगत्से ही जगत्की उत्पत्ति हो, न कि ब्रह्मसे। इसपर कहते हैं—'**सर्गादा०**' इत्यादिसे।

जो नगर आदि सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न नहीं हुआ वह जगत्से कैसे उत्पन्न हुआ ? दूसरी बात यह भी है कि स्वप्नमें ईंट आदिके बिना ही नगर आदि दिखाई देते हैं। जाग्रद्वेदनाकाशमें जो नगर है, वही हमारे सिद्धान्तमें स्वप्नमें भी नगर है और वहाँपर व्यभिचार स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ ईंट आदिसे नगरनिर्माण नहीं होता है ॥ ९३ ॥

इस प्रकार स्वप्नपदार्थ और जाग्रत्पदार्थोंका परस्पर भेद न होनेपर स्वप्नपदार्थोंका चिदाकाशसे भेद न होनेके कारण जाग्रत्पदार्थोंका भी चिदाकाशसे अभेद सिद्ध हो गया, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'**भेदः**' इत्यादिसे।

जैसे शून्य और आकाशका परस्पर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही है वैसे ही स्वप्न-पर्वत और चिदाकाशमें भी परस्पर भेद नहीं है, दोनों अभिन्न हैं। जो चिदाकाश है, वही स्वप्न-नगर है ॥ ९४ ॥

उक्त अभेदमें स्पन्द-वायु और वायु-आकाश दृष्टान्त हैं, यह कहते हैं—'**यदेव**' इत्यादिसे।

यदेव स्पन्दनं नाम स एव पवनो यथा।
स्पन्दास्पन्दैकरूपात्मा वायुर्व्योमोपमो यथा ॥ ९५ ॥
तस्माच्चिन्नभ एवेदं जगदाकृति लक्ष्यते।
सर्वं शून्यं निरालम्बं भासनं चिद्विवस्वतः ॥ ९६ ॥
शान्तमेवेदमखिलं निरस्तास्तमयोदयम्।
सकृद्विभातममलं दृषन्मौनमनामयम् ॥ ९७ ॥
तस्माद्वद कथं भावाः कुतो भावाः क्व भावधीः।
क्व द्वैतं क्वैकता क्वाऽहं क्व भावाः क्व च भावनाः ॥ ९८ ॥
नित्योदितो व्यवहरन्नपि निर्विकारो
द्वित्वैक्यमुक्तमतिरुत्तमशीतलोऽन्तः।
निर्वाण आस्स्व विगतामयशुद्धबोध-
बोधैकतामुपगतोऽङ्ग न सन्ति भावाः ॥ ९९ ॥

जैसे जो ही स्पन्दन है, वही वायु है और जैसे स्पन्दन और अस्पनन्दन स्वरूपवाला वायु आकाशसे अभिन्न है वैसे ही चिदाकाश और स्वप्ननगर अभिन्न हैं ॥ ९५ ॥

इसलिए चिदाकाश ही जगत्के आकारमें दिखाई देता है। यह सब चिद्रूपी सूर्यका निराधार प्रकाशन है ॥ ९६ ॥

यह समस्त जगत् जन्मविनाशरहित अखण्डस्फुरणरूप निर्मल निर्विकार पत्थरके समान स्तब्ध शान्त (ब्रह्म) ही है ॥ ९७ ॥

इस तरह चित्की प्रपञ्चशून्यता सिद्ध हुई, यह कहते हैं— 'तस्मात्' इत्यादिसे।

इसलिए जरा आप कहिए तो सही कैसे पृथिवी आदि पदार्थ हैं ? कहाँसे ये उत्पन्न हुए हैं, कहाँ पदार्थबुद्धि है ? कहाँ द्वैत है ? कहाँ अद्वैत है ? कहाँ मैं हूँ ? कहाँ पदार्थ हैं और कहाँ वासना है ? ॥ ९८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप निर्विकार शुद्ध बोधरूप तत्त्वके परिज्ञानसे उक्त तत्त्वमें एकरूप होकर सदा राज्यका परिपालन आदि व्यवहार करते हुए भी उसमें 'मैं कर्ता हूँ' यह अभिमान न होनेके कारण विकारसे रहित, परस्पर विरोधी द्वैत और अद्वैतसे

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सकलभावाभावोपदेशेन परमार्थैकताप्रतिपादनं नाम त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

आकाशः शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रकोऽनिलः ।
तत्सङ्गोत्कर्षजं तेजस्तच्छान्तिश्चेत्यपां स्थितिः ॥ १ ॥

मुक्त होकर और अन्दर अत्यन्त शीतल हो निरतिशय आनन्दको प्राप्त होइये, क्योंकि विक्षेपके कारण ये पदार्थ नहीं ही हैं ॥ ९९ ॥

एकसौ तीन सर्ग समाप्त

एकसौ चार सर्ग

[जैसे आकाश आदिकी वायु आदिरूपता अनुभवसे सिद्ध है वैसे ही चित्‌की ही अनुभवतः जगद्रूपताका साधन]

चिन्मात्र ही स्वप्नकी भाँति जगत्‌के आकारसे प्रतीत होता है, ऐसा जो पहले कहा था, अनुभवका अवलम्बन होनेपर प्रमाणों द्वारा पदार्थतत्त्वकी जिज्ञासा कर रहे सभीको उसीकी शरणमें जाना होगा उसके सिवा दूसरा चारा है ही नहीं। भले ही आकाश आदिके क्रमसे सृष्टिकल्पना परम्पराओंसे अतिदूर जाकर ही उसका समाश्रयण करें, ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए आकाशादिकी आचार्यप्रसिद्ध स्वरूपस्थिति कहते हैं—'आकाशः' इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामजी, शब्दतन्मात्र आकाश है और स्पर्शतन्मात्र वायु है। उन दोनोंके अत्यन्त संघर्षसे उत्पन्न हुआ रूपतन्मात्र तेज है। उक्त तेजकी शान्ति (ऊष्णता और रूक्षताके शमन द्वारा शीतलता द्रवत्वाश्रयरूप रसतन्मात्र) जलका रूप है। आकाश, वायु, तेज और जलका संघ (इनका मेलन होनेपर

भूरेषां सङ्गः स्वप्नाभे जगद्भाने क्रमस्त्विति ।
कथं नाम किलाऽमूर्ताद्व्योम्नो मूर्तिः प्रवर्तते ॥ २ ॥
गत्वा सुदूरमप्येतज्ज्ञप्तेश्चेत्परिकल्प्यते ।
तदादावेव सत्यर्थे दोषोऽस्मिन्कं इवाऽमले ॥ ३ ॥

घनीभावका हेतु गन्धभाव) पृथिवी है । इस प्रकार चित्से ही स्वप्न-सदृश जगद्भान-में यह क्रम है। यहाँपर हमारा प्रश्न है कि अमूर्त आकाशसे पृथिवी-पर्यन्त मूर्त पदार्थ-संघ कैसे हुआ ? इसके उत्तरमें यदि कोई कहे कि आकाशसे क्रियास्पर्शप्रधान वायु ही उत्पन्न होता है । वह रूपहीन होनेके कारण कुछ अंशमें आकाशके तुल्य और क्रियास्पर्शप्रधान होनेके कारण किसी अंशमें मूर्तके तुल्य है, इससे रूपतन्मात्रप्रधान मूर्त तेजको उत्पन्न करेगा, तो यह उत्तर ठीक नहीं है, क्योंकि निरवय कूटस्थ आकाश-से वायुकी ही सिद्धि नहीं हो सकती । कोई भी निश्चेष्ट तथा निरवयव पदार्थ न तो कुछ बना सकता है और न उसमें विकार ही हो सकता है । किञ्च, यदि वह सम्पूर्णरूपसे विकृत हो जाय, तो आकाशके अभावसे वायु आदिके लिए अवकाश ही नहीं रहेगा । यदि आधा या उससे कम आकाश विकृत होता है, यह मानो तो आकाश भी अवयववान् हो जायगा । यदि कहो अवयववान् भी हो क्या हानि है ? तो समानरूपसे वही स्पर्शवान् क्रियावान् भी हो जायगा, ऐसी स्थितिमें वायु आदिकी उत्पत्तिकी व्यर्थता तथा निरवकाशता और एक आकाश और उसके अवयवोंकी भी निरवकाशता हो जायगी । इस प्रकार रूपरहित वायुसे भी रूपतन्मात्रकी उत्पत्तिका आरम्भसे (आरम्भ वादानुसार) या परिणामसे (परिणामवादानुसार) निरूपण करना कठिन ही नहीं असंभव ही है । कारण कि कारणके गुण कार्यके गुणोंके आरम्भक होते हैं, ऐसा नियम है । वायुमें रूपका अभाव है । परिपाकसे परिणाम होता है और तेजके बिना परिपाककी भी संभावना नहीं है, इसी प्रकार अग्नि, जल आदि उत्तरवर्ती भूतोंमें भी समझ लेना चाहिये ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि अनुभवबलसे ही कूटस्थ आकाशसे चलनात्मक वायुकी उत्पत्ति, रूपरहित वायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति; नीरस तेजसे रसरूप जलकी उत्पत्ति तथा गन्धहीन जलसे गन्धवती पृथिवीकी उत्पत्तिकी कल्पना करेंगे । अनुभव रूप भगवती संवित् ही हम लोगोंके सारे विरोधको हटाकर अनुभवानुरूप सब पदार्थों का समर्थन कर देगी । इसपर कहते हैं—'गत्वा' इत्यादिसे ।

ज्ञप्तिरेवाऽतिविमला स्वरूपात्मनि भाति यत् ।
तदेव जगदित्युक्तं सत्यमित्येव सत्यतः ॥ ४ ॥

न क्वचित्सन्ति भूतानि पञ्च कुड्यादयो न वा।
असन्त्यप्यनुभूतानि ननु स्वप्नदशास्विव ॥ ५ ॥

स्वभाव एव विमलो यथा स्वप्ने पुरादिवत् ।
कचत्येवं जाग्रतीदं जगद्वद्वस्तु तत्सुखम् ॥ ६ ॥

चेतनाकाश एवाऽहं तदेवेदं जगत्स्थितम् ।
इत्यहं जगदित्येकं खमेवैकं शिलाघनम् ॥ ७ ॥

यदि दूरकी उड़ान भर कर अन्तमें फिर लाचार होकर संवित्‌की ही शरण लेनी पड़ती है, तो पहले ही जैसे वह स्वप्न आदिमें स्वाप्न जगत्‌का वेष धारण करती है वैसे केवल विवर्तसे सारे जगत्‌का वेष धारण करती है, इस सर्वार्थसाधक निर्मल सिद्धान्तको मान लेनेमें कौन दोष है ? ॥ ३ ॥

उसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं—'ज्ञप्ति०' इत्यादिसे ।

अति निर्मल संवित् ही अपने स्वरूपमें भासित होती है, यह कथन 'वही जगत है' यों परमार्थ सत्यस्वरूप अधिष्ठानके बलसे तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि यथार्थवादिनी श्रुतिके बलसे सत्य ही है, यह सिद्धान्तरहस्य हम पहले ही कह चुके हैं ॥ ४ ॥

न तो कहींपर पाँच भूत हैं और न घट, कुड्य आदि भौतिक पदार्थ ही हैं, किन्तु फिर भी जैसे स्वप्न आदिमें भूतभौतिकशून्य चिति ही भूतभौतिकके समान सबको दिखलाई देती है वैसे ही जाग्रत्‌में असत् भी भूतभौतिकपदार्थ चितिबलसे सत्य-से अनुभूत होते हैं ॥ ५ ॥

जैसे स्वप्नमें चित्स्वभाव आत्मा ही नगर पर्वत, आदिके तुल्य प्रकाशित होता है वैसे ही जाग्रत्‌में भी वह सत् चित् सुखरूप आत्मा जगत्‌के समान प्रकाशमें आता है ॥ ६ ॥

मैं चेतनाकाश ही हूं, यह जगत् भी चेतनाकाश रूप ही स्थित है, इसलिए मैं और जगत् दोनों एक ही हैं । वस्तुतः केवल शिलाके समान ठोस चिदाकाशका ही अस्तित्व है ॥ ७ ॥

यदादिसर्गजननं यत्कल्पान्तनिवर्तनम् ।
यद्वा भुवनसंस्थानं तद्धि व्योम निराकृति ॥ ८ ॥
सति वाऽसति वा देहे
निर्दुःखसुखत्वमक्षयं मोक्षः ।
बुद्धेऽमले स्वभावे
निर्भरविश्रान्तिरस्तु सर्वेह ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जगदसत्ताप्रतिपादनं नाम चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

स्वभावं जगदाकारं चिद्भावोऽनुभवन्स्थितः ।
स्वतः स्वप्नमिवाऽनन्यमात्मनः कल्पनाभिधम् ॥ १ ॥

जो आदि सृष्टिमें जगत्की उत्पत्ति है और जो कल्पमें (प्रलयमें) उसकी निवृत्ति है अथवा जो जगत्की स्थिति है, वह निराकार चिदाकाश ही है ॥ ८ ॥

निर्मल आत्मस्वरूपके ज्ञात हो जानेपर जो दुःखलेशशून्य अक्षय सुखता (भूमानन्दरूपता) है, वही मोक्ष है । उक्त मोक्ष देहके रहते या न रहते एक सा है (जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिमें कोई भेद नहीं है)। उस मोक्षमें पूर्ण निर्भर विश्राम आपको प्राप्त हो । उतनेसे ही आपकी कृतकृत्यता है ॥ ९ ॥

एक सौ चार सर्ग समाप्त

एकसौ पाँच सर्ग

[चित्का ही जाग्रत्के तुल्य और चित्का ही स्वप्नके तुल्य भान होता है, इसलिए जाग्रत् और स्वप्नमें कोई अन्तर नहीं है, यह वर्णन]

जगत्की पूर्वोक्त स्वप्नसमानताका विस्तारसे वर्णन करनेके लिए पृष्ठ भूमि तयार करते हैं--**'स्वभावम्'** इत्यादिसे ।

चित्स्वभाव आत्मा अपनी कल्पनारूप अपनेसे अभिन्न स्वभाव जगदाकारका

जाग्रत्सुषुप्तमेवेदं शिलाजठरमेव वा ।
आकाशमेव वा शून्यं जगत्त्वेन च नोज्झितम् ॥ २ ॥

स्वप्न एवाऽत्र दृष्टान्तः पुरमण्डलमण्डितः ।
स्वप्ने जगन्न किंचित्सदित्थमाभाति भासुरम् ॥ ३ ॥

त्रैलोक्यमसदेवेदं यथा स्वप्नेऽवभासते ।
जाग्रत्यस्मिंस्तथैवेदं मनागप्यत्र नाऽन्यथा ॥ ४ ॥

न जाग्रति न च स्वप्ने जगच्छब्दार्थसंभवः ।
स्वं वस्तुतस्तु चिद्व्योम्नो भानं बुद्धं जगत्तया ॥ ५ ॥

चिद्व्योम्ना स्वचमत्कारो व्योमन्यद्र्यादिरूपभृत् ।
जगदित्येव बुद्धोऽन्तर्जाग्रत्स्वप्ने स्वयंभुवा ॥ ६ ॥

स्वयं अनुभव करता हुआ स्थित है । अर्थात् स्वप्नमें जिस प्रकार आत्मा अपनेसे अभिन्न अपनी कल्पनारूप पुर, नगर आदिका अनुभव करता हुआ स्थित रहता है वैसे ही जगदाकार अपने स्वभावका, जो अपनेसे अनन्य (अभिन्न) है और अपनी ही कल्पना है, अनुभव करता है ॥ १ ॥

यह जाग्रत् , जो कि जगत् रूपसे व्यक्त न होता हुआ अज्ञानरूप ही है, मूलतः शिलारूप ही है और अधिष्ठानरूपसे शून्य आकाश ही है, निरा स्वप्न है ॥ २ ॥

स्वप्न भी ऐसा ही होता है, अतः वही इसका ठीक-ठीक उदाहरण है, यह कहते हैं—'स्वप्न' इत्यादिसे ।

इस विषयमें विविध नगरोंसे अलंकृत स्वप्न ही दृष्टान्त है, स्वप्नमें जगत्का नामलेश भी नहीं रहता फिर भी वह इसी प्रकार देदीप्यमान प्रतीत होता है ॥ ३ ॥

जैसे स्वप्नमें यह असत् ही त्रैलोक्य अवभासित होता है वैसे ही इस जाग्रद् अवस्थामें भी अवभासित हो रहा है, इसमें जरा भी स्वप्नसे निरालापन नहीं है ॥ ४ ॥

जगत्-शब्दके अर्थका (जगत्का) न तो जाग्रत्में संभव है और न स्वप्नमें ही संभव है. वस्तुतः चिदाकाशका जो स्वकीय अवभासन है उसे ही अज्ञानी जन जगत् मान बैठे हैं ॥ ५ ॥

अपने आप होनेवाले चिदाकाशने अन्धकारसे आवृत आत्मरूप आकाशमें पर्वत, नगर आदिका स्वरूप धारण करनेवाले अपने चमत्काररूप तमको जाग्रत्-स्वप्नमें जगत् समझा है ॥ ६ ॥

जगन्न किंचिदेवेदं चिद्रूपं च न किंचन।
एते किंचिदिवाऽऽभातो नभश्चिज्जगती मुधा ॥ ७ ॥
आभातमेव त्रैलोक्यं यथा स्वप्ने न किंचन।
शून्यमेव भवेदेवमेवं जाग्रति निर्वपुः ॥ ८ ॥
स्वप्ने किल महाबुद्धे नानानिर्माणशालिनि।
आरम्भा एव नाऽऽरम्भा असत्सदिव चाऽऽततम् ॥ ९ ॥
अव्योमैवाऽतिविततं व्योमान्तपरिवर्जितम्।
व्योमैवाऽचलसंघातो नानापुरगणोत्करः ॥ १० ॥
अप्यब्दाब्ध्यद्रिनिर्घोषो मौनमेव यथा तथा।
न शृणोत्येव पार्श्वस्थः संप्रबुध्याऽपि किंचन ॥ ११ ॥

यह जगत् कुछ नहीं है (शून्य है), भास्यमान जगत्के शून्य होनेसे उसका भासक चित्का रूप भी कुछ नहीं है। ये अत्यन्त असत् चित् और जगत् (ग्राह्य और ग्राहक) ब्रह्ममें मुधा (मिथ्या) ही भासित होते हैं ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्नावस्थामें भासित हुआ त्रैलोक्य वास्तवमें कुछ नहीं है, शून्य है वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें भी भासित हो रहा यह त्रैलोक्य स्वरूपहीन (निराकार) शून्य ही है ॥ ८ ॥

हे महामते, विविध प्रकारके गृह, उपवन आदिकी निर्मितियोंसे शोभायमान स्वप्नमें आरम्भ अनारम्भ ही है और असत् सत्के समान व्याप्त है ॥ ९ ॥

ब्रह्म ही अत्यन्त विस्तृत शून्यरूप आकाश पहले बना और भूताकाश ही क्रमशः वायु आदि बनकर पर्वतसमूह और विविध नगरोंका समूह बना, यह महान् आश्चर्य है ॥ १० ॥

जैसे स्वप्नमें मेघों, सागरों और पर्वतोंकी गर्जन आदि ध्वनि सोये हुए एक स्वप्नद्रष्टा पुरुषके प्रति प्रख्यात होनेपर पासमें सोये हुए दूसरेके (स्वप्नके अद्रष्टाके) प्रति शून्य ही है, क्योंकि पासमें सोया हुआ पुरुष जागकर भी मेघ आदि या उनके गर्जनको कुछ भी नहीं सुनता, वैसे ही जाग्रत्-शब्द आदि भी शून्य ही हैं ॥ ११ ॥

प्रजायते वा जातोऽपि वन्ध्यायास्तनयो यथा ।
जातोऽप्यजात एवाऽऽस्ते यथाऽऽत्ममृतिविस्मृतौ ॥ १२ ॥
सदसद्भवति क्षिप्रं भुवोऽननुभवो यथा ।
विपर्यस्यति सर्वं च रात्रिरेव यथा दिनम् ॥ १३ ॥
असद्यत्संभवत्याशु दिनमेव यथा निशा ।
असंभवः संभवति यथा स्वमृतिदर्शनम् ॥ १४ ॥
असंभवः संभवति जगद्भानमिवाऽम्बरे ।
तम एव महालोको यः सनिद्रः स वासरः ॥ १५ ॥
आलोक एवैति तमो यन्निद्रा स्वप्नवासरा ।
वसुधैव भवेद्व्योम श्वभ्रादिपतने यथा ॥ १६ ॥
असत्यरूपमेवेति भाति स्वप्ने जगद्यथा ।
तथैव जाग्रदाभाति मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १७ ॥

जैसे उत्पन्न न हुआ भी वन्ध्यापुत्र स्वप्नमें उत्पन्न होता है वैसे ही उत्पन्न न हुआ भी यह जाग्रत्-जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है एवं जैसे मरकर उत्पन्न हुआ भी पुरुष अपनी मृत्युकी विस्मृति होनेपर मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, यों समझता है वैसे यह जगत् उत्पन्न हुआ भी अनुत्पन्न ही है ॥ १२ ॥

जैसे स्वप्नमें सोये हुए पुरुषका अपनी शयनभूमिका अननुभव उसकी असत्ता सिद्ध करता है वैसे ही सत् वस्तु असत् हो जाती है और सब कुछ विपर्यासको प्राप्त हो जाता है जैसे कि रात्रि ही दिन हो जाती है ॥ १३ ॥

स्वप्नमें जो असत् है वह शीघ्र ही संभव हो जाता है जैसे कि दिन ही रात्रि हो जाता है और असंभव संभव हो जाता है जैसे कि अपनी मृत्यु का दर्शन ॥१४॥

स्वप्नमें असंभव संभव हो जाता है जैसे कि आकाशमें जगत्का भान, अन्धकार ही महान् प्रकाश बन जाता है और जो निद्रायुक्त (रात्रि) है, वह दिन बन जाता है ॥ १५ ॥

प्रकाश ही अन्धकार बन जाता है क्योंकि उल्लू आदिकी नींद ऐसी देखी जाती है कि उसमें दिन ही स्वप्नहेतु (रात्रि) बन जाते हैं । स्वप्नमें गड्ढेमें गिरनेका अनुभव होनेपर शयनभूमि ही गर्ताकाश (गड्ढा) बन जाती है ॥ १६ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्यरूप ही जगत्का इस तरह भान होता है वैसे ही जाग्रत-

यथा द्वौ सदृशौ सूर्यौ यथा द्वौ सदृशौ नरौ ।
जाग्रत्स्वप्नौ तथैवैतौ मनागप्यत्र नाऽन्यता ॥ १८ ॥

श्रीराम उवाच

नैतदेवमपि क्षिप्रात्प्रत्ययो यत्र बाधकः ।
स्वप्ने तद्दर्शनेनाऽन्तः कथं जाग्रत्समं भवेत् ॥ १९ ॥

का भी मिथ्या ही भान होता है। स्वप्न जगत् एवं जाग्रत्-जगत् दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १७ ॥

जैसे दो (कलका और आजका) सूर्य एक-से होते हैं जैसे दो (युग्मज) पुरुष एक-से होते हैं वैसे ही ये जाग्रत् और स्वप्न भी एक-से हैं। इनमें तनिक भी विलक्षणता नहीं है ॥ १८ ॥

पूर्वोक्त जाग्रत् और स्वप्नकी समताका खण्डन कर उसमें विलक्षणता दिखला रहे श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'नैतत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, जाग्रत् और स्वप्नमें तनिक भी अन्तर नहीं है, ऐसा जो आपने कहा, वह ठीक नहीं है. क्योंकि स्वप्नमें तो तुरन्त ही स्वप्नका बाध करनेवाली जाग्रत्प्रतीति होती है, उसके देखनेसे मनमें अपने आप ही स्वप्नकी आभासताका अनुभव हो जाता है, अतः जाग्रत् स्वप्नके तुल्य कैसे हो सकता है ? ॥ १९ ॥

केवल इतनेसे ही जाग्रत् जगत्की स्वाप्न जगत्से विलक्षणता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि भिन्न देशवाली जाग्रत्प्रतीति स्वप्नप्रतीतिकी बाधक नहीं हो सकती। स्वप्न-स्थानमें निद्रायुक्त स्वप्नदेहस्थ पुरुष स्वाप्न बन्धु-बान्धवोंको देखता है स्वप्नदेहके निवृत्त होनेपर निद्रारहित जाग्रत्-देहस्थ होकर स्वप्नमें देखे हुए बन्धु आदिकी असत्ताका अनुभव करता है। अन्य देशमें अन्य देहसे देखे गये पदार्थोंका—देहान्तर और देशान्तरमें अन्यका दर्शन होनेपर—अदर्शन उनका बाध नहीं कहा जा सकता। पूर्वजन्मके बन्धु-बान्धवोंका इस जन्ममें दर्शन न होनेसे बाध भी तो है ही, इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमें समता ही है, वैषम्य नहीं है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी समाधान करते हैं—'विहृत्य' इत्यादिसे।

वसिष्ठ उवाच

विहृत्य स्वप्नजगति स्वप्नबन्धुजनैः समम् ।
मृतिमाप्नोति तत्राऽसौ द्रष्टा स्वप्नस्य राघव ॥ २० ॥
मृतः सन्स्वप्नजगति स्वप्नजन्तुवियोगवान् ।
इह प्रबुध्यते जन्तुर्निद्रामुक्तश्च कथ्यते ॥ २१ ॥
सुखदुःखदशामोहान्दिनरात्रिविपर्ययान् ।
अनुभूय बहून्द्रष्टा म्रियते स्वप्नसंसृतौ ॥ २२ ॥
गतनिद्रतया पश्चान्निद्रान्त इह जायते ।
न सत्यमेतदित्येवं ततः प्रत्ययवान्भवेत् ॥ २३ ॥
स्वप्नद्रष्टा यथा स्वप्नसंसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः प्रजायते ॥ २४ ॥
जाग्रद्द्रष्टा तथा जाग्रत्संसारे मृतिमाप्तवान् ।
अन्यं जाग्रन्मयं स्वप्नं द्रष्टुं भूयः स जायते ॥ २५ ॥
न स्वप्नमसदित्येवं पूर्वस्मिञ्जाग्रदात्मनि ।
पुनः प्रत्ययमादत्ते स्वप्नात्स्वप्नान्तरं गतः ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुवर, यह स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें स्वप्न-संसारके अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ विहार कर स्वप्नदेह-निवृत्तिमय मृत्युको प्राप्त होता है, स्वप्नसंसारमें मरकर स्वप्नके प्राणियोंसे वियुक्त होकर जीव जाग्रत्संसारमें जागता है, और निद्रामुक्त कहा जाता है। स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें अनेकानेक सुख-दुःखदशाओं भ्रान्तियों तथा रात्रि और दिनके विपर्यासोंका अनुभव कर स्वाप्न शरीरका त्याग करता है। फिर नींद टूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें शयनदेशमें उत्पन्न होता है और जाग्रत-देहसे सम्बद्ध होता है। तदुपरान्त ये स्वप्नमें देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे, यह जानता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नसंसारमें मृत्युको प्राप्त होकर (स्वाप्न शरीरका त्याग करके) दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिए पुनः जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है वैसे ही जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला जाग्रत्संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्न देखनेके लिए फिर पैदा होता है ॥ २०-२५ ॥

जैसे जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्वजाग्रत-प्रपञ्चमें वह स्वप्न तथा असत् था इस प्रकारकी प्रतीतिको प्राप्त नहीं होता वैसे ही एक स्वप्नसे

स जाग्रत्प्रत्ययं तत्र पुनर्गृह्णाति मुग्धधीः ।
स्वप्नसंदर्शनं त्वन्यत्तत्राप्यनुभवत्यथ ॥ २७ ॥
स्वप्नं जाग्रत्तया जाग्रत्स्वप्नत्वं चेति नामनि ।
न जायते न म्रियते जायते म्रियतेऽपि च ॥ २८ ॥
स्वप्न द्रष्टा स्वप्नमृतः प्रबुद्ध इह कथ्यते ।
इह जाग्रन्मृतो जन्तुः प्रबुद्धोऽन्यत्र कथ्यते ॥ २९ ॥
स्वप्नात्स्वप्नस्थितौ जाग्रज्जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनम् ।
मृत्वान्यत्र प्रबुद्धस्य जाग्रत्स्वप्नो भवत्यलम् ॥ ३० ॥
इतिहासमयावेव जाग्रत्स्वप्नावुभावपि ।
परस्परं गतावेतावुपमानोपमेयताम् ॥ ३१ ॥

दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष उत्तर (बादके) स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति ग्रहण करता है। उत्तर स्वप्नमें जाग्रत्प्रतीति जैसे भ्रान्ति है वैसे ही पूर्वजाग्रत्में स्वप्नता और असत्ताका ग्रहण भी मूढताप्रयुक्त (भ्रम) ही है। फिर स्वप्नमें भी अन्य स्वप्नदर्शनका अनुभव करता हुआ स्वप्नका ही जाग्रत्रूपसे अनुभव करता है इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न नामकी दोनों अवस्थाओंमें जीव न स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता है किन्तु तत्-तत् (जाग्रत स्वप्नके) शरीरोंमें अभिमानके ग्रहण और त्याग द्वारा जन्म लेता है तथा मरता है ॥ २६-२८ ॥

स्वप्न देखनेवाला जीव स्वप्नमें मरकर जागरणमें जागा हुआ कहलाता है और यहाँ (जाग्रत्में) मरा हुआ स्वप्नमें जागा हुआ कहलाता है। इस तरह स्वप्न और जाग्रत्की समता ही है विषमता नहीं है ॥ २९ ॥

इस प्रकार एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थिति होनेपर दूसरा स्वप्नही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे विशेष दर्शन यानी जाग्रत् होता है इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर अन्य जाग्रत्रूप स्वप्नमें जागे हुए पुरुषका पूर्व जाग्रत् अवश्य स्वप्न है ॥ ३० ॥

जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही उपन्यासमय (उपन्यासके कथार्थके समान काल्पनिक) ही हैं यथार्थ नहीं हैं, इसलिए दोनों परस्पर एक दूसरेके उपमान-उपमेय बने हुए हैं। 'इतीहासमयौ' ऐसा दीर्घ पाठ होनेपर 'स्वप्न और जाग्रत् कुछ विलक्षण होनेपर भी' यह अर्थ है। उक्त पाठमें इति, इह, असमं विषमं यातः—

स्वप्नो जाग्रदिवाऽऽभाति जाग्रत्स्वप्नमिवोदितम् ।
वस्तुतस्तु द्वयमसच्चित्खं कचति केवलम् ॥ ३२ ॥

स्थावरं जङ्गमं चैव भूतजातमशेषतः ॥
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ ३३ ॥

मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिच्चमत्कारमात्रात्म तथा काष्ठोपलाद्यपि ॥ ३४ ॥

वस्तुजातमिदं स्वप्ने जाग्रत्यपि तथैव नः ।
दृष्टो य उपलः स्वप्ने चिच्चमत्करणादृते ॥ ३५ ॥

किमन्यत्संवद प्राज्ञ किलाऽवश्यं चिदेव सा ।
ननु यादृग्वपुः स्वप्ने जाग्रत्तादृगखण्डितम् ॥ ३६ ॥

असमयौ ऐसो व्युत्पत्ति करनी चाहिये । 'इतीहासन्मयौ' यह पाठ ठीक है । इस पाठमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही इस तरह असन्मय ही है, यह अर्थ है ॥ ३१ ॥

वर्तमान दशामें तो स्वप्न भी जाग्रतके तुल्य ही स्पष्टतया प्रतीत होता है, अतीत जाग्रत् भी प्रसिद्ध स्वप्नके समान ही उदित होता है । वास्तवमें दोनों असत् हैं केवल चिदाकाशका ही स्वप्न जाग्रतके रूपमें स्फुरण होता है ॥ ३२ ॥

स्थावर और जंगम समस्त प्राणी विचार करनेपर चिन्मात्रके सिवा और क्या ठहरते हैं, कुछ भी नहीं ठहरते ॥ ३३ ॥

जैसे मृण्मय (मिट्टीका बना) पात्र मिट्टीसे रहित हो यह कदापि संभव नहीं है वैसे काठ, पत्थर आदि सकल वस्तुएँ भी चित्-चमत्कार रूप ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं हैं ॥ ३४ ॥

जैसे हमारे स्वप्नकी सकल वस्तुएं चिच्चमत्काररूप हैं वैसे ही जाग्रत्की भी सब वस्तुएँ चित्चमत्कार रूप ही हैं । भला बताइये तो सही स्वप्नमें जो पत्थर दिखाई देता है वह चित्के चमत्कारको छोड़कर और क्या हो सकता है ? हे प्राज्ञ, इस विषयमें विद्वानोंके साथ युक्तिपूर्वक विचार विनिमय द्वारा निश्चय कीजिये । विचार-विनिमय द्वारा तत्त्वदृष्टि होनेपर वह स्वप्न पत्थर प्रसिद्ध चित् ही ठहरेगा । जैसा स्वप्नका स्वरूप है हूबहू ठीक वैसा ही स्वरूप जाग्रत्का भी है ॥ ३५,३६ ॥

जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्म खण्डितम् ।
जगज्जातमतः सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्म कुट्टिमम् ॥ ३७ ॥
मृन्मयं तु यथा भाण्डं मृच्छून्यं नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३८ ॥
शैलात्मकं यथा भाण्डं शैलशून्यं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ३९ ॥
द्रवरूपं यथा वारि द्रवरिक्तं न लभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४० ॥
ऊष्मरूपो यथा वह्निर्निरूष्मा नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४१ ॥
यथा स्पन्दमयो वायुरस्पन्दो नोपलभ्यते ।
चिन्मयं तु तथा चेत्यं चिच्छून्यं नोपलभ्यते ॥ ४२ ॥
यद्यन्मयं तद्विना तु तत्कथं किल लभ्यते ।
क्वाऽशून्यं लभ्यते व्योम क्वाऽघना लभ्यते मही ॥ ४३ ॥

इसलिए अध्यारोपपक्षमें चिन्मात्र ब्रह्म ही जगत्के आकारसे विभक्त है और अपवादपक्षमें तो समस्त जगत् चिन्मात्र ब्रह्म हो गया है ॥ ३७ ॥

जैसे मृण्मयपात्र मिट्टीसे विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मयचेत्य (जगत्) चित्-शून्य (चिद्व्यतिरिक्त) नहीं दिखाई देता ॥ ३८ ॥

जैसे पत्थरका बना हुआ पात्र पत्थर-विहीन नहीं दीखता वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) भी चिद्भिन्न नहीं मालूम होता ॥ ३९ ॥

जैसे द्रवरूप जल द्रवहीन नहीं पाया जा सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चिद्-व्यतिरिक्त नहीं हो सकता जैसे उष्णतारूप अग्नि उष्णताशून्य मिले यह कदापि सम्भव नहीं है, वैसे ही चिन्मय चेत्य (जगत्) चिद्व्यतिरिक्त कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ४०,४१ ॥

स्पन्दमय (चलन-स्वभाव) वायु कदापि स्पन्दशून्य नहीं प्राप्त हो सकता वैसे ही चिन्मय चेत्य चित्-शून्य कदापि नहीं मिल सकता ॥ ४२ ॥

जो वस्तु जिससे बना है उसके बिना वह कैसे प्राप्त हो सकती है। आकाश अशून्य कहाँ मिलता है और पृथ्वी अमूर्त कहाँ प्राप्त हो सकती है ? ॥ ४३ ॥

चिद्व्योममयमेवेदं यथा घटपटादिकम् ।
स्वप्ने तथेदं शैलादि चिद्व्योमाभासमात्रकम् ॥ ४४ ॥

स्वप्ने यथा गगनमेव पुराचलादि
संविन्मयं सुभग जाग्रति तद्वदेव ।
स्वप्नोऽथ जाग्रदिति शान्तमनन्तमेकं
चिन्मात्रमत्र ननु नाम विनाऽस्तु वादः ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे जाग्रत्स्वप्नैक्यप्रतिपादनं नाम पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

जैसे स्वप्नमें घट, पट आदि पदार्थ चिदाकाशमय ही हैं वैसे ही ये जाग्रत्के पर्वत, नगर आदि एकमात्र चिदाकाशके आभास हैं ॥ ४४ ॥

हे सुन्दर, जैसे स्वप्नमें प्रसिद्ध नगर, पर्वत, गृह आदि संविन्मय (चिन्मय) आकाश ही हैं वैसे ही जाग्रत्में प्रसिद्ध नगर, पर्वत आदि भी संविन्मय गगन ही हैं । इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् विकल्पशून्य असीम अखण्ड चिन्मात्ररूप ही सिद्ध हुए । इस प्रकारके तत्त्वके विषयमें वादियोंका विवाद वृथा है ॥ ४५ ॥

एक सौ पाँच सर्ग समाप्त ।

षडधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

कीदृशं स्याच्चिदाकाशं तद्ब्रह्मन् ब्रह्म यत्परम् ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नाऽस्ति मेऽमृतम् ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

समयोर्यमयोर्भ्रात्रोर्व्यवहाराय नामनो ।
यद्वत्क्रियेते द्वे तद्वज्जाग्रत्स्वप्नशिलामये ॥ २ ॥

एक सौ छः सर्ग

[विविध लक्षणोंसे पुनः चिदाकाशका प्रदर्शन-सा किया जाता है और चिदाकाश ही जगत् है इसका विस्तारसे वर्णन]

विस्तारसे वर्णित जगतकी स्वप्न-तुल्यतासे जिस प्रकारका चिदाकाशमात्र तत्त्व ज्ञातव्य है, उसके स्वरूपका पहले एक बार नहीं सैकड़ों बार वर्णन हो चुका है तथापि शायद किन्हीं मन्दमतियोंकी समझमें न आया हो इस तरहकी संभावना कर उनके ऊपर दयावश पुनः उसीका स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षणोंसे खूब भलीभाँति उपपादन सुननेके लिए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—**'कीदृशम्'** इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, जिसे आप परब्रह्म, चिदाकाश कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? कृपया और कहिए। यद्यपि आप पहले भी उसका लक्षण कह आये हैं, फिर भी आपके मुखारविन्दसे इस अमृतके तुल्य मधुर विषयको सुन रहे मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

पूर्व प्रस्तुत श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए श्रीवसिष्ठजी जाग्रत्-स्वप्नकी तुल्यताका रामचन्द्रजीके प्रश्नोत्तरकी पूर्वपीठिकाके रूपसे अनुवाद करते हैं—**'समयोः'** इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे समान रूपरेखावाले दो यमज भाइयोंके, व्यवहारके लिए, दो पृथक् नाम रक्खे जाते हैं वैसे ही अखण्ड चिद्रूपी शिलामय (अखण्ड-चिद्रूपी शिलामें प्रतिबिम्बितप्राय) समान रूपरेखावाले जाग्रत्-स्वप्नरूप दोनों प्रपञ्चोंके दो नाम रक्खे जाते हैं ॥ २ ॥

वस्तुतस्त्वनयोर्भेदो न द्वयोः पयसोरिव ।
द्वयमप्येकमेवैतच्चिन्मात्रं व्योम निर्मलम् ॥ ३ ॥
देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
निमिषेणैव तन्मध्ये चिदाकाशं तदुच्यते ॥ ४ ॥
यादृशस्तिष्ठतः स्वच्छं रसमाकर्षतस्तरोः ।
भवेद्भावो नभःस्वच्छस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ५ ॥
विनिवृत्ताखिलेच्छस्य पुंसः संशान्तचेतसः ।
यादृशः स्यात्समो भावस्तादृशं चिन्नभः स्मृतम् ॥ ६ ॥
अनागतायां निद्रायां मनोविषयसंक्षये ।
पुंसः स्वस्थस्य यो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ७ ॥
तृणगुल्मलतादीनां वृद्धिमागच्छतामृतौ ।
यः स्यादुन्ममतो भावः स चिदाकाश उच्यते ॥ ८ ॥

दो जलोंकी तरह वस्तुतः इन दोनोंमें (जाग्रत् और स्वप्नमें) भेद नहीं है, ये दोनों निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप एक ही हैं ॥ ३ ॥

उक्त चिदाकाशके पूर्वोक्त लक्षणका स्मरण कराते हुए प्रथम कहते हैं—'देशाद्देशान्तरम्' इत्यादिसे ।

एक देशसे दूर दूसरे देशमें पलक भरमें गई हुई संवित्‌का मध्यमें जो निर्विषय रूप है, वही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ४ ॥

जड़ोंसे पृथिवीका रस खींचते हुए वृक्षका जैसा ह्रासवृद्धिशून्य आह्लादभाव प्रसिद्ध है वैसा ही चिदाकाश कहा जाता है ॥ ५ ॥

जिसकी सकल कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हों, चित्त शान्त हो चुका हो, उस पुरुषका जैसा सकलवैषम्यशून्य सहजसुखस्वरूपानुभव है (कारण कि निर्विक्षेप दशामें 'मैं सुखपूर्ण हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है) वैसा ही चिदाकाश है ॥ ६ ॥

निद्रा आनेके पूर्व और जागरणके अन्तमें (नींद न आई हो तुरन्त आने ही वाली हो जागरणमें मनको भटकानेवाले विषयोंका नाश हो गया हो याने जागरणके अन्तमें) स्वस्थ पुरुषका जो भाव है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ ७ ॥

वर्षाऋतु या शरदृऋतुमें वृद्धिको प्राप्त हो रहे पेड़, पौधे और झाड़ियोंका जो ममताहीन आनन्दभाव है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ ८ ॥

रूपालोकमनस्कारविमुक्तस्याऽमृतस्य यः ।
भावः पुंसः शरद्व्योमविशदस्तच्चिदम्बरम् ॥ ९ ॥

यदेतदासनं सृष्टं काष्ठपाषाणभूभृताम् ।
चेतनानां च सत्तात्म चिदाकाशः स उच्यते ॥ १० ॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः ।
यत्र वाऽस्तमयश्चित्त्वं तद्विद्धि विगतामयम् ॥ ११ ॥

यत उद्यन्ति यस्मिंश्च चित्राः परिणमन्त्यलम् ।
पदार्थानुभवाः सर्वे चिदाकाशः स उच्यते ॥ १२ ॥

यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं स चिदाकाश उच्यते ॥ १३ ॥

दिवि भूमौ बहिश्चान्तस्तथाऽन्यस्य समाभिधः ।
यो विभात्यवभासात्मा चिदाकाशः स उच्यते ॥ १४ ॥

बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयोंके भोगसे रहित जीवित पुरुषका शरदाकाशके समान स्वच्छ जो भाव है, वही चिदाकाश है ॥ ९ ॥

ब्रह्माने काठ, पत्थर और पर्वतोंकी जो निश्चेष्ट स्थितिका निर्माण किया है वही यदि चेतन जीवोंकी सत्तात्मस्थितिरूप हो तो वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १० ॥

जिससे सुषुप्तिके साक्षी, स्वप्न और जागारके द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप त्रिपुटीका उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, उसे आप निर्विकार चिदाकाश जानिये ॥ ११ ॥

विविध प्रकारके सभी पदार्थज्ञान जिससे ही उदित होते हैं और जिसमें ही आलोचन, विमर्श, अध्यवसाय, हान और उपादानरूपसे उत्तरोत्तर परिणत होते हैं, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १२ ॥

जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सब उदित होता है, जो सर्वस्वरूप है, जिसने सबको सर्वतः व्याप्त कर रक्खा है और जो सदा सर्वमय है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १३ ॥

स्वर्गमें, भूमिमें, बाहर तथा अपने अन्दर और दूसरेके अन्दर जो समनामका ज्योतिःस्वरूप परमतत्त्व भासता है, वह चिदाकाश कहा जाता है ॥ १४ ॥

यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ।
सदसदुत्थितं विश्वं विश्वाङ्गे तच्चिदम्बरम् ॥ १५ ॥
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते यन्मयास्तच्चिदम्बरम् ॥ १६ ॥
निद्रायां विनिवृत्तायां यतो विश्वं प्रवर्तते ।
निवर्तते च यच्छान्तौ तच्चिदम्बरमुच्यते ॥ १७ ॥
यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत्सत्तालयोदयौ ।
स्वानुभूत्यात्मकं स्वान्तःस्थितं तद्विद्धि चिन्नभः ॥ १८ ॥
नेदं नेदं तदित्येवं सर्वं निर्णीय सर्वथा ।
यन्न किंचित्सदा सर्वं तच्चिद्व्योमेति कथ्यते ॥ १९ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ यन्मध्ये संविदो वपुः ।
दूरतोऽर्धनिमेषेण तच्चिन्मात्रवपुः स्मृतम् ॥ २० ॥

जिस नित्य असीम विराट्में मजबूत तागेमें मालाकी तरह मूर्त और अमूर्त यह सारा जगत् स्थित है और जिससे उदित हुआ है, वह चिदाकाश है ॥ १५ ॥

जिससे सृष्टि और प्रलयरूप सब विकार उत्पन्न होते हैं, जिसमें लीन हो जाते हैं और जो सबका उपादान कारण है, वह चिदाकाश है । इससे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इस श्रुतिसे उक्त तटस्थ लक्षण दिखलाया ॥ १६ ॥

सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्राके निवृत्त होनेपर जिस प्रत्यगात्मासे विक्षेपशक्तिवश जाग्र स्वप्नरूप और आकाशादिस्वरूप विश्वका आविर्भाव होता है और विक्षेपशक्तिके शान्त होनेपर पूर्वोक्त विश्व विलीन हो जाता है, वह चिदाकाश कहलाता है ॥ १७ ॥

जिसके उन्मेष और निमेषसे (पलक उठाने और गिरानेसे) जगत्सत्ताके प्रलय और उदय* होते हैं, स्वानुभवरूप जो अपने हृदयमें स्थित है, उसे आप चिदाकाश जानिये ॥ १८ ॥

यह नहीं है, यह नहीं है इस प्रकार सब तरहसे भली भाँति निर्णय कर जो कुछ नहीं है, सदा सर्वरूप वह चिदाकाश कहलाता है । इस प्रकार सर्वनिषेधका अवधि सर्वात्मरूप उसका लक्षण बतलाया है ॥ १९ ॥

आधे पलकमें (झटपट) दूरसे एक देशसे दूसरे देशकी प्राप्तिमें मध्यमें जो

---

* निमेषसे—चरम साक्षात्कारवृत्तिके आविर्भावसे—जगत्‌की सत्ताका लय होता है । निमेषसे—स्वस्वरूपके आवरणसे जगत्-सत्ताका उदय होता है ।

विश्वं तन्मयमेवेदं यथाभूतं यथास्थितम्
रूपालोकमनस्कारैर्युक्तमप्येवमीदृशम् ॥ २१ ॥
ईषदुन्मेषणादेतदन्यतामिव गच्छति ।
अनन्यरूपमपि सच्चिद्व्योम विमलाकृति ॥ २२ ॥
पश्यन्नेवेन्द्रियैरर्थान्नूनं निर्वासनाशयः ।
प्रबुद्ध एवैकघनः सुषुप्तावस्थितो भव ॥ २३ ॥
निर्वासनः शान्तमना वद व्रज पिबाऽऽहर ।
पाषाण इव संजीवो नित्यं सुघनमौनवान् ॥ २४ ॥

संवित्का रूप है वह चिन्मात्रस्वरूप कहा गया है। अर्धोन्मेष इसलिए कहा कि विलम्ब होनेपर वृत्तिका विच्छेद होने या अन्य विषयका सम्पर्क होनेसे शुद्ध चिदाकाश नहीं पहिचाना जा सकता। उपक्रममें उक्तका पुनः कथन उपसंहार जतलानेके लिए है ॥ २० ॥

चिदाकाशके लक्षणोंके निरूपणकर उसकी अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए विश्वकी तन्मयता दर्शाते हैं—'विश्वम्' इत्यादिसे ।

बाह्य विषयभोगों और आभ्यन्तर विषयभोगोंसे युक्त तथा इस प्रकारका यथाभूत तथा यथास्थित यह साराका सारा विश्व चिन्मय ही है ॥ २१ ॥

ऐसी परिस्थितिमें प्रलयावस्थासे सृष्ट्यवस्थाकी भेदप्रतीति कैसे होगी ? इस आशङ्कापर कहते हैं—'ईषत्' इत्यादिसे ।

निर्मल आकारवाला अनन्यरूप (एकरूप) होता हुआ भी यह चिदाकाश थोड़ेसे विकाससे अन्य-सा (भिन्न-सा) हो जाता है ॥ २२ ॥

उक्त अन्यताभ्रान्ति वासनावश होती है, जिसे वासना नहीं है, उसे उक्त भ्रम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'पश्यन्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इन्द्रियोंसे पदार्थोंका अनुभव करते हुए ही आप वासनाशून्य अन्तःकरण होकर निरतिशय आनन्दरूप चिदात्माके ज्ञानसे युक्त हो सुषुप्तकी तरह स्थित होइये ॥ २३ ॥

वासनाविहीन शान्तचित्त आप चैतन्य रहते पाषाणवत् मौन धारणकर आत्मानन्दमें निमग्न हो बोलिये, भ्रमण कीजिये, पीजिये, भोजन कीजिये ॥ २४ ॥

इदं न संभवत्येव दृश्यं पश्यसि यत्पुरः ।
मृगतृष्णाजलमिव द्वैतमिन्दाविवोदितम् ॥ २५ ॥
इदमादावनुत्पन्नं कारणाभावतः किल ।
कारणेन विना कार्यं नहि नामोपपद्यते ॥ २६ ॥
यद्वोपपद्यते किंचित्तदकारणकोद्भवम् ।
यथास्थितं परं रूपमुद्भूतमिव लक्ष्यते ॥ २७ ॥
तद्यथास्थितमेवाऽङ्ग पूर्वरूपमवस्थितम् ।
भवत्यद्वयमेवाऽच्छं द्वयेनाऽप्युपलक्षितम् ॥ २८ ॥
तत्रेदंप्रत्ययः प्रौढो भवत्यनुभवो हि यः ।
समायातमिदं भ्रान्तं तत्स्वप्नस्त्रीसमं विदुः ॥ २९ ॥

जो यह दृश्य आगे आप देखते हैं, इसका मृगतृष्णा-जलके समान तथा चन्द्रमामें प्रतीत हो रहे द्वैतके (द्वित्वके) समान किसी प्रकार भी संभव नहीं है ॥ २५ ॥

कारणके अभाववश यह सृष्टिके प्रारम्भमें उत्पन्न ही नहीं हुआ । क्योंकि कारणके अभावमें कार्यकी उपपत्ति हो ही नहीं सकती ॥ २६ ॥

यदि कहिये कि जो कोई बीजसे अङ्कुर आदि कार्य, अन्वय-व्यतिरेकके दिखाई देनेसे, बिना कारणके उत्पन्न होता है, वह भी बिना कारणके उत्पन्न नहीं होता उसकी उत्पत्ति भी अद्वय ब्रह्मसे ही होती है ।

शङ्का—निर्विकार अद्वितीय ब्रह्मसे अङ्कुर आदिकी उत्पत्ति कैसे होगी ?

उत्तर—यथास्थित परमरूप ही उद्भूत-सा (विकसित हुआ-सा) प्रतीत होता है ॥ २७ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्यों-का-त्योंही वह पूर्वरूप स्थित रहता है फिर भी जैसे अद्वितीय भी चन्द्रबिम्ब भ्रान्ति होनेपर द्वित्वसे युक्त होता है वैसे ही वह भी भ्रान्तिसे उद्भूतसा प्रतीत होता है ॥ २८ ॥

अद्वितीय ब्रह्म ही वह है तो उसमें अन्यथा ज्ञान कैसे होता है ? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—'तत्र' इत्यादिसे ।

अद्वितीय ब्रह्ममें यह जगत् है इस तरहका जो दृढ प्रत्यय होता है, वह अनादि कालसे प्राप्त अज्ञानसे हुआ स्वप्नस्त्री समागमके तुल्य है ॥ २९ ॥

तस्माद्दृश्यं न चोत्पन्नं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
न च नश्यति यन्नाऽस्ति तस्य किं नाम नश्यति ॥ ३० ॥
तत्तदेव परं शान्तं चिद्व्योमैव तथा स्थितम् ।
स्वरूपादच्युतं स्वस्थं सौम्यं जगदिवोदितम् ॥ ३१ ॥
नहीदमग्रे यद्दृष्टं दृश्यं तत्सत्कदाचन ।
न चाऽपि द्रष्टा दृष्टार्थाभावे क्व द्रष्टृता किल ॥ ३२ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्द्रष्टृदृश्यावभासनम् ।
किमिदं कथमाभाति भूयोऽपि वदतांवर ॥ ३३ ॥

इसलिए न तो दृश्य उत्पन्न हुआ है, न इस समय है और न आगे होगा तथा न नष्ट होता है, जो है ही नहीं, उसका नाश क्या होगा ? ॥ ३० ॥

विश्व (जगत) परम शान्त चिदाकाश ही है, चिदाकाश ही विश्वके आकारसे स्थित है। वह परिणामवश जगत्के आकारसे परिणत नहीं हुआ, किन्तु अपने स्वरूपसे च्युत हुए बिना स्वस्थ सौम्य वह जगत्सा उदित हुआ है ॥ ३१ ॥

यदि कोई प्रश्न करे कि परिणामसे वह जगद्रूप क्यों नहीं होता ? तो इसपर उसकी (दृश्यकी) ब्रह्मसमानसत्ताका अभाव होनेके कारण उसका (द्रष्टाका) जगद्रूप परिणाम नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'नहि' इत्यादिसे।

जो यह दृश्य है यह कभी पहले सत् नहीं देखा गया है, पदार्थोंके अभावसे द्रष्टा भी नहीं देखा गया, अतः द्रष्टृता भी नहीं है ॥ ३२ ॥

यदि द्रष्टा और दृश्य अत्यन्त असत् हैं, तो उनकी प्रतीति कैसे होती है। अत्यन्त असत्का तो कहीं भान नहीं दिखाई देता, यों श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'एवं चेत्' इत्यादिसे।

हे ब्रह्मन्, यदि द्रष्टा और दृश्य असत् हैं, तो कृपया कहिये कि यह द्रष्टा और दृश्यका अवभास क्यों और कैसे होता है ? यद्यपि हे वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ, भगवन्, आप इस विषयका प्रतिपादन पहले कर चुके हैं तथापि पुनः कहनेकी कृपा कीजिये ॥ ३३ ॥

श्रीरामजीकी शङ्कामें प्रथम श्लोक द्वारा असत्के भानका संभव स्वीकार कर द्वितीय श्लोक द्वारा सत् परमात्माका ही माया वश वैसा भान होता है, यह उत्तर देते

बसिष्ठ उवाच

असद्रूपस्य दृश्यस्य कारणाभावतः सदा ।
दृश्यताऽस्येत्यपि प्रौढिनिर्देशस्याऽत्यसंभवात् ॥ ३४ ॥
यदिदं भासते किंचिद् द्रष्टृदृश्यभ्रमात्मकम् ।
जगदादि परं रूपं तद्विद्धि परमात्मनः ॥ ३५ ॥
स्वप्ने चिन्मात्र एवाऽऽस्ते यथा गगनकाननम् ।
तथा जगत्तया भाति स्वयं चिन्मात्रमात्मनि ॥ ३६ ॥
इहाऽऽदिसर्गात्प्रभृति नाऽस्त्युपादानकारणम् ।
किंचनाऽपि क्वचिदपि भातीत्थं ब्रह्म केवलम् ॥ ३७ ॥
यच्चिदाकाशकचनं स्वयमात्मनि जृम्भते ।
तदिदं भाति तस्यैव जगदित्युदितं वपुः ॥ ३८ ॥

हैं—'असद्रूपस्य' इत्यादिसे ।

कारणके अभावसे असद्रूप दृश्यकी उत्पत्तिका ही संभव नहीं है, इसकी 'दृश्यता' यह भी प्रौढिनिर्देश है, प्रौढिवादका अत्यन्त असंभव है ॥ ३४ ॥

अतएव यह द्रष्टा, दृश्य असत्का रूप नहीं है, किन्तु परमार्थ ब्रह्मका रूप है, ऐसा कहते हैं—'यदिदम्' इत्यादिसे ।

द्रष्टा दृश्य भ्रमरूप जो यह जगत् आदि कुछ भासता है, उसे आप परमात्माका परम रूप जानिये ॥ ३५ ॥

यह परमात्माका ही रूप है, यह कैसे जाना ? इस आशङ्कापर स्वप्नदृष्टान्तसे जाना, यह कहते हैं—'स्वप्ने' इत्यादिसे ।

जैसे स्वप्नमें चिन्मात्र ब्रह्म ही आकाश-उपवन बनता है वैसे ही चिन्मात्र अपनेमें अपने आप जगद्रूपसे भासित होता है ॥ ३६ ॥

यदि कोई कहे कि सब इसकी स्वप्नसमानता कैसे है; तो सकल कारणकलाप-शून्य सुषुप्तितुल्य प्रलयसे आविर्भूत होनेके कारण ही यह स्वप्नसमान है, ऐसा कहते हैं—'इह' इत्यादिसे ।

यहाँ आदि सृष्टिसे लेकर कहींपर भी कुछ भी उपादान कारण नहीं है, केवल ब्रह्म ही इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ ३७ ॥

अपने आप आत्मामें चिदाकाशका जो विशेष स्फुरण होता है, वह उसीका

यथा भावस्य भावत्वं यथा शून्यस्य शून्यता ।
आकारिणो यथाऽऽकारस्तथा चिन्नभसो जगत् ॥ ३९ ॥
इदं विद्धि चिदाभासं परमार्थघनं घनम् ।
इत्थं स्थितं स्वयं भातं द्रष्टृदृश्यदृगात्मकम् ॥ ४० ॥
वस्तुतस्तु द्वयाभावान्नाऽऽभासि न च भासनम् ।
किमपीदमनिर्देश्यं सद्वाऽसद्वेति वेत्ति कः ॥ ४१ ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत्तद्वद ब्रह्मन्कार्यकारणतादिकः ।
कथं भेदः किमायातः कथं सत्यत्वमागतः ॥ ४२ ॥

जगत् नामसे आविर्भूत शरीर अवभासित होता है, चिदाकाश-स्फुरणके अधीन इसका स्फुरण है, इससे भी यह स्वप्नतुल्य है ॥ ३८ ॥

निर्धर्मक चिदाकाशकी जगद्धर्मकता कैसे ? ऐसी आशङ्का होनेपर मायिक विकल्पसे ही उसकी जगद्धर्मकता है, यों दृष्टान्तोंसे उपपादन करते हैं—"यथा" इत्यादिसे ।

जैसे भाव पदार्थका स्वभाव भावता है जैसे शून्यका शून्यता स्वभाव है तथा जैसे आकारवान्‌का आकार स्वभाव है वैसे ही चिदाकाशका जगत् स्वभाव है ॥३९॥

सैन्धवघनके समान एकरस परमार्थवस्तु ही मायामें चिदाभास इस प्रकार त्रिपुटीरूप होकर स्थित है; द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि रूप इसीको जानिए । मायाका त्याग होनेपर तो द्वैतका अभाव होनेसे न भासक है और न भासन है, अनिर्वचनीयरूप यह सत् है या असत् है यह कौन जानता है, क्योंकि बाधितका विचार ही क्या हो सकता है ? ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, 'न भास्य है और न भासन है' आपके इस कथनके अनुसार यदि परमार्थ तत्त्व द्रष्टा और दृश्य दोनोंसे शून्य है, तो कार्य-कारणतादिरूप भेद कैसे है ? द्रष्टाके बिना किसीकी सिद्धि नहीं हो सकती है । और दूसरी बात यह कि वह किस उपादान कारण या निमित्त कारणसे आया । यदि असत्य हो है, कहें तो कैसे सत्यताको प्राप्त हुआ अर्थात् कैसे सब लोगोंको सत्यरूपसे भासित होता है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें ॥ ४२ ॥

वसिष्ठ उवाच

चित्प्रकाशो यथाभानं यदा भावयति स्वयम् ।
स्वात्मा तथा तदेवाऽऽशु पश्यसीत्यसि दृष्टवान् ॥ ४३ ॥
चिद्व्योमैवाऽयमाकारः स्वे व्योम्न्येव न मुह्यति ।
स्वयमेव यथा स्वप्ने कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४४ ॥
भावाद्भावान्तरप्राप्तौ मध्ये यत्संविदो वपुः ।
तच्चिद्व्योम तदेवेदं सर्वं च स्थिति नेतरत् ॥ ४५ ॥

पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, अपना आत्मा भी चित्प्रकाश (ईश्वर) स्वयं जब प्राणियोंकी इच्छा, कर्म और वासनाके उद्बोधानुसार जिसकी जिस प्रकार (सत्यसंकल्परूपसे) भावना करता है, उसको उस समय आप वैसे ही देखते हैं और आपके रूपसे उसीने पूर्वोक्त द्रष्टा दृश्य भावका अनुभव किया । इससे कार्यकारणभावादि भेदकी सिद्धि है ॥ ४३ ॥

वह कार्यकारण भावादि आकार चिदाकाश ही है जैसे कि मिट्टी ही घड़ा है, इसलिए चिदाकाश ही इसका उपादान कारण है और मोह (अज्ञान) ही निमित्तकारण है ।

शङ्का—यह कैसे प्रतीत होता है ?

उत्तर—चूँकि यह स्वरूपभूत चिदाकाशका ज्ञान होनेपर ही मोहको प्राप्त नहीं होता अन्यथा मोहको प्राप्त होता है । जैसे स्वप्नमें स्वयं ही मोहको प्राप्त होता है, आत्मप्रबोधसे मोहका त्याग करता है ।

शङ्का—आत्मबोधमें समर्थ ईश्वर स्वयं जीव बनकर क्यों मोहको प्राप्त होता है, क्यों प्रबुद्ध नहीं होता ?

उत्तर—स्वतन्त्र ईश्वरसे 'आप समर्थ होकर भी क्यों मोहमें पड़ते हैं, ऐसा प्रश्न या आक्षेप करनेवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४४ ॥

दुग्धभावसे दधिभावकी प्राप्तिमें और पिण्डभावसे घटभावकी प्राप्तिमें पूर्वभावकी निवृत्ति होने और उत्तरभावकी उत्पत्ति न होनेपर मध्यमें पलकभरके लिए जो सन्मात्ररूपसे प्रसिद्ध परमार्थ सत्य संवित्का स्वरूप है, वही चिदाकाश है, यह मैं पहले कह चुका हूँ । वही (चिदाकाश ही) यह सब वस्तुरूपसे प्रतीत होता है अन्य नहीं, इसलिए इस सबपर सत्यताकी प्रतीति हुई है ॥ ४५ ॥

जैसे ईश्वरकी जीवभाव कल्पनापर कोई आक्षेप करनेवाला नहीं है वैसे ही

कार्यकारणभावादिदृशोऽविद्याविजृम्भिताः ।
जगद्वत्कल्पयत्येष कोऽस्य पर्यनुयोगकृत् ॥ ४६ ॥
द्रष्टा भोक्ताऽथ कर्ता वा कश्चित्स्यादितरो यदि ।
तत्कथं किमिदं दृश्यमिति युज्येत नाऽन्यथा ॥ ४७ ॥
यत्र स्वप्ने निराभासं चिद्व्योमैव विराजते ।
शुद्धमेकमनेकात्म तत्र किं क्व विकल्प्यते ॥ ४८ ॥
आस्वयम्भुव एवेयं चिन्मात्रे भाति सर्गभाः ।
परिज्ञाता सती सा तु ब्रह्मैव भवति क्षणात् ॥ ४९ ॥
एषैव त्वपरिज्ञाता भ्रान्तिर्मायेति कथ्यते ।
जगदित्युच्यतेऽविद्या दृश्यमित्युपवर्ण्यते ॥ ५० ॥

जीवकी भी अपनी अविद्यासे कार्यकारणरूप अवस्थाओंकी (द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप अवस्थाओंकी) कल्पनामें भी आक्षेप करना युक्त नहीं है, यह कहते हैं—'**कार्य-कारण०**' इत्यादि से ।

यह अविद्यासे उत्पन्न हुई कार्यकारणभाव आदि दृष्टियोंकी जगत्की नाईं कल्पना करता है । इसके प्रति आक्षेप कर्त्ता कौन हो सकता है ? कोई भी अपने प्रति मैं किसलिये ऐसा करता हूँ, यों प्रश्न या आक्षेप नहीं कर सकता है, यह भाव है ॥ ४६ ॥

आत्मासे अन्यके कर्ता और भोक्ता होनेपर तो प्रश्न या आक्षेप हो ही सकता है, ऐसा कहते हैं—'**द्रष्टा**' इत्यादिसे ।

यदि द्रष्टा, भोक्ता और कर्ता कोई दूसरा हो तो कार्यकारण आदि भेद कैसे है और कौन इसका उपादान है ? यह प्रश्न बन सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ४७ ॥

जिस स्वप्नमें निराभास शुद्ध एक चिदाभास ही अनेक रूपोंसे विराजमान होता है, वहाँपर कौन किसपर आक्षेप करे ॥ ४८ ॥

स्वयम्भूसे लेकर ही यह सृष्टिभ्रान्ति तत्त्वके परिज्ञानके अभावसे चिन्मात्रमें प्रतीत होती है, तत्त्वज्ञान होनेपर तो वह तत्क्षण ब्रह्म ही हो जाती है ॥ ४९ ॥

यह सृष्टिभ्रान्ति ही तत्त्वतः परिज्ञात न होकर शास्त्रोंमें मायाके नामसे पुकारी जाती है, लोकमें 'जगत्' नामसे कही जाती है, अज्ञानियों द्वारा 'अविद्या' कही जाती है और तत्त्वज्ञानियों द्वारा 'दृश्य' नामसे वर्णित है ॥ ५० ॥

चिदाकाशप्रकाशेन चित्ता दृश्यपिशाचकः ।
वेतालो बालकेनेव बुद्धोऽसन्नेव सन्निव ॥ ५१ ॥
जगत्ताऽऽत्मन्यसत्याऽपि चिद्व्योम्नैवाऽनुभूयते ।
सत्येव साङ्गलेखेव स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥५२ ॥
अहमद्रिरहं रुद्रः समुद्रोऽहमहं विराट् ।
चेत्यते खे चितैवेति स्वप्नेऽद्रिपुरता यथा ॥ ५३ ॥
आकारि कारणाभावाज्जातं कार्यं न किंचन ।
महाप्रलयचिद्व्योम्नि चित्स्थितेत्थमिदन्तया ॥ ५४ ॥
अकारणकमेवेदं व्योम व्योम्नाऽनुभूयते ।
जगदित्येव शून्याङ्गं चिन्मात्रात्म चिदात्मनि ॥ ५५ ॥

जैसे अविद्यमान भी पिशाच बालकको अपनी कल्पना-वश विद्यमान-सा प्रतीत होता है वैसे ही चिदाकाशप्रकाशको अपना चित्स्वभाव, जो पृथक् सत् न होता हुआ भी सत्-सा जगत्-पिशाचके रूपमें ज्ञात हुआ है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्नमें असत्में सत् प्रतीति और निरवयवमें सावयव प्रतीति होती है वैसे ही यहांपर भी समझना चाहिये, ऐसा कहते हैं—'दृश्याकाश०' इत्यादिसे ।

यद्यपि जगत्ता असत्य है, तथापि चिदाकाशको अपने स्वरूपमें ही उस का अनुभव होता है । जैसे स्वप्नमें चैतन्यकी नगरता और पर्वतता असत्य होते हुए भी सत्य-सी निरवयव होते भी सावयव-सी प्रतीत होती है वैसे ही यह जगत्ता सत्य और सावयवसी प्रतीत होती है ॥ ५२ ॥

मैं मेरु, हिमालय आदि पर्वत हूं, मैं रुद्र हूँ, मैं समुद्र हूँ, मैं विराट् हूँ, यों स्वप्नमें पर्वतता और नगरताकी प्रतीतिकी भाँति आकाशमें चित् ही अहंताके अध्याससे अनुभव करती है ॥ ५३ ॥

चित्-अनुभव ही सर्ग है, यह क्यों कहते हैं ? प्रधान, परमाणु आदि अन्यान्य कारणोंसे ही यह उत्पन्न हुआ है, यह क्यों नहीं कहते, इस आशङ्कापर कहते हैं—**'आकारि'** इत्यादिसे ।

साकार कारणके अभावसे कुछ भी कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, महाप्रलयरूपी चिदाकाशमें चित् इस तरह जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५४ ॥

अवयवशून्य चिन्मात्ररूप यह आकाश बिना किसी कारणके ही चिदाकाश द्वारा चिदाकाशमें जगद्रूपसे अनुभूत होता है ॥ ५५ ॥

सर्व एव जडा जीर्णा दर्पणा इव जन्तवः ।
समीपगत एवाऽन्तः कुर्वतस्तु विचारणम् ॥ ५६ ॥
तत्तत्स्वरूपमुत्सृज्य बुद्ध्वा चिन्मात्रखं जगत् ।
अश्मना चेतनेनैव स्थेयं नाऽऽस्थेतरोत्तमा ॥ ५७ ॥
यथाऽऽस्ते चलयद्देहं वार्यावर्तजगद्द्रवः ।
चेततीति तथा चित्त्वं स्थिता चित्तज्जगद्दृशा ॥ ५८ ॥
यथा कल्पद्रुमोऽभीष्टं कुर्याच्चिन्तामणिर्यथा ।
तथा यद्भावितं स्वान्तस्तत्पूरयति चित्क्षणात् ॥ ५९ ॥
चितिश्चिन्तामणिरिव कल्पद्रुम इवेप्सितम् ।
आशु संपादयत्यन्तरात्मनाऽऽत्मनि खात्मिका ॥ ६० ॥

सभी जीव-जन्तुओंने दर्पणके सदृश अपने अन्दर जगद्भेदकी कल्पना कर रक्खी है विचार न करनेसे (स्वरूपज्ञान सामर्थ्यसे शून्य होनेके कारण) जड़ होकर वे जीर्ण हो गये हैं । किन्तु विचार कर रहे पुरुषश्रेष्ठका तो परम पुरुषार्थ, प्रत्यगात्मरूपसे अपने अन्दर होनेके कारण, समीपगत ही है ॥ ५६ ॥

तत्-तत् नामरूपस्वरूपका त्यागकर परिशिष्ट चिन्मात्र आकाश ही है, यों जगत्को चिन्मात्र जानकर चिदेकघनको पत्थरके समान अचल होना चाहिये । इससे अतिरिक्त मायिक देहावस्था उत्तम नहीं है ॥ ५७ ॥

चित् कैसे जगत्के रूपसे स्थित है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'**तथा**' इत्यादिसे ।

जैसे जल अपने शरीरको परिचालित करता हुआ आवर्त (जलभ्रमि), तरङ्ग आदिके रूपसे जगत्में द्रव होकर स्थित होता है वैसे ही चित् 'चेतनि' यों व्यापार रूप चित्ताकी अपनेमें कल्पना कर जगद्रूपसे स्थित है ॥ ५८ ॥

जब अल्पशक्तिवाले कल्पद्रुम आदि भी संकल्पित वस्तुओंकी कल्पना करनेकी शक्ति रखते हैं तब सर्वशक्तिमान् परमात्मामें उक्त शक्ति है, इसमें कहना ही क्या है ? इस आशयसे कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे कल्पवृक्ष अभीष्ट फल देता है और जैसे चिन्तामणि मन चाही वस्तु देती है वैसे ही चित् भी जिस वस्तुकी मनमें भावना की जाय, उसकी तत्क्षण पूर्ति कर देती है ॥ ५९ ॥

आकाशात्मक चिति चिन्तामणि और कल्पवृक्षके समान शीघ्र ही अपनेसे अपनेमें अभीष्ट (वाञ्छित) का सम्पादन करती है ॥ ६० ॥

देशाद्देशान्तरप्राप्तौ मध्यदेशे चितेर्वपुः ।
यत्तन्मयमिदं दृश्यं कुतो द्वैतैक्यविभ्रमः ॥ ६१ ॥
चिच्छायैवं कचत्यच्छमनन्ता भास्वरोदरा ।
अङ्गरिक्ताऽपि दृश्याऽन्तःशून्यता नीलतेव खे ॥ ६२ ॥
विसदृशकार्यानुभवो
न भवति सहकारिकारणाभावात् ।
सर्गादावत आद्या
चिदेव दृश्यं यथा स्वप्ने ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे कार्यकारणनिरासो नाम षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

———

पलक भरमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें प्राप्ति होनेपर मध्यमें जो चितिका अशेषविशेषशून्य स्वरूप है, तन्मय ही यह विश्व है, इसमें द्वैत और ऐक्य भ्रम कैसे हो सकता है ? ॥ ६१ ॥

इस तरह अनन्त भास्वर चित्प्रभा ही जगत्के वेषसे स्पष्टतया स्फुरित होती है । जैसे आकाशमें शून्यता नीलताके सदृश स्फुरित होती है वैसे ही अवयवरहित भी वह दृश्या है ॥ ६२ ॥

सृष्टिके प्रारम्भमें चित्से विसदृश (विलक्षण यानी जड़) कार्यका उद्भव नहीं हो सकता है, कारण कि विसदृशतामें निमित्तभूत सहकारी कारणोंका अभाव है । अर्थात् सुसदृश भी कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि भेदक कोई नहीं है, अतः कार्यत्वकी असिद्धि है । अतः आद्य चित् ही दृश्य है, उससे अतिरिक्त अणुमात्र भी नहीं है, यह स्वप्न दृष्टान्तसे सिद्ध हो चुका ॥ ६३ ॥

एक सौ छः सर्ग समाप्त

———

सप्ताधिकशततमः सर्गः

अचेत्यचिन्मयं विश्वं विष्वगाभाति चिन्नभः।
अत्र चिच्चेतनं चेदं चेत्यमप्येवमात्मकम् ॥ १ ॥
अतो जीवन्नपि मृत इव सर्वोऽवतिष्ठते।
असावहं च त्वं चेति जीवन्तोऽपि मृता इव ॥ २ ॥
काष्ठमौनमृता एव व्यवहारगता अपि।
खगमा एव वा सर्वे भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥ ३ ॥

एक सौ सात सर्ग

[अचेत्य पृथिवी आदिकी अवस्तुता तथा स्वप्नकी भाँति जगत् चित्का स्फुरण है, यह उपपादन]

विश्वके चेत्यभावका निराकरण कर उसमें चिन्मात्रता सिद्ध करनेके लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'अचेत्य०' इत्यादिसे।

अचेत्य चिन्मय विश्व चिदाकाश चारों ओर भासित होता है, विश्वकी सिद्धि चिदाकाशमात्रके अधीन है, अतः उसे चिदाकाशरूप कहा। इसमें चित्, चेतन क्रिया और चेत्य यह त्रिपुटी चिन्मयी है यह प्रतिज्ञार्थ है। इस प्रतिज्ञामें शुद्ध चिदात्मक प्रतिज्ञार्थके रूपसे अभिप्रेत है, यह शेष है ॥ १ ॥

प्रतिज्ञा सिद्धिके दो फल हैं। स्थित जगत्के जगद्भावकी निवृत्ति और जी रहे हम लोगोंके जीवभावकी निवृत्ति, ऐसा कहते हैं—'अतः' इत्यादिसे।

इसलिए जीता हुआ भी यह सारा प्रपञ्च मरा सरीखा है। यह, मैं और तुम भी सब जीते हुए भी मरे-से हैं ॥ २ ॥

अथवा उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल सब पदार्थोंकी कूटस्थता और अमूर्तता है, ऐसा कहते हैं—'काष्ठ०' इत्यादिसे।

व्यवहारमें प्रतिष्ठित भी सब प्राणी काठके समान मोनको अर्थात् अत्यन्त निष्क्रियता (निश्चेष्टता) रूप कूटस्थताको ही प्राप्त हैं अथवा सभी स्थावर-जंगम (चर-अचर) पदार्थ आत्यन्तिक अमूर्तताको प्राप्त हैं ॥ ३ ॥

अथवा आकाशकी नीलताके सदृश भासित हो रहे विश्वकी असत्यताका निश्चय उक्त प्रतिज्ञासिद्धिका फल जानिये, ऐसा कहते हैं—'आकाश०' इत्यादिसे।

आकाशकाचकच्यात्म यदिदं किंचिदाततम् ।
न किंचिदेव तद्विद्धि किंचिद्व्योम्नि कुतो भवेत् ॥ ४ ॥
केशोण्डूकनदीवाहधूमालीमौक्तिकादिवत् ।
यत्खं कचति तत्राऽस्ति नाऽनुभूतेऽपि वस्तुता ॥ ५ ॥
तथैवाऽस्मिञ्जगन्नाम्नि चिद्व्योम्नि कचने चितेः ।
अनुभूतेऽपि निःशून्ये काऽऽस्थाऽऽस्थाभावकश्च कः ॥६॥
चिद्बालकल्पनाजाले शून्यात्मनि निरर्थके ।
अवस्तुभूते पृथ्व्यादौ भ्रान्तिमात्राम्बरोदये ॥ ७ ॥
किमास्था बालका ब्रूत ममेदमहमित्यलम् ।
आ ज्ञातं रमते बालसंकल्पे बाल एव च ॥ ८ ॥

आकाशमें काच और केशोंकी नीलताके समान जो कुछ यह व्याप्त है, उसे आप शून्य ही (कुछ भी नहीं) जानिये। कारण कि चिदाकाशसे क्या कहाँसे होगा?

आकाशमें केशसमूहके समान नीलता, नदी, रथ, धूमपङ्क्ति और मोतियोंके सदृश जो आकाशका स्फुरण होता है, उसके अनुभूत (अनुभवमें आरूढ़) होनेपर भी उसमें वस्तुता नहीं है ॥ ४, ५ ॥

आकाशमें स्फुरित हो रही मोतियोंकी मालाके सदृश ही जगत्-भ्रम है, उसमें भोगाशा करना ठीक नहीं है, ऐसा फलित कहते हैं--'तथैव' इत्यादिसे ।

वैसे ही इस जगत्-नामवाले चित्के स्फुरणरूप चिदाकाशमें, जो अनुभूत होनेपर भी निश्शेषतः शून्य है, कौन आस्था है और आस्थाजनक कौन पदार्थ है ॥६॥

पृथिवी आदि प्रपञ्च चिद्रूपी बालककी कल्पनाओंका राशिरूप है, शून्यरूप है, व्यर्थ है, अवस्तुरूप है, भ्रान्तिमात्रसे आकाशमें उदित है, अतः इसमें भोगास्था कैसे संभव है ॥ ७ ॥

हे मूढ़ लोगो, कहो तो यह मेरा है यह मैं हूँ इस प्रकारकी आस्था क्या ठीक है? अर्थात् अनुचित है ।

प्रश्न--यदि आस्था अनुचित ही है, तो क्यों लोग उसपर आस्था करते हैं?

उत्तर—हाँ, ठीक है, जैसे बालकके संकल्पमें बालकको ही दिलचस्पी है अन्यको नहीं वैसे ही मूर्खजन ही इस असत्प्राय प्रपञ्चपर आस्था करते हैं, नहीं ॥ ८ ॥

पृथ्व्याद्यसद्विचारैर्वा व्यर्थं यास्यति जीवितम् ।
किंचिच्च न ज्ञास्यति भोराकाशक्षालनोद्यतः ॥ ९ ॥
सहकार्यादिपूर्वाणां कारणानामभावतः ।
यदादावेव नोत्पन्नं तन्नामाऽद्य भवेत्कुतः ॥ १० ॥
अजातेनाऽसताऽर्थेन खेन व्यवहरन्ति ये ।
मूढा मृतमजातं वा तनयं पालयन्ति ते ॥ ११ ॥

अतएव जिन्हें तनिक भी विवेककी झलक प्राप्त हो गई है, उन्हें असत् पृथिवी आदिका लाभ करानेवाला विचार, जो जन्मको निष्फल बनानेवाला है, छोड़कर जन्मको सफल बनानेवाले वैराग्य आदि साधनोंका सहारा लेना चाहिये, इस आशयसे कहते हैं—'पृथ्व्याद्य०' इत्यादिसे ।

पृथिवी आदि असत्-पदार्थोंके विचार-विमर्शोंसे जन्म वृथा बीत जायगा, हे आकाशको धोनेका उद्योग करनेवाले मूर्खजीव, तेरे हाथ कुछ भी न लगेगा । जैसे सुवर्ण, रत्न आदिके लोभकी इच्छासे प्रवृत्त आदमी यदि सोने और हीरेकी खानका धोना-पोंछना छोड़कर आकाशको धोने-पोछने लगे, तो चाहे कितनी ही मेहनत क्यों न करे फल कुछ न देखेगा वैसे ही पृथिवी आदि असत् पदार्थोंका विमर्श भी आकाश धोनेके तुल्य वृथा ही है, यह भाव है ॥ ९ ॥

पृथिवी आदिकी असत्ताका, कोई कारण न होनेसे अनुत्पत्ति द्वारा, पहले उपपादन कर चुके हैं, ऐसा कहते हैं—'सहकार्या०' इत्यादिसे ।

सहकारी आदि कारणोंके अभावसे जो सृष्टिके प्रारम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ भला बतलाइये तो वह आज कहाँसे उत्पन्न होगा ? ॥ १० ॥

इस व्यवहारमें तल्लीनता विद्वानोंके लिए हास्यास्पद ही है, ऐसा कहते हैं—'अजातेन' इत्यादिसे ।

जो लोग कभी उत्पन्न न हुए अतएव असत् आकाशतुल्य पृथिवी आदि शून्य पदार्थसे व्यवहार करते हैं वे मूढ़ अजात (उत्पन्न न हुए) मृत पुत्रका लालन-पालन करते हैं ॥ ११ ॥

तात्त्विक दृष्टिमें पृथिवी आदिकी अत्यन्त असंभावना अपने अनुभव-बलसे कहते हैं—'कुतः' इत्यादिसे

कुतः पृथ्व्यादयः केन के नाम कथमुत्थिताः ।
चिद्व्योमेत्थमिदं शान्तं प्रकचत्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ १२ ॥
कार्यकारणकालादिकल्पनाकुलचेतसाम् ।
एवं पृथ्व्यादयः सन्ति तैर्बालैरलमस्तु नः ॥ १३ ॥
अपृथ्व्यादि जगन्नाम सपृथ्व्यादि च खात्मकम् ।
कचतीत्थं नभोरूपं स्वप्नादिष्विव चिन्मणिः ॥ १४ ॥
अङ्ग यदेतस्य चिदम्बरस्य
निराकृति स्वानुभवानुमानम् ।
तदेतदाभाति महीतलादि-
रूपेण वेद्येति कृताभिधानम् ॥ १५ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु
निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्याभावप्रतिपादनं
नाम सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

ये पृथिवी आदि कहाँसे हुए, किससे हुए और कैसे हुए ? इनका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार यह शान्त चिदाकाश ही अपनेमें अपने-आप स्फुरित होता है ॥१२॥

मूढदृष्टिको तो हम प्रमाण नहीं मान सकते, ऐसा कहते हैं—'कार्य०' इत्यादिसे।

कार्य, कारण, काल आदिकी कल्पनावश व्याकुल चित्तवाले जिन मूढ़ोंकी दृष्टिमें इस तरह पृथिवी आदि हैं, उन मूढ़ोंसे हमें कोई मतलब नहीं है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे रहित और मूढ़ोंकी दृष्टिमें पृथिवी आदिसे युक्त जगत् चिदात्मक है या स्वप्नका पृथिवी आदिसे रहित जगत् और जाग्रत्में प्रसिद्ध पृथिवी आदिसे युक्त जगत् दोनों ही चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदिमें चित्रूपी मणि पृथिवी आदिके रूपमें स्फुरित होती है वैसे ही चिदाकाश इस प्रकार जगत्के रूपसे स्फुरित होता है ॥ १४ ॥

स्वानुभवैक वेद्य जो इस चिदाकाशका निराकार स्वरूप है, वही यह महीतल आदि रूपसे वेद्य, दृश्य नाम धारण कर उस तरह स्फुरित होता है ॥ १५ ॥

एक सौ सात सर्ग समाप्त

अष्टाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

अविद्या दृश्यरूपेयं कचन्ती यस्य विद्यते ।
चिन्नभःस्वप्ननगरी दृश्यमानाऽपि शून्यकम् ॥ १ ॥
तस्याऽज्ञस्य कियत्कालं किंरूपा स्यात्किमात्मिका ।
कियती सा च वेत्त्येवं मुने मे कथ्यतां पुनः ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

अविद्या विद्यते येषामज्ञानां भूतलादिका ।
तेषामस्यां ब्रह्मणीव नाऽस्त्यन्तोऽत्र कथां शृणु ॥ ३ ॥

एक सौ आठ सर्ग

[अविद्याके विनष्ट हुए बिना कहीं भी जगत्का अन्त नहीं है ? इस विषयमें विस्तारके साथ मनोरञ्जक अविद्याख्यानका वर्णन]

पूर्ववर्णित संसाररूपी अविद्याका तत्त्वज्ञानसे त्रैकालिकी असत्तापत्तिरूप बाध हुए बिना देशतः या कालतः अन्त हो सकता है या नहीं ? यों सन्देहमें पड़े हुए श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

हे मुनीश्वर, यह चिदाकाशकी स्वप्ननगरीरूप अविद्या, जो विद्यमान होती हुई भी शून्यरूप अथच दृश्यरूप है, बाध न होनेके कारण जिस पुरुषके प्रति स्फुरित होती हुई विद्यमान है, उस अज्ञानीके प्रति वह कब तक रहती है, उसका क्या स्वरूप है, क्या उपादान है अथवा देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है यह सब मुझसे पुनः कहनेकी महती कृपा कीजिये ॥ १, २ ॥

उक्त सन्देहकी दूसरी कोटिको (देशतः कालतः वह कितनी बड़ी है, इस अंशको) लेकर वसिष्ठजी उसे पुष्ट करनेके लिए 'विपश्चित्' कथा सुनानेके उद्देश्यसे श्रीरामचन्द्रजीको सावधान करते हैं—'अविद्या' इत्यादिसे ।

जिन अज्ञानियोंमें भूतल आदिरूप अविद्या विद्यमान है, उनका जैसे ब्रह्ममें देशतः कालतः अन्त (परिच्छेद) नहीं है वैसे ही इसमें भी देशतः कालतः अन्त नहीं है । इस विषय में उपपत्ति करानेवाली इस कथाको सुनिये ॥ ३ ॥

सदृशं जगतोऽस्याऽस्ति क्वचिदम्बरकोणके ।
कस्मिंश्चिन्त्रिजगत्किंचिदनयैव व्यवस्थया ॥ ४ ॥
अस्ति कश्चिद्भुवो भागो भूषणं तत्र भूस्थितेः ।
पुरी ततमितिर्नाम्ना सुव्यक्तकलनाऽवनौ ॥ ५ ॥
तत्राऽऽसीत्पार्थिवः कश्चिद्विपश्चिदिति विश्रुतः ।
यः सभायां सुसभ्यायां विपश्चित्त्वाद्विराजते ॥ ६ ॥
राजहंस इवाऽब्जिन्यामृक्षचक्र इवोडुराट् ।
सुमेरुरिव शैलौघे यः सभायामराजत ॥ ७ ॥
निवर्तते यतोऽशक्त्या वचनं गुणवर्णनात् ।
कवीनामचलाकारा भवेद्वा भूधरो यथा ॥ ८ ॥

लोकालोक पर्वतकी सुवर्णशिलासे स्वच्छ किसी वस्तुमें स्थित चिदाकाशके कोनेमें, उस कोनेके भी किसी एक भागमें, इस त्रैलोक्यके तुल्य कोई जगत् इसी जगत्प्रसिद्ध भुवन, द्वीप, देश, काल आदिकी व्यवस्थासे युक्त है ॥ ४ ॥

उसमें जम्बूद्वीप नामक भूमिका भूषणभूत कोई एक भूमिभाग है। उसमें भी पर्वत, चहारदिवारी, बालू आदिसे होनेवाली विषमता न होनेमें (समथल भूमि होनेसे) मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथ आदिके गमनागमन आदि व्यवहारसे युक्त भूमिमें (समभूमिमें) ततमिति नामसे विख्यात एक नगरी थी ॥ ५ ॥

उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विख्यात राजा था, सकल शास्त्रोंमें विशेष विद्वान् होनेके कारण, विशिष्ट सभ्योंसे पूर्ण अपनी राजसभामें वह विशेषरूपसे शोभित होता था, जैसे कमलिनीमें राजहंस शोभित होता है, जैसे नक्षत्रमण्डलमें चन्द्रमा विराजमान होता है और जैसे पर्वत श्रेणियोंमें सुमेरु शोभा पाता है, वैसे ही वह अपनी सभामें शोभा पाता था ॥ ६, ७ ॥

सर्वत्र उत्तरोत्तर गुणोंके उत्कर्ष-वर्णनमें प्रवृत्त कवियोंकी सूक्तियाँ उस विपश्चित्-रूप चरमसीमा (अवधि) से गुणोंकी अनन्तता और निरुपमताके कारण वर्णन न कर सकनेसे लौट जाती थीं (वर्णन नहीं कर सकती थीं)। फिर भी कविजन उसका सत्संग करते ही थे, क्योंकि उससे कवियोंकी पर्वतके तुल्य विशाल स्थिर, सम्पत्ति, ख्याति और गुणोंके उत्कर्षसे उत्पन्न शोभा प्राप्त होती थी। जैसे मेरु अपने आश्रित लोगों मृगों, तृणों और झाड़ियोंको अपनी कान्तिसे स्वर्णमय बना देता है वैसे ही वह भी सम्पत्ति प्रदान कर उन्हें स्वर्णमय बना देता था ॥ ८ ॥

प्रातः प्रातर्विकसितात्सर्वाशाभासनोद्यतात् ।
यतः प्रतापजनितश्रीरुदेत्यम्बुजादिव ॥ ९ ॥

स ब्रह्मण्यमतिर्मानी वह्निमेवाऽधिदैवतम् ।
अपूजयत्समं भक्त्या देवं वेत्ति स्म नेतरम् ॥ १० ॥

समत्स्यमकरव्यूहा गजवाजिगणान्विताः ।
आवर्तचक्रव्यूहाढ्याः कल्लोलबलमालिताः ॥ ११ ॥

मर्यादापालने युक्ता अकम्पनबलाधिकाः ।
मन्त्रिष्वप्यस्य चत्वारो दिक्षु सत्सागरा इव ॥ १२ ॥

तैरशेषककुप्चक्रनाभिराभासितावनिः ।
आसीत्सुदुर्जयो जेता स सुदर्शनचक्रवत् ॥ १३ ॥

जैसे अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको जगमगानेवाले प्रातःकालमें खिले हुए कमलसे सूर्यके आतपसे उत्पन्न हुई शोभा प्रकट होती है वैसे ही प्रसन्नवदन तथा अपनी कान्तिसे सकल दिशाओंको उद्भासित करनेमें उद्यत राजा विपश्चित्से, प्रखर प्रतापसे उपार्जित सम्पत्तियाँ कवियोंको प्रातः प्रातः प्राप्त होती थीं ॥ ९ ॥

राजा विपश्चित्को सदा ब्राह्मणोंके हितका खयाल रहता था, अतएव देवताओंमें वह्निके ब्राह्मण होनेके कारण वह देवताओंमें अग्निकी ही भक्तिके साथ पूजा करता था, अग्निके सिवा और किसी देवताको जानता तक न था ॥ १० ॥

उक्त राजाके मन्त्रियोंमें से चार मन्त्री, जो अत्यन्त धीर, विपुलबाहुबलशाली, निर्भय सेनासे प्रभावान्वित थे, चार दिशाओंमें चार सागरोंकी भांति शत्रुसेनाके निरोधके साथ देशव्यवस्था करनेके लिए नियुक्त थे। सागर मछलियों और मगरोंके झुण्डके झुण्डसे भरे रहते हैं तो मन्त्री हाथी, घोड़ोंसे युक्त थे, समुद्र आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) राशियोंसे भरे रहते हैं तो मन्त्री सेनाके विविध व्यूहोंसे युक्त थे और समुद्र ज्वारभाटोंसे घिरे रहते हैं तो मन्त्री विशाल सेनासे घिरे रहते थे ॥ ११,१२ ॥

उन मन्त्रियोंके कारण वह राजा सकल दिशारूपी पहियोंका नाभिकी (हालकी) तरह आधारभूत बनकर सुदर्शन चक्रके समान शत्रुओं द्वारा अनभिभवनीय (अतिरस्करणीय) और स्वयं विजेता हो गया था ॥ १३ ॥

तमेकदा ययौ पूर्वदिङ्मुखाच्चतुरश्चरः ।
स उवाच रहो रंहोगतिघोराक्षरं वचः ॥ १४ ॥

देव दोर्द्रुमविश्रान्तधरागोबन्धनाच्युत ।
श्रूयतां मन्मुखात्पश्चाद्यथाप्राप्तं विधीयताम् ॥ १५ ॥

पूर्वदिङ्मुखसामन्तो ज्वरेणाऽस्तमुपागतः ।
मन्ये जेतुं यमं यातस्त्वयाऽऽरब्धो जितारिणा ॥ १६ ॥

तस्मिन्समन्ततो जेतुं दक्षिणापथनायकः ।
पूर्वापराभ्यामाक्रम्य बलाभ्यामरिणा हतः ॥ १७ ॥

तस्मिन्मृते समागम्य यावद्वारुणदिक्पतिः ।
बलेनाऽऽयाति ककुभौ ते समादातुमादृतः ॥ १८ ॥

पूर्वदेशनृपैः सार्धं दक्षिणापथपार्थिवैः ।
तावदेवाऽरिभिरसावर्धमार्गे रणे हतः ॥ १९ ॥

एक समय पूर्व दिशासे एक चतुर गुप्तचर उसके पास आया। उसने एकान्तमें राजासे कालगतिके समान अनिवार्य होनेके कारण कर्णकटु वचन कहा ॥ १४ ॥

भगवन्, विशाल बाहुरूपी वृक्षोंपर डाले हुए पृथ्वीरूपी गऊके बन्धनसे आप कभी विमुख नहीं हुए यानी सदा पृथिवीको आपने अपनी बाहुओंपर बाँध रक्खा है। आप कृपाकर मेरे मुंहसे वृत्तान्त सुनिये और फिर जो समयोचित हो उसे करनेकी कृपा कीजिये ॥ १५ ॥

महाराज, पूर्व दिशाके सामन्तकी ज्वरसे मृत्यु हो गई है। मानो शत्रुओंको परास्तकर चुके आपसे आज्ञा पाकर वे यमराजको जीतनेके लिए यमलोक चले गये हैं ॥१६॥

उनके मरनेके उपरान्त दक्षिण दिशाके अधिपति (आपके सामन्त) चारों ओरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको स्वायत्त करनेके लिए उद्यत हुए, किन्तु उन्हें भी शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओं द्वारा आक्रमणकर मार डाला ॥ १७ ॥

उनके मर जानेके उपरान्त पश्चिम दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) ज्यों ही सेना बटोर कर आपकी पूर्व और दक्षिण दिशाओंको शत्रुसे मुक्त करनेकी इच्छासे जा रहे थे त्यों ही रास्तेमें शत्रुओंने पूर्व देश और दक्षिण देशके राजाओंके साथ संग्राममें उन्हें मार दिया ॥ १८, १९ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथाऽस्मिन्कथयत्येवं त्वरार्तमपरश्चरः ।
उपप्लवो जडोत्पीड इव हर्म्यं विवेश ह ॥ २० ॥

चर उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देवारिभिरुपद्रुतः ।
इत आयाति सबलो भग्नसेत्वम्बुपूरवत् ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

इति श्रुत्वा महीपालः कालक्षेपमवास्तवम् ।
मन्यमान उवाचेदं निर्गच्छन्वरमन्दिरात् ॥ २२ ॥
राज्ञः सन्नह्य सामन्तानानीयन्तां च मन्त्रिणः ।
उद्घाट्यन्तां हेतिशाला दीयन्तां घोरहेतयः ॥ २३ ॥
श्लेष्यन्तां कङ्कटा देहेष्वागच्छन्तु पदातयः ।
गण्यन्तामाशु सैन्यानि क्रियन्तां वरकल्पनाः ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, उक्त गुप्तचर जल्दी जल्दी राजासे यह कह ही रहा था कि प्रलयमें जलप्रवाह (बाढ़) के समान दूसरा गुप्तचर राजप्रसादमें प्रविष्ट हुआ ॥ २० ॥

गुप्तचरने कहा—महाराज, उत्तर दिशाके अधिनायक (आपके सामन्त) शत्रुओं द्वारा आक्रान्त होकर जिसका बाँध टूट गया ऐसे जलप्रवाहके समान सेना सहित इधर ही आ रहे हैं ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, यह सुनकर राजाने विलम्बको सब वस्तुओं और महलोंके लिये खतरनाक समझकर सुन्दर प्रासादसे निकलते हुए यह कहा—

राजगण, सामन्त और मन्त्रिगण हरबा-हथियारसे लैस कर लिवा लाये जायँ, शस्त्रागार खोल दिए जायँ, सबको भीषण अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, सैनिक कवच पहन लें पैदल सेनाएँ जल्दी कूच करें, तुरन्त सेनाकी गिनती की जाय, श्रेष्ठ श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनाध्यक्षोंकी नियुक्तियाँ की जायँ और चारों ओर गुप्तचरोंका जाल बिछाया जाय ॥ २२–२४ ॥

कल्प्यन्तां च बलाध्यक्षाः प्रेष्यन्तामभितश्चराः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

वदत्येवं त्वरायुक्तं संरम्भवति राजनि ।
प्रतिहार उवाचेदं प्रविश्याऽऽकुलमानतः ॥ २५ ॥

प्रतिहार उवाच

उत्तराशाबलाध्यक्षो देव द्वार्यवतिष्ठति ।
काङ्क्षत्यब्जमिवाऽर्कस्य देवदेवस्य दर्शनम् ॥ २६ ॥

राजोवाच

गच्छाऽविलम्बितं तावदेनमेव प्रवेशय ।
जानीमः किं दिगन्तेषु वृत्तं वृत्तान्तसंश्रवात् ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त उत्तराशेशं प्रतिहारप्रवेशितम् ।
प्रणामपरमग्रेऽसौ राजाऽपश्यद् बलाधिपम् ॥ २८ ॥
क्षतविक्षतसर्वाङ्गमङ्गमङ्गेषुसंततम् ।
श्वासाकुलं वमद्रक्तं धैर्येणाऽबलनिर्जितम् ॥ २९ ॥
स प्रणम्य त्वरायुक्तमुवाचेदमुपक्रमम् ।
संस्तभ्याऽङ्गव्यथामाशु संततोच्छ्वासमुच्छ्वसन् ॥ ३० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भय-चकित राजा त्वरापूर्वक यह सब कह ही रहा था कि द्वारपालने घबराहटके साथ प्रवेश कर प्रणामपूर्वक राजासे यह कहा ॥ २५ ॥

द्वारपाल बोला—महाराज, उत्तर दिशाका सेनाधिपति ड्योढ़ीपर खड़ा है जैसे कमल सूर्यके दर्शनोंकी आकाङ्क्षा करता है वैसे ही महाराजाधिराजके (आपके) दर्शन चाहता है ॥ २६ ॥

राजाने कहा—जाओ, बहुत जल्द ही उसे प्रवेश कराओ, उसके मुँहसे वृत्तान्तके भली भाँति श्रवणसे दिगन्तोंमें क्या घटना घटी यह जानेंगे ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजाके यह कहनेपर द्वारपाल द्वारा भीतर प्रवेशित सेनाध्यक्ष उत्तर दिशाके अधिपतिको राजाने प्रणाम करते देखा, उसके संपूर्ण अङ्ग क्षत-विक्षत थे, प्रत्येक अवयवमें वाण व्याप्त थे, सांस जोरसे चल रही थी, निर्बल

बलाध्यक्ष उवाच

देव त्रयोऽपि दिक्पाला बलेन बहुना सह ।
त्वदाज्ञयेव निर्जेतुं यमं यमपुरं गताः ॥ ३१ ॥
तद्देशपालनाद्यर्थमशक्तं मामिमं ततः ।
अनुद्रवन्तो बहवो भूपाः प्राप्ता बलादिह ॥ ३२ ॥
महत्परबलं प्राप्तमिदं देवस्य मण्डलम् ।
विधीयतां तथाप्राप्तं न देवस्याऽस्ति दुर्जयम् ॥ ३३ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तस्मिन् वदत्येवमार्तिमत्याजिविक्षते ।
सहसैवाऽभ्युवाचेदं प्रविश्य पुरुषोऽपरः ॥ ३४ ॥
पुरुषा मण्डलस्याऽस्य विपुला दललीलया ।
स्थितान्यरिबलान्युच्चैश्चतुर्दिक्कं नरेश्वर ॥ ३५ ॥
कचच्चक्रगदाप्रासकुन्तकाननकान्तिभिः ।
वलिता नोऽरिभिर्भूमिर्लोकालोकतटैरिव ॥ ३६ ॥
पताकायुधयोध्रङ्गाश्चलत्परिकराकुलाः ।
विसरन्ति रथास्तत्र प्रोड्डीनत्रिपुरौघवत् ॥ ३७ ॥

होनेके कारण वह शत्रु द्वारा जीता गया था। उसने धीरतासे देहव्यथा सहनकर लगातार साँस लेते हुए प्रणामपूर्वक राजासे जल्दी जल्दी ये वाक्य कहे ॥ २८-३० ॥

सेनाधिपतिने कहा—राजन्, तीनों दिक्पाल बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे यमको जीतनेके लिए यमपुर चले गये हैं, तदनन्तर उनके देशोंका परिपालन करनेमें अशक्त मेरा पीछा कर रहे बहुतसे राजा यहाँ जबर्दस्ती पहुँचे हैं। आपके मण्डलमें शत्रुओंकी यह बड़ी भारी सेना प्राप्त हुई है, सो हमारी पराजित सेनाकी जैसी दुर्दशा इन लोगोंने की है वैसी ही इनकी दुर्दशा कीजिये आपके लिए कुछ भी दुर्जय नहीं है ॥ ३१-३३ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—इसके बाद युद्धभूमिमें क्षतविक्षत शरीरवाले अतएव पीड़ित उत्तरदिशाधिपति यह कह ही रहे थे इतनेमें दूसरे आदमीने प्रविष्ट होकर राजासे यह कहा—महाराज, इस मण्डलके लोग पीपलके पत्तोंकी-सी कँपकँपीसे विशाल बन गये हैं, चारों ओर शत्रुओंकी सेनाएँ प्रचुर मात्रामें व्याप्त हैं। शत्रुओंने लोकालोक तटोंकी तरह

करानुन्नामयन्तः खे मांसवृक्षवनोपमाः ।
बृंहन्ति वारणव्यूहा वर्षावारिदवृन्दवत् ॥ ३८ ॥

नतोन्नतानि कुर्वन्तः स्पन्देनोर्वीनतोन्नतैः ।
हेषन्ते हयसंघाता वातस्पन्दमहाब्धिवत् ॥ ३९ ॥

रसन्ति तुरगापूराः फेनिलावर्तपातिनः ।
सर्वतो वलयाकारा लवणार्णववारिवत् ॥ ४० ॥

आकाशकान्तिसन्नाहैर्दिशं प्रति बलं बलम् ।
उदेत्यलघुकल्लोलैः प्रलयार्णवपूरवत् ॥ ४१ ॥

शरास्त्रशस्त्रसन्नाहमुकुटाभरणत्विषः ।
कचन्ति त्वत्प्रतापाग्नेर्ज्वाला इव तदङ्गगाः ॥ ४२ ॥

हमारी भूमि घेर ली है, उनके खड्ग, गदा, प्रास और भालोंके समूहोंकी कान्ति चमक रही है। पताका, शस्त्रास्त्र और योद्धाओंसे भरे हुए चञ्चल और सुन्दर सम्पूर्ण सामग्रीवाले रथ इधर उधर चल रहे हैं। वे उड़े हुए त्रिपुरासुरके नगरोंके समूहसे प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ३७ ॥

वर्षा ऋतुके मेघोंके सदृश हाथियोंके झुण्ड, जो मांसके वृक्षोंसे भरे वनके तुल्य हैं, आकाशमें सूड़ोंको उठाते हुए चिंघाड़ रहे हैं ॥ ३८ ॥

घोड़ोंके झुण्ड, जो गतिके क्रमसे पृथिवीकी समता, विषमताकी नाईं समता विषमता कर रहे हैं, वायुसे आन्दोलित महासागरकी भाँति हिनहिना रहे हैं ॥ ३९ ॥

क्षीरसागरके जलके समान फेनयुक्त आवर्तोंकी (जलभ्रमियोंकी) भाँति इधर-उधर वृत्ताकार घूम रहे घोड़ोंके वृन्द शब्द करते हैं ॥ ४० ॥

जैसे प्रलयकालके सागरका प्रवाह बड़े बड़े ज्वार भाटोंसे प्रत्येक दिशामें प्रकट होता है वैसे ही आकाशके समान स्वच्छ कान्तिवाले कवच शस्त्रास्त्रोंसे युक्त सेना भी प्रत्येक दिशामें प्रकट होती है ॥ ४१ ॥

योद्धाओंके शरीरपर लगे हुए बाण, अस्त्र-शस्त्र, कवच, मुकुट और आभरणोंकी कान्तियाँ आपके प्रतापाग्निकी ज्वालाकी भाँति विकसित होती हैं ॥ ४२ ॥

समत्स्यमकरव्यूहाः सचक्रावर्तवृत्तयः ।
उद्यन्ति सैन्यसंघट्टाः कल्लोला जलधेरिव ।। ४३ ।।

परस्परपरामर्शात्कुन्ताद्यायुधपङ्क्तयः ।
कोपादिवोग्रहुँकारैर्ज्वलन्ति विरटन्ति च ।। ४४ ।।

इति कर्तुमहं देव विज्ञप्तिं स्वामिनेरितः ।
तस्मान्मण्डलसीमान्तगुल्माद्युद्धाय गच्छता ।। ४५ ।।

तमहं देव गच्छामि शक्त्यृष्टिशरसंगतः ।
मयेहाऽऽवेदितं सर्वं देवो जानात्यतः परम् ।। ४६ ।।

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वाऽथ प्रणामं च स कृत्वा त्वरया ययौ ।
कृत्वा गुलगुलारावं शान्तो वीचिरिवाऽम्बुधेः ।। ४७ ।।

जैसे मछली और मगरोंके समूहसे युक्त चक्राकार जलभ्रमिवाले कल्लोल सागरसे आविर्भूत होते हैं वैसे ही मत्स्य, मकरकीसी आकृतिवाले व्यूहोंसे युक्त, तलवारोंके आवर्तसे युक्त सेनासंघात आविर्भूत हो रहा है ।। ४३ ।।

भाले आदि हथियारोंकी श्रेणियाँ परस्पर टकरानेके कारण मानो क्रोधवश भीषण हुंकारोंसे जलती हैं और कठोर शब्द करती हैं ।। ४४ ।।

उस मण्डलकी सीमामें स्थित छावनीसे युद्धके लिए जाते हुए स्वामीने यह निवेदन करनेके लिए श्रीमानके समीप मुझे भेजा है ।। ४५ ।।

महाराज, शक्ति, ऋष्टि और बाणोंसे युक्त मैं जिन्होंने मुझे आपके पास भेजा था उन स्वामीके समीप जाता हूं, मैंने यहाँ आकर सब निवेद्य आपकी सेवामें निवेदन कर दिया, इसके उपरान्त आप जानें ।। ४६ ।।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, गुड़ गुड़ शब्द करके विलीन हुई समुद्रकी लहरके समान वह पुरुष राजासे यह निवेदन कर प्रणामपूर्वक शीघ्रतासे चला गया ।। ४७ ।।

संभ्रान्तमन्त्रिनृपयोधनियोगिनाग-
नारीरथाश्वपरिचारकनागरौघम् ।
राज्ञो गृहं स्वभयतोलितहेतिसार्थं
चण्डानिलाकुलमहावनतुल्यमासीत् ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्योपाख्यानान्तर्गतविपश्चिदुपा० अविद्याक्षेपणे पार्थिवसंरम्भवर्णनं नामाऽष्टोत्तरशततमः सर्गः ॥

नवाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे सर्वे मन्त्रिणो नृपमाययुः ।
मुनयो वासवमिव दैत्याक्रान्तनभोभुवम् ॥ १ ॥

राजाके प्रासादमें खलबली मच गई, उसकी अवस्था आँधीसे व्याकुल महावनकी-सी हो गई। मन्त्री, राजा, योद्धा, राजाके आज्ञाकारी कर्मचारी, स्त्रियाँ, हाथी, घोड़े, परिचारक और नागरिक सबके सब भयभीत हो गये। सभी जीवोंने अपने प्राणोंके भयसे अपने अपने बचावके साधन हथियार उठा लिये ॥ ४८ ॥

एक सौ आठ सर्ग समाप्त ।

एक सौ नौ सर्ग

[मन्त्रियोंकी सलाहसे राजाका अपने शरीरका होम करना, तदुपरान्त अग्निसे चार शरीरोंसे युक्त राजाका प्रकट होना]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामभद्रजी, जैसे मुनिगण इन्द्रके, जिसके भूलोक और अन्तरिक्षलोकपर दैत्य आक्रमण कर चुके, समीप आते हैं वैसे ही सब मन्त्री राजाके समीप आये ॥ १ ॥

मन्त्रिण ऊचुः

देव निर्णीतमस्माभिर्याविन्न विषयोऽरयः ।
त्रयाणामप्युपायानां दण्डस्तेषु विधीयताम् ॥ २ ॥
प्रणयोऽनुप्रवेशो वा न कदाचन यः कृतः ।
अधुना तेषु तं देव कुर्यात्तेषु कथैव का ॥ ३ ॥
पापा म्लेच्छा धनाढ्याश्च नानादेश्याः सुसंहताः
बहवो लब्धरन्ध्राश्च सामादेर्नाऽऽस्पदं द्विषः ॥ ४ ॥
तत्सुसाहसमेवेदं वर्जयित्वा प्रतिक्रिया ।
नान्याऽस्ति शीघ्रमेवाऽतो रणोद्योगो विधीयताम् ॥ ५ ॥
वीराणां दीयतामाज्ञा पूज्यन्तामिष्टदेवताः ।
आहूयन्तां च सामन्ता हन्यतां रणदुन्दुभिः ॥ ६ ॥

मन्त्रियोंने कहा—महाराज, हमने सब विचार कर निश्चयकर लिया है । शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायों द्वारा काबूमें आने लायक नहीं है, अतः उसपर दण्डका विधान कीजिये ॥ २ ॥

महाराज, दान, संमान आदिसे स्नेह और अनुप्रवेश (अपनें पक्षवालोंका ही शरणागतिके बहाने काकोलूकीयन्यायसे उनके विनाशके लिए उनके देशमें प्रवेश), जिसका आजतक कभी उनके लिए प्रयोग नहीं किया गया, इस समय उन शत्रुओंपर प्रेम और अनुप्रवेशरूप कीर्ति हरनेवाले उपाय किये जायँ, इसकी कथा ही क्या है ।

जिनपर थोड़ा बहुत विश्वास किया जा सके और जिनको द्रव्यकी कमी हो उनपर साम, दान आदि उपायोंकी गुंजायश है, किन्तु ये शत्रु तो ऐसे नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—**पापाः** इत्यादिसे ।

पापी, सीमाप्रान्तके निवासी, प्रचुरधनसम्पन्न, विविधदेशीय, सुसंगठित, हमारी कमजोरीको जाननेवाले बहुतसे शत्रु साम, दान उपायोंके योग्य नहीं हैं ॥ ४ ॥

इसलिए इनके विषयमें साम-दानका प्रयोग करना अत्यन्त सुसाहस है (अविचारित कार्य है) इसका परित्याग कर शीघ्र ही युद्धका उद्योग कीजिये । इनके प्रतिकारका दूसरा उपाय है ही नहीं ॥ ५ ॥

वीरोंको युद्धके लिए आज्ञा दीजिये, इष्ट देवताओंका जप-पूजन आदि अनुष्ठान कीजिये, सामन्तोंका आह्वान कीजिये और रणभेरियाँ बजाई जायँ ॥ ६ ॥

सन्नह्यन्तामशेषेण निर्गच्छन्तु रणे भटाः ।
क्रियन्तां कालकम्पाभ्रमेदुराराजिता दिशः ॥ ७ ॥
आस्फाल्यन्तां धनूंष्युच्चैः क्वणन्तु गुणपङ्क्तयः ।
भवन्तु जलदश्यामाः ककुभः खण्डमण्डलैः ॥ ८ ॥
स्फुरज्ज्याविद्युतः शूरवारिदा घनगर्जिताः ।
नाराचधारा मुञ्चन्तु कचत्कोदण्डकुण्डलाः ॥ ९ ॥

राजोवाच

गम्यतां सङ्गरायाऽऽशु संविधानं विधीयताम् ।
स्नात्वाऽहं पूजयित्वाऽग्निं निर्गच्छामि रणाजिरम् ॥ १० ॥
इत्युक्त्वा नृपतिः स्नातो महारम्भोऽपि स क्षणात् ।
प्रावृषीव नवोद्यानं गङ्गाजलधरैर्घटैः ॥ ११ ॥
अथ प्रविष्टोऽग्निगृहं पूजयित्वा हुताशनम् ।
आदरेण यथाशास्त्रं चिन्तयामास भूमिपः ॥ १२ ॥

सब योद्धाओंको कवच आदिसे सुसज्जित कीजिये युद्धका बाना पहनाइये, तदुपरान्त वे सबके सब युद्धके लिए प्रस्थान करें और दिशाओंको गजघटाओंसे काले काले प्रलयमेघोंसे जैसे पाट दीजिये ॥ ७ ॥

धनुष खूब (कानों तक) ताने जाँय, प्रत्यञ्चाएँ टंकार करें, अर्धमण्डलाकार धनुषोंसे दिशाएँ मेघश्यामला हों, धनुषरूपी कुण्डलोंसे देदीप्यमान गम्भीर सिंहनादवाले शूरवीररूपी मेघ, जिनमें प्रत्यञ्चारूपी बिजली कौंध रही है, बाणरूपी जलधाराओंको बर्षावें ॥ ८, ९ ॥

राजाने कहा—संग्रामके लिए शीघ्र प्रस्थान कीजिये । नगररक्षा, व्यूहरचना आदिकी व्यवस्था कीजिये । मैं भी स्नानके उपरान्त अग्निदेवकी पूजा कर संग्राम-भूमिमें आता हूँ ॥ १० ॥

ऐसा कहकर आवश्यक अन्यान्य कार्योंके रहते भी (अत्यावश्यक अन्यान्य कार्योंको छोड़कर भी) राजाने एक क्षणमें जैसे वर्षाऋतुमें नूतन बगीचा मेघ द्वारा स्नान करता है वैसे ही गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ोंसे स्नान किया ॥ ११ ॥

स्नान करनेके उपरान्त राजाने अग्निगृहमें प्रवेश किया और विधिपूर्वक श्रद्धासे अग्निकी पूजाकर निम्नलिखित बातोंपर विचार किया ॥ १२ ॥

नीतमायुरनायासविलासविभवश्रिया ।
प्रजाभ्यो दत्तमभयमासमुद्रसमुद्रितम् ॥ १३ ॥
आक्रान्तवसुधापीठाः पादपीठे कृता द्विषः ।
लता फलभरेणेव नमिताः ककुभो दश ॥ १४ ॥
प्रजाचित्तेन्दुबिम्बेषु लिखितं धवलं यशः ।
भूमावारोपिता कीर्तिलता त्रिपथगामिनी ॥ १५ ॥
कोशवद्भरिता रत्नैः सुहृन्मित्रार्यबन्धवः ।
निपीतोऽर्णवतीरेषु नालिकेररसासवः ॥ १६ ॥
द्विषामाकम्पिता भेकगलाङ्गत्वगिवासवः ।
मच्छासनाङ्किता जाता द्वीपान्तरकुलाचलाः ॥ १७ ॥
विहृतं सिद्धसेनासु दिगन्तनवभूमिषु ।
भूम्यन्तभूभृतां मूर्ध्नि विश्रान्तं मेघलीलया ॥ १८ ॥
धियेवोच्चैः पदे ज्ञानपूर्णयैकान्तशीलया ।
विलब्धान्यविनष्टानि राष्ट्रानीष्टार्थकारिणा ॥ १९ ॥

मैंने अनायास विलासविभवपूर्ण सम्पत्तिसे आयु व्यतीत की, समुद्रपर्यन्त शासन-मुद्रापूर्वक अपनी सारी प्रजाको अभयप्रदान किया। पृथ्वीपर आक्रमण करनेवाले शत्रुओंको चरणोंपर नवा डाला। जैसे लताएँ फलोंके बोझसे नत हो जाती हैं वैसे ही कर आदि फलके भारसे दसों दिशाओंको मैंने नवा दिया ॥ १३, १४ ॥

प्रजाके चित्तरूपी चन्द्रबिम्बोंमें अपना शुभ्र यश भर दिया, भूमिमें तीनों लोकोंमें फैलनेवाली कीर्तिरूपी लता लगा दी ॥ १५ ॥

सुहृत्, मित्र पूज्य ब्राह्मण (गुरुवर्ग) और बन्धुबाधवोंको विविध रत्नोंसे खजानेके समान भर दिया, समुद्रके किनारे नारिकेलरसका आसव छक कर पीया ॥ १६ ॥

शत्रुओंके प्राणोंको मेढककी गर्दनकी त्वचाके समान खूब कँपा डाला, द्वीप-द्वीपान्तरके कुल कुलपर्वतोंपर मेरे शासनकी छाप लग चुकी ॥ १७ ॥

दिगन्तोंमें प्रसिद्ध अपूर्व सुवर्णभूमियोंमें, जो सिद्धसेनाओंसे पूर्ण हैं, मैंने खूब विहार किया, लोकालोकपर्वतपर्यन्त पर्वतोंके और सीमाप्रान्तवर्ती राजाओंके सिरपर मेघोंकी लीलासे विश्राम किया और पैर रक्खा ॥ १८ ॥

जैसे ज्ञानपूर्ण एकान्तसें समाधि बुद्धिसे परमोच्च ब्रह्ममें विश्राम

रक्षांस्यप्यविनीतानि बद्धानि निगडैर्घनैः ।
धर्मार्थकामैरन्योन्यं चयापचयवर्जितैः ॥ २० ॥
अखण्डितैर्मया नीतं पीतातियशसा वयः ।
इदानीं शष्पविश्रान्तप्रालेयभरभासुरम् ॥ २१ ॥
आगतं वार्धकं सर्वभोगसंरम्भमार्जनम् ।
तस्योपर्यरयो रौद्रा बलवन्तो रणैषिणः ॥ २२ ॥
संभूय सर्वतः प्राप्ताः संदिग्धो वर्तते जयः ।
तदिहैवाऽनलायाऽस्मै देवाय जयदायिने ॥ २३ ॥
मस्तकाहुतिमेवेमां समुद्यम्य ददामि वै ।

राजोवाच

कृशानो देव मूर्धाऽयं तुभ्यमाहुतितां गतः ॥ २४ ॥
मया पूर्वं पुरोडाश इव देवेश दीयते ।
यदि तुष्टोऽसि भगवंस्तदनेन कृतेन मे ॥ २५ ॥
चत्वारो भवतः कुण्डात्स्वदेहाः प्रोद्भवन्तु मे ।
बलवन्तः श्रिया दीप्ता नारायणभुजा इव ॥ २६ ॥

लिया जाता है वैसे ही प्रजाओंका हितसम्पादन करनेवाले मैंने राष्ट्रोंकी अभिवृद्धि की और उपार्जन किया ॥ १९ ॥

उद्धत (विनयरहित) लङ्का आदि द्वीपोंमें रहनेवाले राक्षसोंको भी मजबूत हथकड़ियों द्वारा मैंने जकड़ा, परस्पर एक दूसरेसे अबाधित, वृद्धि-ह्रासशून्य (समानरूपसे संचित) धर्म, अर्थ और काम द्वारा अवस्था व्यतीत की । इस समय मानो अत्यन्त यशपान करनेके कारण अतिधवलताको प्राप्त हुआ मैं तृणोंपर लदे हुए प्रचुर बर्फके समान सफेद बुढ़ापेको प्राप्त हो गया हूँ । बुढ़ापेके ऊपर यानी इस बुढ़ापेमें भीषण युद्धाकाङ्क्षी बलवान् शत्रु दल बांधकर चारों ओरसे लड़नेके लिए उपस्थित हैं । जीत होनेमें सन्देह है, इसलिए विजयप्रदान करनेवाले इन अग्निदेवके लिए यहींपर इस मस्तकाहुतिको ही उठाकर देता हूं । राजाने कहा—हे अग्निदेव यह मेरा सिर आपके लिए आहुतिरूप बन चुका है । जैसे मैंने पहले आपके लिए पुरोडाशकी आहुतियां दी हैं वैसे ही इसकी आहुति आज आपको देता हूँ । यदि मेरे इस कामसे आप मेरे ऊपर प्रसन्न हों तो आपके कुण्डसे मेरे नारायणकी भुजाओंके समान शोभायुक्त बलवान् चार शरीर उत्पन्न हों ॥ २०—२६ ॥

तैश्चतुर्दिक्कमेवाऽरीन्वध्यामहमविघ्नतः ।
त्वया च दर्शनं देयं मह्यं मतिमते विभो ॥ २७ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा स महीपालः खड्गमादाय चिच्छिदे ।
शिरःकमलमालोलं लीलयेवाऽऽशु बालकः ॥ २८ ॥
छिन्नमेष शिरो यावज्जुहोत्यसितवर्त्मने ।
तावच्छरीरेण सह पपाताऽग्नौ स पार्थिवः ॥ २९ ॥
भुक्त्वाऽथ वह्निस्तं देहं ददावस्मै चतुर्गुणम् ।
महतामुपयुक्तं हि सद्य एवाऽभिवर्धते ॥ ३० ॥
चतुर्मूर्तिरथोत्तस्थौ पावकाद्वसुधाधिपः ।
प्रज्वलंस्तेजसां पुञ्जैर्नारायण इवाऽर्णवात् ॥ ३१ ॥
ते देहास्तस्य चत्वारो विरेजुर्भास्वरत्विषः ।
सहजातोत्तमोत्तंसभूषणायुधवाससः ॥ ३२ ॥

हे विभो, उन शरीरोंसे मैं चारों दिशाओंमें अपने शत्रुओंका बिना किसी विघ्नबाधाके संहार करूँ और आपके दर्शनोंकी इच्छासे आपका स्मरण करनेवाले मुझे आप दर्शन दें ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, यह कहकर उस राजाने जैसे बालक अनायास चञ्चल कमलको तोड़ता है वैसे ही चञ्चल शिररूप कमलको खड्ग लेकर शीघ्र काट डाला ॥ २८ ॥

ज्योंही वह राजा अपने कटे सिरका अग्निमें हवन करने लगा त्योंही शरीरके साथ अग्निमें गिर पड़ा ॥ २९ ॥

उस शरीरको खाकर (आहुतिरूपसे ग्रहणकर) अग्निने उसे चतुर्गुण शरीर दिया। महान् लोगों द्वारा स्वीकृत वस्तु शीघ्र ही वृद्धिको प्राप्त होती है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

इसके पश्चात् चार मूर्ति धारणकर राजा तेजकी राशियोंसे देदीप्यमान हो वह्नि-कुण्डसे ऐसे ही निकला जैसे कि तेजके पुञ्जोंसे देदीप्यमान भगवान् सागरसे निकले थे ॥ ३१ ॥

दीप्तकान्तिवाले उसके वे चार शरीर अत्यन्त सुशोभित हुए, उनके माला, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र साथ ही उत्पन्न हुए थे और कवच, शिरस्त्राण भी साथ ही

सकंकटशिरस्त्राणाः समौलिकटकाङ्गदाः ।
सहारकुण्डलाभोगाः सर्वाः सर्वे महाशयाः ॥ ३३ ॥
सर्व एव समाकाराः सदृशावयवान्विताः ।
चञ्चलोच्चैःश्रवःप्रख्यं हयरत्नमवस्थिताः ॥ ३४ ॥
ससुवर्णशरापूर्णतूणीराः सुमहाशयाः ।
समानगुणकोदण्डाः समानवपुषः शुभाः ॥ ३५ ॥
समारोहन्ति ते यस्मिन्पुंसि नागे रथे हये ।
सर्वेषामरिदोषाणां नैव गम्यो भवत्यसौ ॥ ३६ ॥
पीत्वा धृत्वा चिरं कालं गर्भे पुरुषतापिताः ।
वेद्यामिव हितास्तत्र सागरा वडवार्चिषा ॥ ३७ ॥
रत्नाश्वदेहकुसुमोत्करपूर्णदेहा-
श्चत्वार इन्दुहसितैरवभासयन्तः ।
सन्मूर्तयो हरय एव यथाऽब्धयो वा
वेदा इवाहुतिहुतादनलात्प्रसस्रुः ॥ ३८ ॥

पैदा हुए थे । वे मुकुट, कंकण, बाजूबंदसे युक्त थे, हार और कुण्डलोंकी कान्तिसे जगमगा रहे थे । वे सब सबकी रक्षा करनेवाले तथा महान् आशयवाले थे । सबकी रूपलेखा एकसी थी और सब एकसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे युक्त थे, सबके सब चञ्चल उच्चैश्रवाके सदृश उत्तम घोड़ोंपर चढ़े थे ॥ ३२-३४ ॥

उनके सोनेके बाणोंसे भरे तरकस बंधे थे, एकसी प्रत्यञ्चावाले उनके धनुष थे, सुन्दर समान शरीरवाले महामना वे मङ्गलमय पुरुष जिस पुरुष, हाथी, रथ और घोड़े-पर सवार होते थे, वह शत्रुप्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, औषधि, यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि दोषोंका लक्ष्य ही नहीं हो सकता था ॥ ३५-३६ ॥

वे चार देह क्या थे चार सागर ही थे । मानो बाडवाग्निने पहले पीकर चिर कालतक उन्हें अपने गर्भमें धारण किया, तदुपरान्त उन्हें पुरुषके आकारमें परिवर्तित किया, तत्पश्चात् उन्हें वहाँ अग्निकुण्डमें रखा ॥ ३७ ॥

रत्नोंसे विभूषित और रत्नभूत अश्वशरीरोंमें पुष्पराशियोंसे पूर्णदेहवाले चन्द्रमारूपी अपनी मन्द मुस्कानसे दशों दिशाओंको जगमगा रहे वे चार विपश्चित् आहुतियों द्वारा

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे
उत्तरार्धे अवि० वि० अग्निप्रवेशाद्देहलाभो नाम
नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः ।

वसिष्ठ उवाच

पुरोपकण्ठसंप्राप्तैश्चतुर्दिक्कं सहारिभिः ।
एतस्मिन्नन्तरे तत्र प्रवृत्तं दारुणं रणम् ॥ १ ॥
लुण्ठितग्रामनगरं प्रजाकुलमहाकुलम् ।
अग्निदाहज्वलद्देहं धूमाभ्रपटलावृतम् ॥ २ ॥
शरजालमहाधूमच्छन्नार्कविलसत्तमः ।
क्षिप्रदृष्टरवि क्षिप्रमदृष्टरविमण्डलम् ॥ ३ ॥
अग्निदाहमहातापप्रतप्तपर्णकाननम् ।
लोलालातलताशूलमुसलोपलपूर्णखम् ॥ ४ ॥

प्रसन्न अग्निसे चार विष्णु ऐसे या चार सदेह समुद्र ऐसे अथवा चार मूर्तिमान् वेद ऐसे बाहर निकले ॥ ३८ ॥

एक सौ नौ सर्ग समाप्त ।

एक सौ दस सर्ग

[नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ चारों ओर हुए घमासान संग्रामका विस्तृत वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, इस बीचमें वहाँ चारों ओर नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ भीषण संग्राम छिड़ा ॥ १ ॥

उक्त युद्धमें नगर और गाँव लूटे गये, प्रजामण्डलमें महाव्याकुलता छा गई, आगकी लपटोंसे शरीर जलने लगे, धूमरूपी मेघोंके घने स्तरोंसे आकाश-मण्डल छिप गया, बाणोंकी लगातार घनी वृष्टि और निविड़ धूमसे सूर्य ढक गया, अतएव चारों ओर अन्धकार फैल गया । वहांपर क्षणमें सूर्यमण्डल दीख पड़ता था और क्षणभरमें ओझल हो जाता था । अग्निकी लपटोंके तेज संतापसे वनोंके

अनलप्रतिबिम्बौघैर्द्विगुणज्वलनायुधम् ।
रणभग्नमहाशूरप्राप्तेन्द्रवनितासुधम् ॥ ५ ॥
उद्दामवारणारावै रणलम्पटहर्षदम् ।
भुशुण्डीमण्डलप्रासशूलतोमरवर्षदम् ॥ ६ ॥
भटकोलाहलोल्लासहृद्भङ्गमृतपामरम् ।
रजःपटलशुभ्राभ्रकृतद्युपथवारणम् ॥ ७ ॥
मरणव्यग्रसामन्तमुक्तनादव्रजद्व्रजम् ।
इतश्चेतश्च निपतद्वैद्युतोपहतप्रजम् ॥ ८ ॥
अग्निदग्धपतद्गेहप्रोज्झिताग्निमयाम्बुदम् ।
मरणाह्लाददासंख्यशरधारामयाम्बुदम् ॥ ९ ॥
जितसागरकल्लोलं तुरङ्गमतरङ्गकैः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारक्रेंकारकर्कशम् ॥ १० ॥
कोटकोटिकुटीकुड्यकण्टकोद्भटसङ्कटम् ।
चटत्कुण्ठितकोटाट्टकूटाटननटच्छटम् ॥ ११ ॥

सब पत्ते मुरझा गये थे, चञ्चल लुआठी, शूल, मूसल, पत्थर आदिकी राशियोंसे आकाश पट गया था, अग्निके प्रतिबिम्बोंके पड़नेके कारण हथियारोंकी चमचमाहट दुगुनी हो रही थी, रणमें काम आये हुए महाशूरवीर योद्धाओंको अप्सराएँ और सुधा प्राप्त हो रही थी, मदोन्मत्त हाथियोंकी चिंघाडसे संग्रामोत्सुक वीरोंको अपार हर्ष हो रहा था, बन्दूकोंकी गोलियों, भालों, शूलों और तोमरोंकी वर्षा हो रही थी, योद्धाओंके कोलाहलके उल्लासके सुननेमात्रसे हृदय फटनेके कारण अनेकों कायरोंके प्राण-पखेरू उड़ रहे थे, धूलिपटलरूपी सफेद मेघने अन्तरिक्षको आच्छन्न कर दिया था, मरनेके लिए व्याकुल हुए सामन्तोंके दलके दल चिल्लाते हुये जा रहे थे, इधर उधर गिर रही बिजलियोंसे (उल्कापातोंसे) प्रजाका विनाश हो रहा था, अग्निसे जले हुए अतएव गिर रहे गृह अग्निकी वर्षा करनेवाले धूममय मेघोंकी सृष्टि कर रहे थे। असंख्य बाणोंकी वृष्टिरूपी धारावाले मेघ मरणाह्लाद प्रदान कर रहे थे ॥ २–९ ॥

अश्वरूपी तरङ्ग सागरोंके कल्लोलोंको मात कर रहे थे, हाथियोंके दांतोंके परस्पर टकरानेके कारण कर्णकटु टंकार ध्वनि हो रही थी, दुर्गोंके सन्धिप्रदेशोंमें बनी हुई कुटियोंकी दीवारोंपर श्रेष्ठ भट कांटेदार बाण रोपनेमें व्यग्र थे, अग्निकी ज्वालाओंसे

लुठत्पटनकुट्टाकसाटोपस्फुटपट्टिशम् ।
खे वटत्केतुपट्टाट्टपटत्पटपटारवम् ॥ १२ ॥
दन्तिदन्तगुणोद्गीर्णैर्हेतिपाषाणघर्षणैः ।
तारक्रेंकारहुंकारैराहूतसुरवारणम् ॥ १३ ॥
वहच्छरनदीपूरपूर्णाम्बरमहार्णवम् ।
विचलच्चक्रकुन्तासिधारामकरकर्कशम् ॥ १४ ॥
उन्नादयोधसंघट्टकंकटोत्कटटांकृतैः ।
लसज्झणझणारावैर्घटितद्वीपमण्डलम् ॥ १५ ॥
पादपातपरापिष्टशरसंजातकर्दमम् ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमाणरथद्विपम् ॥ १६ ॥
सुपर्णहेलानिपतत्प्रोत्पतत्पट्टपट्टिशम् ।
शरवारितरङ्गार्तभग्नायुधजलेचरम् ॥ १७ ॥

वेष्टित अतएव भग्नप्राय दुर्गसन्धिस्थित अटारियोंमें पर्यटन द्वारा अग्निछटा नाच रही थी ॥ १०,११ ॥

घटाटोपके साथ टूटे फूटे हुए चलनेमें रुकावट डालनेवाले तोमर इधर उधर लुढ़के हुए थे, अटारियोंमें, जिनके ऊपर आकाशमें वस्त्रपताकाएँ लहरा रहीं थीं, पट-पट शब्द हो रहे थे, हाथियोंके दातोंके शुक्लतादि गुणोंके उद्गिरणसे (निकलनेसे), हथियारोंकी पत्थरोंपर रगड़ लगनेसे और तीक्ष्ण टंकार और हुंकारोंसे युद्धोत्साहोत्पादनवश दिग्गजोंका मानो आह्वान हो रहा था ॥ १२, १३ ॥

लगातार बह रही बाण-नदीके वेगसे आकाशरूपी महासागर भर गया था, चल रहे चक्र, भाले, तलवार रूपी मगरोंसे वह संग्रामसागर भयावना लगता था। सिंहनाद कर रहे योद्धाओंके परस्पर टकरानेपर कवचोंकी तीक्ष्ण टंकारोंसे हो रहे झङ्कारोंसे सब द्वीप गूंज उठे थे ॥ १४, १५ ॥

पैरोंके आघातसे खूब पीसे गये बाणोंसे चारों ओर कीचड़ हो गया था, बह रही रक्तकी नदीके प्रवाहमें रथ, हाथी तक बहे जा रहे थे ॥ १६ ॥

गरुड़की लीलासे पट्टिश नामक शस्त्रविशेष गिर रहे थे और उड़ रहे थे, बाणरूपी जलतरङ्गोंसे पीड़ित हुए योद्धाओंके आयुधरूपी जलचर टूक टूक हो रहे थे ॥ १७ ॥

हेतिसंघट्टनिष्क्रान्तज्वालाप्रज्वलिताम्बरम् ।
वलीपलितनिर्मुक्तशूराक्रान्तत्रिविष्टपम् ॥ १८ ॥
पाण्डुपांसुपयोवाहकचच्चक्राचिरद्युति ।
हेतिनिर्विवराकाशायुधानाधारभूतलम् ॥ १९ ॥
कटद्भटभटाटोपरटत्प्रतिभटोत्कटम् ।
चटच्छकटसंघट्टपिष्टकाष्ठलुठद्रथम् ॥ २० ॥
कबन्धभटवेतालमिश्रकण्टकसंकटम् ।
वेतालभुज्यमानाग्र्यशवमांसहृदम्बुजम् ॥ २१ ॥
शूरशातितशीरार्धशिरःकरखुरोरुकम् ।
कबन्धदोर्द्रुमस्पन्दवनीकृतनभस्तलम् ॥ २२ ॥
तरल्लोलास्यवेतालहासघट्टितपेटकम् ।
कंकटोत्कटसाटोपभटभ्रुकुटिभीषणम् ॥ २३ ॥
एकान्तमारणैकान्तमरणैकान्तभूषणम् ।
प्रहारदानग्रहणकार्पण्यापारदूषणम् ॥ २४ ॥

कहींपर आपसमें टकरा रहे शस्त्रास्त्रोंसे निकली हुई ज्वालाओंसे आकाश जल रहा था, देवत्वकी प्राप्तिसे बुढ़ापेके कारण वदनपर होनेवाली झुर्रियों और सफेदोसे मुक्त हुए शूरवीर लोगोंसे स्वर्ग पट रहा था ॥ १८ ॥

धूलिरूपी मेघोंमें चक्ररूपी बिजलियाँ कौंध रही थी, शस्त्रास्त्रोंसे ठसाठस भरा होनेके कारण अवकाशरहित भूतल वहांपर वारोंका आधार नहीं रह गया था ॥१९॥

बाणोंकी वृष्टि कर रहे महाभटोंके घटाटोपसे गरज रहे प्रतिभटोंसे संग्राम-भूमि बड़ी डरावनी लगती थी, पृथिवीको व्याप्त कर रहीं (ढक रहीं) गाड़ियोंके आघातोंसे चूर चूर हुए अन्य गाड़ियोंके अवयवभूत काठोंमें रथ लड़-खड़ा रहे थे, संग्रामभूमि कबन्ध हुए भटों और वेतालोंसे मिश्रित शत्रुओंसे ठसाठस भरी थी, तिल रखनेको भी ठौर नहीं थी, वेताल श्रेष्ठ-श्रेष्ठ भटशवोंका हृदयकमलरूपी मांस खा रहे थे, शूरवीर पुरुषों द्वारा वीरोंके सिर, हाथ जंघाएँ और खुर काटे गये थे, कबन्धोंके भुजरूपी वृक्षोंकी हलचल-से आकाशतल वन सा बन गया था, तैर रहे चञ्चल मुखवाले वेतालोंने हर्षके आधिक्यसे हंसी खुशीसे अपनी अपनी पेटियाँ शवोंसे भरी थीं, कवच पहननेके कारण घटाटोपवाले भटोंकी भ्रुकुटिसे रणभूमि भयंकर थी। वहांपर नियमतः स्वयं मरना या दूसरोंको मारना यही भटोंका एकमात्र आभूषण था एवं प्रहारोंको देने और अपने ऊपर

शूरवारणसामन्तमदवारिविशोषणम् ।
मारणैकान्तरसिककृतान्तानन्दपोषणम् ॥ २५ ॥
अविकत्थनगुप्तानां शूराणां जयघोषणम् ।
अशूराणां च गुप्तानां प्रभावुद्घोषणं परम् ॥ २६ ॥
शौर्यादीनां प्रसुप्तानां स्वगुणानां प्रबोधनम् ।
धनमाधारभूतानां राष्ट्रेषु भुजशालिनाम् ॥ २७ ॥
दन्त्यारूढरथास्फोटप्रभग्नकटवारणम् ।
समस्तमत्तगन्धेभदानवारिनिवारणम् ॥ २८ ॥
सारसारवसामन्तमुक्तमत्तमतङ्गजम् ।
जरज्जितकरानीककल्पितासीकवेदनम् ॥ २९ ॥
दिनं दिनकरस्येव नृपस्य शरणं गतम् ।
अनागतभटव्रातपिष्टार्धमृतमानवम् ॥ ३० ॥

लेनेमें असामर्थ्य ही वहाँपर महती निन्दा थी ॥ २०–२४ ॥

उक्त संग्राम गजरूपी शूरवीर सामन्तोंके मदजलका शोषण कर रहा था, वहाँ दूसरोंको मारनेमें अत्यन्त रसिक वीरभट कालके आनन्दकी पुष्टिकर रहे थे, अपने मुँहसे अपनी वीरताका बखान न करनेसे छिपे हुए शूरवीर भटोंका काम ही रणमें उनकी वीरता देखनेवाले लोगोंको मुँहसे उनके शौर्यकी घोषणा करा रहा था, छिपे हुए कायरों-का भी काम ही दर्शकों द्वारा प्रभुके समीप उनकी अशूरताकी घोषणा करा रहा था, उक्त संग्राम सोये हुए अपने शौर्य आदि गुणोंका उद्बोधन करता था, भुजबलशाली अतएव राष्ट्रमें दुर्बल लोगोंके आधारभूत शूरवीरोंका धन था ॥ २५–२७ ॥

हाथीपर सवार होकर युद्ध करनेवाले तथा रथियोंके परस्पर युद्धमें बेचारे हाथियोंके गण्डस्थल क्षतविक्षत हो गये थे, सकल मदोन्मत्त गन्धगजोंके[1] मदजल उक्त युद्धमें सूख गये थे, मदोन्मत्त हाथियोंके तालाबोंमें घुसनेपर सारसोंकी तरह चीत्कारके साथ भाग रहे तरुण सामन्त भी वहांपर हाथियोंको छोड़ जा रहे थे। बूढे होनेपर भी खड्गविद्यामें सिद्धहस्त भटोंकी सेना द्वारा अपनी खड्गप्रहरणताप्रकटनका[2] समर्थन किया जा रहा था। भटोंकी सेनाके न आनेपर भी उनके आगमनकी भ्रान्तिसे भगदड़ होनेपर

---

१. जिसके मदको सूंघकर अन्य गज भाग खड़े होते हैं, वह गन्धगज कहलाता है।
२ आसीकवेदन—जिनका असि (तलवार) हथियार है वे आसीक कहलाते हैं। उनके भावका प्रकटन आसीकवेदन है। मूलस्थित आसीकवेदनका ही पर्याय खड्गप्रहरणता प्रकटन है।

मानवायुबलोन्मत्तनतप्रारब्धकुट्टनम् ।
धनानां प्राणपण्यानां नवमापणपत्तनम् ॥ ३१ ॥
पटनद्धपताकौघजातसंचारिदोर्द्रुमम् ।
रक्तोज्ज्वलत्वात्त्रैलोक्यलक्ष्म्या भूषणविद्रुमम् ॥ ३२ ॥
मन्दराहननोद्भूतक्षीरोदजलसुन्दरैः ।
छत्रैश्छादितहेत्योघपुष्पाढ्यगगनाङ्गनम् ॥ ३३ ॥
गणगीर्वाणगन्धर्वगीतशूराशयं कृतम् ।
तद्भातरलतालाग्रहेतिहालाहलायुधम् ॥ ३४ ॥
संघप्रहरणासंख्ययातुधानाझणज्झणम् ।
भुक्त्वा चाऽद्रिगुहागेहपूरितापूर्वदुर्द्रुमम् ॥ ३५ ॥
कचत्कुन्तवनव्यस्तशिरःकरवृताम्बरम् ।
क्षेपणोन्मुक्तपाषाणपूरस्तुतककुब्लतम् ॥ ३६ ॥

परस्पर पैरोंसे कुचले गये मनुष्य अधमरे हो गये थे, अतएव दिन जैसे सूर्यकी शरणमें रहता है वैसे ही राजाके पैरोंकी शरणमें वे अपने आप चले गये थे ॥ २८–३० ॥

अभिमानरूपी उन्माद वायुके कारण उन्मत्त हुए भटों द्वारा प्रणत (शरणागत) लोगोंपर भी प्रहारपर प्रहार किये जा रहे थे। वह संग्रामस्थल प्राणों द्वारा प्राप्त करने योग्य धनोंका नूतन बाजाररूप नगर था। वस्त्रोंसे बंधी हुई पताकाओंके समूह हो लहरा रहे हस्तवृक्ष बन गये थे। खूनसे अत्यन्त लाल होनेके कारण वह रणाङ्गण त्रैलोक्यलक्ष्मीका भूषणभूत मूंगा बन गया था ॥ ३१, ३२ ॥

युद्धभूमिका गगनरूपी आंगन मन्दराचलके आघातसे उछले हुए क्षीरसागरके जलके समान सुन्दर छत्रोंसे आच्छादित तथा शस्त्रास्त्रोंके समूहरूपी फूलोंसे युक्त था। उक्त युद्धस्थलमें प्रमथगणों, गन्धर्वों तथा देवताओं द्वारा शूरवीर भटोंके उत्साह आदि-के गीत गाये जा रहे थे, उनको (गणों और गन्धर्वोंकी) कान्तिसे चञ्चल ध्वजाओंसे तथा हथियाररूपी मद्यसे उन्मत्त होनेके कारण भट वहांपर बलरामरूप बन गये हैं ॥ ३३, ३४ ॥

उस युद्धमें बहुत बड़ा झुण्ड बांधकर अनायास प्रहार करनेवाले असंख्य राक्षसों द्वारा चुपचाप स्वयं भटमांस खाकर शवोंके ढेरके ढेर उठा ले जाकर पर्वत-गुहारूप अपने घरमें अपने परिवारके—विषवृक्षसदृश—सब राक्षसोंको भोजन कराया गया था ॥ ३५ ॥

चमचमा रहे भालोंकी श्रेणियोंसे भालोंके बन ऐसे प्रतीत हो रहे भालोंसे लड़नेवाले

महाचटचटाशब्दस्फुटद्रवबृहद्द्रुमम् ।
नारीहलहलारावरणन्नगरमन्दिरम् ॥ ३७ ॥
मन्दरावानलाकारनभोभातायुधव्रजम् ।
परित्यज्य धनं गेहं दूरोर्वीविद्रुतप्रजम् ॥ ३८ ॥
सर्वतो हेतिवहनात्समक्षप्रेक्षकोज्झितम् ।
वर्जितं भीरुभिः पक्षिराजवृन्दमिवाऽहिभिः ॥ ३९ ॥
दन्तिदन्तविनिष्पिष्टशिष्टसद्भटसंकटम् ।
कटे मृत्योरिव नरद्राक्षापीडनयन्त्रके ॥ ४० ॥
यन्त्रपाषाणसंघट्टपिष्टाम्बरगतायुधम् ।
योधनादनदद्दन्तिवृन्दबन्धुरकन्दरम् ॥ ४१ ॥
धराधरदरीरन्तःप्रतिश्रुत्प्रोतगर्जितम् ।
अर्जितं प्राणसर्वस्वमर्जयद्भिरुपार्जितम् ॥ ४२ ॥

भटों द्वारा काटकर फेंके गये सिर और हाथोंसे रणभूमिका आकाश पट गया था, क्षेपणोंसे (गुलेलकी तरहका एक देशी अस्त्र जिससे ढेले दूर दूरतक फेंके जाते हैं) फेंके गये पत्थरोंकी राशियोंसे दिशारूपी लता लांघी गई थी ॥ ३६ ॥

ताल ठोकने आदिसे उत्पन्न महान् चट चट शब्दोंसे विशाल वृक्षोंके टूटनेकी-सी ध्वनि हो रही थी एवं स्त्रियोंके हाहाकार शब्दोंसे नगरोंके घर-के-घर जगूँ रहे थे ॥ ३७ ॥

आकाशमें मन्द-मन्द ध्वनिवाली अग्निके तुल्य शस्त्रास्त्रोंकी राशियाँ शोभित हो रही थीं, सबकी सब प्रजा अपना घर द्वार छोड़कर दूरदेशोंमें भाग गई थी, हथियारोंके चारों ओर चलनेसे युद्धदर्शक लोगोंने भी भयसे चारों ओरसे युद्धभूमि-का त्याग कर दिया था, भयभीत सापोंने युद्धभूमिका गरुड़ोंके झुण्डकी तरह त्याग कर दिया था तथा उक्त युद्धभूमिमें मनुष्यरूपी अंगूरोंको पीसनेके कालके यन्त्र ऐसे गण्डस्थलमें हाथियों द्वारा दाँतोंसे पिस चुके हुओंसे बचे हुए उत्तम भटोंको बड़ी मुसीबत हो रही थी ॥ ३८-४० ॥

आकाशमें चल रहे हथियार प्रेक्षणी द्वारा फेंके गये पत्थरकी टक्करसे चूर-चूर हो रहे थे और योद्धाओंके सिंहनादसे, चिंघाड़ रहे हाथियोंके समूहसे, कन्दराएँ भर गई थीं ॥ ४१ ॥

उस युद्धमें शूरोंके सिंहनाद पर्वतोंकी गुफाओंमें पहुँचकर प्रतिध्वनियोंसे मिल गये

भर्जितं हेतिदहनैरग्निदाहैश्च संततैः ।
तैरेवाऽन्यैरथाऽन्यैश्च द्वन्द्वयुद्धैरनिष्ठितम् ॥ ४३ ॥
वेष्टितं मृतशिष्टैश्च सारैः सुभटपेटकैः ।
कैलासैरिव संशुद्धैरीश्वराधारतां गतैः ॥ ४४ ॥
तैरुदारैः समाक्रान्तं ये मृत्योरपि मृत्यवः ।
मरणं जीवितं येषां जीवितं मरणं रणे ॥ ४५ ॥
रणे नभसि निर्लूनवरवारणवारिजे ।
सारसाः सरसीवाऽत्र रेजुरत्युद्भटा भटाः ॥ ४६ ॥
यन्त्राश्मक्षेपणानां प्रसरण-
सरिता घूकृतैः फूत्कृतैर्द्राक्
क्रान्तानां व्योम्नि मूर्ध्नां शर-
सलिलमुचां सैनिकानां च नादैः ।

थे और जन्मसे लेकर बड़े प्रयत्नसे उपार्जित बलसर्वस्वको प्रकट कर रहे शूरवीरों द्वारा वह चलाया गया था ॥ ४२ ॥

उक्त युद्धभूमि हथियाररूपी अग्निसे तथा चारों ओर फैली हुई अग्निसे भूनी गई थी तथा पूर्ववर्णित युद्धोंसे तथा अन्यान्य द्वन्द्वयुद्धोंसे वहाँ युद्ध समाप्तिको नहीं प्राप्त हो रहा था ॥ ४३ ॥

मरे हुओंसे अवशिष्ट, बलशाली, स्वामीकी वञ्चना न करनेवाले, हृदयमें ईश्वरको धारण करनेवाले, उत्तम भटरूपी कैलासोंसे वह युद्ध चारों ओर परिवेष्टित था। कैलास भी अत्यन्त पवित्र, सारवान् और श्रीशङ्करजीका आधार है। जिनका रणसे भागकर जीना मरनेके समान अप्रिय है और रणमें मरना जीनेके समान प्रिय है ऐसे उदार पुरुषोंसे त्रैलोक्य भी जीता जाता है। वे ही काल के भी काल होते हैं यानी परमपद प्राप्त हैं। जैसे कहा है—दो ही पुरुष तो सूर्यमण्डलका भेदन कर परमपदको प्राप्त—होते हैं योगयुक्त संन्यासी और रणमें सम्मुख मारा गया योद्धा ॥ ४४, ४५ ॥

अत्यन्त शूरवीर योद्धा कटे हुए सुन्दर सुन्दर हाथीरूप कमलोंसे भरी हुई युद्धभूमिके आकाशमें तालाबमें सारसोंके समान सुशोभित हुए ॥ ४६ ॥

गुलेलसे फेंके गये पत्थरोंके प्रवाहरूपी नदियोंकी ध्वनियोंसे तुरन्त ही बह कर आकाशमें उड़े हुए मस्तकोंकी फुफकारोंसे, बाणरूपी जल बरसा रहे सैनिकोंके

टांकारैरायुधानां नभसि
विसरतामश्वचक्रेभशब्दै-
रासीन्निःसंधिबन्धोपलजठर-
जडं जीर्णकर्णं गतं तत् ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्यो० विप० संग्रामवर्णनं नाम दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इति कल्पान्तसदृशे यत्ते समरसंभ्रमे ।
पतन्तीषूत्पतन्तीषु सेनासु समरेऽजिरे ॥ १ ॥
तूर्यभेरीमहाशङ्खखड्गेषु खे नदत्सु च ।
धनुर्ध्वनिषु वीराणां तारक्रेंकारकारिषु ॥ २ ॥
अन्योन्यकठिनास्फोटविकटे भटपेटके ।
कवत्कटकटाटोपे कट्टकुट्टितकङ्कटे ॥ ३ ॥

सिंहनादोंसे और आकाशमें फैल रहे शस्त्रास्त्रोंकी सरसराहटोंसे एवं सात घोड़ों तथा हाथियोंके हिनहिनाने और चिंघाड़नेसे व्याप्त युद्धने सबके कानोंको बहिरा बना दिया था। वह रणस्थल कहींपर भी सूराखसन्धि-सम्बन्धसे रहित पत्थरके समान जड़ हो गया था ॥ ४७ ॥

एकसौ दसवाँ सर्ग समाप्त

एकसौ ग्यारह सर्ग

[अपनी सेनाकी हार होते न होते रणभूमिके लिए निकले हुए राजा द्वारा वायव्यास्त्रोंसे चारों ओर शत्रुओंके संहारका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र, इस प्रकार प्रलयतुल्य घमासान युद्ध चल रहा था, संग्रामभूमिमें सेनाएँ हार और जीत रही थीं, तूरी, रणसिंगा और महाशङ्खोंकी ध्वनियाँ प्रतिध्वनि द्वारा आकाशमें बज रही थीं, आकाशमें तलवारें सरसराहटके साथ बोल रही थीं, वीरोंके धनुषोंकी दीर्घ टंकार ध्वनियाँ हो रही थीं, भटगण परस्पर जोर-शोरसे ताल ठोक रहे थे, निर्दयतासे कूटे (पीटे) हुए कवच जोरके कट-कट शब्द कर

किंचित्प्रभज्यमानासु विशत्कश्मासु संगरे ।
विपश्चित्पक्षसेनासु लूयमानलतास्विव ॥ ४ ॥
उदभूत्पूरयन्नाशा नृपनिर्याणदुन्दुभिः ।
चतुर्धाऽशनिसंपूर्णकल्पाभ्ररवमांसलः ॥ ५ ॥
स्फुटतां कुलशैलानां तुल्यकालमिवोत्कटः ।
स्फुचटचटास्फोटैर्जडिताखिलदिक्तटः ॥ ६ ॥
लोकपालैरिवाऽऽकारैर्नारायणभुजैरिव ।
स चतुर्भिश्चतुर्दिक्कं निर्जगाम महीपतिः ॥ ७ ॥
चतुरङ्गेण महता सैन्येन परिवारितः ।
अट्टालवलयात्कृच्छ्रान्निर्गत्य नगराद्बहिः ॥ ८ ॥
ददर्शाऽऽत्मबलं रिक्तं बलवद्रिपुमण्डलम् ।
गर्जन्तं च लयाकृत्या भीमं युद्धोद्धतार्णवम् ॥ ९ ॥
शरसीकरनीरन्ध्रं मकरव्यूहसंकुलम् ।
वारणव्यूहवलितं तरङ्गव्यूहविस्तृतम् ॥ १० ॥

रहे थे, राजा विपश्चित्की सेनाएँ कुछ हारसी रही थीं, काटी जा रही लताओंकी भाँति सेनाका बहुत बड़ा भाग मूर्छित हो रहा था, इतनेमें राजा विपश्चित्के रणभूमि-प्रयाणकी दुन्दुभि, जो वज्रयुक्त प्रलयकालीन मेघकीसी ध्वनिसे पूर्ण थी, दिशाओंको अपनी ध्वनिसे पूर्ण करती हुई बजी । उक्त दुन्दुभि-ध्वनि एक साथ टूट रहे कुल-पर्वतोंकी ध्वनिके समान प्रचण्ड थी, उसने प्रकट हो रही अपनी गड़गड़ाहटसे सकल दिक्तटोंको स्तब्ध कर दिया था । वह राजा विपश्चित् भगवान् श्रीविष्णुजीकी सदेह भुजा ऐसे चार शरीरोंसे रणभूमिके लिए चौतरफा निकला ॥ १–७ ॥

चतुरङ्गिणी महती सेनासे चारों ओर घिरे हुए राजाने अटारियोंसे परिवृत नगरसे कठिनाईके साथ निकलकर संग्राम संलग्न अपनी सेनाको खाली (बलहीन) देखा और शत्रुसेनाको बलयुक्त देखा । शत्रुसेनाका क्या कहना था, वह युद्धके लिए सन्नद्ध गरज रहा भयङ्कर चलनेवाला समुद्र ही थी, बाणरूपी जलकणोंसे खूब भरी थी, मकराकार सेनाके व्यूहोंसे पूर्ण थी, हाथियोंके झुण्डोंसे घिरी थी,* अश्वोंकी कतारोंसे विस्तारयुक्त थी ॥ ८–१० ॥

१ सागरपक्षमें मगरोंके समूहोंसे भरा हुआ । जलहस्तियोंके समूहसे भरा हुआ ।

चक्रावर्तवहद्व्यूहकल्लोलकलितान्तरम् ।
चलद्रथशतावर्तं पताकालहरीगणम् ॥ ११ ॥
प्रस्फुरच्छत्रफेनाढ्यं हयहेषितफीत्कृतम् ।
समुल्लसद्धेतिजलं कचद्धाराकरं परम् ॥ १२ ॥
तरत्तरलमातङ्गतुरङ्गौघतरङ्गकम् ।
हेत्यम्भसि कचत्पापमुघद्गुलुगुलोदरम् ॥ १३ ॥
दरीदलनसंक्षुब्धमरुज्जनितघुँघुमम् ।
नतोन्नतकृताद्रीन्द्रमहास्पन्दशरीरकम् ॥ १४ ॥
मज्जन्मातङ्गतुरगहेलाहतमहीधरम् ।
अपारविचरत्पूरकल्लोलालमहाजलम् ॥ १५ ॥
अकालकल्पान्तदशासमुत्थानघनाकृतिम् ।
आक्रान्तरोदसीरन्ध्ररुधिरैकमहार्णवम् ॥ १६ ॥
कचदायुधखण्डौघडीनरत्नावृतोदरम् ।
चलद्व्यूहचलद्वयस्तयन्त्राश्मक्षेपणाश्मकम् ॥ १७ ॥

चक्राकार आवर्तके समान बह रहे सेनाके व्यूहरूपी (रचनाभेदरूपी) ज्वारभाटोंसे व्याप्त थी, चल रहे सैकड़ों रथ ही उसमें सैकड़ों जलभ्रमियाँ थीं, पताकाएँ ही छोटी छोटी लहरें थीं, चमक रहे स्वेतछत्ररूपी फेनसे वह लबालब भरी थी, घोड़ोंका हिनहिनाना ही उसमें जलजीवोंकी फुफकार थी, हथियाररूपी जल चमचमा रहा था, विकसित हो रही बाणरूपी धाराओंकी वह उत्तम आकर (खान) थी, तैर रहे चञ्चल हाथी और घोड़ोंके झुण्ड ही उसमें तरङ्गें थीं, हथियाररूपी जलमें काले सर्पोंके ऐसे म्लेच्छ उसमें दीख पड़ रहे थे, द्राविड आदि भटोंकी बातचीतसे उसमें गुड़गुड़ शब्द हो रहा था, कन्दराओंके कटनेसे क्षुभित हुए वायुसे उसमें घुम् घुम् शब्द हो रहा था, ऊँचे नीचे हाथी उसके विशाल कलेवरमें पर्वतोंके डूबने-उतरनेसे होनेवाली महा हलचल पैदाकर रहे थे, डूब रहे हाथी घोड़े ही उसमें अनायास मारे गये (पक्ष काटनेसे पंगु बनाये गये) पर्वत थे। असीम चारों ओर फैला हुआ सेनासमूह ही उसकी कल्लोलोंसे (महातरङ्गोंसे) अलङ्कृत अपार जलराशि थी ॥ ११–१५ ॥

अकालमें (अनवसरमें) महाप्रलयके आविर्भावके सदृश उसका आकार अत्यन्त घना था, खूनके महासागरने पृथिवी और अन्तरिक्षके मध्यवर्ती अवकाशको ढक दिया था, देदीप्यमान शस्त्रास्त्रोंके खण्डोंकी राशिरूपी उछल रहे रत्नोंसे उसका मध्यभाग

रक्तसीकरनीहारसंध्याभ्रपटलानतम् ।
क्वचित्पांसुपयोवाहपीतहेतिपयोधरम् ॥ १८ ॥
तमालोक्य रणाम्भोधिमगस्त्योऽस्य भवाम्यहम् ।
इति संचिन्त्य मनसा स पातुं तं रणार्णवम् ॥ १९ ॥
अस्त्रं सस्मार वायव्यं चतुर्दिकं च संदधे ।
धनुषि शिखराधारे त्रिपुरान्त इवोद्यतः ॥ २० ॥
आत्मीयदेशसैन्यानां श्रेयोर्थं शान्तयेऽनलम् ।
नमस्कृत्याऽथ जप्त्वाऽऽशु स तत्तत्याज दारुणम् ॥ २१ ॥
यथा तथैव तत्याज तस्य साहायकाय सः ।
पर्जन्यास्त्रं महास्त्रेशं द्विषदातपशान्तये ॥ २२ ॥
तस्मादस्त्रजुषो घोराद्धनुषः परिनिर्गताः ।
अष्टमूर्तेश्चतुर्दिकमाशाकुहरपूरकाः ॥ २३ ॥
निर्ययुर्बाणसरितस्त्रिशूलसरितस्तथा ।
शक्तीनामुग्रसरितो भुशुण्डीसरितस्तथा ॥ २४ ॥

पटा था, चल रही सेनाओंमें चल रहे क्षेपणी यन्त्रके (गुलेलके) पत्थर व्यस्त थे। रक्तके छोटे छोटेकण और कुहरेरूपी सन्ध्याकालके मेघसे युक्त थी, कहींपर धूलिरूपी मेघसे अस्त्रशस्त्ररूपी जलका सागर पी डाला गया था ॥ १६-१८ ॥

उक्तसंग्रामसागरको देखकर मैं इसका अगस्त्य (अगस्त्यने जिस प्रकार सागरको पी लिया था वैसे ही इसे पी डालूं) ऐसा मनमें विचार कर उसने संग्राम सागरको पीनेके लिए वायव्य अस्त्रका स्मरण किया और जैसे मेरुरूप धनुषमें त्रिपुरासुरके वधके लिए उद्यत हुए शिवजीने अस्त्रका सन्धान किया था वैसे ही चारों ओर उसने उसका सन्धान किया ॥ १९-२० ॥

राजाने अपने देशके सैनिकोंके हितके लिए शत्रुवधार्थ अग्निदेवको नमस्कार कर और जप कर शीघ्र जैसे उस भीषण अस्त्रको छोड़ा, वैसे ही उसकी सहायताके लिए महान् अस्त्रश्रेष्ठ पर्जन्यास्त्रको शत्रुरूपी आतपकी शान्तिके लिए छोड़ा ॥ २१, २२ ॥

चारों ओर वायव्यास्त्र और पर्जन्याशास्त्रसे युक्त अतएव अष्टमूर्ति उस भीषण धनुषसे दिशाओंके अवकाशको पाट देनेवाली बाणोंकी नदियाँ, त्रिशूलोंकी नदियाँ, शक्तियोंकी विकट नदियाँ, बन्दूकोंकी नदियाँ, मुद्गरोंकी नदियाँ, भालोंकी नदियाँ, चक्रोंकी नदियाँ, कुल्हाड़ोंकी नदियाँ, तोमरोंकी नदियाँ भिन्दिपालो (तोपों) को

मुद्गराणां च सरितः प्रासानां सरितो रयात् ।
चक्राणां चैव सरितः परश्वधनदीरयाः ॥ २५ ॥
तोमराणां च सरितो भिन्दिपालमहापगाः ।
पाषाणानां च सरितो वाताः कल्पान्तशंसिनः ॥ २६ ॥
अशनीनां च सरितो विद्युतां सरितस्तथा ।
जलधारासरित्पूराः खड्गवर्षसमन्विताः ॥ २७ ॥
सनाराचा महावर्षहर्षलोत्पातपीवराः ।
नागाश्च युगपर्यन्तस्फुटिताद्रीन्द्रजा इव ॥ २८ ॥
तेनाऽस्त्रवर्षवेगेन धुतः सोऽरिबलार्णवः ।
झटित्येव न कालेन पांसुराशिरिवाऽभितः ॥ २९ ॥
सलिलाशनिशस्त्राणामासारैश्चण्डमारुतैः ।
सरांसीव विसेतूनि सैन्यानि परिदुद्रुवुः ॥ ३० ॥
चतुरङ्गश्चतुर्दिक्कं बलौघः स पराङ्मुखः ।
ययौ प्रावृड्गिरिणदीमहावाह इव द्रुतः ॥ ३१ ॥

नदियाँ, पत्थरोंकी नदियाँ, वज्रोंकी नदियाँ और बिजलियोंकी नदियाँ बह निकलीं। कल्पान्तके (प्रलयके) सूचक प्रचण्ड वायु बहने लगे। जलधाराकी नदियोंके प्रवाह तलवारोंकी वृष्टिके साथ बह निकले। युगोंके अवसानमें टूट फूटकर धराशयी हुए कुलपर्वतोंसे निकले हुए, प्रचण्ड वायुसे बढ़े हुए, उत्पातोंके समान मोटे ताजे साँप बाणोंके साथ बह निकले ॥ २३–२८ ॥

उस शस्त्रास्त्रवृष्टिके वेगसे वह पूर्वोक्त विशाल शत्रु-सेना-सागर शीघ्र ही धूलके ढेरकी भाँति चारों ओर उड़ा दिया गया। उसमें कुछ भी समय नहीं लगा ॥२९॥

जल, वज्र और शस्त्रास्त्रोंकी वेगवती वृष्टि तथा प्रचण्ड आँधीसे शत्रुसेना बाँधरहित तालाबके जलकी भाँति चारों ओर भाग खड़ी हुई। वह चतुरङ्गिणी सेना युद्धसे विमुख होकर वर्षाकालकी पर्वतनदीके महाप्रवाहके तुल्य भागती हुई चारों दिशाओंको चली गई ॥ ३०,३१ ॥

सेनामें पर्वतनदीकी समताका उपपादन करते हुए भाग रही सेनाका वर्णन करते हैं—'वहत्' इत्यादिसे ।

वहत्स्विन्नबृहच्छिन्नपताकाकेतुपादपः ।
मरीचिपुष्पशबलविलोलासिलतावनः ॥ ३२ ॥
विलुठत्पुष्टपाषाणपृषद्रक्तद्रवावचः ।
घोरैर्घुरघुरारावैरलं हृदयभङ्गदः ॥ ३३ ॥
उह्यमानबृहद्दन्तिदन्तद्रुमविघट्टनैः ।
स्फूर्जच्चटचटारावतर्जितोद्गर्जिताम्बुदः ॥ ३४ ॥
हेतिवृत्तोग्रसंघट्टपुष्पजातझणज्झणः ।
तरत्तरलसारावतुरङ्गमतरङ्गकः ॥ ३५ ॥
रथादिभटचक्रौघशिलाक्रेंकारपीवरः ।
पदातिरथहस्त्यश्वशिलासंघट्टसंकटः ॥ ३६ ॥
कटुचंकारचीत्कारक्रेंकारपरिपीवरः ।
मृता मृता वयमिति घनकोलाहलाकुलः ॥ ३७ ॥
सेनावारिमहावर्तचलद्गुलुगुलारवः ।
रक्तसीकरनीहारसन्ध्याम्बुदवितानकः ॥ ३८ ॥

वायुके प्रवाहमें बह रहे पसीनेसे तर कटे हुए बड़े बड़े पताका-दण्ड ही उस गिरिनदीरूप सेनामें वृक्ष थे, किरणरूपी फूलोंसे चितकबरे (मिश्रित) चञ्चल खड्ग ही लताओंके समूह थे, दौड़नेकी शक्ति न होनेसे लड़खड़ा रहे, मोटे ताजे पुरुषरूपी पत्थरोंके बिन्दुरूपी खूनके पनालेसे वह अवर्णनीय थी, भयंकर घुर-घुर शब्दोंसे वह कायरोंके हृदयको टुकड़े टुकड़े करनेवाली (डरावनी) थी, बह रहे महागजोंके दाँत-रूपी वृक्षोंके परस्पर टकरानेसे प्रकट हो रहे कट-कट शब्दसे गरज रहे मेघोंको मात कर रही थी, हथियारोंसे पत्थरोंकी तेज टक्कर ही उसमें नदीके किनारेके पुष्पवृक्षपर हुआ भँवरोंका झंकार था, तैर रहे चञ्चल तथा चिल्ला रहे घोड़े ही उसकी तरङ्गें थीं। रथादिके तथा भटवृन्दके पत्थरोंसे टकरानेपर हुए आर्तस्वररूपी मेढक तथा पक्षियोंके शब्दसे युक्त थी, पैदल सेना, रथ, हाथी और अश्वरूपी पाषाणोंके परस्पर टकरानेसे वह संकुल थी, कर्णकटु टंकार, चीत्कार, क्रेंकारसे पुष्ट थी, हम मरे हम मरे इस प्रकारके जनकोलाहलसे भरी थी, सेनारूपी जलके बड़े-बड़े आवर्तोंमें गुड़-गुड़ ध्वनि हो रही थी, रक्तके कण तथा कुहरारूपी सन्ध्याकालका मेघ उसका चँदवा था ॥ ३२—३८ ॥

हेतिवीचिवटाच्छिन्नवारिवामनवारिदः ।
वर्षपङ्किलभूपीठतटखण्डनमण्डितः ॥ ३९ ॥
कुन्तशूलगदाप्रासवहत्तलतलाद्भुतः ।
साक्रन्दभीरुजनताप्रतपन्मृगपोतकः ॥ ४० ॥
मृतहस्त्यश्वयोधौघजीर्णपर्णनिरन्तरः ।
पिष्टदेहवसामांसपङ्कसंजातकर्दमः ॥ ४१ ॥
चूर्णीकृतखुरापिष्टमहास्थिघनसैकतः ।
उह्यमानशिलापूरकाष्ठकोटिकटङ्कटः ॥ ४२ ॥
उद्गर्जत्प्रलयाम्भोदैर्वहत्प्रलयवायुभिः ।
प्रपतत्प्रलयासारैः प्रलयाशनिसंकटैः ॥ ४३ ॥
पङ्किलाखिलभूपीठैः सलिलोपप्लुतस्थलैः ।
सितशैत्यवशश्यानधाराकृतखपञ्जरैः ॥ ४४ ॥
समग्रनगरग्रामगृहज्वलितवह्निभिः ।
प्रजाश्वेभपदातीनामाक्रन्देनाऽपि घर्घरैः ॥ ४५ ॥

शस्त्रास्त्ररूपी लहरोंसे वटवृक्षोंके समान काटे गये मेघ जलसे नम्र हुए थे। वर्षासे पङ्कयुक्त हुए भूप्रदेशके तटको तोड़नेसे वह विशेष शोभित थी ॥ ३९ ॥

मार्ग बनानेके लिए भाले, त्रिशूल, गदा, वल्लोंको धारण करनेवाले भाग रहे भटोंसे बह रहे तालवनके समान अद्भुत थी, रो धो रहे कातर लोग ही उसमें गिर रहे मृगछौने थे ॥ ४० ॥

मरे हुए हाथी, घोड़े और भटोंके समूहरूपी जीर्णशीर्ण पत्तोंसे वह आच्छन्न थी, पीसे गये शरीरोंके बसा और मांसके कीचड़से उसमें चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ हो गया था, चूर चूर की हुई हड्डियाँ ही उसमें कुछ स्थूल बालूवाले तट थे और खुरोंसे खूब पीसी गई महा हड्डियाँ ही उसमें महीन बालूवाले तटप्रदेश थे। उसमें बह रहे पत्थरसमूहों तथा लकड़ियोंकी चोटियोंके आपसमें टकरानेसे कटकट शब्द होता था ॥ ४१, ४२ ॥

गरज रहे प्रलयकालके मेघोंसे, बह रहे प्रलयकालके प्रचण्ड वायुओंसे, गिर रही प्रलयकालीन मूसलाधार वृष्टिसे, प्रलयकालके वज्रपातरूपी संकटोंसे, पङ्कमय सकल भूतलोंसे, जलसे उपद्रवपूर्ण स्थलोंसे, तेज शीतसे जम गई वर्षाधारोंके आकारके आकाशमें बने पिंजड़ोंसे, समस्त नगर, गाँव और घरोंको जलाकर राख कर चुकी अग्नियोंसे,

रथाम्भोधरनिर्ह्रादैर्दिवि भूमौ घनारवैः ।
चतुर्दिक्कं घनं तारक्रेंकारस्य चतुष्टयैः ॥ ४६ ॥
विद्युद्वलयविस्तारकारिसंघट्टघर्षणैः ।
शरशक्तिगदाप्रासभिन्दिपालादिवर्षणैः ॥ ४७ ॥
सर्वदिक्कमसंख्यानि बलानि बलशालिनाम् ।
भूभृतां विद्रवन्त्याशु विनेशुर्मशकौघवत् ॥ ४८ ॥

उद्दामपावकवनोपमहेतिसार्थ-
मेघानलाकुलजनाशनिवर्षपातैः ।
आसन्बलानि चपलाब्धिजलाबलानि
पर्याकुलानि वडवाग्निमिवाऽऽविशन्ति ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे वि० चतुर्दिग्गतबलद्रवणं नामैकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

प्रजा, घोड़े, हाथी और पैदल सेनाओंके रोदनसे, आकाश और भूमिमें हो रहे तीक्ष्ण ध्वनिवाले रथ और मेघों के घर घर शब्दोंसे, चारों ओर विपश्चित्के धनुषके चार तेज क्रेंकारोंसे, बिजलीरूपी कंकणका विस्तार करनेवाले मेघोंके परस्पर टकराने और रगड़ खानेसे, बाणों, शक्तियों, मुद्गरों, बल्लमों, भालों और बन्दूकोंकी वर्षाओंसे चारों ओर बलशाली राजाओंके असंख्य सैनिक भागते हुए मच्छरोंके समूहकी भाँति शीघ्र नष्ट हो गये । सीमान्तके राजाओंकी सेनाएँ तीक्ष्ण वह्निराशिके सदृश शस्त्रास्त्रसमूहरूपी मेघोंकी आगसे लोगोंको घबड़ाहटमें डाल देनेवाले वज्रपातोंसे व्याकुल होकर चञ्चल सागरजलमें उबाले जा रहे जलचरोंकी नाईं बाडवाग्निमें प्रवेश कर रही थीं ॥४६-४९॥

एकसौ ग्यारह सर्ग समाप्त

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

लोकहाराम्बरव्यालं चेदिचन्दनकाननम् ।
छिन्नं परशुधाराभिः पतितं दक्षिणार्णवे ॥ १ ॥
पर्णवत्प्रोह्य पूरेण पारसीकाः परस्परम् ।
प्रहरन्तो विमोहेन विनष्टा वञ्जुलावने ॥ २ ॥
दर्दुराद्रौ दुरन्तेषु दरदीर्णहृदन्तराः ।
दरीरन्ध्रेषु संलीना दरदा दानवा इव ॥ ३ ॥
चतुरायुधधाराग्रचूर्णनीहारधारिणः ।
विद्युद्वलयिनो वाता वेल्लितायुधवारिदाः ॥ ४ ॥
दन्तिनोऽन्योन्यमाभग्नदन्तदेहौघपीडिताः ।
मृत्यूदरोम्भकग्रासपिण्डपिण्डा इवाऽभवन् ॥ ५ ॥

एकसौ बारह सर्ग

[जीवन लेकर भाग रहे जिस जिस देशके पैदल भट जहां जहां जिस प्रकार विनष्ट हुए उसका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स, चेदिरूपी चन्दनोंका वन, जहाँ मोतियोंके हार, वस्त्र और साँप दर्शनीय होते हैं, कुल्हाड़ियोंकी धाराओंसे कटकर दक्षिण सागरमें गिर गया ॥ १ ॥

पारसदेशके भट अस्त्रप्रवाहसे पत्तोंकी भाँति बहाये जाते हुए मोहवश आपसमें प्रहारकर वञ्जुलावनमें विनष्ट हो गये ॥ २ ॥

दरददेशके भट दर्दुर पर्वतपर आरपार रहित (असीम) गुफाओंके बिलोंमें भयसे विदीर्णहृदय होकर दानवोंकी भाँति विलीन हो गये ॥ ३ ॥

बाण, बल्लम, तलवार और कुल्हाड़ारूपी चार शस्त्रास्त्रोंकी धाराके अग्रभागसे हुए पत्थर, कवच आदिके चूर्णरूपी बर्फको धारण करनेवाले बिजलियोंसे आवेष्टित वारुणास्त्रसे उत्पन्न हुए मेघ चले ॥ ४ ॥

आपसके आघातोंसे भग्नदन्त (जिनके दांत टूट गये थे) देहोंमें रुधिर-राशिसे लथपथ पीड़ाक्रान्त हाथी मृत्युके पेटको पूर्ति करनेवाले ग्रासके बराबरके पिण्ड ऐसे हुए ॥ ५ ॥

तङ्गा रैवतिका रात्रौ रौद्रतोमरताडिताः ।
रूपिकाभिः पिशाचीभिर्भुक्ता भागीकृताङ्गकाः ॥ ६ ॥
तालीतमालगहने दशार्णजीर्णजङ्गले ।
गले पादं निधायाऽन्तः कृत्ताः सिंहैर्गतासवः ॥ ७ ॥
पश्चिमार्णवतीरस्था नालिकेरधरावनौ ।
यवना विगतप्राणा निगीर्णा मकरोत्करैः ॥ ८ ॥
नाराचनिकरं नीलं निमेषं नाऽसहञ्छकाः ।
रमठा नलिनीषण्डा इव ताण्डवितासवः ॥ ९ ॥
श्रवणाभोगशृङ्गाग्रो महेन्द्रोऽद्रिर्दिवि व्रजैः ।
विद्रुतैर्वलितो नीलैर्जालैर्जलमुचामिव ॥ १० ॥
चामीकरवराकारा भग्ना तङ्गणवाहिनी ।
मृता हृताम्बरा चोरैर्भुक्तैकान्ते निशाचरैः ॥ ११ ॥
द्यौरिवर्क्षभरैरासीत्तदासारं भुवस्तलम् ।
विवर्तमानैरभितः कचद्भिर्ज्वलनायुधैः ॥ १२ ॥

भीषण तोमरोंसे पीटे गये दरद देशके ही कोई भट रात्रिमें अपने रूपसे पुरुषोंको वञ्चित करनेवाली पिशाचियों द्वारा उपभुक्त हुए और फिर उन्होंने उनके अङ्ग आपसमें बांट लिये, यों बेचारे रैवतकपर्वतमें विलीन हो गये ॥ ६ ॥

दशार्णदेशके भट ताल और तमालसे घने पुराने जंगलमें सिंहों द्वारा गलेमें पैर डालकर हृदय चीरकर मार डाले गये ॥ ७ ॥

पश्चिमसागरके तटवर्ती देशोंके यवनभट वेलाभूमिमें मगरोंके झुण्डोंसे निगल लिये जानेके कारण मर गये ॥ ८ ॥

शक लोग लोहमय बाणराशिको क्षण भर भी सहन न कर सके एवं रमठों-के प्राण कमलिनीसमूहकी भाँति मारे भयके कांप उठे ॥ ९ ॥

श्रवण नक्षत्रके संस्थानके (शरीर गठनके) समान तीन शिखराग्रोंसे युक्त महेन्द्र पर्वत स्वर्गमें जा रहे भटोंसे परिवृत होकर मेघोंसे परिवृत-सा हो गया ॥ १० ॥

तङ्गणभटोंकी सेना, जिसका आकार सुन्दरसुवर्णके सदृश था, चोरों द्वारा वस्त्रादिलुण्ठनपूर्वक छिन्न-भिन्न की गई, फिर निशाचरों द्वारा एकान्तमें चट कर दी गई थी, यों मटियामेट हो गई ॥ ११ ॥

तङ्गणसेनाके भक्षणके समय वहाँका भूमितल चारों ओर घूम रहे उत्सुक

धाराधरधरारन्ध्रप्रतिश्रुद्घनघुंघुमा ।
जगद्गेहगुहासीद्द्यौर्घनं गातुमिवोद्यता ॥ १३ ॥
द्विपान्तरजनाश्चक्रैर्जर्जरा जीवितं जहुः ।
मीनजङ्गलजम्बाले जीर्णमत्स्या इवाऽजले ॥ १४ ॥
यावद्द्वीपा जिताः कुक्षौ सह्याद्रौ सममूर्तयः ।
आश्वस्य दिवसान्सप्त ययुरायासमन्थरम् ॥ १५ ॥
गन्धमादनपुन्नागवनगुञ्जेषु पुञ्जिताः ।
विद्याधरकुमारीभिर्गान्धाराः परिरक्षिताः ॥ १६ ॥
हूणचीनकिरातानां मुक्तैस्तैश्चक्रवर्षणैः ।
कमलानीव लूनानि शिरांस्यभिमुखानिलैः ॥ १७ ॥
निलीपा नलिनीनाले कण्टका इव निश्चलाः ।
द्रुमेद्रुमे द्रुममया भयात्त्वस्याऽवसंश्चिरम् ॥ १८ ॥

(लुआठी) लिये हुए अतएव चमक रहे निशाचरोंसे नक्षत्र-मण्डलसे आकाशकी नाईं शोभित हुआ ॥ १२ ॥

उक्त विपश्चित्की विजय होनेपर जगद्रूपी गृहगुहावाला अन्तरिक्ष लोक मेघोंके पृथिवी-बिलोंमें गर्जनकी प्रतिध्वनिसे गम्भीर घुम्-घुम् ध्वनियुक्त (विपुल मृदङ्गध्वनि युक्त) होकर मानो उसका प्रचुर यश गानेके लिए उद्यत हुआ ॥ १३ ॥

मछलियोंके विहाररूप शिवारके छोटेसे तालाबके भाग्यवश सूख जानेपर (जल-शून्य होनेपर) बड़ी बड़ी मछलियोंके तुल्य अशरण होकर खड्गोंसे जर्जर हुए अन्यान्य द्वीपोंके भटोंने अपने प्राणोंका परत्याग किया ॥ १४ ॥

जीते हुए सकल द्वीपोंके भट सह्याद्रिमें छिपकर सात दिन तक विश्रामकर चिकित्सा आदि द्वारा घावोंके पूरे होनेसे स्वस्थ होकर बाणवृष्टियोंसे क्लेशित होते हुए कठिनाईके साथ धीरे धीरे अपने देशोंको चले गये ॥ १५ ॥

मारे भयके गन्धमादन पर्वतके पुंनाग वृक्षोंके झुरमुटमें इकट्ठे हुए गान्धार देशके भटोंकी विद्याधरकुमारियोंने रक्षा की ॥ १६ ॥

हूण, चीन और किरातोंके सिर विपश्चित्से छोड़े गये मुँहमें आगसे युक्त वेगवान् चक्रोंसे कमलोंकी तरह काटे गये ॥ १७ ॥

निलीप नामक देशके भट कमलनालमें उगे हुए निश्चल काँटोंके समान

चारुसारङ्गरङ्गासु शैलकाननभूमिषु ।
चतुर्दिकं तदापातैः संपन्नं क्षोभणं घनम् ॥ १९ ॥
कण्टकस्थलनामानः कण्टकस्थलकर्कशाः ।
कण्टकस्थलगा आसन्कण्टकस्थलमण्डले ॥ २० ॥
पारसीकाः परं पूरैः पारं प्राप्य पयोनिधेः ।
निपेतुः पवनैः पूताः प्रलये तारका इव ॥ २१ ॥
ववुरम्भोधिकुट्टाका दृषदां कटकाङ्किताः ।
सर्वदिग्वनलुण्टाका वाताः प्रलयशङ्किताः ॥ २२ ॥
आसारसाराः पङ्काम्बुस्रुताः सघनघुंघुमाः ।
आसन्दशदिशोऽदृश्या बहुक्षुब्धायुधानिलैः ॥ २३ ॥
निर्ह्रादकारिभिर्वातैर्वहच्छपछपारवम् ।
प्रसस्रुर्भुवि नीहारा महार्णवरया इव ॥ २४ ॥

विपश्चितके भयके मारे प्रत्येक वृक्षमें वृक्षमयसे निश्चल हो चिर कालतक निवास करते रहे ॥ १८ ॥

मृगों और पक्षियोंके विहारके लिये सुन्दर रङ्गभूमिरूप पर्वत और वनभूमियोंमें विपश्चित्के आगमनोंसे या शस्त्रास्त्रोंके संपातोंसे चारों ओर अत्यन्त घबड़ाहट फैल गई ॥ १९ ॥

करञ्जवनके समान कठोर कण्टक-स्थलनामक भट दस्युओंके देशमें करञ्ज आदिके वनोंमें छिप गये ॥ २० ॥

पारसी भट समुद्रके तरङ्गवेगसे परली पार पहुँचकर, वायुसे पाक होकर प्रलय-कालमें तारोंके समान गिर पड़े ॥ २१ ॥

समुद्रको तरङ्गोंके आन्दोलनों द्वारा कूटनेवाले, पत्थरोंकी मारसे पर्वतशिखरोंपर चिह्न करनेवाले, सब दिशाओंके वनोंको झकझोरकर विनष्ट करनेवाले तथा प्रलयकी आशङ्का पैदा करनेवाले प्रचण्ड पवन बहने लगे ॥ २२ ॥

दशों दिशाएँ अत्यन्त क्षुब्ध हुए शस्त्रास्त्रों और वायुओं द्वारा मूसलाधार वृष्टिसे सम्पन्न होकर कीचड़ और जलसे सराबोर, गंभीर घुम् घुम् शब्द युक्त तथा अदृश्य हो गई ॥ २३ ॥

सायँ सायँ शब्द करनेवाले वायुओंसे महासागरके प्रवाहसे बरफ छप-छप शब्दके साथ पृथिवीपर गिरने लगा ॥ २४ ॥

विदूरस्था रथेभ्यश्च वीचिचीत्कारकारिणः ।
सरोम्भस्यनिलैः पेतुः पद्मेभ्य इव षट्पदाः ॥ २५ ॥
आयुधौघेऽपि चक्रौघात्पादातं बलमाविलम् ।
रजोराशिरिवाऽऽसारे न समर्थं पलायने ॥ २६ ॥
हूणा आमस्तकं मग्ना उत्तरार्णवसैकते ।
क्लिन्नास्तत्रैव पङ्कान्तः पूरणाविलशूलवत् ॥ २७ ॥
तीरैलावनलेखासु शकाः पूर्वपयोनिधेः ।
नीता बद्ध्वा दिनं मुक्ता न गता यमसादनम् ॥ २८ ॥
मन्दं मन्द्रा महेन्द्राद्रौ क्रन्दन्तः पतिता दिवः ।
आश्वासिता मुनिवरैर्निजाश्रममृगा इव ॥ २९ ॥
प्रविष्टा याचनं सह्ये लब्धाः सुरबिलाद् द्वयम् ।
अनर्थेनाऽर्थ आयाति काकतालीयतः क्वचित् ॥ ३० ॥

वायुसे उड़ाये जा रहे विदूरदेशके रथिक लहरोंका-सा चीत्कार करते हुए कमलोंसे भ्रमरोंकी तरह रथोंसे तालाबके जलमें गिर गये ॥ २५ ॥

उनकी पैदल सेना तो पासमें शस्त्रास्त्रराशिके रहते भी विपश्चित्की चक्रराशिसे आँखके अश्रुओंसे भर जानेके कारण, मूसलाधार वृष्टि होनेपर धूलराशिके समान, भागनेमें समर्थ नहीं हुई ॥ २६ ॥

हूणदेशके भट उत्तर सागरके रेतीले तटपर सिर तक डूबकर भूमिमें गाड़नेके कारण मटमैला हुआ लोहेका शूल जैसे मोरचेसे युक्त होनेसे क्लेदयुक्त हो जाता है वैसेही क्लेद युक्त हो गये अर्थात् सड़ गये ॥ २७ ॥

शकभटोंको पूर्वसागरकी तटभूमिकी एला (इलायची) वन श्रेणियोंमें पहुँचाकर विपश्चितने उन्हें एक दिन तक बाँधकर छोड़ दिया, अतएव वे यमलोक नहीं गये, नहीं मरे ॥ २८ ॥

मन्द्रदेशके भट धीरे धीरे सिसकते सिसकते द्युलोकके समान ऊँची पर्वतकी चोटीसे महेन्द्र पर्वतपर गिरे और अपने आश्रमके मृगोंकी भाँति मुनिवरोंने खान, पान, स्थान आदि प्रदान द्वारा उन्हें आश्वासन दिया ॥ २९ ॥

जो भट सह्याद्रिमें प्रविष्ट हुए थे, वे तो मूकाम्बिकाके समीप कुटजाद्य नामक सह्याद्रिशिखरके देवबिलमें भाग्यवश प्रविष्ट हुए, उक्त बिलसे उन्हें ऐहिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं । कभी कभी भाग्योदयकालमें अचानक अनर्थसे भी

पतिता दर्दुरारण्ये दशार्णा जीर्णपर्णवत् ।
भुक्त्वा विषफलान्यज्ञा मृतास्तत्रैव ते स्वयम् ॥ ३१ ॥
विशल्यकरणीं भुक्त्वा काकतालीययोगतः ।
हिमाद्रौ हैहया याता गृहं विद्याधरा इव ॥ ३२ ॥
पृष्ठनृम्लानकुसुमा धनुर्भिर्गृहमागताः ।
वङ्गा नाऽद्याऽपि दृश्यन्ते पिशाचत्वमिवाऽऽगताः ॥ ३३ ॥
अङ्गा वनफलैर्भुक्तैर्विद्याधरपदप्रदैः ।
विद्याधरीभिः क्रीडन्ति दिवि विद्याधराः स्थिताः ॥ ३४ ॥
तालीतमालखण्डेषु पतिताः पातिताङ्गकाः ।
पारसीका गता मोहं भ्रमाद्वैमानिका इव ॥ ३५ ॥
तरलासारमातङ्गं पतितं तङ्गणाङ्गणे ।
अङ्गैरङ्ग कलिङ्गानां चतुरङ्गं बलं हतम् ॥ ३६ ॥

अर्थ (पुरुषार्थ) हस्तगत हो जाता है, कारण कि मरनेके लिए वे सुरबिलमें घुसे थे, किन्तु उन्हें सिद्धियाँ मिल गईं ॥ ३० ॥

दाशार्ण देशके भट पुराने पत्तेके समान दर्दुरारण्यमें पहुँचे । वे मूर्ख विषफल खाकर वहींपर अपने-आप मर गये ॥ ३१ ॥

हैहयदेशके भट हिमालयमें काकतालीयन्यायसे विशल्यकरणी औषधिको खाकर विद्याधरोंकी भाँति आकाशचारी होकर अपने घर चले गये ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार बंगके भट भी हिमालयकी औषधियाँ खाकर मनुष्योंकी नाईं म्लान (कुम्हलाए) शेखर पुष्पोंसे युक्त हो बाणोंके चुक जानेसे केवल धनुषोंसे युक्त हो अपने-अपने घर आये, मारे भयके आज भी बाहर न निकलने कारण पिशाचताको प्राप्त हुए जैसे दिखाई नहीं पड़ते ॥ ३३ ॥

अङ्ग देशके भट विद्याधरोंका पद प्रदान करनेवाले वनफलोंके भक्षणसे स्वर्गमें विद्याधर होकर वहां विद्याधरियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं ॥ ३ ॥

पारसी भट ताल और तमालके समूहोंमें प्रविष्ट हुए, प्रविष्ट होते ही शत्रुओंने उनके अङ्ग-अङ्ग काट डाले, अतएव बेचारे मूर्च्छाको प्राप्त हो गये । वहांपर भ्रान्तिवश विमानचारी ऐसे हो गये ॥ ३५ ॥

हे वत्स, कलिङ्गोंकी चञ्चल और निस्सार हाथियोंसे युक्त चतुरङ्ग सेना अङ्ग-देशवासी भटोंसे घायल होकर तङ्गण देशमें पहुँची ॥ ३६ ॥

क्रमत्यरिबले साल्वाः शरशैलोदकोदरे ।
पतिताः प्रभुणा सार्धमद्याऽप्येवोपलाः स्थिताः ॥ ३७ ॥

असंख्याः प्रपलायन्तः ककुभं ककुभं प्रति ।
नराः सरत्तरङ्गेषु सागरेषु लयं गताः ॥ ३८ ॥

क्षेत्राटवीपुरजलस्थलशैलकूल-
कुल्याग्रहारसरिदब्धिभृगुद्रुमेषु ।
ग्रामारपट्टिगिरिकूपगुहागृहेषु
भ्रष्टानि कः कलयितुं कुबलानि शक्तः ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० बलपरिभ्रंशो नाम
द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

साल्वदेशके भट बाण, पत्थर और जलसे युक्त शत्रुसेनाके आक्रमण करनेपर अपने प्रभुके साथ धराशायी हो गये, वे आज भी उस देशके ग्रामदेवतारूप प्रतिमा बनकर स्थित हैं ॥ ३७ ॥

प्रत्येक दिशाकी ओर भाग रहे असंख्य भट तरङ्गोंसे व्याप्त सागरोंमें लीन हो गये ॥ ३८ ॥

केवल सागरोंमें ही लीन नहीं हुए किन्तु खेतोंमें, जंगलोंमें, नगरोंमें, जलोंमें स्थलोंमें, पहाड़ोंमें, नदी और समुद्रोंके तटोंमें, नहरोंमें, ब्राह्मणोंको दिये गये माफी ग्रामोंमें, नदियोंमें, समुद्रोंमें, भृगुओंमें, वृक्षोंमें, कसबोंमें, खुश्क जगहोंमें, पर्वतोंमें, कुओंमें, गुहाओंमें, गृहोंमें विनष्ट हुए भगोड़े सैनिकोंको बचानेमें कौन समर्थ था ॥ ३९ ॥

एक सौ बारह सर्ग समाप्त

—:०:—

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

बलान्यनुतरन्तोऽथ तदित्थं द्रवतां द्विषाम् ।
दूराद्दूरतरं प्राप्ताश्चत्वारस्ते विपश्चितः ॥ १ ॥
सर्वशक्तिमयैकेन चेतनेनेश्वरेण ते ।
प्रहिता दिग्जयं चक्रुः सर्व एव समाशयाः ॥ २ ॥
दूरात्तावदविच्छिन्नमनुसस्रुर्बलानि ते ।
यावत्तीरं समुद्राणां प्रवाहाः सरितामिव ॥ ३ ॥
दूराविश्रान्तयानेन तेषां तत्सर्वसाधनम् ।
आत्मीयं परकीयं च क्षीणं कुसरिदम्बुवत् ॥ ४ ॥
आत्मीयान्यन्यदीयानि तेषां वीक्ष्य बलान्यलम् ।
क्षीणानीव मुमुक्षूणां पुण्यपापानि धावताम् ॥ ५ ॥
स्वयमस्त्राणि शान्तानि कृतकृत्यान्यथाऽम्बरे ।
ज्वालाजालानि वह्नीनां दाह्यस्याऽसंभवादिव ॥ ६ ॥

एक सौ तेरह सर्ग

[शत्रुओंके विनाशसे विजयके साधनभूत शस्त्रास्त्रोंके विनाश तथा समुद्रोंके वैभवका विस्तारसे वर्णन]

तदनन्तर इस प्रकार भाग रहे शत्रुओंकी सेनाका पीछा कर रहे वे चार विपश्चित् अत्यन्त दूर चले गये। सर्वशक्तिशाली सब देहोंमें स्थित एक चेतन ईश्वरसे दिग्विजय करनेके लिए प्रेरित, तुल्य अभिप्रायवाले उन सबोंने दिग्विजय किया ॥ १, २ ॥

नदियोंके प्रवाहोंकी नाईं उन्होंने दूरसे अपनी सेनाओंका निरन्तर शत्रु-सेनासे सम्पर्क रखते हुए समुद्रके तट तक अनुसरण किया। दूर तक बिना विश्राम लिए चलनेसे विपश्चित्के सैनिकोंके वे जीवननिर्वाह और युद्ध आदिके साधन प्रतिदिनके व्ययसे छोटी-छोटी नदियोंके जलकी भाँति क्षीण हो गये ॥ ३, ४ ॥

दौड़ रहे विपक्षियोंकी, अपनी और दूसरोंकी दर्शनीय सेनाएँ मुमुक्षु जनोंके पुण्य-पापोंकी तरह पूर्णरूपसे मटियामेट हो गईं ॥५॥

इसके उपरान्त जैसे अग्निकी ज्वालाएँ दाह्य वस्तुओंके (लकड़ी आदिके)

आलयेषु रथाश्वेभवृक्षौघादिषु हेतयः ।
आसन्निद्रालवो लीना दिनान्ते विहगा इव ॥ ७ ॥
तरङ्गा इव तोयेऽन्तर्नीहारा इव वारिदे ।
मेघा वायाविवाऽऽमोदा व्योमनीव निलिल्यिरे ॥ ८ ॥
धारापङ्कतलालीनशान्तहेतिजलेचरः ।
नाराचसीकरासारनीहारपरिवर्जितः ॥ ९ ॥
चक्रावर्तशतोन्मुक्तो युक्तः सौम्यतयाऽच्छया ।
प्रशान्तमेघसंरम्भतरङ्गोत्तुङ्गवर्षणः ॥ १० ॥
अन्तर्लीनर्क्षरत्नौघकोणसंस्थार्कवाडवः ।
शून्यतावारिरमलो व्योमैकाब्धिरभूत्पृथुः ॥ ११ ॥
लम्बप्रकाशगम्भीरं प्रसन्नं कान्तिमत्ततम् ।
रजोविरहितं रेजे खं मनो महतामिव ॥ १२ ॥

अभावसे शान्त हो जाती हैं वैसे ही अपना कार्य सम्पन्न कर चुके दिव्यास्त्र भी आकाशमें लीन हो गये ॥ ६ ॥

तरकस, म्यान आदि अपने निवास गृहोंमें, रथों, हाथियों और वृक्षोंके समूहोंमें अस्त्र सायंकालके समय निद्रालु पक्षियोंके समान लीन होकर निश्चेष्ट हो गये ॥ ७ ॥

उक्त आयुध, जैसे लहरें जलके अन्दर विलीन हो जाती हैं, जैसे कुहरा बादलमें विलीन हो जाता है, जैसे बादल वायुमें विलीन हो जाते हैं वैसे ही तरकस, म्यान आदिमें विलीन हो गये ॥ ८ ॥

शून्यतारूपी जलसे भरा निर्मल आकाशरूपी एकार्णव प्रलयकालमें प्रसिद्ध एकमात्र अति विस्तृत सागर बन गया, क्योंकि उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जलजन्तु मूसलाधार वृष्टिसे हुए कीचड़में विलीन होकर शान्त हो चुके थे, चक्ररूपी सैकड़ों आवर्तोंसे वह रहित था अतः निर्मल सौम्यता उसमें चारों ओर विराजमान थी, बाणरूपी जलकणोंकी वेगवती वृष्टि और कुहरा उससे हट चुका था, बादलोंके घटाटोपसे हुई तरंगोंकी भाँति ऊँची ऊँची जलधाराएँ उसमें शान्त हो चुकी थीं, नक्षत्ररूपी रत्न-राशि अन्दर छिप चुकी थी तथा सूर्यरूपी वडवाग्नि उसके एक देशमें स्थित थी ॥ ९-११ ॥

एकार्णव-सा विस्तृत आकाश, जो विस्तृत (फैले हुए) सूर्यप्रकाशसे गम्भीर अतएव कान्तियुक्त और धूलिपटलसे रहित अतएव प्रसन्न था, महात्माओंके मनकी

अथाऽर्णवांस्ते ददृशुराकाशस्याऽनुजानिव ।
विस्तीर्णान्विमलाकारान्पूरिताखिलदिक्तटान् ॥ १३ ॥
तरङ्गकणकल्लोलमहागुलुगुलाकुलान् ।
भूरिसीकरनीहारहारिहारिशरीरिणः ॥ १४ ॥
स्थितानात्मानमास्तीर्य भूमौ व्याध्यातुरानिव ।
श्वसनार्तांश्चलद्देहान्विवर्तोर्मिमहाभुजान् ॥ १५ ॥
जडानपि स्पन्दमयान्कल्लोलाकोटकोटरान् ।
संसारानिव विस्तीर्णांश्चक्रावर्तदशाकुलान् ॥ १६ ॥
रत्नराशितटोद्योतपीवरीकृतभास्करान् ।
शङ्खराशिविशद्वातशब्दतर्जितघुंघुमान् ॥ १७ ॥
मांसलोर्मिघटाघोषघर्घराम्बरडम्बरान् ।
वर्तुलावर्तविस्तारप्रभ्रमद्विद्रुमद्रुमान् ॥ १८ ॥

भाँति सुशोभित हुआ। महात्माओंका मन भी आत्मज्ञानसे गम्भीर होनेसे प्रकाशमय तथा रजोगुणसे रहित होनेके कारण प्रसन्न रहता है ॥ १२ ॥

तदुपरान्त उक्त चार विपश्चितोंने आकाशके छोटे भाइयोंके सदृश विस्तार युक्त, निर्मल आकारवाले, सम्पूर्ण दिशाओं तक फैले हुए चार समुद्रोंको देखा ॥ १३ ॥

उनमें लहरोंके खण्डों और कल्लोलोंसे चारों ओर महान् गुड़ गुड़ शब्द हो रहा था, प्रचुर जलकणरूपी कुहरेको हरनेवाले मेघोंसे उनका कलेवर बड़ा रमणीय प्रतीत होता था, रोगाकुल पुरुषोंकी भाँति वे अपनी कायाको पसारे हुए थे, वे वायुसे पीड़ित (आन्दोलित) थे, अतएव उनका कलेवर चञ्चल था और वे तरङ्गरूपी वाहुओंको बार-बार ऊपर उठा रहे थे * ॥ १४-१५ ॥

वे संसारकी नाईं जड़ होते हुए भी चेष्टामय थे, कल्लोलरूपी टेढ़े-मेढ़े खोडरोंसे भरे थे, ‡ चक्राकार आवर्तरूपी (जलभ्रमिरूपी) दशाओंसे व्याकुल तथा विस्तीर्ण थे। रत्नोंकी राशियोंको धारण करनेवाले तटोंकी जगमगाहटसे उदय समयमें मानो वे सूर्यको विशाल बना देते थे। शङ्खोंके झुण्डोंमें प्रवेश कर रहे वायुका शब्द ही मानो उनकी तर्जनध्वनि (डांट-डपटकी हुंकार) थी। बड़ी-बड़ी लहरोंकी परम्पराओंकी ध्वनियोंसे वे मेघोंकी गड़गड़ाहटसे पूर्ण आकाशके

* रोगाकुलके पक्षमें—सांस रोगसे पीड़ित अतएव चञ्चलशरीर तथा पीड़ाके मारे बार-बार भुजाओंको ऊपर उठा रहे। ‡ संसारपक्षमें षडूर्मियोंसे (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिसे) कुटिल जडाशयोंसे पूर्ण।

मकरव्यूहनिर्ह्रादघर्घरोदरघुंघुमान् ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जत्पोतकृतारवान् ॥ १९ ॥
उद्ग्रीवकूर्ममकरनिगीर्णौर्णनरोत्करान् ।
ऊर्मिबिम्बितसप्ताश्वसहस्रार्कनभोनिभान् ॥ २० ॥
भांकारकारिपवनपतद्भूत्यततोद्भटान् ।
ऊर्म्युदस्तमणिव्रातबलाज्झणझध्वनीन् ॥ २१ ॥
नानाजालैर्बलभुजैर्हेलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
नमदुन्नमदुद्रश्मिरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥ २२ ॥
उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
क्वचित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतान् ॥ २३ ॥

आडम्बरसे युक्त थे, उनके गोल-गोल आवर्तोंके विस्तारमें मूंगेके वृक्ष जोरसे घूम रहे थे, मगरोंके झुण्डोंके घर-घर शब्द ही उनके पेटकी गुड़गुड़ाहट थी, ह्वेल मछलियोंकी पूंछोंके अगले भागकी मारसे फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजोंके कोलाहलसे भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरनिकरोंको ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निगल रहे थे, हजारों लहरोंमें प्रतिबिम्बित सूर्योंसे वे जिसमें सहस्त्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाशके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥

मालसे लदे हुए तथा तने हुए पालपर फर-फर ध्वनि करनेवाले वायुओंके कारण चल रहे जहाजोंकी कतार ऊपरको उछल रही थी, लहरोंमें उलझी हुई रत्नराशियोंके गिरनेके धक्केसे उनमें झंकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलोंसे युक्त सेनाओंकी बाहुओं द्वारा अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायोंसे पूर्ण तरंगरूपी बाहुओंसे वे अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे), ऊपरको छिटक रही किरणोंसे युक्त मणिमाणिक्योंके समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फाँदनेसे फेनवाले आवर्तोंमें (जलभ्रमियोंमें) मगरोंके झुण्डके झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहींपर हाथियोंके सूंड़ोंको ऊपर करनेसे वे क्षणभरके लिए बाँसके बनसे बनाये जा रहे थे, हाथियोंकी पूँछ उनमें लहरियोंकी बौर-सी मालूम पड़ रही थी, हाथियोंकी पीठरूपी पंक्तियोंमें सटी हुई फेनराशिसे वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे। कहींपर (श्वेत द्वीप आदिमें) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवारके साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थानपर असंख्य नाना प्रकारके सुर और असुरोंके

लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठतालिषु माधवान् ।
क्वचिदन्तरविश्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥ २४ ॥
एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥ २५ ॥
गुहामशकवद्गर्तभीतशाखायिताचलान् ।
नयतोऽम्बुतरङ्गौघैर्वेलाद्रीनतिखर्वताम् ॥ २६ ॥
खक्षेत्रारोपितानल्परत्नरश्मिपथाङ्कुरान् ।
शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥ २७ ॥
नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥ २८ ॥
इन्द्रनीलतटैर्व्युप्तमुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
क्वचिद्दर्शयतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥ २९ ॥

आवास बने थे, फेन आदिरूप तारोंसे युक्त नूतन तरङ्गराशियोंसे वे आकाशका परिहास कर रहे थे, गुफामें स्थित मच्छरकी नाईं पातालरूपी गड्ढेमें प्रविष्ट होकर बाहर निकलनेमें भयभीत पर्वत उनमें मूलशाखासे (जड़ोंकी शाखाके तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियोंसे तटवर्ती पर्वतोंको छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतोंकी अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे) ॥ २२-२६ ॥

उन्होंने (चार सागरोंने) आकाश रूपी खेतमें बहुतसे रत्न किरणरूपी अङ्कुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपोंके मुँहसे गिरी हुई मोतियोंसे उनके बालूमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकारके रत्नोंकी किरणरूपी रेशमी सूत्रोंसे उनका कलेवर चित्र-विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरीमें प्रविष्ट किये (लपेटे) जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओंसे वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बीने जा रहे वस्त्रोंके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७-२८॥

कहींपर वे इन्द्रनील मणियोंके तटोंसे, जिसमें इतस्ततः बिखरो हुईं मोती-वाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभाको सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्र-माओंसे युक्त-सी दिखला रहे थे ॥ २९ ॥

मकरव्यूहनिर्ह्रादघर्घरोदरघुंघुमान् ।
मत्स्यपुच्छच्छटाच्छिन्नमज्जत्पोतकृतारवान् ॥ १९ ॥
उद्ग्रीवकूर्ममकरनिगीर्णौर्णनरोत्करान् ।
ऊर्मिबिम्बितसप्ताश्वसहस्रार्कनभोनिभान् ॥ २० ॥
भांकारकारिपवनपतद्भूत्यततोद्भटान् ।
ऊर्म्युदस्तमणिव्रातबलाज्झणझध्वनीन् ॥ २१ ॥
नानाजालैर्बलभुजैर्हेलास्पृष्टार्कमण्डलान् ।
नमदुन्नमदुद्रश्मिरत्नमाणिक्यमण्डलान् ॥ २२ ॥
उत्फालफेनिलावर्तविवर्तमकरोत्करान् ।
क्वचित्करिकरोन्नामैः क्षणं वंशवनीकृतान् ॥ २३ ॥

आडम्बरसे युक्त थे, उनके गोल-गोल आवर्तोंके विस्तारमें मूंगेके वृक्ष जोरसे घूम रहे थे, मगरोंके झुण्डोंके घर-घर शब्द ही उनके पेटकी गुड़गुड़ाहट थी, ह्वेल मछलियोंकी पूंछोंके अगले भागकी मारसे फटे हुए अतएव डूब रहे जहाजों-के कोलाहलसे भरे जा रहे थे, ऊनी वस्त्र पहने हुए नरनिकरोंको ऊपर गर्दन निकाले हुए कछुए और मगर निगल रहे थे, हजारों लहरोंमें प्रतिबिम्बित सूर्योंसे वे जिसमें सहस्र सूर्य उदित हुए हों ऐसे आकाशके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥१६-२०॥

मालसे लदे हुए तथा तने हुए पालपर फर-फर ध्वनि करनेवाले वायुओंके कारण चल रहे जहाजोंकी कवार ऊपरको उछल रही थी, लहरोंमें उलझी हुई रत्नराशियोंके गिरनेके धक्केसे उनमें झंकार ध्वनि हो रही थी, विविध जलोंसे युक्त सेनाओंकी बाहुओं द्वारा अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे (या विविध समुदायोंसे पूर्ण तरंगरूपी बाहुओंसे वे अनायास सूर्यमण्डलका स्पर्श कर रहे थे), ऊपरको छिटक रही किरणोंसे युक्त मणिमाणिक्योंके समूह उनमें डूब और उतरा रहे थे, फाँदनेसे फेनवाले आवर्तोंमें (जलभ्रमियोंमें) मगरोंके झुण्डके झुण्ड घूम-फिर रहे थे, चक्कर लगा रहे थे, कहींपर हाथियोंके सूंड़ोंको ऊपर करनेसे वे क्षणभरके लिए बाँसके बनसे बनाये जा रहे थे, हाथियोंकी पूँछ उनमें लहरियोंकी बौर-सी मालूम पड़ रही थी, हाथियोंकी पीठरूपी पंक्तियोंमें सटी हुई फेनराशिसे वे पुष्पित बसंत जैसे प्रतीत हो रहे थे। कहींपर (श्वेत द्वीप आदिमें) मालूम पड़ता था कि मानों बसंत अपने परिवारके साथ उनके अन्दर विश्राम कर रहा है, उनके एक स्थानपर असंख्य नाना प्रकारके सुर और असुरोंके

लहरीवल्लरीवालान्पृष्ठतालिषु माधवान् ।
क्वचिदन्तरविश्रान्तसपरिच्छदमाधवान् ॥ २४ ॥
एकदेशस्थितासंख्यनानासुरसुरालयान् ।
तारानवतरङ्गौघपरिदन्तुरिताम्बरान् ॥ २५ ॥
गुहामशकवद्गर्तभीतशाखायिताचलान् ।
नयतोऽम्बुतरङ्गौघैर्वेलाद्रीनतिखर्वताम् ॥ २६ ॥
खक्षेत्रारोपितानल्परत्नरश्मिपथाङ्कुरान् ।
शुद्धशुक्तिमुखोन्मुक्तमुक्तान्तरितसैकतान् ॥ २७ ॥
नानारत्नांशुकौशेयसूत्रचित्रांस्तरङ्गितान् ।
विशन्नदीन्दशादिग्भिः समाकीर्णान्पटानिव ॥ २८ ॥
इन्द्रनीलतटैर्व्युप्तमुक्ताशुक्तिशताङ्कितैः ।
क्वचिद्दर्शयतः कान्तशतेन्दुकनखश्रियम् ॥ २९ ॥

आवास बने थे, फेन आदिरूप तारोंसे युक्त नूतन तरङ्गराशियोंसे वे आकाशका परिहास कर रहे थे, गुफामें स्थित मच्छरकी नाईं पातालरूपी गड्ढेमें प्रविष्ट होकर बाहर निकलनेमें भयभीत पर्वत उनमें मूलशाखासे (जड़ोंकी शाखाके तुल्य) प्रतीत हो रहे थे, वे अपनी तरंगराशियोंसे तटवर्ती पर्वतोंको छोटे बना रहे थे (तटवर्ती पर्वतोंकी अपेक्षा तरंग राशियाँ बहुत ऊँची थीं, अतः वे छोटे दिखाई दे रहे थे) ॥ २२-२६ ॥

उन्होंने (चार सागरोंने) आकाश रूपी खेतमें बहुतसे रत्न किरणरूपी अङ्कुर लगा रक्खे थे, स्वच्छ सीपोंके मुँहसे गिरी हुई मोतियोंसे उनके बालूमय तटप्रदेश आच्छन्न थे, विविध प्रकारके रत्नोंकी किरणरूपी रेशमी सूत्रोंसे उनका कलेवर चित्र-विचित्र हो रहा था, प्रविष्ट हो रही नदियाँ ही उनके तुरीमें प्रविष्ट किये (लपेटे) जा रहे तन्तु (सूत) थे, दशा (किनारा) रूपी दिशाओंसे वे चारों ओर फैलाये गये थे, अतएव बीने जा रहे वस्त्रोंके तुल्य प्रतीत हो रहे थे ॥२७-२८॥

कहींपर वे इन्द्रनील मणियोंके तटोंसे, जिसमें इतस्ततः बिखरी हुई मोती-वाली सैकड़ों सीपें जड़ी थी, अपनी नख शोभाको सैकड़ों सुन्दर (पूर्ण) चन्द्र-माओंसे युक्त-सी दिखला रहे थे ॥ २९ ॥

रत्नांशुजालसंदिग्धास्तरङ्गादेशबिम्बिताः ।
परिवर्तयतः फुल्लास्तीरतालीवनावलीः ॥ ३० ॥
एलालवङ्गकङ्कोलफलमालां जिघृक्षुभिः ।
वेलावनलताभ्रष्टामात्तावृत्तीञ्जलेचरैः ॥ ३१ ॥
चूतनीपकदम्बाग्रविहगानप्रतिबिम्बितान् ।
भुञ्जानैर्विप्रलम्भेन कृताच्छोटाञ्जलेचरैः ॥ ३२ ॥
खेचरप्रतिबिम्बेन विद्रवद्भिरितस्ततः ।
भग्नबन्धबृहत्सेतून्क्षणं प्रति जलेचरैः ॥ ३३ ॥
अमूर्तान्प्रतिबिम्बेन हृदयस्थजगत्त्रयान् ।
चतुरो व्योमविपुलान्दिक्षु नारायणानिव ॥ ३४ ॥
अतिगाम्भीर्यनैर्मल्यविस्तारविभवैर्नभः ।
निगीर्य संदर्शयतो हृदयादिव बिम्बितम् ॥ ३५ ॥
जलचारिविहङ्गानां साकाशं प्रतिबिम्बितम् ।
आशयैर्दधतः सारैः पद्मान्भृङ्गमिवाऽऽत्मगम् ॥ ३६ ॥

वे रत्नोंकी किरणराशियोंका सन्देह करानेवाली तरङ्गोंमें प्रतिबिम्बित तट-भूमिकी विकसित तालकी वनपङ्क्तियोंको तरङ्गोंके परिवर्तनोंसे परिवर्तित कर रहे थे, तीरभूमिके वनोंकी लताओंसे घिरे हुए इलाइची, लौंग, कङ्कोलोंके फलोंको लेनेकी इच्छा करनेवाले जलजन्तु बार-बार आ जा रहे थे, आम, भूकदम्ब, कदम्बकी चोटियोंपर बैठे हुए पक्षियोंको जिनकी जलमें परछाँई पड़ी थी, भक्ष्य मांस आदिके प्रदर्शनके व्याजसे लहरके समीप लाकर खा रहे जलजन्तु उनमें चुटकी बजानेकी-सी ध्वनि कर रहे थे, नभचर जन्तुओंके प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण इधर उधर दौड़ रहे जलजन्तु उनमें प्रति क्षण बड़े-बड़े (पुल) तोड़ रहे थे और बाँध रहे थे। उन्होंने चार दिशाओंमें चार समुद्रोंको देखा। वे अमूर्त थे किन्तु प्रतिबिम्बसे सारा त्रैलोक्य उनके हृदयमें स्थित था, आकाशके समान वे विशाल थे, अतएव अमूर्त, त्रैलोक्यको हृदयमें धारण किये हुए और आकाशके समान व्यापक नारायणके समान थे ॥ ३०-३४ ॥

अत्यन्त गम्भीरता, निर्मलता और विस्तारके अपनेमें प्रतिबिम्बित आकाशको मानो हृदयसे निकाल कर दिखला रहे थे, वे जलचर पक्षियोंके आकाशसहित प्रतिबिम्बको रत्नराशियोंके किरणोंसे कर्बुरित अपने हृदयोंसे

तरङ्गतरलास्फालमारुतैराहताम्बरान् ।
कन्दरोद्गारगम्भीरैः कल्पान्तजलदालयान् ॥ ३७ ॥

गुहागुलुगुलावर्तनिर्घोषाशनिभीषणान् ।
भृशं भावयतो ग्रस्तानगस्त्यौर्वानलानिव ॥ ३८ ॥

भूरिसीकरपुष्पाणि तरङ्गौघतरूणि च ।
प्राप्तान्यम्बुवनानीव लहरीमञ्जरीणि खम् ॥ ३९ ॥

सरत्तरङ्गजालानि प्रोड्डीनप्राणिमन्त्यधः ।
आकाशखण्डखण्डत्वात्पतितानीव विभ्रमात् ॥ ४० ॥

एलालवङ्गबकुलामलकीतमाल-
हिंतालतालदलताण्डवखण्डिताग्रे ।
प्राप्ते पतल्लवणवारिधिदीर्घतीरं
रेखा बभावलिनिभाऽम्बरशैलमूर्ध्नि ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० समुद्रवर्णनं नाम त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

धारण कर रहे थे, अतएव कोशके बीचमें स्थित भंवरोंको धारण करनेवाले पद्मोंके सदृश दीख रहे थे, तरंगोंसे चञ्चलतापूर्वक उछले हुए वायुओंके झोकोंसे आकाश तलपर आघात कर रहे थे, मध्यवर्ती पर्वतोंकी कन्दराओंमें वायुके प्रवेश और निकलना रूप जो उद्गार था, उससे अनुमेय कन्दराओंके गाम्भीर्योंसे वे प्रलयकालके मेघोंके निवासरूप थे, गुहाओंमें आवर्तोंकी गुड़गुड़ाहट ध्वनियोंसे वे वज्रकी भाँति भीषण थे, अपनेको पी डालनेवाले अगस्त्योंको और वड़वानलोंको अपने गुहारूपी उदरोंमें खूब ग्रसे हुए दर्शा रहे थे, जलरूपी वनोंको, जिनमें प्रचुर जलकण ही पुष्प थे, तरंगराशियाँ ही वृक्ष थे, छोटी लहरें ही मंजरी (बौर) थीं, आकाशमें पहुँचे हुए दर्शा रहे थे, उड़े हुए मछली आदि जीवजन्तुओंसे युक्त चल रही तरंग-राशियोंको आकाशके शस्त्रोंसे कटनेपर खण्ड रूपसे नीचे गिरे हुए टुकड़ेसे दर्शा रहे चार समुद्रोंको उन्होंने देखा ॥ ३५-४० ॥

आकाश तक पहुंचे हुए पर्वतोंके शिखरोंपर तटोंके आगे पूर्ववर्णित रीतियोंसे तरङ्गों द्वारा स्वागत कर रहे क्षार-सागरके तटपर विपश्चित्‌सेनाके पहुँचनेपर चारों ओर इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिंताळ और ताड़के पत्तोंके ताण्डवोंसे विभक्त भँवरोंके समान काली वनपङ्क्ति शोभित हुई ॥ ४१ ॥

एक सौ तेरह सर्ग समाप्त

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तेषां तदा तत्र ततस्तांस्तांनदर्शयन् ।
पार्श्वगा वनवृक्षाब्धिशैलमेघवनेचरान् ॥ १ ॥

देव पश्याऽस्य शैलस्य येयमभ्रंकषाऽग्रभूः ।
समरुन्मध्यदेशादेरश्मदेशमुपेयुषः ॥ २ ॥

इमा बकुलपुन्नागनालिकेरकुलाकुलाः ।
विपिनावलयो वान्तविविधामोदमारुताः ॥ ३ ॥

लुनात्युपत्यकां वार्धिः शैलशालिशिलावलीः ।
वनालीर्लहरीदात्रैरापादफलपल्लवाः ॥ ४ ॥

एक सौ चौदह सर्ग

[पार्श्ववर्ती द्वारा विपश्चितोंको दर्शाये गये वन, वृक्ष, सागर, शैल और वनचरोंका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भद्र श्रीरामचन्द्रजी, इसके पश्चात् विपश्चितोंके पार्श्ववर्ती मन्त्री आदिने वहाँ पहुँचनेके बाद वहाँपर भाँति-भाँतिके वन, वृक्ष, सागर, पर्वत, मेघ और वनेचर कौतुकके लिए विपश्चितोंको दिखलाये ॥ १ ॥

महाराज ! तलहटी, मध्यभाग तथा चोटीके क्रमसे आगे पाषाणमयताको प्राप्त (अत्यन्त पथरीले) इस शैलकी आकाशसे बातें करनेवाली अतएव प्रचुर वायुसे पूर्ण (अथवा क्रीड़ाविहार कर रहे गन्धर्व आदिसे भरी हुई) शिखर-भूमिको आप देखनेकी कृपा कीजिये ॥ २ ॥

देव, मौलसिरी, केसर, नारियलके वृक्षोंसे भरी हुई इन वनस्थलियोंपर भी, जो विविध सुगन्धियोंसे पूर्ण वायुओंको बहा रही हैं, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥ ३ ॥

यह महासागर लहरीरूपी हँसवोंसे तराईको (पर्वतके पासकी सम भूमिको) और पर्वतपर शोभित शिलाओंको काटता है और चोटीसे लेकर जड़ तक फलों और पल्लवोंसे लदी हुई वनपंक्तियोंको भी काटता है ॥ ४ ॥

अधित्यकासु मेघालीर्नृत्यतां स्वाम्बुभूभृताम् ।
धुनोति जलधिर्बालो गृहधूमावलीमिव ॥ ५ ॥
राकाब्धिपूरसंप्रोतशङ्खशाखास्तटद्रुमाः ।
चन्द्रबिम्बफलाः कल्पवृक्षा इव विभान्त्यमी ॥ ६ ॥
रत्नपुष्पभरापूर्णरक्तपल्लवपाणयः ।
भवन्तं पूजयन्तीव लतादारान्विता द्रुमाः ॥ ७ ॥
प्रोतोर्मिमकरग्रासैर्दृषद्दन्तैर्गुहामुखैः ।
ऋक्षवानृक्षवद्भूभृद्धत्ते घुरघुरारवम् ॥ ८ ॥
महेन्द्रो मन्द्रगर्जाभिरभिक्षिपति गर्जतः ।
पर्जन्यानूर्जितो जन्यः प्रतिजयान्यथा जडैः ॥ ९ ॥

जैसे कोई बालक अपने घरकी धूम-पङ्क्तियोंको पङ्खेसे कम्पित करता है वैसे ही यह सागर वायुसे हिलाई गई वृक्ष और लता रूपी भुजाओंके अभिनय-से नाच रही, स्वेदतुल्य अपने जलकणोंसे व्याप्त, पर्वतोंकी ऊपरकी भूमिपर बैठी हुई मेघपङ्क्तिको कम्पित करता है, कृपया देखिये ॥ ५ ॥

पूर्णिमाके दिन चन्द्रोदयके समय वृद्धिको प्राप्त समुद्रके प्रवाहोंसे जिनकी शाखाओंमें शङ्ख उलझ गये थे, ऐसे ये तटवृक्ष चन्द्रबिम्बके समान अमृत-रससे भरे और सफेद फलोंसे पूर्ण कल्पवृक्षसे शोभित हो रहे हैं, तनिक दृष्टि-पात कीजिये ॥ ६ ॥

लतारूपी धर्मपत्नियोंसे युक्त ये वृक्ष, जिनके लाल पल्लवरूपी हाथ रत्नोंके तुल्य पुष्पोंसे भरे हैं, अपने घरमें प्राप्त अतिथिरूप आपकी मानो पूजा करते हैं ॥ ७ ॥

यह ऋक्षवान् नामका पर्वत लहरोंमें उलझे हुए मगरोंको अपनेमें ग्रसनेवाले सफेद पत्थररूपी दाँतोंसे युक्त गुहारूपी मुखोंसे ऋक्षके समान (भालूके समान) घुरघुर शब्द करता है ॥ ८ ॥

जैसे बलवान् युद्ध-कुशल भट रिपुओंको जड़ वचनोंसे ललकारता है वैसे ही यह महेन्द्र पर्वत ऊपरसे गरज रहे मेघोंको नीचेसे गम्भीर गर्जनाओं द्वारा सामने डाट-फटकार रहा है ॥ ९ ॥

चन्दनारूषितः श्रीमाञ्जेतुं जलधिवेल्लनाः ।
समुद्यत इवोच्चोऽसौ मल्लो मलयपर्वतः ॥ १० ॥
सर्वतः कचितोऽजस्रं रत्नवीचिभिरम्बुधिः ।
भूरत्नवलयभ्रान्त्या प्रेक्ष्यते सूर्यमार्गगैः ॥ ११ ॥
सरन्ति रत्नमूर्धानश्चलकानिलपायिनः ।
वानपूराः पर्वतकाः सर्पा इव नतोन्नतैः ॥ १२ ॥
भ्रमन्तो वीचिशृङ्गेषु मकरेभाः करोत्कटैः ।
हरन्ति सीकराम्भोदा मेघानुद्राविता इव ॥ १३ ॥
आवर्तवलिताकारः सीकरोत्करकीर्णदिक् ।
पूर्णत्वात्तु शिरोऽशक्तो म्रियतेऽत्युत्करः करी ॥ १४ ॥
विविधप्राणिसंपूर्णाः सजलाद्रिनतोन्नताः ।
यथैवाऽम्भोधयः सर्वास्तथैव द्वीपभूमयः ॥ १५ ॥

चन्दनके वृक्षोंसे व्याप्त, अतिशयशोभाशाली, अति उन्नत यह मलय पर्वत-रूपी मल्ल (पहलवान) प्रतिमल्लरूपी सागरकी लहररूपी भुजाओंकी लपेटको जीतनेके लिए उद्यत-सा हो रहा है ॥ १० ॥

चारों ओरसे रत्न-मिश्रित तरङ्गोंसे निरन्तर व्याप्त समुद्रको आकाशचारी जीव, भूमिके रत्नकङ्कणकी भ्रान्तिसे देखते हैं ॥ ११ ॥

वनसमूहोंसे भरे हुए छोटे-छोटे पर्वत, जिनके शिखरोंपर रत्न विराजमान हैं वायुवश वनके कम्पित होनेपर नीची ऊँची गतियोंसे चलनेवाले बनकर सर्पोंकी भाँति सरकते हैं ॥ १२ ॥

तरङ्गोंके शिखरोंपर घूम रहे समुद्री मगर और जंगली हाथी तरङ्गशिखरों-के निकलने और प्रविष्ट होनेपर एक दूसरेके ग्रहणके लिए सूँड़ों और खोले हुए मुँहोंसे बादलोंसे अनुद्रुत जलकण गिरानेवाले मेघोंकी भाँति कौतुक देखने-वालोंका मन हरते हैं ॥ १३ ॥

उनमेंसे एक हाथी भाग्यवश अगाध जलमें भँवरोंकी पकड़में आकर जलकणोंकी मूसलाधार बौछारोंसे दिशाओंको व्याप्त कर डूबनेके कारण जलसे भर जानेसे सिर उठानेमें असमर्थ हो सूंड़ ऊपर कर मर रहा है, जरा दृष्टिपात कीजिये ॥ १४ ॥

जैसे सागर विविध प्राणियोंसे पूर्ण, जलसे भरे हुए तथा पर्वतोंसे ऊँचे

आवर्तानात्मनोऽनन्यानप्यन्यानिव भास्वरान् ।
गृह्यमाणानसद्रूपान्दृश्यमानानपि स्फुटान् ॥ १६ ॥
तरङ्गतरलानन्तर्जडानप्यम्बुधिश्चलान् ।
धत्ते ब्रह्म जगन्तीव सान्तानप्यन्तवर्जितान् ॥ १७ ॥
यानन्तरिन्द्रवद्भानुमणीन्धत्तेऽम्बुधिर्बहून् ।
मन्थापहृतसर्वस्वो देवेभ्यः परिरक्षितान् ॥ १८ ॥
दृश्यमानान्महातेजस्तया पातालतोऽप्यलम् ।
प्रतिबिम्बविभङ्ग्याऽन्तरसत्यानिव गोपितान् ॥ १९ ॥
तेषां मध्यादेकमेकं प्रत्यहं पश्चिमार्णवे ।
निक्षेपाय क्षिपति यं तेन मन्ये दिनं भवेत् ॥ २० ॥
नानादिग्देशपयसामब्धौ साधुसमागमः ।
यात्रायामिव लोकानां मिथः कलकलान्वितः ॥ २१ ॥

नीचे (विषम) हैं वैसे ही सब द्वीपभूमियाँ भी हैं ॥ १५ ॥

जैसे ब्रह्म अपनेसे अभिन्न होते हुए भी भिन्नसे प्रतीत होनेवाले, दिखाई देते हुए भी असद्रूप, जड़ होते हुए भी चलनेवाले, सान्त होते हुए असीम जगत्को धारण करता है वैसे ही जलधि अपनेसे अभिन्न होते हुए भी भिन्नसे मालूम पड़नेवाले, दिखाई देते हुए भी चञ्चल, विनाशशील होते हुए भी अन्त रहित असीम आवर्तोंको धारण करता है ॥ १६,१७ ॥

जैसे इन्द्र असुरोंसे रक्षा करते हुए मणियोंको अपने अन्दर रखते हैं वैसे ही मन्थनके समय देवता और असुरों द्वारा हृत-सर्वस्व सागर मन्थनके समय देवताओंसे परिरक्षित जिन बहुतसी मणियोंको अपने अन्दर रखता है और महातेजरूप अतएव पातालसे भी भलीभाँति दिखाई दे रहीं जिन मणियोंको प्रतिबिम्बरूपसे असत्यसी बनाकर अन्दर छिपाकर रखता है, उन मणियोंमें से एक जिस मणिको प्रतिदिन पश्चिम सागरमें रखनेके लिए आकाशमें फेंकता है, उससे दिन होता है, ऐसी मेरी मति है ॥ १८-२० ॥

जैसे यात्रामें लोगोंका कलकल ध्वनिसे युक्त परस्पर समागम होता है वैसे ही नाना दिशाओं और देशोंके जलोंका कलकल शब्दसे मिश्रित परस्पर समागम होता है ॥ २१ ॥

जलेचरावरा नूनं सागरार्णवसंगमे।
अन्योन्यवेल्लनाद्युद्धं न कदाचन शाम्यति ॥ २२ ॥
ताम्यत्तिमितरङ्गाग्रनर्तनावर्तविभ्रमम् ।
वलयन्वायुरायाति वान्तसीकरमौक्तिकैः ॥ २३ ॥
सरिन्मुक्तालतामध्यमध्यस्थाब्दमणीश्वराः ।
दीर्घाः खणखणायन्ते चञ्चलाः सर्वतोऽम्बुधेः ॥ २४ ॥
महेन्द्राद्रेर्गुहागेहपरावृत्तार्णवाध्वनाम् ।
भांकारिण्यो भुवः सिद्धसाध्यानां सुसुखावहः ॥ २५ ॥
मन्दरः कन्दरोद्गीर्णैः प्रसरैर्मातरिश्वनः ।
कम्पाकुलवनाभोगः पुष्पमेघांस्तनोति खे ॥ २६ ॥

युद्धमें उत्साह रखनेवालोंमें जलचर ही श्रेष्ठतम होते हैं, ऐसा मेरा तर्क है, क्योंकि पूर्व और पश्चिम सागरके संगममें इनका सदैव परस्पर आस्फालनवश कभी भी युद्ध शान्त नहीं होता ॥ २२ ॥

रतिखेदसे श्रान्त हुई मछलियोंके लहरोंकी चोटियोंपर नाचनेमें जो आवर्तों कासा (जलभ्रमियों का-सा) विलास हुआ उसको उड़ाये हुए जलकणरूपी या जलकणसहित पारितोषिकरूप मोतियोंसे वेष्टित करता हुआ प्रभुकी भाँति यह वायु आ रहा है, देखिये ॥ २३ ॥

नदीरूपी मोतियोंकी मालाओंके बीच-बीचमें गुँथे हुए मेघरूपी उत्तमोत्तम चञ्चल रत्न सागरके कण्ठमें सबसे बढ़कर लम्बमान होनेसे आपसकी टक्करसे खनखना रहे हैं ॥ २४ ॥

महेन्द्र पर्वतकी अरतिकारिणी (उदास) भूमियोंमें पहुँच कर उनमें अभिरुचि न होनेसे गुहारूपी गृहोंमें रतिके लिए समुद्री मार्गसे लौटे सिद्ध और साध्यरूप देवयोनियोंके रतिश्रमको हटानेसे सुखकारी यह वायु बह रहा है ॥ २५॥

यह मन्दराचल पर्वत कन्दराओंसे निकले हुए वायुके झोकोंसे आकाशमें पुष्पवर्षी मेघोंका विस्तार कर रहा है अर्थात् शिखरपर छाये हुए मेघोंको फूलोंसे पूर्ण कर रहा है, देखिये ॥ २६ ॥

चूतनीपकदम्बाढ्यगन्धमादनकन्दरान् ।
विशन्ति मेघहरिणास्तडित्तरललोचनाः ॥ २७ ॥

हिमवत्कन्दरोद्गीर्णा वल्लीवलयताण्डवम् ।
तन्वाना वायवो यान्ति विभिन्नाब्दाब्धिवीचयः ॥ २८ ॥

तात चूतकदम्बाग्रपरामर्शसुगन्धयः ।
वलयन्त्यब्धिकल्लोलान्गन्धमादनवायवः ॥ २९ ॥

जलदान्वलयन्वायुरलकालकतां गतान् ।
इत आयाति पुष्पाभ्रं रचयन्वनवीथिषु ॥ ३० ॥

कुन्दमन्दारसंदोहमधुरामोदमन्थरान् ।
तुषारसीकरोन्मिश्रानिवाऽत्र कलयाऽनिलान् ॥ ३१ ॥

नालिकेरलतालास्यलब्धतिक्तसुगन्धयः ।
पतन्ति पवनाः पश्य पारसीकपुरीः पुरा ॥ ३२ ॥

ये बिजलीरूपी चञ्चल नेत्रवाले मेघरूपी हरिण आम, धूलिकदम्ब और कदम्बोंसे परिपूर्ण गन्धमादनकी कन्दराओंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २७ ॥

हिमालयकी गुफाओंसे निकले हुए, मेघों और समुद्रकी तरङ्गोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा लताओंको नचा रहे मन्द-सुगन्ध शीतल पवन बह रहे हैं ॥ २८ ॥

हे देव, आम और कदम्बकी शाखाओंकी चोटियोंके सम्पर्कसे सुगन्धवाले गन्धमादन पर्वतके ये वायु सागरकी तरङ्गोंको वेष्टित कर रहे हैं ॥ २९ ॥

अलकापुरी (कुबेरनगरी) के अलक (चूर्णकुन्तल) बने हुए मेघोंको वेष्टित कर रहा तथा वनश्रेणियोंमें पुष्पमेघकी रचना कर रहा वायु इधर ही आ रहा है ॥ ३० ॥

कुन्द और मन्दार (पारिजात) की पुष्पराशियोंकी सुमधुर सुगन्धिके भारसे मन्दगतिवाले अतएव तुषारकणोंसे संपृक्त जैसे वायुओंका इस गन्धमादन पर्वतपर स्पर्श कीजिये ॥ ३१ ॥

नारिकेल वृक्षों तथा मल्लिका आदि लताओंको नचानेसे क्रमशः उनकी तीक्ष्ण मद्यगन्ध और सुगन्धको प्राप्त पवन पारसीक पुरीमें गिरते हैं, देखिये ॥ ३२ ॥

धुन्वानाः पुष्पितेशानवनकर्पूरवारिदान् ।
चालयन्तोऽनिला वान्ति कैलासकमलाकरान् ॥ ३३ ॥
करीन्द्रकुम्भनिष्क्रान्तमदमन्थरमूर्तयः ।
इमे शुकशुकायन्ते विन्ध्यकन्दरवायवः ॥ ३४ ॥
शबरीणां शरीरेषु शीर्णपर्णोत्करे गिरौ ।
नाराचैः पर्णशबरैर्वनाली नगरायते ॥ ३५ ॥
अब्ध्यद्रिसरिदम्भोदवनलेखाङ्किका दिशः ।
त्वत्प्रतापबलैरेता हसन्तीवाऽर्करश्मिभिः ॥ ३६ ॥
अत्रोपशैलवनवीथिषु पुष्पशय्या
विद्याधरीविरचिताः परिवर्णयन्ति ।
पार्श्वद्वयस्थपरिवृत्तपदात्समुद्रा-
दूव्यावृत्तमुग्धवनितापुरुषायितानि ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मो० निर्वा० उ० अवि० विप० दिग्दर्शनं नाम चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

भगवान् शिवजीके विकसित प्रमदवनके केलेके कर्पूरसे सुरभित, मेघोंको कंपा रहे और कैलासके कमलाकरोंको हिला रहे वायु बह रहे हैं ॥ ३६ ॥

गजेन्द्रोंके गण्डस्थलसे चू रहे मदजलसे मन्थर मूर्तिवाले ये विन्ध्याचलकी कन्दराके वायु, काशके डण्ठलोंसे होनेवाली शुक्-शुक् ध्वनि करते हैं अथवा विन्ध्याचलके सुग्गोंके साथ निकलनेसे उनके रंगसे हरेसे प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥

शबरियोंके शरीरोंमें वस्त्रोंकी कल्पना द्वारा जीर्णशीर्ण पत्तोंके ढेरवाले मलयाचल पर्वतपर पत्ते पहननेवाले शबरोंसे तथा बाणोंसे पूर्ण अतएव थोड़ेसे अवशिष्ट मृगों-पक्षियोंसे युक्त मलयवनराजियाँ नगर-सी मालूम पड़ती हैं ॥ ३५ ॥

ये दिशाएँ जिनके सागर, पर्वत, नदियाँ, मेघ, वनपंक्तियाँ अवयव हैं, आपके प्रतापसे परिपुष्ट हुई सूर्यकी किरणोंसे मानो हँसती है ॥ ३६ ॥

इस प्रदेशमें पर्वत तथा वनवीथियोंके समीप रतिके लिए विद्याधरों द्वारा रची गईं पुष्पशय्याएँ महावरकी छापसे युक्त दोनों बाजुओंमें स्पष्टरीतिसे उठे हुए चरण-चिह्नसे पुरुषके रति-श्रान्त होनेपर अधोदेशसे व्यावृत्त हुई मुग्धवनिताके पुरुष-आचरणोंको सूचित करती हैं ॥ ३७ ॥

एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त ।

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

पार्श्वगा ऊचुः

अत्रोत्तमाशय लतावलयालयेषु
लीलाविलोलललनाः कलयन्ति गीतम् ।
उद्दामभावरसविस्मृतवासरेहा
विश्रम्य किंनरगणाः कलकाकलीकम् ॥ १ ॥

एते हिमाद्रिमलयाचलविन्ध्यसह्य-
क्रौञ्चा महेन्द्रमधुमन्दरदर्दुराद्याः ।
दूरस्थिता दृशि सिताभ्रपटा वहन्ति
संशुष्कपर्णलवलाञ्छितलोष्टलीलाम् ॥ २ ॥

अमी दूरालोकव्यवहितमहावर्त्मनिचयाः
पुरः प्राकाराणां कुलशिखरिणो बिभ्रति वपुः ।
विशन्तीरम्भोधिं कलय लुलिता भान्ति सरितः
पटस्याऽन्तः सक्ताः प्रतनुसितसूत्रा इव दशाः ॥ ३ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग

[चारों दिशाओंमें वन, पर्वत, वृक्ष, नदी, समुद्र, वायु, पशु-पक्षी, मेघ आदिका वर्णन]

पार्श्वचरोंने कहा—हे उदाराशय, जिनकी ललनाएँ विहारक्रीडाओंमें सदा आसक्त रहती हैं, ऐसे किन्नरगण उत्कट संचारिभावों और संभोगशृङ्गाररससे दिवस-चेष्टाओंको भूलकर इस पर्वतपर लतानिकुञ्जोंमें अस्फुट मधुर तानवाले गीत गाते हैं और सुनते हैं ॥ १ ॥

अत्यन्त ऊंचे भी पर्वत दूरसे दिखाई देनेके कारण बहुत छोटे मालूम होते हैं, ऐसा कहते हैं—'एते' इत्यादिसे ।

महाराज, देखिये, हिमालय, मलयाचल, विन्ध्याचल, सह्याद्रि, क्रौञ्चाद्रि, महेन्द्र, मधु, मन्दर, दर्दुर आदि ये सफेद मेघरूपी वस्त्रोंसे ढके हुए पर्वत दूर होनेके कारण दर्शकोंकी दृष्टिमें सूखे हुए पत्तोंसे वेष्टित ढेलोंकी रूपरेखाको धारण करते हैं ॥ २ ॥

राजन्, देखिये, ये कुलशैल, दूरसे देखनेपर जिनके मध्यवर्ती मार्गसमूह

दशाशाः शैलानामुपरि परितः प्रावृतघना
घनश्यामाकाराः खगकलकलालापलपिताः ।
लतामुक्तैः पुष्पैर्ललितवनलेखाभुजलता
हसन्त्यस्ते राजन् भवनवनिता भान्ति पुरतः ॥ ४ ॥
तालीतमालबकुलाकुलतुङ्गशृङ्ग-
मेकीकृताकृति वनं तरलं विभाति ।
अभ्याहतं जलनिधेस्तरलैस्तरङ्गै-
स्तीरान्तलग्नघनशैवलजालकल्पम् ॥ ५ ॥
इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितोऽपि शरणार्थिनः शिखरिपत्रिणः शेरते ।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ६ ॥

दूसरोंको नहीं दिखाई देते, परस्पर सटे होनेसे चारों ओर नगरके प्राकार (चहार दीवारी) जैसे प्रतीत होते हैं। सागरमें प्रवेश कर रहीं प्रवेशत्वरासे लड़खड़ाती हुई नदियाँ वस्त्रके भीतर लगी हुई महीन सफेद सूतकी किनारी-सी लग रही हैं ॥ ३ ॥

हे राजन्, सामने दसों दिशाएँ, जिन्होंने चारों ओर पहाड़ोंकी चोटियोंपर मेघोंको फैला रक्खा है, जिनकी मेघके सदृश श्यामल आकृति है, पक्षियोंके कलरव ही जिनके वार्तालाप हैं, जिनकी वन-श्रेणिरूपी भुजलताएँ लताओंसे वर्षाए गये फूलोंसे अलंकृत हैं, आपके अन्तःपुरकी रानियोंको हंस रहीसी मालूम पडती हैं ॥ ४ ॥

ताड़, तमाल, मौलसिरीके पेड़ोंसे भरे हुए ऊँचे ऊँचे पर्वत-शिखरोंसे युक्त दूरसे प्राकारके सदृश प्रतीत हो रहे शैलोंमें एकाकार तथा वायुसे चञ्चल वन सागरकी तरङ्गोंसे आकुल तीरभूमिसे सटा हुआ सेवारसमूहसा मालूम हो रहा है ॥ ५ ॥

इसमें भगवान् शेषशायी सोते हैं, इसमें उनके शत्रुओंका (असुरोंका) निवास है, इसीमें इन्द्रके भयसे शरणमें आये पर्वत निर्भय होकर सोते हैं, इसीमें वड़वानल भी प्रलयकालीन मेघोंके साथ वास करता है। ओह ! सागरका शरीर कितना विस्तीर्ण, कितना बलवान् और कितना भारसहिष्णु है। शायद ही इसके समान विस्तृत, बली और भारसह दूसरा हो ॥ ६ ॥

एते जम्बुनदीतटा रविकरैराभान्ति हेमाखिल-
ग्रामारण्यपुरस्थलीगिरितरुस्थाण्वग्रहारोच्चयाः ।
ज्वालालीवलिताम्बरान्तरलिहो मुञ्चन्ति भासोऽभितः
सर्वा भूमिप भूरिहैवममरासेव्याऽस्ति नो मानुषैः ॥ ७ ॥
एते कदम्बवनकम्बलमम्बुदाभ-
माभान्ति भास्करपथानुगता वहन्तः ।
अस्याऽचलस्य वसुधेव तटं तवाऽस्तु
मा सूर्यरोधकनभस्थघनौघशङ्का ॥ ८ ॥
एषोऽसौ मलयोऽलयोऽग्रलवलीवल्लीलसच्चन्दन-
स्फीतामोदमदाद्रसेन तरवो वक्रे क्रियन्ते त्रिभिः ।
सज्वालोदहनाक्षसंस्थितकपोलोष्मोदयोत्ताण्डवे
अङ्गुष्ठाङ्गुलिभिर्यथोष्णककणास्तप्ता यथा योषिताम् ॥ ९ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर उत्तर दिशाकी ओर मुड़े हुए विपश्चित्से मेरुकी तराईमें सुवर्णमय जम्बूनदीके तटोंको दिखलाता हुआ कहता है—'एते' इत्यादिसे ।

ये जम्बूनदीके तट, जिनमें सब गाँव, वन, नगर, उपवन, पर्वत, वृक्ष, ठूँठ और विप्रोंको दिये गये ग्राम सुवर्णमय हैं, सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त होकर चारों ओर जगमगाते हैं तथा ज्वालाओंकी पङ्क्तियोंसे वेष्ठित आकाशमें पहुँचकर चारों ओर दीप्तियोंकी बौछार करते हैं। हे महाराज, यहाँपर इस प्रकारकी यह सारी भूमि देवताओंके उपभोगयोग्य है, मनुष्योंके आवासयोग्य नहीं है ॥ ७ ॥

इस पर्वतकी मेघसदृश कदम्बवनरूपी कम्बलको धारणकर रही सूर्यके मार्गको चूमनेवाली शिखरभूमियाँ शोभा पा रही हैं। अतः इन भूमियोंमें मेरी भूमिकी तरह ही ये भी भूमियाँ ही हैं ऐसी आपकी बुद्धि हो, ये सूर्यको ढकनेवाली आकाशस्थ मेघराशियाँ हैं, ऐसी शङ्का आप न करें ॥ ८ ॥

दूसरा पार्श्वचर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थित विपश्चित्से मलयाचलका वर्णन करते हुए कहता है— 'एष' इत्यादिसे ।

महाराज, समीपमें दिखलाई दे रहा यह मलयाचल है, इसके प्रभावका क्या बखान करें, श्रेष्ठ लवलीलताओंसे विभूषित चन्दन-वृक्षोंकी प्रचुर मनोहर सुगन्धिसे इसके और वृक्ष भी चन्दन बन जाते हैं, देवता, असुर और मनुष्य उनका मुखकमलमें

एषोऽब्धिधौतकलधौतजटाधिरूढ-
भोगीन्द्रभोगपरिवेष्टितचन्दनोऽगः ।
विद्याधरीवदनपङ्कजदीप्तिपुञ्ज-
हेमीकृताखिलशिलो मलयाभिधानः ॥१०॥

कूजत्कुञ्जकठोरगह्वरनदीकत्कारवत्कीचक-
स्तम्भाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाचलोऽयं गिरिः
एतस्मिन्प्रबलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहणतरुस्तम्भेषु कुम्भीनसाः ॥११॥

कोमलकनकलतालय-
विलसितललनाविलोलवलयकृतम् ।
श्रवणरसायनपानं
विततमिहाऽऽकर्णयाऽस्य तटे ॥१२॥

भृंगके तुल्य तिलक लगाते हैं और इसकी मनोहर सुगन्धिसे भगवान् शिवजीके कपोलोंमें गर्मी पैदा करनेवाले ताण्डव नृत्यमें उत्पन्न हुए गरम स्वेदबिन्दु स्त्रियोंके सुरतश्रमसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंकी भाँति अत्यन्त शीतल बनाये जाते हैं ॥ ९ ॥

इस मलयाचल पर्वतने, जिसके सागरसे धोये गये सुवर्णमय तटोंपर उगे हुए चन्दन-वृक्ष साँपोंसे परिवेष्टित रहते हैं, विद्याधर स्त्रियोंके वदनकमलके कान्तिपुञ्जसे सकल शिलाओंको सुवर्णमय बना दिया है ॥ १० ॥

यह क्रौञ्चाचल पर्वत है। इसमें रहनेवाले कौए निकुञ्जों, शिलामय प्रदेशों (पथरीली भूमियों), गुफाओं और नदियोंकी तालध्वनियोंसे युक्त बज रहे बाँसोंके गीतोंको सुननेकी तीव्र इच्छासे चुपचाप हो गये हैं। इसमें इधर उधर उड़ रहे मयूरोंकी केकाध्वनियोंसे भयभीत हुए साँप खोखलेवाले पुराने वृक्षोंके तनोंमें अपने शरीरको छिपाये रहते हैं ॥ ११ ॥

हे राजन्, यहां इस क्रौञ्चाद्रिके तटपर कोमल कनकलतासे निर्मित निकुञ्जमें कान्तके साथ क्रीडा कर रहीं ललनाओंके रत्यवस्थामें चञ्चल कंकणोंसे किया हुआ कानोंके लिए अतिमधुर होनेसे रसायनपानके तुल्य दूरतक फैले भूषणशब्दको आप सुनिये ॥ १२ ॥

करिकरटगलितमदजल-
वलितश्चलवीचिचञ्चरीकचयैः ।
चर्वित एष कदर्थित इव
कणनिकरो विरौति वारिनिधौ ॥ १३ ॥

पश्याऽमलेन्दुरामृत-
नवनीतशरीरसुन्दरीवलितः ।
पितुरुत्सङ्गे कुरुते
जललीलां क्षीरवारिनिधौ ॥ १४ ॥

नृत्यन्ति मत्तकलकोकिलकाकलीकाः
पश्याऽमले मलयसानुनि बालवल्ल्यः ।
लोलालिजालनयनारुणपत्रपाणि-
पुष्पा मधूत्सवविलासविशेषवत्यः ॥ १५ ॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंसे चुए हुए मदजलोंसे मिश्रित अतएव चञ्चल भ्रमर-वृन्द द्वारा चबाया हुआसा पीडित कणसमूह सागरमें मानो रोता है ॥ १३ ॥

कोई पार्श्वचर सागरमें प्रतिबिम्बित चञ्चल चन्द्रबिम्बको दर्शाते हुए कहता है—'पश्या०' इत्यादिसे ।

हे राजन्, अमृत-मथनसे उत्पन्न हुए नवनीतके सदृश स्वयं निर्मल चन्द्रमा वैसी ही सुन्दर शरीरवाली सुन्दरियोंसे परिवृत्त होकर क्षीरसागरमें प्रतिबिम्बित हो पिताकी गोदमें जलक्रीड़ा करता है ॥ १४ ॥

दूसरा कोई पार्श्वचर मलय पर्वतपर राजाको लतानृत्य दिखलाता है—'नृत्यन्ति' इत्यादिसे ।

निर्मल मलयपर्वतशिखरमें बाललताएँ नाचती हैं देखिये, मतवाले कोकिलोंकी मीठी तान ही इनका पञ्चमस्वर है, चञ्चल भ्रमरवृन्द ही इनके नयन हैं, नूतन किसलय-रूपी हाथोंमें उन्होंने फूल ले रक्खे हैं और वसन्तोत्सवके विलासरूप पुष्पपरागोंका तिलक लगा रक्खा है ॥ १५ ॥

कोई तीन उत्तम मोतियोंकी खानों और उनमेंसे उत्तम मोतियोंकी उत्पत्तिका वर्णन करता है—'वंशानाम्' इत्यादिसे ।

वंशानां हृदि पर्वतेषु जलधौ तोयार्थिनीनां तु ये
शुक्तीनां हृदये विशन्ति समये वर्षाम्भसां बिन्दवः ।
ते मुक्ताफलतां व्रजन्ति करिणां कुम्भेषु वाऽन्यद्भवेत्
शुद्धौ मौक्तिकवत्स्युरुत्तमगुणा एतास्त्रिधा जातयः ॥ १६ ॥

शैलेऽब्धौ पुरुषेऽवनौ जलधरे भेके शिलायां गजे
नानाकारधरा भवन्ति मणयः कर्माणि तेषां विभो ।
ह्लादोच्चाटनमारणज्वरभयभ्रान्तिप्रकाशान्धता-
खेदोत्तापनभूनभोगतिदृशो नाशो विधानं तथा ॥ १७ ॥

वातायनोदरगवाक्षकवाटकक्षा-
द्वाराननैरिह पुराण्युदिते पठन्ति ।
श्वभ्राभ्रकन्दरदरीवनवेणुरन्ध्र-
वर्गेण मन्दर इवाऽमृतसिन्धुमिन्दुम् ॥ १८ ॥

पर्वतोंमें विशेष बाँसोंकी गाँठके छेदमें और सागरमें जलाकाङ्क्षिणी सीपोंके भीतर स्वाति नक्षत्रमें जो वर्षाबिन्दु प्रविष्ट होते हैं, वे मोतीका रूप धारण करते हैं एवं मोतियोंकी तीसरी जाति गन्धगजोंके मस्तकोंमें होती है। इन पूर्वोक्त मोतियोंकी ये तीन प्रसिद्ध जातियाँ स्थानशुद्धि होनेपर स्थूलतारूपी उत्कृष्ट गुणसे भी उत्तम गुणवाली होती हैं ॥ १६ ॥

इसी प्रकार रत्नोंकी भी विभिन्न आकरोंमें (खानोंमें) उत्पत्ति और विभिन्न गुण और कार्यसिद्धि रत्नशास्त्रमें प्रसिद्ध है, यह कहते हैं—'शैले' इत्यादिसे ।

हे प्रभो, पर्वतमें, सागरमें, पुरुषमें, पृथिवीमें, मेघमें, मेढकमें, पत्थरमें और हाथीमें नाना आकारवाली मणियाँ होती हैं। कृपया आप उनके काम सुनिये, संतापनिवृत्ति, शत्रुओंका उच्चाटन, मारण, ज्वर, भीति, भ्रान्ति, अन्धता, खेद, उत्तापन तथा अपने स्वामीके प्रति व्यवहित (छिपी हुई) तथा दूरस्थित वस्तुओंको प्रकाशित करना, दूर गमनकी शक्ति पैदा करना, या भूमि में छिपकर गमनशक्ति, आकाशगति उत्पन्न करना, अतीत और भविष्यको दिखाना, रोग तथा दुर्भिक्षका शमन करना, दूसरों द्वारा प्रयुक्त विष, कृत्या, यन्त्र, मन्त्र आदिका प्रतीकार करना आदि ॥ १७ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर चन्द्रोदयके समय नगरमें हर्षवश हुए खिड़की आदिसे

एतच्छृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
प्रालेयाद्रेः प्रतितटवनं प्रोत्पतत्यभ्रमूर्ध्वं
वज्रस्तम्भो गगनसुतलोत्तोलनायेव भूमेः ॥ १९ ॥

गङ्गातरङ्गहिमसीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ।
पुष्पाभ्रसंवलितपुष्पितकाननानि
राजन्विलोकय महेन्द्रगिरेस्तटानि ॥ २० ॥

देशान्तरेषु विततानि वनान्तराणि
पुष्पस्थलान्युपवनान्यथ पत्तनानि ।

जनघोष और मन्दर पर्वतमें गर्त आदिके घोषके उपमानोपमेयभावसे उत्प्रेक्षा करत है—'वातायने' इत्यादिसे ।

इस प्रदेशमें नगर, चन्द्रमाके उदित होनेपर खिड़की, झरोखे, दरवाजे आदि-रूपी मुँहोंसे अमृतसिन्धुभूत चन्द्रमाकी ऐसे ही स्तुति करते हैं जैसे कि मन्दराचल गर्त, मेघ, गुफा, बनैले बाँसोंके छिद्रोंसे अमृतसागररूप चन्द्रमाकी स्तुति करता है ॥ १८ ॥

कोई हिमालयके तटोंसे मेघोंकी उड़ानमें पवन द्वारा किये गये शिखरहरणकी तथा भूमिसे उठे हुए आकाश-पातालको तोलनेके खम्भेकी उत्प्रेक्षा करता है—'एतत्' इत्यादिसे ।

आकाश और पातालकी गुरुता और लघुताके परीक्षार्थ तोलनेके लिए भूमिके वज्रस्तम्भकी नाईं हिमालयकी तटवनभूमियोंसे मेघ ऊपर उड़ता है । ऊपरकी ओर मुँह की हुई मुग्ध (भोली) सिद्धाङ्गनाओं द्वारा बड़े आश्चर्यके साथ देखा गया वायु मानो इस पर्वतके शिखर ले जाता है क्या ॥ १९ ॥

हे राजन्, गङ्गातरङ्ग और हिमके कणोंसे शीतल महेन्द्र पर्वतके तटोंको देखिये । इनके सुन्दर शिलातलोंपर विद्याधर लोग बैठे हैं और इनके पुष्पित वन फूल और मेघोंसे व्याप्त हैं ॥ २० ॥

पुण्यतम प्रदेश, वन, तीर्थ आदिके दर्शनसे दौर्भाग्यनिवृत्तिरूप महान् फल होता है, ऐसा कहते हैं—'देशान्तरेषु' इत्यादिसे ।

देश-देशान्तरोंमें फैले हुए अन्यान्य वनों, पुष्पवाटिकाओं, उपवनों तथा

तीर्थेषु पूतभुवनानि जलानि दृष्ट्वा
दौर्भाग्यभीतिरपयाति जवानुविद्धा ॥ २१ ॥

शृङ्गाणि पूरितदिगन्तरमण्डलानि
श्वभ्राभ्रकन्दरनिकुञ्जकुलाकुलानि ।
व्योमोपमान्यपि च वारिधिकुण्डलानि
दृष्ट्वा गलन्ति कुकृतानि बृहत्तराणि ॥ २२ ॥

रम्याश्चन्दनवीथयो हि मलये विन्ध्ये मदान्धा गजाः
कैलासे नृप पादजाति कनकं चन्द्रं महेन्द्राचले ।
दिव्याश्चौषधयस्तुषारशिखरे सर्वत्र रत्नानि वै
सन्त्यन्धाखुवदेष जीर्णसदने व्यर्थं जनो जीर्यते ॥ २३ ॥

सोन्नतं जगदिवोरुतटाकं
वारिणा विवलितं तिमिरेण ।
प्रस्फुरन्ति च युगान्त इवैता
विद्युतः शफरिका इव लोलाः ॥ २४ ॥

नगरोंको और तीर्थोंमें पवित्र स्थानों और जलोंको देखकर दौर्भाग्यभीति बड़े वेगसे दूर भाग जाती है ॥ २१ ॥

दिशाओंके मध्यवर्ती अवकाशको पाट देनेवाले गर्त, मेघ, गुफा और निकुञ्जोंसे परिपूर्ण आकाशतुल्य पर्वतशिखरोंको तथा निर्मल सेतुबन्धादि तीर्थोंको देखकर बड़े बडे ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

राजन्, मलयाचलमें चन्दनवृक्षोंकी मनोहर श्रेणियां हैं, विन्ध्याचलमें मतवाले हाथी हैं, कैलासमें श्रेष्ठ सुवर्ण है, महेन्द्राचलमें चन्द्र (हीरा) है, हिमालयमें दिव्य ओषधियाँ हैं, सब स्थानोंमें रत्न हैं, किन्तु भाग्यहीन पुरुष उनको न देखकर अन्धे चूहेकी तरह जीर्ण-शीर्ण घरमें वृथा दिन बिताता है ॥ २३ ॥

मेघरूपी अन्धकारसे आवृत ये दिशाएँ प्रलय कालमें जलसे व्याप्त अन्तरिक्ष-लोक तक भरे जगद्रूपी एक तालाब-सी मालूम पड़ती हैं और उनमें चञ्चल बिजलियाँ तालाबोंमें मछलियाँ-सी फुरती हैं ॥ २४ ॥

सावश्यायाश्याननीहारधारा
धारोद्गारान्वारिदान्मादयन्तः ।
शीतानीतोद्दामरोमाञ्चचर्चाः
प्रोद्यच्छब्दं वान्त्यहो वर्षवाताः ॥२५॥

हा वाति नीलजलदप्रसरानुसारी
वातः किरन्विटपिपल्लवपुष्पगुच्छान् ।
धीरोत्करद्रुमवनान्तरचारचारु-
रासारसीकरकदम्बकसारसारः ॥२६॥

मारुताः सुरतक्लान्तकान्तानिःश्वसितैरिमे ।
वहन्ति वृद्धिं गन्धं च लवं स्वर्गादिव च्युताः ॥२७॥

कुवलयकुवलयविकचन-
कुसुमलताविदलनोद्यता मृदवः ।
घनपटपाटनपटवो
विधुतोपवना वहन्त्यमी पवनाः ॥२८॥

स्वयं हिमकणोंसे लदे हुए, भूमिस्थित तुषारपङ्क्तिको शोषण द्वारा हल्की बनानेवाले, जलधारा वर्षानेवाले तथा मेघोंको मतवाले बना रहे शीतस्पर्शसे शरीरोंमें प्रचुर रोमाञ्च पैदा करनेवाले ये वर्षाऋतुके वायु सायँ सायँ बहते हैं ॥२५॥

अहा, नीले बादलोंका पीछा करनेवाला यह धीर वायु बह रहा है। यह पेड़ोंके पल्लव और फूलोंके गुच्छोंको बखेर रहा है, अङ्कुर और पेड़-पौधोंके बनोंके अन्दर संचारसे भला लगता है एवं मूसलाधार वृष्टिके जलकणोंसे अत्यन्त ही सुहावना है ॥ २६ ॥

जैसे स्वर्गसे च्युत हुए जीव पूर्व पुण्यवासनाके लेशको धारण करते हैं वैसे ही सुरतसे क्लान्त (श्रान्त) कान्ताओंके निश्वासोंसे ये वायु वृद्धि और सुगन्धिको धारण करते हैं ॥ २७ ॥

भूमण्डलके कमलोंको खिलाने और पुष्पलताओंको खोलनेमें सचेष्ट, मेघरूपी वस्त्रोंकी चीरफाड़ (छेदन-भेदन) में दक्ष तथा उपवनोंको कम्पित करनेवाले ये मन्द सुगन्ध शीतल पवन बहते हैं ॥ २८ ॥

संध्याभ्रलेशानुपयन्ति वाता
नभस्तले कोमलकम्पनेन ।
नृपाङ्गणे पुष्पविचित्रलेखा-
नुवासिते भृत्यवरा इवैते ॥२९॥

क्वचित्कुसुमगन्धयः कमलवर्गगन्धाः क्वचि-
त्क्वचित्कुसुमवर्षिणो ललितकेसरासारिणः ।
क्वचिच्च हिमपाण्डवो हरितपीतलश्यामला
वहन्ति शिखरानिलाः सुरतमन्दघर्मच्छिदः॥ ३०॥

क्वचिद्धुंकारकांकारैरङ्गारनिकरान्करैः ।
किंकरैर्विकिरत्यर्को मूर्खसंसर्गवानिव ॥३१॥

नररसायनतृप्तिविमुक्तया
प्रमदया मदयापितलज्जया ।
उपगते वपुषा न विषह्यते
विषविमूर्च्छनयेव समायता ॥३२॥

जैसे फूलोंकी विविध विचित्र पङ्क्तियोंसे सुसज्जित (फूलोंसे सजाये गये) राजाके आँगनमें मन्त्री आदि श्रेष्ठ भृत्य फूलोंको बिना कुचले जतनसे चलते हैं वैसे ही ये वायु गगनतलमें मन्द-मन्द कम्पनके साथ सान्ध्य मेघोंके समीप जाते हैं ॥२९॥

ये पर्वत-शिखरके वायु कहींपर फूलोंकी सुगन्धिसे भरे हैं तो कहींपर विविध कमलोंकी भीनी-भीनी गन्धवाले हैं, कहींपर सुन्दर केसरराशिसे लदे हैं तो कहींपर बर्फसे सफेद हैं और कहींपर हरे, पीले और काले पर्वतीय धातुओंसे हरे, पीले और काले रंगके हैं। ये सुरतमें क्लान्त लोगोंके स्वेदबिन्दुओंको दूर करते हुए बह रहे हैं ॥ ३० ॥

कहींपर सूर्य मूर्खोंकी कुसंगतिमें पड़े पुरुषकी नाईं सेवकोंकी भाँति आज्ञाकारी सूर्यकान्तमणियोंसे गुफा आदिमें जलाये जा रहे प्राणियोंके हुंकार और चीत्कार पूर्ण रोंदनोंसे युक्त अंगारोंको अपनी किरणोंसे (हाथोंसे) फेंक रहा है ॥ ३१ ॥

पुरुषरूप (संगम द्वारा आस्वादनीय) रसायनमें अतृप्त अतएव मदवश लज्जारहित महिला द्वारा शरीरसे आलिङ्गित पुरुषकी सुरतकी समाप्तिके लिए आवश्यक अन्यान्य कार्य वर्णनरूप वञ्चनोक्ति विषविमूर्च्छनासे हुई अपनी मृत्युके समान नहीं सही जाती है ॥ ३२ ॥

वलिततामरसा मृदुसीकराः
शशिकरोत्करवीचिविभेदिनः ।
सदहना इव तापमयाः पुरो
विरहिणीषु वनावनिवायवः ॥३३॥

इह हि पूर्वपयोधितटावटे
विकटपत्रपटाः कटकीतटाः ।
नवमदासवयौवनसंश्रयाः
कलय यान्ति कथं शबरस्त्रियः ॥३४॥

नवरसासवसारनिशागम-
क्षयभयातुरचित्ततयाऽङ्गना ।
त्यजति कान्तमियं न मनागपि
द्रुतमितो वलितेव पुरोऽहिभिः ॥३५॥

प्रभाततूर्यमुखरैर्दिवसैरिव तर्जिता ।
हृद्येव स्फुटिता नारी निलीना दयितोरसि ॥३६॥

प्रोत्फुल्लकिंशुकैषा
दक्षिणजलधेस्तटेऽत्र वनराजी ।

कमलोंकी सुगन्धिसे परिपूर्ण, शीतल जलकणोंसे लदे हुए, चन्द्रकिरणोंके समूहकी तरह स्वच्छ लहरियोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले सामने बह रहे ये वनभूमिके स्वच्छ वायु विरहिणी नारियोंके लिए अग्निपूर्णके तुल्य संतापकारी होते हैं ॥ ३२ ॥

हे राजन्, इस पूर्वसागरके तटरूप निचली भूमिमें काँसेके कड़े पहनी हुई बड़े बड़े पत्ते रूपी वस्त्रवाली शबरस्त्रियाँ, जो नवीन मदरूप आसवको पैदा करनेवाले यौवनसे युक्त हैं, देखिये कैसे चल रही हैं ॥ ३४ ॥

यह महिला विलक्षण सुरतानन्दको देनेवाले मदसंभोगसे युक्त रात्रिके बीतनेके भयसे दुःखी होकर सामने दिखाई दे रही सांपोंसे वेष्टित चन्दनलताकी तरह द्रवित हुए अपने पतिको जरा भी नहीं छोड़ती है ॥ ३५ ॥

नौबतखानेमें बजी हुई प्रातःकालकी सहनाईसे कोलाहलयुक्त दिवसों द्वारा डाँटी-डपटी गई अतएव विदीर्ण हृदय-सी नारी अपने पतिके वक्षःस्थलमें विलीन हो गई है ॥ ३६ ॥

यहां दक्षिण महासागरके तीरपर इस वनपङ्क्तिको, जिसमें किंशुकके पेड़

ज्वलितेव जलतरङ्गैः
पौनःपुन्येन सिच्यतेऽम्बुधिना ॥३७॥
अस्या निर्यान्त्यनिलै-
र्धूमा इव कृष्णकेसराम्बुधराः ।
अङ्गारा इव कुसुमा-
न्युपशान्ताङ्गारवच्च खगभृङ्गाः ॥३८॥
ईदृश्येव विलोकय
वनराजी सत्यवह्निना ज्वलिता ।
गिरिशिरसि तूत्तरस्यां
दिशि दूरे धूयते च खे पवनैः ॥३९॥
क्रौञ्चाचलस्य भुवि मन्थरमेघचक्र-
गम्भीरताररवनर्तितबर्हिणीयम् ।
पश्योत्थितं तुमुलमाकुलवर्षवात-
व्याधूतपुष्पफलपल्लवकाननीयम् ॥४०॥

फूले हैं, अतएव जो जली हुई सी दिखाई देती है, सागर अपनी जलतरङ्गोंसे बार-बार सींचता है, देखनेकी कृपा कीजिये ॥ ३७ ॥

फूले हुए किंशुकवृक्षोंसे भरी हुई इस वनपङ्क्तिसे धूमके समान काले-काले ऊपरी भागसे युक्त मेघ धूमके समान निकलते हैं, किंशुकके फूल अंगारोंकी भाँति निकलते हैं और पक्षी तथा भँवर बुते हुए अंगारोंकी तरह निकलते हैं ॥ ३८ ॥

जिसमें सच आग नहीं थी, किन्तु किंशुक फूलरूप कल्पित आग थी, ऐसी बनपङ्क्तिको दिखलाकर उत्तर ओर सच आगवाली वनराजिको कोई पार्श्वचर दिखलाता है—'ईदृश्येव' इत्यादिसे ।

महाराज, यहाँसे दूर पर्वतकी चोटीपर उत्तर दिशाकी ओर सच आगसे जल रही ऐसी ही वनपङ्क्ति वायु द्वारा आकाशमें कँपाई जाती है, कृपया दृष्टिपात कीजिये ॥ ३९ ॥

राजन्, क्रौंचाचलकी भूमिमें मन्द-मन्द चलनेवाले मेघवृन्दके गंभीर और तेज गर्जनोंसे नाच रहे मयूरोंसे पूर्ण तथा तेज वृष्टि और वायुसे गिरे हुए फूल, फल और पल्लवोंसे पटे हुए ऊँचे वनसमूहको कृपया देखिये ॥ ४० ॥

अस्ताचले विकटकाञ्चनकूटकोटि-
संघट्टनस्फुटितजर्जरचारुसंधिः ।
खर्वं रथः पतति स स्म रवेः सचक्र-
चीत्कारतारतरकूबररास एषः ॥४१॥
भुवनभवनप्राकारेऽद्रौ निशाकरमेरुकं
परिविकसितं भीतं भासा मलालिरुपाश्रितः ।
तदिह जगतां वस्तु श्रेष्ठं न किंचन विद्यते
विधिरुपहतः कुर्यान्नो यत्क्षणेन कलङ्कितम् ॥४२॥
त्रिभुवनहराट्टहासो
भुवनमहाभवन एष मङ्कोलः ।
क्षीरसलिलावपूरो
गगनाब्धेश्चान्द्र आलोकः ॥४३॥
स्पृष्टप्रदोषमयमन्दरमथ्यमान-
चन्द्रार्णवोल्लसितदुग्धतरङ्गभङ्गैः ।

यह सूर्यका रथ अस्ताचल पर्वतमें ऊँचे नीचे सुवर्णमय शिखरोंकी नोकोंसे टकरानेके कारण सुन्दर जोड़ोंमें जर्जरित हो पहियोंकी घरघराहटसे तीक्ष्णतर कूबरध्वनि-वाला होकर नीची भूमिमें उतर रहा है ॥ ४१ ॥

भुवनरूपी भवनके प्राकार (प्राचीर) रूप उदयाचल पर्वतके शिखरपर चन्द्रमारूपी माङ्गलिक फूल मङ्गलसूचक होनेसे अमङ्गलसे भयभीत हो चारों ओर कान्तिमे विकसित हुआ । उस प्रकारके मङ्गलमय फूलके समीप भी अमङ्गलकारो विधि द्वारा प्रेरित हुआ कलङ्करूपी भ्रमर प्राप्त हो ही गया । ऐसी परिस्थितिमें इस भुवनमें ऐसी श्रेष्ठ वस्तु कोई भी नहीं है, जिसे कलमुँहा विधि क्षणभरमें कलङ्कित न कर दे । भाव यह कि पृथ्वीका स्पर्श न कर पर्वतशिखराकाशमें चलनेवाले चन्द्रमाकी जब यह दशा है, तब औरकी तो कथा ही क्या है ॥ ४२ ॥

यह चन्द्रमाकी चाँदनी प्रदोषकालमें नाच रहे त्रिभुवनसंहारकारी शिवजीका अट्टहास है या भुवनरूपी महाभवनकी चूने आदिसे होनेवाली सफेदी है या आकाशरूपी समुद्रके दुग्धरूपी जलका स्वच्छ प्रवाह है ॥ ४३ ॥

सन्ध्याके धातुरागोंसे मिश्रित प्रदोषमय मन्दरसे मथ्यमान चन्द्रमारूपी क्षीर-

पश्य प्रभापटलकैः परिपूरिताङ्गीः
पूरैरिवोग्रसरितः प्रसरद्भिराशाः ॥४४॥

एते पतन्त्यतुलतालकरालसलोल-
वेतालबालवलिता निशि गुह्यकौघाः ।
हूणेश्वरस्य नगराणि निरस्तशान्ति
स्वस्तिश्रवादिविकलानि बलेन भोक्तुम् ॥४५॥

तावद्विभाति गगने परिपूर्णचन्द्रो
यावद्वधूवदनमेति न सद्मबाह्यम् ।
अभ्युद्गतेऽङ्गणनभस्यबलाननेन्दा-
विन्दोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥४६॥

वृद्धानि चन्द्रांशुनवाम्बराणि
गङ्गौघनिर्धूतशिलान्यमूनि ।
हिमाततान्युग्रलताजटानि
तुषारशैलेश्वरमस्तकानि ॥४७॥

सागरसे उछले हुए दुग्धतरङ्गखण्ड ऐसे फैल रहे प्रभाजालोंसे, जो शिवजी द्वारा छोड़ी गई गङ्गाजीके फैल रहे प्रवाह जैसे स्वच्छ हैं, परिपूरित अवयववाली दिशाओंको देखिये ॥ ४४ ॥

हे अनुपम, तालके वृक्षोंके तुल्य कराल वेतालोंके बच्चोंसे परिवृत ये गुह्यकगण रात्रिके समय शान्तिपाठ, स्वस्तिवाचन आदि मङ्गलाचरणोंसे रहित अतएव उत्पातोंसे पीडित आपके शत्रु हूणेश्वरके नगरवासियोंको खानेके लिए जाते हैं ॥ ४५ ॥

आकाशमें पूर्ण चन्द्रमा तभीतक शोभा पाता है जब तक कि वधूका मुँह घरके बाहर खुले आंगनमें नहीं आता। घरके बाहरके आँगनरूपी आकाशमें वधूमुखरूपी चन्द्रमाके उदित होनेपर तो उसकी सुन्दरताके सामने फीके पड़े चन्द्रमा और सफेद बादलके टुकड़ेमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है ॥ ४६ ॥

कोई अन्य पार्श्वचर चन्द्रकिरणोंसे व्याप्त हिमालयके शिखरोंका वर्णन करता है—**'वृद्धानि'** इत्यादिसे ।

ये हिमालय पर्वतके विशाल हिमाच्छन्न शिखर हैं। ये चन्द्रकिरणरूपी नूतन वस्त्र पहने हैं, गङ्गाके प्रवाहसे इनकी शिलाएँ हिल रही हैं तथा बड़ी बड़ी लताएँ इनकी जटा-सी मालूम हो रही हैं ॥ ४७ ॥

स एष मन्दारवनावतंसो
दोलाप्सरोगेयविसारिवातः ।
क्वचिन्मणिद्योतविचित्रचित्रः
संदृश्यते व्योमनि मन्दराद्रिः ॥४८॥
प्रोन्निद्रनीरन्ध्रशिलीन्ध्रसान्द्र-
पुष्पार्घ्यपात्रभ्रमहामहीध्राः ।
सान्द्राभ्रनिर्ह्रादगभीरकुक्षौ
सर्क्षान्तरिक्षश्रियमुद्वहन्ति ॥४९॥
इतः स कैलासगिरिर्गरीयसा
प्रभाप्रवाहेण मितेन यस्य खम् ।
शम्भोरिवाऽऽभाति सुतस्य कुट्टिमं
चन्द्रोऽपि च क्षीरसमुद्रगो यथा ॥५०॥
स्थाणूनां छिन्नशाखानां मृन्मयानां च वासवः ।
संधत्ते पश्य दूराणां वातैर्मुक्तशिखा इव ॥५१॥

पारिजातके वृक्षोंसे विभूषित यह मन्दराचल, जिसका पवन झूल रही अप्सराओंके गीतोंको फैलाता है और जो कहींपर मणियोंकी प्रभासे विचित्रस्वरूप है, अति ऊँचा होनेके कारण आकाशमें दिखाई देता है ॥ ४८ ॥

खिले हुए और फूलोंसे भरे हुए कुकुरमुत्तारूप पुष्पपूर्ण अर्घ्यपात्रोंको धारण करनेवाले महान् पर्वत तेज मेघनिर्घोषोंसे गंभीर कन्दरामें नक्षत्रोंसे पूर्ण आकाशकी शोभा धारण करते हैं ॥ ४९ ॥

यहाँसे, उत्तरकी तरफ प्रसिद्ध कैलासपर्वतपर दृष्टि-निक्षेप कीजिये जिसके चारों ओर व्याप्त हुए विस्तृत प्रभाप्रवाहसे आकाश नीचेकी तरफ भगवान् शिवजीके पुत्र श्रीस्वामी कार्तिकेयका मोतीके चूर्णसे बना क्रीडागृहका ~~सचस्प~~ शोभित हो रहा है । ऊपरकी तरफ जैसे क्षीरसागरमें डूबा चन्द्रमा शोभित होता है वैसे ही शोभित होता है ॥ ५० ॥

राजन्, कौतुकी इन्द्र कुल्हाडोंसे जिनकी शाखाएँ कट गई हैं ऐसे ठूँठ और अग्नि द्वारा जिनकी छप्पर आदि शाखाएँ नष्ट हो गई ऐसी मिट्टी की दीवार, जो एक दूसरेसे दूर हैं,—दोनोंमें वृष्टिसेकसे अङ्कुर पैदा कर दोनोंको खुली शिखावाले-से बनाकर वायु द्वारा मानो परस्पर बाँधनेके लिए इकट्ठा करता है ॥५१॥

एते कदम्बकुलकुन्दसुगन्धिवाता
लिम्पन्ति मांसलतया मकरन्दवृष्टेः ।
घ्राणं घनैः परिमलैरलिजालनीला
व्यालोड्य मेघपटलैः खमिवाऽभ्रकायाः ॥५२॥

उन्निद्रकुड्मलदलासु वनस्थलीषु
सच्छायशाद्वलघनेषु च जङ्गलेषु ।
ग्रामेषु संततफलद्रुमसंकुलेषु
लक्ष्मीः स्वयं निवसतीव निवासहेतोः ॥५३॥

वातायनागतलतावृतसौधकोश-
कोशातकीकुसुमकेसरमाहरद्भिः ।
आगुल्फकीर्णमुकुलाजिर एष वातै-
र्ग्रामो विभाति नगरं वनदेवतानाम् ॥५४॥

उन्निद्रामलचम्पकद्रुमलतादोलाविलोलाङ्गनाः
कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमाः ।
उत्फुल्लोज्ज्वलमञ्जरीसितलतागेहोल्लसद्बर्हिणः
पर्यन्तोन्नतसाललम्बजलदा रम्या गिरिग्रामकाः ॥५५॥

महाराज, देखिये, ये विविध प्रकारके कदम्बों और कुन्दोंसे सुगन्धित वायु मकरन्दकी (फूलोंके रसकी) वर्षासे घन, भ्रमरराशिसे काले और मेघके सदृश बन कर तथा सब तरहकी सुगन्धियोंसे सनकर जैसे मेघ आकाशको व्याप्त करते हैं वैसे ही लोगोंकी नाकको व्याप्त कर रहे हैं ॥ ५२ ॥

वर्षा ऋतुमें कलियोंकी विकसित पँखुरियोंसे सुशोभित वनस्थलियोंमें, छायादार वृक्षोंके झुण्डों तथा हरी-हरी दूबसे आच्छन्न मैदानोंसे मनोहर जंगलोंमें एवं कतार बद्ध खड़े फलवाले पेड़ोंसे भरे हुए गाँवोंमें लक्ष्मी अतिशय शोभा देखनेके कारण रहनेके लिए अपने-आप बस जाती है ॥ ५३ ॥

यह सामनेका गाँव, जिसके आँगन झरोखों तक आई हुई लताओंसे वेष्टित महान् घरोंके मध्यमें तोरईके फूल और केसरोंको ला रहे वायुओंसे घुटने तक फूलोंसे भरे हैं, वनदेवताओंके नगर-से मालूम पड़ते हैं ॥ ५४ ॥

महाराज, देखिये ये पर्वतके रमणीय ग्राम हैं, इनमें निर्मल चम्पक-वृक्षोंकी लताके झूलोंमें ललनाएँ क्रीड़ा कर रही हैं, झरनेका जल झर झर ध्वनि कर

वातालोलविचित्रपत्रलतिकासंपूर्णनीलस्थलाः
कूजल्लावककोककुकुटघटा गायत्पुलिन्दाङ्गनाः ।
बालाव्याकुलतर्णका दधिमधुक्षीराज्यपानोज्ज्वलाः
कस्येवाऽमृतमण्डपा विरचिता रम्या गिरिग्रामकाः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णनं नाम पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

अनुचरा ऊचुः

देव पश्याऽत्र संग्राममलग्नसीमान्तभूभृताम् ।
कचन्ति हेतिसंघाता विसरन्ति बलानि च ॥ १ ॥

रहा है, सीमाओंमें चारों ओर ताड़के वृक्ष फूले हैं, विकसित चटकीली मञ्जरियोंसे अलङ्कृत लतागृहोंमें मयूर नाच रहे हैं तथा चारों ओर ऊँचे ऊँचे प्राचीर या वृक्षोंपर मेघ लटके हैं ॥ ५५ ॥

वायुवश हिल रहीं लाल, पीले और हरे पत्तोंवाली छोटी-छोटी लताओंसे इनके हरे-भरे मैदान भरे हैं, गौरेया, कोक और कुक्कुट चहचहा रहे हैं, शबरोंकी स्त्रियाँ गा रही हैं, बालकों द्वारा पालित होनेसे इनमें बछड़े आनन्दमग्न हैं यानी उनमें किसी प्रकारकी घबड़ाहट नहीं है और बालक तथा अव्याकुल बछड़े दही, शहद, दूध और घी पीनेसे खूब तगड़े हैं। इस प्रकारके पर्वतग्राम ब्रह्माके विश्रामके लिए निर्मित मण्डप-से लग रहे हैं ॥ ५६ ॥

एक सौ पन्द्रह सर्ग समाप्त

एक सौ सोलह सर्ग

[संग्राम, आकाश, वियोगी, पर्वतग्राम, पर्वत-गुफाके मेघ और कौओंका वर्णन]

अनुचरोंने कहा—महाराज, यहाँपर युद्धरत सीमाप्रान्तके राजाओंके अस्त्र-शस्त्रोंकी राशियाँ चमचमा रही हैं। चतुरङ्गिणी सेना विलक्षण रीतिसे इधर-उधर चल रही है, कृपाकर देखें ॥ १ ॥

हतान्हतानभिमुखान्वीरान्वीरैः सहस्रशः ।
आरोप्याऽऽरोप्य खं यान्ति पश्य पश्याऽङ्गना रथैः ॥ २ ॥
विजिगीषोः पुनः प्राप्ते संकटे प्रकटे रणे ।
धर्म्यं विराजते युद्धं यौवने सुरतं यथा ॥ ३ ॥
लोकैरनिन्दिता लक्ष्मीरारोग्यं श्रीसमन्वितम् ।
धर्म्यं युद्धं परार्थेन जीवितस्योत्तमं फलम् ॥ ४ ॥
अविरोधेन धर्मस्य युद्धे संमुखमागतम् ।
योधानुरूपं यो हन्ति शूरः स्वर्ग्यः स नेतरः ॥ ५ ॥
हस्तस्थितासिवरनीलसरोजदाम-
श्यामो हयोत्थघनरेणुनिशागमोऽत्र ।
आलोकय क्रमणमेष कथं करोति
प्रोन्नामहेतिभरभूषणभाजि लक्ष्म्याः ॥ ६ ॥

महाराज, देखिये, देखिये, अप्सराएँ वीरों द्वारा संग्राममें अभिमुख मारे गये हजारों वीर योद्धाओंको चढ़ा-चढ़ाकर विमानों द्वारा आकाशमें जा रही हैं ॥ २ ॥

रणमें शत्रुओंका संकट उपस्थित होनेपर बलवान् विजेतासे धर्मके बिना उसका वध शोभा नहीं देता, किन्तु युवावस्थामें धर्मयुक्त (विहित) सुरतके समान धर्मसे युक्त युद्ध ही शोभा देता है ॥ ३ ॥

लोगों द्वारा अनिन्दित लक्ष्मी, श्रीयुक्त आरोग्य, धर्मयुक्त युद्ध और दूसरेके लिए जीवन—ये ही जीवनके उत्तम फल हैं । लोकनिन्दित सम्पत्ति आदि जीवनके फल नहीं हैं ॥ ४ ॥

जो युद्धमें सामने आये हुए योद्धाको धर्मके अविरोधसे योद्धाके अनुरूप* मारता है, वही शूर स्वर्गगामी होता है, दूसरा नहीं ॥ ५ ॥

हे राजन्, उद्यत शस्त्रास्त्ररूपी भूषणोंसे भासुर इस शूरवीर पुरुषमें संग्राम-लक्ष्मीके हाथमें स्थित श्रेष्ठ तलवाररूपी नील कमलोंकी मालासे श्याम, घोड़ोंके खुरोंसे उठी घनी धूलिसे हुआ अन्धकाररूपी यह निशागम संग्रामभूमिमें कैसे क्रमण करता है । आशय यह कि क्या लक्ष्मी इसको इस रात्रिके समयरूप स्वयं-

* योद्धाके अनुरूपका तात्पर्य यह है कि यदि योद्धा एक हो तो एक ही उससे लड़े, यदि किसी सवारीपर हो तो सवारीवाला ही, धनुषसहित हो तो धनुषयुक्त ही, खड्गयुक्त हो तो खड्गयुक्त ही, आयुधरहित हो तो आयुधरहित ही बाहुयुद्ध करता हुआ लड़े, अन्यथा नहीं ।

एते कचन्ति शरशक्तिगदाभुशुण्डो-
शूलासिकुन्तपट्टतोमरचक्रपूर्णाः ।
तापाः सताण्डवकचप्रचले चलेऽब्धौ
देहेन वल्गति भुवीव फणीन्द्रसंघाः ॥ ७ ॥
पश्याऽम्बरं बलवदम्बुधराब्धिपूर्णं
पश्याऽम्बरं तरलतारकतारहारम् ।
पश्याऽम्बरं सुघनसक्तमसैकसारं
पश्याऽम्बरं विशदचन्द्रकरावसिक्तम् ॥८ ॥
यत्राऽनेकसुरासुरास्पदघटा तारापदेशं गता
ऋक्षाणां च यदास्पदं विसरतां सर्वोन्नतानां च यत् ।
तस्मिञ्छून्यमिति प्रतीतिरधुनाऽप्यस्तं गता नाऽम्बरे
कोऽन्यो मार्जयितुं जनोऽज्ञरचितं लोकापवादं क्षमः ॥ ९ ॥

वरमें बरती है या नहीं, यह कौतुक देखिये ॥ ६ ॥

बाण, शक्ति, गदा, बन्दूक, त्रिशूल, तलवार, भाले, तेज तोमर, चक्र आदि हथियारोंसे लदे हुए ये योद्धा इधर-उधर घूम रहे केशरूप तिनके और काठोंसे चञ्चल पर्वतपर प्रज्वलित वनाग्निकी तरह चमकते हैं और उनपर शर, शक्ति आदिके समूह सागरके देहके कम्पित होनेपर पृथिवीपर फैले हुए वहाँके सर्पादिसमूह जैसे चमकते हैं ॥ ७ ॥

महाराज, बलवान्, मेघरूपी सागरसे भरे हुए आकाशको देखिये, चञ्चल तारेरूपी लम्बे हारसे युक्त आकाशपर दृष्टिपात कीजिये, खूब घने अन्धकारके तुल्य काले आकाशको देखिये तथा निर्मल शुभ्र चन्द्रकिरणोंसे धवलित आकाशको देखिये ॥ ८ ॥

जिस आकाशतलमें सुर और असुरोंके अनेक विमान तारोंके सदृश मालूम पड़ते हैं, जो अश्विनी आदि नक्षत्रोंका निवासस्थान है, जो रात-दिन चलनेवाले महोन्नत सूर्य, चन्द्र आदिका भी स्थान है, उस चौगिर्द भरे हुए भी आकाशमें मूर्ख जनोंकी 'शून्य' ऐसी प्रतीति अब तक नष्ट नहीं हुई। जहाँपर इस प्रकारका विशाल और शक्तिशाली आकाश अज्ञों द्वारा लगाये गये अपवादको मिटानेमें समर्थ नहीं हुआ वहाँ दूसरा कौन पुरुष लोकापवादको मिटानेमें समर्थ होगा ? ॥ ९ ॥

मेघाटोपैः प्रलयदहनैरद्रिपक्षाभिघातै-
स्तारापूरैरमरदितिजक्षुब्धसंग्रामसंघैः ।
व्योमाऽद्याऽपि प्रकृतिविकृतिं नाम नाऽऽयात्यसंख्यै-
रन्तः साराशयगुणवतां लक्ष्यते नो महिम्नः ॥ १० ॥
आन्दोलयस्यविरतं गगनार्कमङ्के
नारायणं च शशिनं च तथेराणि ।
तेजांसि भासुरतडित्प्रभृतीनि साधो
चित्रं तथापि न जहासि यदान्ध्यमन्तः ॥ ११ ॥
आकाश काशसि तु यत्र शशाङ्कबिम्बं
त्वत्कीर्णकज्जलतमोमलिनोऽसि तत्त्वम् ।
सज्ञान्न यन्नयसि तत्खलु चित्रमुच्चैः
को नाम वाऽन्तरमलं मलिनीकरोति ॥ १२ ॥

मेघोंके अगणित आडम्बरोंसे, प्रलयकालकी असंख्य अग्नियोंसे, पर्वतोंके क्रोधपूर्ण परोंके आघातोंसे, तारोंके वृन्दोंसे तथा देवता और दैत्योंके संग्रामोंसे आकाश आज तक भी प्रकृति-विकृतिको प्राप्त नहीं होता है । सचमुच जिनके स्थिराशयतारूप गुण हैं, उन्हींकी महिमाका अन्त नहीं दिखाई देता ॥ १० ॥

हे साधो, हे आकाश, तुम सूर्यको निरन्तर अपनी गोदमें झुलाते हो, केवल सूर्यको नहीं, भगवान् नारायण, उनके अनुचर अन्यान्य देवता, चन्द्रमा, अन्यान्य ग्रहों तथा चमकीले बिजली आदि तेजोंको भी अपनी गोदमें झुलाते हो, फिर भी अपने अन्दरके अन्धकारका (कालिमाका) त्याग नहीं करते, यह महान् आश्चर्य है ॥ ११ ॥

हे आकाश, तुम मलिन हो, जहाँपर चन्द्रबिंब छिद्ररूप तुमसे व्याप्त हो काजलके तुल्य काला हुआ वहाँपर कलङ्कके बहाने मैला सबको प्रत्यक्ष दिखाई देता है । ऐसी अवस्थामें तुम अपने सम्पर्कसे सम्पूर्ण चन्द्रबिम्बको जो काला नहीं करते यह बहुत बड़े आश्चर्यकी बात है । अथवा मलिनके संसर्गसे जिसके अन्दर भी मैल हो, वही बाहर भी मलिन किया जाता है जो अन्दर निर्मल है उसे कौन मलिन कर सकता है ? ॥ १२ ॥

अथवा भले ही मलिनता आदि भी दोष तुममें हों फिर भी निर्विकारताके बलपर भी दोषप्रयुक्त सकल अनर्थोंसे विहीनतारूप सुख तुम्हें सुलभ है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'पूर्णस्याऽपि' इत्यादिसे ।

पूर्णस्याऽपि जगद्दोषैः सर्वदैवाऽविकारिणः ।
खस्य मन्ये बुधस्येव सुखं सर्वार्थशून्यता ॥ १३ ॥
कल्पाभ्रद्रुमवीरुदुन्नतिदृशां कर्ताऽसि धर्ताऽसि च
आकाशेन्दुघनार्ककिन्नरमरुत्स्कन्धामराणामपि ।
सर्वं रम्यमसंकुलाशयसमस्वच्छस्वभावस्य ते
यत्त्वेतद्दहनत्वमङ्ग तदहो मुख्याय खेदाय नः ॥१४॥
आकाश काशमसि निर्मलमच्छमुच्चै-
राधार उन्नततयोत्तममुत्तमानाम् ।
त्वामेत्य किन्तु विरलं करकाघनोऽयं
लोकं विदर्मयति तेन परोऽसि नीचैः ॥ १५ ॥
आकाश कर्षकष एव निकर्षणं ते
मन्ये चिरं समचितं न तु किंचिदन्यत् ।
शून्योऽसि यज्जलधरर्क्षविमानचन्द्र-
सूर्यानिलान् वहसि भासि न चाऽर्थशून्यः ॥ १६ ॥

यद्यपि आकाश जगत्के सम्पूर्ण दोषोंसे भरा है फिर भी सदा अविकारी आकाशको तत्वज्ञानीके समान सर्वानर्थ शून्यतारूप सुख है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३ ॥

हे उदारमते, हे अकाश, तुम अपनी उन्नति चाहनेवाले प्रलयकालीन मेघों, वृक्षों और लताओंकी—अवकाश प्रदान द्वारा—उन्नतिके कर्ता हो, सूर्य, चन्द्रमा, मेघ, किन्नर, वायुस्तरों और देवताओंको धारण करते हो (आधार हो), सम और निर्मल स्वभाववाले तुम्हारे सब कार्य रमणीय ही हैं, सुन्दर ही हैं, लेकिन अग्नि और सूर्यके प्रज्ज्वलनको अवकाश देनेके कारण तुममें जो सन्तापकता है; तुम्हारा यह काम हमारे खेदके लिए है, सुखके लिए नहीं है । यह वनाग्नि और सूर्यके सन्तापसे सन्तप्त पुरुषकी उक्ति है ॥ १४ ॥

हे आकाश, तुम अत्यन्त निर्मल, स्वच्छ, चमकदार और उन्नत होनेके कारण उत्तम देवता आदिके उत्तम आधार भी हो, किन्तु अवकाशयुक्त तुम्हारा आसरा लेकर यह ओले बरसानेवाला बादल लोगोंको ओलोंसे घायल करता है, उसके दोषसे तुम अत्यन्त अपकृष्ट हो गये हो ॥ १५ ॥

हे आकाश, मैं तुम्हें सोनेके समान कसौटीके पत्थरपर घिसना बहुत अच्छा समझता हूँ । कसौटीके पत्थरके सिवा दूसरी तुम्हारी परीक्षा लेनेकी जगह नहीं है ।

अह्नि प्रकाशमसि रक्तवपुर्दिनान्ते
यामासु कृष्णमथ चाऽखिलवस्तुरिक्तम् ।
नित्यं न किंचिदपि सद्वहसीति मायां
न व्योम वेत्ति विदुषोऽपि विचेष्टितं ते॥ १७ ॥

अकिंचनोऽपि कार्याणि साधयत्याततशयः ।
अन्तःशून्यमपि व्योम सर्वस्योन्नतिकारणम् ॥१८॥

न तृणसलिलं नैव ग्रामो न नाम च पत्तनं
न च दलभरस्निग्धच्छायस्तरुर्न च सत्प्रपा।
तदपि गगनाध्वानं सूर्यः प्रयाति दिने दिने
विषममपि यत्प्रारब्धं तत्त्यजन्ति न सात्त्विकाः ॥१९॥

क्योंकि तुम शून्य होते हुए भी बादलों, तारों, विमानों, सूर्य, चन्द्र और वायुओंको धारण करते हो, चमकते हो और निष्प्रयोजन भी नहीं हो। सोनेके सब गुण तुममें विद्यमान हैं, अतएव तुम्हारे गुणोंकी परीक्षाके लिए भी सोनेके गुणोंकी परीक्षा लेनेका स्थान समुचित है, यह भाव है ॥ १६ ॥

हे आकाश, तुम दिनमें सूर्यके आतपसे चमकदार रहते हो, रातमें सन्ध्याकी लालिमासे तुम्हारा कलेवर लाल हो जाता है, रात्रिमें तुम काले बन जाते हो। अथच सदा कुछ भी सद् वस्तुको धारण नहीं करते हो, इसलिए सकल वस्तुओंसे रिक्त हो अतः तत्त्वज्ञानीरूप तुम्हारे चरित्रको कोई नहीं जानता है ॥ १७ ॥

हे आकाश, तुम अकिञ्चन हो तुम्हारे पास कुछ नहीं है, फिर भी बिपुल बुद्धि-वाले तुम सब कार्योंको, अवकाश प्रदान द्वारा, सिद्ध करते हो, अन्तःशून्य हो फिर भी सबकी उन्नतिके कारण हो ॥ १८ ॥

आकाशमार्गमें पथिकके विश्रामके साधन न तृण हैं और न जल है, गाँव तो नहीं ही है, कसबे और नगरकी तो तनिक भी संभावना नहीं है, पत्तोंकी राशियोंसे शीतल छायावाले वृक्ष भी नहीं हैं तथा रमणीय पौसारा भी नहीं है फिर भी सूर्य आकाशमार्गमें प्रतिदिन यात्रा करते हैं। सच है, सात्त्विक पुरुष प्रारब्ध किये हुए कामको, चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो, छोड़ते नहीं हैं ॥ १९ ॥

यामा ध्वान्तपटेन शीतलरुचिः कर्पूरपूरैः करै-
रर्कालोकनवांशुकेन दिवसस्तारौघपुष्पोत्करैः।
द्यौरम्भोदतुषारवारिकुसुमैः सर्वर्तवो भूषय-
न्त्येते कालकलात्मनोस्त्रिभुवने व्योमाङ्गणं नाथयोः ॥२०॥
धूमाभ्ररेणुतिमिराकनिशेशसंध्या-
ताराविमानगरुडाद्रिसुरासुराणाम् ।
क्षोभैरपि प्रकृतिमुज्झति नाऽन्तरिक्षं
चित्रोत्थिता स्थितिरहो नु महाशयस्य ॥ २१ ॥
दिग्भित्तिबद्धमिदमूर्ध्वतलान्तरिक्ष-
मुर्वीतलं धनपुराचलभूरिभाण्डम् ।
विद्याधरामरमहोरगजालकारं
लोकौघसंसरणसंघपिपीलिकाढ्यम् ॥ २२ ॥

रात्रि आकाशको अन्धकाररूपी वस्त्रसे, चन्द्रमा कर्पूरके प्रवाहके तुल्य शुभ्र किरणोंसे, दिन सूर्यके आतप (घाम) रूपी नूतन वस्त्रसे, द्युलोक रात्रिके तारा-समुदायरूपी पुष्पराशियोंसे और सब ऋतुएँ मेघ, बरफ तथा जलरूपी पुष्पोंसे भूषित करती हैं। ये सभी मिलकर समय और कलात्मक त्रिभुवनके स्वामी सूर्य और चन्द्रमाके विहारस्थल आकाशको भूषित करते हैं ॥ २० ॥

आकाशरूपी आँगन धूप, बादल, धूलिपटल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, तारावृन्द, विमानराशि, गरुड़, पर्वत, सुर और असुरोंके क्षोभोंसे भी अपनी प्रकृतिका (पूर्वावस्था-का) त्याग नहीं करता है, कारण कि महाशय पुरुषकी स्थिति आश्चर्यमय तथा उन्नत दिखाई देती है ॥ २१ ॥

कोई दूसरा पार्श्वचर त्रिभुवनका एक जीर्णशीर्ण गृहके रूपमें वर्णन करता है—'दिग्भित्ति०' इत्यादिसे ।

देव, इस त्रिभुवनरूपी जीर्ण गृहको, जो दिशारूपी दीवारोंपर खड़ा है, अन्तरिक्ष लोक जिसकी छत है, भूमि जिसका निचला भाग है, मेघ, नगर और पर्वत जिसके बड़े-बड़े बर्तन आदि गृहोपकरण हैं, विद्याधर, देवता तथा महान् नाग जिसमें मकड़ी नामके कीड़े हैं एवं जो जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार प्राणिवर्गरूपी चीटियोंकी बारातसे भरा है, देखनेकी कृपा कीजिये ॥ २२ ॥

कालः क्रिया च भुवनं भवनं चिराय
नामाऽधितिष्ठत इवोपवनं विकासि।
आशङ्क्यते प्रतिदिनं ननु नष्टमेव
नाऽद्याऽपि नश्यति च केयमहो नु माया ॥ २३ ॥
[युगलकम्]

खं मन्ये पादपादीनां रोधयत्यधिकोन्नतिन्।
अकर्तुरेव महतो महिम्नोदेति कर्तृता ॥ २४ ॥
जगतां यत्र लक्षाणि नभवन्त्युद्भवन्ति च।
तच्छून्यमुच्यते व्योम धिक्पाण्डित्यमखण्डितम् ॥ २५ ॥
व्योमन्येव प्रलीयन्ते व्योमतः प्रोद्भवन्ति च।
गच्छतोन्मत्ततामेतामीश्वरान्यभिदा कृता ॥ २६ ॥

जैसे माली और मालिन—पति-पत्नी विकसित (फले-फूले) बागकी रक्षा करते हैं वैसे ही इस प्रकारके इस त्रिभुवनरूपी भवनकी काल और क्रियारूपी पति-पत्नी चिरकालसे रक्षा करते हैं। यद्यपि काल और क्रिया इसकी रक्षा नहीं करते, अपि तु प्रतिदिन इसके नाशकी ही आशङ्का करते हैं तथापि यह आजतक नष्ट नहीं हुआ। नष्ट होता भी है तो प्रवाहसे फिर उग जाता है। अहो नष्ट होता हुआ भी नष्ट नहीं होता, यों विरुद्धधर्मवान् होनेसे यह इन्द्रजालके सदृश है ॥ २३ ॥

आकाश वृक्ष आदि वृद्धिशील वस्तुओंकी अधिक उन्नतिको रोकता है, उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता।

शङ्का—आकाशमें कोई निरोधक व्यापार नहीं , अतः वह निरोधका कर्ता नहीं ही है, इसलिए उसमें विरुद्ध निरोधकर्तृत्व कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् आकाशमें कर्तृता महिमासे ही उदित होती है ॥ २४ ॥

जिसमें लाखों जगत् विलीन होते हैं और जिससे उत्पन्न होते हैं उस आकाशको शून्य कहा जाता है; आकाशशून्यतावादीके ऐसे प्रौढ़ पाण्डित्यकी बलिहारी है ॥२५॥

आकाशमें सब भूत विलीन होते हैं, आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही स्थिर रहते हैं, इसलिए 'जन्माद्यस्य यतः' यह शास्त्रसिद्ध ईश्वरलक्षण आकाशमें ही दीखता है, इसलिए आकाश ही ईश्वर है। आकाश ईश्वरसे भिन्न है, ऐसा भेद उन्मत्तताको प्राप्त (पागल) वादीने किया है ॥ २६ ॥

आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति
सर्गश्रियः कणघटा इव पावकोत्थाः ।
यत्राऽमलं तदहमेकमनादिमध्यं
मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यम् ॥ २७ ॥

आधारमायततरं त्रिजगन्मणीना-
मङ्गे बिभर्त्यमितमन्तरशेषवस्तु ।
व्योमैव चिद्वपुरहं परमेव मन्ये
यत्रोदयास्तमयमेति जगभ्रमोऽयम् ॥ २८ ॥

वनावनौ वनचरचारुकामिना
मनोहरद्रुमगहनेषु गीयते ।
इतो गिरेः शिरसि विलोक्यतेऽमुना
वियोगिना पथि वहता रसाकुलम् ॥ २९ ॥

यदि अग्निसे चिनगारियोंकी तरह आकाशसे ही जगत्के जन्म, स्थिति और लय मानते हो तो आकाश जड़ नहीं है, किन्तु चिद्व्योमरूप मैं ही हूँ, 'मुझमें ही सब उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही स्थित है और सब मुझमें ही लयको प्राप्त होता है। वह अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ' इस आशयकी भगवती श्रुतिसे मैं ही ईश्वर हूँ, यों तटस्थ ईश्वर पक्ष खण्डनार्ह है, ऐसा कोई तत्त्वज्ञानी वहाँपर कहता है—'आयान्ति' इत्यादिसे।

जिसमें सृष्टियाँ अग्निसे उत्पन्न हुई चिनगारियोंकी नाईं उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं, लीन होती हैं और आविर्भूत होती हैं, आदि, मध्य और अन्त शून्य एक निर्मल आकाश मैं ही हूँ, ईश्वर नामका नैयायिकोंका अभिमत तटस्थ कारण दूसरा नहीं है ॥ २७ ॥

जिसमें यह जगद्भ्रान्तिका उदय और अस्त होता है, जो निस्सीम आकाश अपने शरीरमें अशेष वस्तुओंको धारण करता है तथा त्रैलोक्यरूपी मणियोंका विस्तृत आधार है वह आकाश ही चिन्मय पर ब्रह्मरूप है ऐसा मेरा विश्वास है ॥ २८ ॥

कोई पार्श्ववर्ती पर्वतपर विशेष कौतुक दिखलाता हुआ कहता है—'वनावनौ' इत्यादिसे।

पर्वतके शिखरपर वनभूमिमें वनेचर सुन्दर कामी पेड़के रमणीय झुरमुटमें

गीतं शृङ्गतरूच्चपल्लवपुटे निःश्वस्य सोत्कण्ठया
कण्ठाश्लिष्टगिरा वियोगहतया विद्याधराणां स्त्रिया।
यन्नामाऽत्र तदेष नाथ पथिकः सोच्छ्वासमाकर्णयन्
दोलान्दोलनयेव चञ्चलधिया नो याति नोऽनूच्यते ॥ ३० ॥
गायत्यद्रिशिरस्तरौ दलपुटे निःश्वस्य विद्याधरी
काकल्या तिलकं वियोगविधुरा बाष्पाकुलैषा पुरः ।
नाथोत्सङ्गगृहे गृहीतचिबुकं स्मेरं भवच्चुम्बनं
स्मृत्वाऽऽस्वाद्य रसायनं हतसमा नीता मयैता इति ॥ ३१ ॥
अस्याः प्राग्भवसत्पतिः स मुनिना शापेन वृक्षीकृतो
वर्षद्वादशकं तदेव गणयन्त्येषैव साऽत्र स्थिता ।
गायत्युत्कलिता तदेव दयितं तं पादपं संश्रिता
मार्गे मार्गविहारिणां वदनतो राजन्ममैतच्छ्रुतम्॥ ३२ ॥

जो गीत गाता है, नीचे मार्गमें चल रहा यह वियोगी पुरुष उस गीतको सुनकर शृंगार रसाकुल हो ऊपर देखता है ॥ २९ ॥

दूसरा अनुचर वैसा ही दूसरा कौतुक दिखाता हुआ कहता है--'गीतम्' इत्यादिसे ।

हे नाथ, पर्वतशिखरके ऊँचे पेड़के किशलयपुटसदृश निकुञ्जमें वियोगवश दुःखी उत्सुक विद्याधरोंकी स्त्रीने लंबी साँस लेकर रुँधे हुए कण्ठसे जो गीत गाया उसके नीचे चल रहा राही उच्छ्वासपूर्वक उसे सुनकर झूलेकी नाईं झूल रही चञ्चल बुद्धिसे न आगे जाता है और न उसके अनुगामी ही उसे बुलाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ३० ॥

सामने पर्वत-शिखरके वृक्षमें पत्तोंकी आड़में वियोगिनी अतएव बार-बार आँसू गिरा रही यह विद्याधरी साँस छोड़कर बिना कोई तिलक लगाये ही मधुर स्वरसे हे नाथ, मैंने आपके गोदरूपी घरमें चिबुक पकड़कर हँसते हुए आपके चुम्बनका स्मरणकर बार-बार उसका आस्वादन कर यहाँपर इन कलमुँहे वर्षोंको क्लेशसे बिताया इस आशयके गाने गाती है ॥ ३१ ॥

क्यों वह वहींपर बैठी है, ऐसी आशङ्का होनेपर कहता है—'अस्या' इत्यादिसे ।

इसके युवक सुन्दर पतिको (विद्याधरको) मुनिने किसी अपराधवश शापसे बारह वर्ष तकके लिए वृक्ष बना दिया है। उन्हीं वर्षोंको गिन रही यह यहींपर बैठी है।

पश्यैष सोऽस्मदवलोकनशान्तशापो
विद्याधरो विटपितामवमुच्य बालाम् ।
कण्ठेकरोति विटपाकृतिविप्रलम्भै-
स्तैरेव बाहुभिरलं स्फुटपुष्पहासः ॥ ३३ ॥

शिखरिणां करिणां कुसुमोत्करो
विटपिषु स्फुटरोमसु राजते ।
गगनविच्युततारकलीलया
शिखरमेष तुषारसमानया ॥ ३४ ॥

मीनावलीसरभसप्लुतिघट्टिताम्बु-
वीचीविलोलविरुवत्कुररीकराला ।
कावेर्यहो कुसुमशुक्लपटाऽवभाति
निःशङ्करङ्कुकुलसंकुलकूलकच्छा ॥ ३५ ॥

भात्यत्र पश्य रविणा कटके सुवेल-
शैलस्य काञ्चनशिला सकलाऽमलश्रीः ।

उत्कण्ठित होकर उसी अपने पतिरूप वृक्षके आश्रित होकर गाती है । हे राजन्, मार्गमें वियोगी पथिकोंके मुँहसे यह खबर मुझे मिली है ॥ ३२ ॥

हे राजन्, हमारा यहाँ आना और हमारा दर्शन होना यही मुनिने इसके शापान्तकी अवधि की थी, देखिये यह वृक्षभूत विद्याधर हम लोगोंके दर्शनसे ही शापमुक्त हो गया है, अतः वृक्षताका त्यागकर युवती विद्याधरीका शाखाओंके बहाने उन्हीं बाहुओंसे खूब आलिङ्गन करता है। खिले हुए फूल ही उसके हास बन गये हैं ॥ ३३ ॥

दूसरा अनुचर पर्वतोंका वर्णन करता है—'शिखरिणाम्' इत्यादिसे ।

पर्वतरूपी हाथियोंके वृक्षरूपी खड़े हुए रोंगटोंमें पुष्पराशि शिखरोंमें बसन्त ऋतुके हिमकणके सदृश आकाशसे च्युत तारोंकी लीलासे शोभित हो रही है ॥ ३४ ॥

अहा, पुष्परूपी शुभ्र वस्त्र ओढ़ी हुई कावेरी, जो मछलियोंकी तेज उछालोंसे फटी हुई जललहरियोंमें खेल रही शब्दायमान कुररियोंसे भयंकर है तथा जिसके तट और जलमय प्रदेश निःशङ्क मृगकुलसे भरे हैं, बड़ी भली लगती है ॥ ३५ ॥

हे राजन्, इस सुवेलपर्वतशिखरपर सूर्यसे खूब चमचमा रही पूरी सोनेकी

वेलावलोलवरुणालयवीचिभङ्ग-
पर्यस्तवाडवकृशानुकणोपमानम् ॥ ३६ ॥
आसन्नपीनजलदावलितालयानां
गेहोपशल्यपरिफुल्लवनद्रुमाणाम् ।
लक्ष्मीः पलाशपटलावलिताम्बराणां
घोषौकसां समवलोकय पर्वतेषु ॥ ३७ ॥
उन्निद्रपुष्पपटुपाण्डुरपुष्पखण्डा
मन्दारभाण्डविशिखण्डिकरण्डकच्छाः ।
ग्रामाः प्रपातजलजालविलासवाद्या
वल्गद्गुहागहनगीतजना जयन्ति ॥ ३८ ॥
उन्निद्रकन्दलदलान्तरलीयमान-
कूजन्मदान्धमधुपोन्मदपामराणाम् ।
मन्ये न सा भवति तुष्टिरिहाऽमराणां
या गोकुलेषु गिरिगह्वरिणां नराणाम् ॥ ३९ ॥

शिला तटप्रदेशोंमें चञ्चल सागरकी तरङ्गराशियोंसे व्याप्त बड़वानलके कणकी तरह मालूम पड़ती है ॥ ३६ ॥

राजन्, पर्वतोंपर अहीरोंकी टोलीके घरोंकी शोभा देखिये । इनके हरएक घर निकटवर्ती मोटे-मोटे मेघोंसे ढके हैं, घरोंकी आसपासकी भूमियोंमें वनवृक्ष फूले हैं, ढाकके पेड़ोंके झुरमुटोंसे इन्होंने आकाशको पाट रखा है ॥ ३७ ॥

खिले हुए फूलोंसे अत्यन्त शुभ्र पुष्पवाटिकाओंसे भरे हुए ये गाँव, जिनमें मन्दारके वृक्षरूपी बहुतसे फूलोंके वर्तन हैं और नाना प्रकारके मयूरोंके नाचनेके स्थानरूप ठण्डे प्रदेश हैं, प्रपातोंकी (बड़े-बड़े झरनोंकी) जलराशियोंके विलास ही जिनमें मयूरोंके नाचके बाजेका काम करते हैं एवं प्रतिध्वनियोंसे गूँज रही गुहाओंसे पूर्ण जंगलोंमें जिनकी जनता गाना गाती है, स्वर्गसे भी बढ़कर हैं ॥ ३८ ॥

इस पर्वतीय ग्राममें गायोंके झुण्डोंके बीचमें तुरन्त खिली हुई कलियोंकी पँखुड़ियोंके अन्दर छिपे-छिपे गुञ्जन कर रहे मदोन्मत्त भँवरोंके दर्शनसे कामोद्रेकवाले, पर्वतगुफामें रहनेवाले पामर लोगोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह श्रेष्ठ आनन्द नन्दनवनमें विहार करनेवाले देवताओंको भी सुलभ नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ३९ ॥

भृङ्गावदोलितलताकुलकाननान्त-
गायत्पुलिन्ददयिताननदत्तनेत्रम् ।
लीलाकुला गतघृणं गिरिगह्वरेषु
किं घ्नन्ति शत्रुमिव मुग्धमृगं किराताः ॥ ४० ॥
नानाविकासिकुसुमोत्करसारलब्ध-
वल्लीदलावलनशीतलिताध्वगङ्गाः ।
साम्भःप्रथप्रसरणेन तरत्तरङ्गा
ग्रामा गिरीन्द्रगहनेषु जयन्ति चन्द्रम् ॥ ४१ ॥
कूजन्निर्झरवारयः परिसरप्रोन्निद्रतालद्रुमा
हेलोल्लासितपुष्पपल्लववलद्वल्लीवितानाम्बराः ।
पर्यन्तोन्नतसाललम्बिजलदा रम्या गिरिग्रामका-
श्चन्द्राश्वत्थमितावनिं शशिपुरोद्यानस्य भागा इव ॥ ४२ ॥

भृंगों द्वारा झूलनेके लिए झूला बनाई गई लताओंसे हलचलवाले जंगलके अन्दर गुफाओंमें गा रही शबरियोंके मुँहोंपर सतृष्ण टकटकी लगाये हुए अतएव शृङ्गारिक चेष्टावाले किरात सुन्दर भोले-भाले मृगोंको शत्रुको तरह कैसे मारते है ? ओहो, अन्यत्र दृष्टि लगाये और अन्यमनस्क शबरोंकी चञ्चल निशानेको वेधनेकी चतुराई तथा ऐसे अवसरपर भी निर्दयता विस्मय पैदा करती है। अथवा मृगोंसे कम्पित लताओंके सदृश पुलिन्द-ललनाओंके नेत्रोंकी सुन्दरताहरण और लतापल्लवभोजनरूप धर्मका उनमें परिज्ञान होनेसे उन्हें शत्रु समझ रहे किरात दयायोग्य समयमें भी उन्हें निर्दयतापूर्वक मारते हैं क्या ? यों उत्प्रेक्षा है ॥ ४० ॥

पर्वतराजके वनोंके मध्यमें स्थित ये गाँव, जिन्होंने भाँति भाँतिके फूले हुए फूलों-की राशियोंसे शीतलता, सुगन्धि, पराग आदि सारको प्राप्त वायुके लतापत्रोंके परि-चालनोंसे पथिकोंके अङ्गोंको शीतलता पहुँचाई है, जिनमें जलके गुण शीतलतासे प्रख्यात वायुओंके प्रसारसे जलाशयोंमें लहरियाँ तैर रही हैं, सौगन्ध्यगुणकी अधिकतासे चन्द्रमण्डलको जीत रहे हैं। चन्द्रमण्डलस्थ देवताओंकी अपेक्षा ग्राम-वासियोंको अधिक सुख है, यह भाव है ॥ ४१ ॥

स्वर्गस्थ चन्द्रनगरके उपवनोंके भाग-ऐसे ये मनोमोहक पर्वतीय गाँव, जिनमें झरनोंका जल अविरत कलकल ध्वनि कर रहा है, चौगिर्द ताड़के पेड़ खिले हैं, जिनका आकाश स्वाभाविक उल्लाससे युक्त फल और पल्लवोंसे लदी हुई लताओंके

आसन्नपीतघनघर्घरमेघनाद-
नृत्यच्छिखण्डिनवताण्डवविप्रकीर्णैः ।
ग्रामाः कलापिकुलकोमलबर्हखण्डैः
प्रोड्डीनचन्द्रकमणिप्रकरा जयन्ति ॥ ४३ ॥
पार्श्वस्थचारुशशिमण्डलमण्डनेषु
विश्रान्तवारिगुरुवारिदवारणेषु ।
ग्रामेषु या गिरितटेषु विलासलक्ष्मी
राज्येषु सा विभववत्सु कुतो विरिञ्चेः ॥ ४४ ॥
स्वामोदनन्दनवनान्तरसुन्दरेषु
सन्तानकस्तबकहासिनिकुञ्जकेषु ।
उन्निद्रमन्द्रमधुपाकुलपारिभद्र-
सान्द्रद्रुमेष्वभिरमे गिरिगह्वरेषु ॥ ४५ ॥
हरिणीरावरम्येषु हारिहारितहारिषु ।
गिरिग्रामेषु पुष्पेषु पुरेष्विव रतिर्नृणाम् ॥ ४६ ॥

वितानोंसे आच्छन्न है और जिनमें आसपासके ऊँचे ऊँचे सालके पेड़ोंपर मेघमण्डल लटका है, चन्द्रामृतको चुआनेवाले अश्वत्थसे युक्त ब्रह्मलोकको मात करते हैं ॥ ४२ ॥

ये पर्वत-ग्राम, जिनमें बिजलीसे वेष्टित गँभीर गर्जन-तर्जनवाले निकटवर्ती बादलोंके गर्जनसे नाच रहे मयूरोंके अभिनव नृत्योंसे बिखरे हुए मयूरोंके झुण्डोंके नये नये मोरपङ्खोंसे चन्द्रकरूपी मणिराशियाँ उड़ी हैं, दिव्य बनकर ब्रह्मलोकको अपने सन्मुख फीका बना रहे हैं ॥ ४३ ॥

एक बगलमें चल रहा चन्द्रमण्डल ही जिनका आभूषण है, जलसे भरे मेघरूपी हाथी जिनमें आराम करते हैं ऐसे पर्वतशिखरोंपर बसे हुए इन ग्रामोंमें जो सौन्दर्यातिशय है, वह सौन्दर्यातिशय वैभवपूर्ण ब्रह्माके राज्यमें कहाँ सुलभ है ? ॥४४॥

अपनी मनोहारिणी सुगन्धिसे नन्दनवनके केन्द्रकी तरह सुन्दर कल्पवृक्षके फूलोंके गुच्छोंका परिहास करनेवाले निकुञ्जोंसे भरी हुई पर्वतकंदराओंमें, जो पुष्पित होनेके कारण गंभीर गुञ्जन करनेवाले भँवरोंसे व्याप्त नीमके पेड़ोंसे पटी हैं, मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ॥ ४५ ॥

हरिणियोंके निनादसे रमणीय, मनोहर हारीत पक्षियोंसे सुन्दर पर्वत-ग्रामोंमें कामके नगरोंमें जैसी लोगोंकी प्रीति है ॥ ४६ ॥

स्फाटिकस्तम्भसंभाररम्यनिर्झरवारिणि ।
नृत्यन्त्येताः शिखण्डिन्यः पश्याऽस्मिन् ग्रामगह्वरे ॥ ४७ ॥
शिखण्डिन्यो विलासिन्यः पुष्पभारनता लता ।
अत्र नृत्यन्ति कुञ्जेषु रणन्निर्झरपुष्करे ॥ ४८ ॥
हारीतहारिहरितोपवनद्रुमासु
वापीप्रमाणरणितामलकाकलीषु ।
ग्रामस्थलीषु गिरिगह्वरगोपितासु
मन्ये मुदैष रमते स्वरसेन कामः ॥ ४९ ॥
श्रीमद्वृत्तमहाशयातपहर प्रोच्चैर्गभीराकृते
भूभृन्मूर्धसु भूषणं भवसि भो भूमे रसैकास्पदम् ।
एतत्तु क्षपयेन्मनांसि यदिदं मेघ त्वया वर्षता
हर्षादूषरपल्वलस्थलतरुष्वम्भोविभागक्रमः ॥ ५० ॥

राजन्, स्फटिकके खम्भोंकी राशियोंकी तरह रमणीय झरनोंके जलोंसे सुशोभित इस ग्रामरूपी कन्दरामें देखिये, ये मयूरियाँ नाचती हैं ॥ ४७ ॥

राजन् देखिये, झरझर शब्द कर रहे झरनोंके जलसे सुहावने इस ग्राममें निकुञ्जमें विलासवती मयूरियाँ और फूलोंसे लदी होनेके कारण झुकी हुई लताएँ नाचती हैं ॥ ४८ ॥

पर्वत-कन्दराओंसे अपनी गोदमें छिपाये गये ग्रामके मैदानोंमें, जिनमें बगीचोंके पेड़ हारीत पक्षियोंसे मनोहर और हरे हैं और बावड़ियोंके आसपास हंस, सारस आदिकी कूजरूप निर्मल मधुर तान सुनाई देती है, मालूम होता है कि स्वेच्छासे आनन्दके साथ मौज लेता है ॥ ४९ ॥

हे श्रीमानोंके स्वभावके समान महोदार स्वभाववाले, हे महाशय, हे सन्तापहारिन्, अत्यन्त उन्नत और गंभीर आकृतिवाले हे मेघ, तुम पर्वतोंके शिरोभूषण हो और खेत, उपवन आदिकी समृद्धिके कारणभूत जलके एकमात्र आश्रय हो। यों हजारों गुण तुममें हैं फिर भी हर्षसे बरस रहे तुमने जो अपात्रभूत ऊसर प्रदेश, तालतलैया, कंटीले पेड़ आदिमें सुन्दर उपजाऊ खेतोंके समान जलविभागका क्रम अपनाया है, यह तुम्हारा सत्-असत् पात्रका अपरिज्ञान सज्जनोंके मनको काँटेकी तरह वेधता है। यदि तुम्हारे ऐसे महान् सुपात्रोंके उत्कृष्ट गुणोंका आदर न करेंगे, तो कौन करेगा? [यहांसे लेकर प्रायः सर्गकी समाप्ति तकके सब श्लोक अन्योक्तिसे भरे हैं। मेघके बहाने किसी दानी

नित्यं स्नासि सुतीर्थवारिविसरैरुच्चैःपदस्थोऽम्बुद
शुद्धः सन्विपिनावनौ निवससि प्रारब्धमौनव्रतः ।
रिक्तस्याऽप्यतिकान्तिरेव भवतः कायाश्रया लक्ष्यते
प्रोत्थायाऽशनिमातनोषि किमिदं तुच्छं तवाऽऽचेष्टितम् ॥ ५१ ॥

वस्त्वस्थानगतं सर्वं शुभमप्यशुभं भवेत् ।
दुर्मेघं स्थानमासाद्य वारि त्वसिततां गतम् ॥ ५२ ॥

अहो नु मेघेन जलं विमुक्त-
महो नु तोयेन विपूरिता भूः ।
अहो नु भूमौ परिपोषितश्च
जलैर्धनाढ्यैः प्रणयीव दीनः ॥ ५३ ॥

महाशयके प्रति भी जो पात्रापात्रका विचार नहीं रखता है, यह उक्ति लागू होती है] ॥ ५० ॥

हे मेघ, तुम नित्य समुद्र, गङ्गा आदि सुतीर्थोंकी जलराशिसे स्नान करते हो, ऊँचे स्थानपर बैठकर सब जीवोंको जल देते हो, शुद्ध होकर मुनियोंका-सा व्रत लेकर वनभूमिमें निवास करते हो एवं शरत् कालमें यद्यपि तुम खाली हो जाते हो फिर भी तुम्हारे शरीरपर अत्युत्कृष्ट धवलकान्ति ही शोभा पाती है । यों सर्वथा श्रेष्ठ होनेपर भी तुम जलदानके लिए उठकर जो बिजली और अग्निके साथ कटुशब्द करते हो यह तुम्हारा आचरण कैसा है ? सर्वथा अनुचित है ॥ ५१ ॥

अनुचित स्थानपर पड़ी हुई सुन्दर वस्तु भी असुन्दर हो जाती है । दुष्ट मेघ-रूप अयोग्य स्थानको पाकर स्वच्छ मधुर जल भी काला और क्षार हो जाता है ॥ ५२ ॥

अहा ! मेघने जल बरसाया, अहा ! जलसे पृथिवी आप्लावित हो गई, अहा ! जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-हीन मित्रको धन-दौलतसे पुष्ट करते हैं वैसे ही जलोंने भूमिमें मुरझाये हुए धान आदिको पुष्ट किया है ॥ ५३ ॥

कोई पार्श्वचर दया, उदारता आदि गुणोंके वर्णनके सिलसिलेमें उनसे विपरीत निर्दयता, अनुदारता आदि दुर्गुणोंसे युक्त मूर्खोंकी, कुत्तेके गुणोंसे अदला बदलीके सन्देह प्रदर्शन द्वारा, निन्दा करता है—'नैर्घृण्य०' इत्यादिसे ।

नैर्घृण्यमस्थैर्यमथाऽशुचित्वं
रथ्याचरत्वं परिकुत्सितत्वम् ।
श्वभ्यो गृहीतं किमु नाम मूर्खै-
र्मूर्खेभ्य एवाऽथ शुना न जाने ॥ ५४ ॥
गुणैः कतिपयैरेव बहुदोषोऽपि कस्यचित् ।
उपादेयो भवत्येव शौर्यसन्तोषभक्तिभिः ॥ ५५ ॥
उन्मत्तमत्तपतनोन्मुखधावमान-
मानाधिकान्विषयवीथिषु मुक्तमूर्त्तिः ।
यन्मन्यते तृणलवाग्र विलोकयेच्छा-
सत्त्वं जडत्वमुत वाऽस्य विचार्यतां तत् ॥ ५६ ॥

निर्दयता, अस्थिरता, अशुद्धता, गलियोंमें मारे मारे फिरना, सर्वथा निन्द्यता आदि दुर्गुण कुत्तोंसे मूर्खोंने सीखे या मूर्खोंसे ही कुत्तेने लिये इसका मुझे सन्देह है, निश्चय नहीं है ॥ ५४ ॥

यदि मूर्ख सर्वथा निन्दनीय ही हैं, तो नरेश आदि उनको अपने पास क्यों रखते हैं ? इस संशयपर कहते हैं —'गुणैः' इत्यादिसे ।

यद्यपि मूर्खजन दोषोंके भण्डार होते हैं फिर भी जैसे कोई कुनृपति कुत्तोंको पालते हैं वैसे ही कुत्तेके सदृश कतिपय शूरता, सन्तोष, स्वामिभक्ति आदि गुणोंके कारण ही कोई कुनरपति आदि मूर्खोंको अपने पास रखते हैं ॥ ५५ ॥

भोग-परम्पराओंमें संलग्न (विषयलम्पट) मूर्ख धतूर खानेसे उन्मत्त हुए, मदिरा आदि पीनेसे मदमत्त हुए, प्रमाद और क्रोधावेशादिवश कुएँमें गिरनेके लिए उद्यत हुए, भूतावेशसे इधर उधर दौड़ रहे तथा तत्त्वज्ञानके उत्कर्षसे देहादिके परिच्छेदकी विस्मृतिवश 'मैं ब्रह्म हूं' यों सर्वोत्कृष्ट प्रमाकी प्रतिष्ठा होनेसे षष्ठ आदि भूमिकामें आरूढ़ हुए पुरुषोंको—अपनेमें अभिज्ञताके आरोपसे—जो तृणतुल्य समझता है, हे तृणलवाग्र, उसे तुम्हीं देखो । यह इस विषयलम्पट पुरुषकी इच्छा-सत्ता है या जड़ता है इस रहस्यका तुम्हीं विचार करो । यदि इच्छासत्ता है, तो वही कुत्तोंके तुल्य है, यदि जड़ता है, विषयलम्पटता आदि दोषोंकी अधिकतासे वह स्वयं तृणलवसे भी नीच है; अतः विचार करनेपर उसकी तृणसमानता भी दुर्लभ है, यह अर्थात् सिद्ध हो जायगा । ऐसी अवस्थामें उन्मत्त आदिसे भी वह अधिक नीच है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ५६ ॥

कोलाहलः समानेऽपि तिर्यक्त्वे क्षुब्धमानसैः ।
अन्यथा सह्यते सिंहैर्मीलितैरन्यथा श्वभिः ॥ ५७ ॥

नित्याशुचे प्रियजने भषणैकनिष्ठ
रथ्यान्तरभ्रमणनीतसमस्तकाल ।
कौलेयकाशयसमानतयैव मन्ये
मूर्खेण केनचिदहो बत शिक्षितोऽसि ॥ ५८ ॥

नित्यं सर्वं जगदसदृशं कुर्वतोच्चैर्विधात्रा
दौहित्रेऽस्मिञ्छुनि समदृशे निर्मितं सर्वमेव ।
वासोऽमेध्यावकरकुहरे भोजनं गूथपूयं
सर्वालोके कुरतिकुरतिः सर्वनिन्द्यं शरीरं ॥ ५९ ॥

त्वत्तः कोऽधम इत्युदीरितवते श्वोवाच हासान्वितं
मत्तो मौर्ख्यममेध्यमान्ध्यमशुभं यः सेवते सोऽधिकः ।

यद्यपि सिंह और कुत्ता-दोनोंमें पशुता समान है यानी दोनों तिर्यग् योनिके जीव हैं, तथापि मेघगर्जन आदिके कोलाहलको सिंह बिना क्षोभके अनादरवश आँखें मूँदकर सहते हैं, किन्तु कुत्ते क्षुब्ध हो भयवश आँखें मूंदकर सहते हैं यही दोनोंकी परस्पर विलक्षणता है ॥ ५७ ॥

हे नित्य अपवित्र, अपने प्रियजनके प्रति हू हू करनेमें प्रवीण, गली-कूचोंमें घूमनेमें सारा समय बितानेवाले अरे कुत्ते, मालूम होता है जैसी मेरी चित्तवृत्ति है वैसी ही इसकी भी है यह देखकर तुम्हें अपने गुणोंकी शिक्षाका पात्र समझ रहे किसी मूर्खने नित्य अशुचिता आदि अपने गुण तुम्हें सिखाये हैं। ऐसी परिस्थितिमें शिष्यकी अपेक्षा गुरुमें गुणाधिकता-दर्शन उपपन्न होता है ॥ ५८ ॥

कर्मोंकी विषमतावश अत्यन्त विषम जगत्‌की रचना कर रहे विधाताने अपने दौहित्र (सरमा नामकी देवशुनीके पुत्ररूप) इस कुत्तेमें अनुरूप सब धर्मोंके दर्शनके लिए वक्ष्यमाण सभी कुछ समान रूपसे बना डाला। वह सब-कुछ है, कूड़े करकटके स्वनिर्मित गड्ढेमें निवास, पुरीष और पीब भोजन, सड़क आदि खुली जगहोंमें चिरकाल तक ग्रन्थिरूप कुत्सित मैथुनमें दुरिच्छा तथा सर्वनिन्दनीय शरीर ॥ ५९ ॥

तुमसे बढ़कर अधम कौन है ऐसा पूछनेवालेके प्रति कुत्तेने हँसते हुए कहा—जो अज्ञान, अपवित्र देहाद्यभिमान, विचारदृष्टिशून्यताका सेवन करता है, वह मुझसे बढ़कर अधम है। किन गुणोंसे तुम मूर्खकी अपेक्षा श्रेष्ठ हो यह पूछनेपर उसने

शौर्यं भक्तिरकृत्रिमा धृतिरिति श्रीमान्गुणो योऽस्ति मे
मूर्खादिष गुणः प्रयत्ननिचयैरन्विष्य नो लभ्यते ॥ ६० ॥
भुङ्क्तेऽमेध्यममेध्य एव रमते नित्यं महावस्करे
तूष्णीमत्ति सचेतनं कृतरतिर्निश्चेतनं कृन्तति ।
सर्वैरेत्य रते शुनीविवलिते लोष्टैर्जनैस्ताड्यते
धात्रा खेलसमन्वितस्थितिरलं लोके कृतो नेश्वरः ॥ ६१ ॥
लिङ्गस्योर्ध्वं रटत्काक आत्मानं दर्शयत्ययम् ।
सर्वाधःपातकोत्तुङ्गगतं पश्यत मामिति ॥ ६२ ॥
काकक कटुकल्कारव
कवलितगुणकर्दमे भ्रमन्सरसि ।
अन्तरयसि मधुपरवं
यदतो मे शिरसि फलभूतः ॥ ६३ ॥

कहा—शूरता, नैसर्गिक स्वामिभक्ति, ही सन्तोष ये जो मुझमें सुन्दर गुण हैं, मूर्खमें वे गुण लाखों प्रयत्नोंसे ढूंढ़नेपर भी नहीं पाये जा सकते ॥ ६० ॥

कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अति अपवित्र विष्ठाके ढेरमें ही खेलता है, बेचारे जीवित नेउर, चूहे आदिको भाग्यवश पाकर बड़े चावसे खा डालता है, निर्बल बकरी, बछड़े आदिको बिना किसी अपराधके काट खाता है, कुतियाके साथ सटनेपर सब लोग उसे ढेले मारते हैं। सचमुच ब्रह्माने अत्यन्त असमर्थ कुत्तेको लोकमें जन्मभर दुःख भोगनेके लिए ही रचा है ॥ ६१ ॥

कहींपर नदीके किनारे निर्माल्य, अक्षत आदि खानेके लिए शिवलिङ्गके ऊपर काँव-काँव कर रहे कौवेको देखकर कोई अनुचर उसके काँव-काँव करनेके आशयकी उत्प्रेक्षा करता है—'लिङ्गस्य' इत्यादिसे ।

शिवलिङ्गके ऊपर काँव-काँव करता हुआ यह कौवा अपनेको दृष्टान्तरूपसे दर्शा रहा है—हे लोगो, अधोगतिके हेतुभूत सब पातकोंमेंसे शिवस्वभक्षणके लिए शिवलिङ्गाश्रयणरूप सर्वोत्कृष्ट पातकको प्राप्त हुए प्रत्यक्ष काकरूप मुझे देखो ॥ ६२ ॥

दूसरा अनुचर तालाबमें काँव-काँव करते हुए घूम रहे कौएके प्रति कहता है—'काकक' इत्यादिसे ।

अरे निन्द्य कौए, अरे अपनी कर्णकटु काँव-काँवसे हँस, सारस आदिके सुगुणोंको मटियामेट करनेवाले, तालाबमें कीचड़में घूमता हुआ तू सुन्दर भ्रमरोंकी गुञ्जारको

कवलयति नरकनिकरं
परिहरति मृणालिकां ध्वाङ्क्षः ।
यदतोऽस्तु मा स्मयस्ते
स्वभ्यस्तं सर्वदा स्वदते ॥ ६४ ॥

विविधवनकुसुमकेसर-
धवलवपुर्हंस इव दृष्टः ।
काकः कृमिकुलकवलं
क्लिन्नमथो कवलयन् ज्ञातः ॥ ६५ ॥

तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः संगतैः किल कोकिलैः ।
केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ ६६ ॥
अरण्यान्या मृदः स्थाणौ स्थितः काको निरीक्षते ।
चैत्यादशदिशश्चोरो निशि सुप्ते जने यथा ॥ ६७ ॥

अपनी कर्णकटु काँव-काँवसे जो तिरोहित करता है, इससे मेरे सिरपर शल्यकी-सी वेदना पैदा होती है ॥ ६३ ॥

अपने मित्रके प्रति कोई कहता है—'**कवलयति**' इत्यादिसे ।

कौआ नाना प्रकारकी अपवित्र वस्तुओंको खाता है, मृणालकी डण्डीको, जो प्राप्त है, छोड़ देता है इस विषयमें आपको आश्चर्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि व्यसन होनेके कारण खूब आदत पड़ी रहती है, तो निन्दनीय वस्तु भी बड़ी स्वाद लगती है जैसे कि लहसुन मिश्रित खटाई आदि निन्दित वस्तुएँ अभ्यस्त लोगोंको अच्छी लगती हैं ॥ ६४ ॥

विविध वनपुष्पोंके केसरसे धवलदेहवाले कौएको लोगोंने हंस समझा । बादको जब उसे सड़े-गड़े कीड़े मकोड़े निगलते देखा तब जाना कि यह कौआ है ॥ ६५ ॥

समानरंगके (एकसे) परवाले कायलोंमें हिलेमिले कौएको कौन पहचानता यदि वह स्वयं काँव-काँव न कर बैठता ॥ ६६ ॥

महा अरण्यकी मिट्टीकी बनी पुरानी भीतके ऊपर बैठा हुआ यह कौआ जैसे रात्रिके समय लोगोंके सो जानेपर चोर श्मशानवृक्षपर चढ़कर दसों दिशाओंकी ओर झांकता है वैसे ही चारों ओर देखता है ॥ ६७ ॥

सरभससारसविदल-
　　त्पुष्करमकरन्दसुन्दरे　　सरसि　।
कथमिह　विहरति　काकः
　　स्फुरदवकरनिकरधूसरस्कन्धः　　॥ ६८ ॥
हा कष्टमिष्टवपुषि स्फुटपुण्डरीक-
　　कोशे　कषाहननयोग्यमुखः　पिशाचः ।
पश्यैष काक उपविश्य कुपल्वलेऽस्मिन्
　　लीलाः करोति विविधाः सह राजहंसैः ॥ ६९ ॥
हे काक कर्कशरव क्रकचैकचिह्न
　　तादृक्स्वशङ्कनमपि क्व नु तेऽद्य यातम् ।
कस्मादनर्थकमिदं पिकपाकमेक-
　　पुत्राशया तदपि ते ह्युपहाससिद्धयै ॥ ७० ॥

बेगसे उड़ रहे या कलियोंके आस-पास मँडरा रहे सारसों द्वारा चट-चट खिल रहे कमलोंके मकरन्दसे (पुष्परससे) मनोहर इस तालाबमें कौआ, जिसके कन्धे कूड़े करकटकी उड़ रही धूलिसे धुमैले हैं, कैसे क्रीड़ा करता है ? उसका यहाँ क्रीड़ा करना अनुचित है, यह भाव है ॥ ६८ ॥

हे राजन्, खिले हुए कमलोंके आकर स्वानुरूप स्थानरूप सरोवरमें तैर रहे राजहंसोंके साथ थप्पड़ खाने योग्य कुरूप मुँहवाला पिशाचतुल्य यह कौआ [जिस सुन्दर सरोवरमें राजहंस बिहार करते हैं उसमें विहारके अयोग्य यह काला-कलूटा कौआ] इस कीचड़पूर्ण तलैयामें घुसकर राजहंसोंकी नकल उतारनेके लिए विविध लीलाएँ करता है, यह बड़े खेदकी बात है, कृपया देखिये ॥ ६९ ॥

बञ्चना, चोरी आदिसे मुझे प्राप्त होनेवाले धनादि भागको न्याययुक्त उपायसे कोई सज्जन न ले जाय, इस आशङ्कासे सन्तके खण्डनके लिए राजसभामें अवाञ्छनीय कर्णकटु प्रलाप कर रहे खलके प्रति अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है—'**हेकाक**' इत्यादिसे ।

अरे कौए, अरे कठोररव सुननेवालेके कानोंको चीर डालनेवाला काँव काँव शब्दरूपी आरा ही तुम्हारा एकमात्र लक्षण है । मेरे भागको कौएसे भिन्न कोई न खा जाय इस आशङ्कासे तुम सदा कौओंका आह्वान करते हुए काँव काँवकी रट लगाते रहते हो, तुम्हारा आज ऐसी शङ्का करना कहाँ चला गया ? तुम्ही मेरे एकमात्र

आलोक्य पङ्कजवने सविलासवन्तं
काकं कलङ्कसदृशं भृशमारटन्तम् ।
हा कष्टशब्दशतनष्टविचेष्टितो यो
नो रोदिति क्रकचकेन विदार्यतां सः ॥ ७१ ॥
विशरारुशरारुमये
बकमद्गुघने च पल्वले चपलाः ।
स्युर्यदि कौशिककाका-
स्तत्स्यादेषा समन्विता गोष्ठी ॥ ७२ ॥
कोकिलः काकसंघातैः समसंवरणाकृतिः ।
गदितैर्व्यक्ततामेति सभायामिव पण्डितः ॥ ७३ ॥
मृदुकुसुमाङ्कुरदलनं
सोढुमलं कोकिलस्य कुसुमलता ।

बच्चे हो, तुम चिरकालतक जीवो इस आशासे कोकिलके बच्चेको तुम व्यर्थ पालते हो। तुम एकमात्र कटु बोलनेवाले हो, पुत्रभ्रान्तिसे तुम्हारा सुस्वरवाले कोयलके बच्चोंको पालना भी मनोरथसिद्धिके लिए नहीं होगा, अपि तु उपहासास्पद ही होगा ॥ ७० ॥

कमलवनमें विविध क्रीडाएँ कर रहे कलङ्कसदृश कौएको जोर जोरसे काँव काँव करते देखकर किसीने कहा—हे काक, तुम्हारे या तुम्हारे सदृश खल पुरुषोंके सैकड़ों कटुशब्दोंके श्रवणसे दुःखवश भौचक्का होकर जो नहीं रोता उस आदमीको आरेके तुल्य कटु वचनोंसे तुम्हें चीर डालना चाहिये, मैं तो वैसा नहीं हूँ, अतः क्योंकर मेरे सामने काँव काँव करते हो ॥ ७१ ॥

खलोंकी सभामें और भी खल ही योग्य हैं। वहाँपर एक भी साधुका रहना ठीक नहीं है, यों अन्योक्ति द्वारा कोई कहता है—'विशरारु०' इत्यादिसे ।

इधर उधर घूम रहे हिंसक जलजीवोंसे पूर्ण बगुले, जलकाक आदिसे पटे हुए छोटेसे कीचड़मय तालाबमें यदि चञ्चल उल्लू और कौए रहें, तो यह तालाबकी सभा अपने योग्य सदस्योंसे सम्पन्न हो ॥ ७२ ॥

रंग, शरीरको ढकनेवाले पर और शरीरकी गठनसे कौओंके झुण्डोंके तुल्य कोयल, मूर्खोंकी सभामें पण्डितके सदृश वाणी द्वारा व्यक्त होता है ॥ ७३ ॥

फूलोंकी लता कोकिलके धीरे धीरे फूलोंकी पँखुरियोंके छेदनको भले सहन कर सकती है, किन्तु चील, गीध, जलकाक, बगुला, मुर्गा और कौएके छेदनको कदापि

न तु कङ्कगृध्रमद्गुक-
बककुक्कुटवायसादीनाम् ॥ ७४ ॥

श्रोत्रोत्सवं तव कलं कलकण्ठ कोऽत्र
नादं शृणोति रतिविग्रहसंधिदूतम् ।
काकैरुलूककलहैरिह गुल्मकेषु
क्रेंकारघर्घररवैः श्रुतिरागताऽस्तम् ॥ ७५ ॥

वाचा कोमलया सुकोकिलशिशुः कल्याणकल्पां कथां
सर्वावर्जनमार्जवेन कुरुते यावत्पुरो रागिणाम् ।
तावन्मत्तनयोऽयमित्यविरतं द्रांकारभीमारवैः-
र्ध्वाङ्क्षेणोपवने निपत्य नभसः सर्वे कृता नीरसाः ॥ ७६ ॥

किं किं कोकिल कूजसि द्रुतरवं हर्षात्समुल्लासितं
ग्रीवाकोटरतः प्रवेशय पुनर्मा भूच्चिरं ते श्रमः ।
उद्दामैः कुसुमैर्निरन्तरतरं नेदं मधोर्जृम्भितं
हेमन्तेन कृतास्तुषारनिकरैः शुष्का अमी पादपाः ॥ ७७ ॥

नहीं सह सकती ॥ ७४ ॥

हे मधुरकण्ठ हे कोयल, यहाँपर कानोंके लिए उत्सवरूप तुम्हारे कलरवको, जो रतिरूपी विग्रहका सन्धिदूत है, कौन सुनता है । क्योंकि यहाँ नीमके झुरमुटमें उलुओंके साथ सदा कलह करनेवाले कौओंने काँव काँवके कोलाहलसे सबके कान बहरे कर दिये हैं ॥ ७५ ॥

उपवनमें तान सुननेके प्रेमी लोगोंके आगे कोयलका मनोहर बच्चा कोमल वाणीसे महोत्सवतुल्य कथा कर अनायास सब लोगोंका ज्योंही मनोरञ्जन करता है त्योंही कौएने आकाशसे बागमें उतर कर यह मेरा बच्चा है, मैं ने इसे पाला है, यों काँव-काँवरूपी रूक्ष वाणीसे सब श्रोताओंको निरुत्साह कर दिया ॥ ७६ ॥

अयोग्य श्रोताओंके बीच अनवसरमें अयोग्योंको योग्य समझकर भ्रान्तिसे अपने गुणोंका प्रदर्शन करनेके लिए उत्सुक किसीके प्रति कोई दूसरा अन्योक्तिसे कहता है—**'किं किम्'** इत्यादिसे ।

हे कोइल, तुम श्रोताओंकी योग्यता आदिका विचार किये बिना ही अपने गुणोंके प्रख्यापनकी उत्सुकतासे उत्पन्न हर्षसे जल्दी जल्दी क्यों कूकते हो ? गले रूपी कोटरसे हर्षवश हो रहे कुहकनेके उल्लासको अपने अन्दर प्रवेश करा दो, मौन हो

कूजत्कोकिलकोमलं कलरवैर्नित्यं प्रशस्ताकृते
केनेदं बत शिक्षितोऽसि वचनं दुःखप्रदं दुर्भगम् ।
चैत्रे चित्रनवाङ्कुरे विरहिणो वक्ति त्वया याऽऽत्मनः
कस्याऽयं मधुरित्यतस्तवतवेत्युक्तं त्वरौच्चैस्तरोः ॥ ७८ ॥
मौनस्पन्दविहारवर्णवपुषां साम्येऽपि काकव्रजेऽ-
काकः कोकिल एष कान्तिरुचिरो दूरात्परिज्ञायते।
मध्ये मूर्खजनस्य पण्डित इव स्वाकारभव्यक्रियः
सर्वो हि प्रथिमानमेति सदृशस्वान्तश्चमत्कारतः ॥ ७९ ॥
भ्रातः कोकिल कूजितैरलमलं नाऽऽयात्यनर्घ्यो गुण-
स्तूष्णीमास्स्व विशीर्णपर्णपटलच्छन्ने क्वचित्कोटरे ।

जाओ । यह गुणोंके प्रख्यापनका अवसर है और ये श्रोता श्रवणकी योग्यता रखते हैं ऐसी भ्रान्ति तुम्हें न होनी चाहिये। यह फूलोंको बहारसे पटा हुआ बसन्तऋतुका उन्मेष नहीं है, किन्तु हेमन्तने इन पेड़ोंको पालेकी वर्षासे सुखा डाला है । इनके बीच तुम्हारी वाणी सफल न होगी ॥ ७७ ॥

रंग-विरंगके नये नये अङ्कुरोंसे भरे हुए चैत्रके महीनेमें जो वियोगिनी नायिका है, वह कहती है—हे नित्य प्रशंसनीय आकृतिवाले, हे कुहक रहे कोयल, यह चैत्र महीना किसका है ? इस तरहके मेरे प्रश्नके उत्तरमें तुमने अपने मधुके (चैतके) ऊँचे पेड़परसे जल्दी जल्दी जोरसे 'तव तव' (तुम्हारा तुम्हारा) यो मधुर स्वरसे जो मीठी वाणी कही, खेद है, यह दुःखदायी असत्य वचन तुमने किससे सीखा ? आशय यह कि यह विरहसे दुखियाका (मेरा) वसन्त नहीं है, किन्तु अपनी सहचरीके साथ गा रहे तुम्हारा ही बसन्त है। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें 'मम मम' (मेरा मेरा) कहना चाहिये; 'तव तव' इस तरहका तुम्हारा असत्य वचन मुझे पीड़ित करनेके लिए ही है ॥ ७८ ॥

कौओंके झुण्डमें मौन, चेष्टा, पक्षादिचालनरूप व्यवहार, वर्ण, रंग और आकार एकसा होनेपर भी यह कान्तिसे मनोहर कोयल है, कौआ नहीं है, यों कोयल मूर्ख लोगोंके बीचमें पण्डितकी तरह दूरसे पहचाना जाता है । अपनी आकृतिसे अपना उत्तम गुण सूचित करनेवाले सभी पुरुष अपने अनुरूप हृदयचमत्कारसे, भले ही वह गुप्त हो, विख्यातिको प्राप्त होते हैं ॥ ७९ ॥

अरे भाई कोयल, कर्णकटु काँव काँव कर रहे कौओंके झुण्डसे भरा हुआ

उद्दामद्रुमकन्दरे कटुरटत्काकावलीसंकुलः
कालोऽयं शिशिरस्य संप्रति सखे नाऽयं वसन्तोत्सवः ॥ ८० ॥
चित्रं मातरमेष कोकिलशिशुः संत्यज्य काकीं गतः
सैषैनं तुदतीति यावदहमप्याचिन्तयामि क्षणम् ।
तावत्सोऽपि तथाऽऽशु मातृसदृशं श्लिष्टो रसाद्वर्धितुं
यामायाति दिशं स्वभावसुभगः सैवाऽस्य माहात्म्यदा ॥८१॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वा०
उ० अवि० विपश्चि० श्वकाककोकिलान्योक्तिवर्णनं नाम
षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

यह शिशिरका समय है, वसन्तरूपी उत्सव नहीं है । इस समय कुहकनेसे उत्तम गुण (प्रशंसारूप गुण) प्राप्त नहीं होता, अतः कुहकनेकी आवश्यकता नहीं है । कहीं विशाल वृक्षके खोखलेमें, जो गिरे हुए पत्तोंसे ढका है, चुपचाप बैठे रहो ॥ ८० ॥

यह कोयलका बच्चा अपनी कौवी माताको छोड़कर जो चला गया, वह एक आश्चर्य है । उसके बाद यह कौवी माँ इस कोयल बच्चेको चोंच और पञ्जोंसे घायल करती है, यह दूसरा आश्चर्य है, यों क्षणभर जब मैं सोचने लगता हूँ तब तक कोयलका बच्चा भी उत्साहसे अपनी माँके सदृश बढ़नेके लिए तत्पर हो गया, यह तीसरा आश्चर्य है । सचमुच भाग्यवान् पुरुष जिस दिशाको जाता है, वही दिशा उसकी महिमा बढ़ाती है ॥ ८१ ॥

एक सौ सोलह सर्ग समाप्त

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा उचुः

पश्याऽद्रिसानाविव बिम्बितं खं
पुरःसरो मारपुरःसरो यः ।
कह्लारपद्मोत्पलजालनाल-
ललद्विचित्रारवपक्षिवीतम् ॥ १ ॥
विकासितोद्दण्डसहस्रपत्र-
कोशस्थलस्थोद्धुरराजहंसम् ।
पीठद्विरेफद्विजलोकजुष्टं
भुवीव गेहं कमलासनस्य ॥ २ ॥
आकीर्णसीकरकरालदिगन्तराले
फुल्लोत्पलाब्जपटलोदररेणुगौरम् ।

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

[कमल, कुईं तथा नील कमलोंसे सुशोभित तालाबका वर्णन और उसके सिलसिलेमें कमल, भौंरे, हंस, सारस आदिका वर्णन]

पहले तेरह श्लोकों द्वारा सरोवरका ही मुख्यरूपसे वर्णन करनेके लिए कोई भूमिका बाँधता है—'पश्य' इत्यादिसे ।

साथियोंने कहा—हे राजन्, यहाँ सामने पर्वतशिखरपर, जो सरोवरकी शोभा बढ़ानेके कारण कामोद्दीपक होनेसे कामका प्रधान भृत्य-सा (दाहिना-हाथसा) है, लाल कमल, श्वेत कमल और नीले कमलोंके समूहोंकी डंडियोंमें मृणालके लिए विचर रहे भाँति-भाँतिके कलरव करनेवाले पक्षियोंसे व्याप्त, अतएव नक्षत्र (तारे) और पक्षियोंके साथ प्रतिबिम्बित हुए आकाशके तुल्य सरोवरको देखिये ॥ १ ॥

इन्द्रनीलके पीढेके सदृश भ्रमरों, सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों और ब्राह्मणों द्वारा सेवित उक्त सरोवर, जिसमें खिले हुए और ऊपर उठे दण्डवाले विविध कमलोंके कोशस्थलोंमें बैठे और उनकी शोभाको धारण करनेवाले राजहंस बैठे हुए हैं, भूमिमें आया हुआ ब्रह्माका घर-सा मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

राजन्, इस सरोवरको देखिये । यह चारों ओर बिखरे हुए सीकरोंसे (जलकणोंसे)

आमोदमत्तमधुपद्विजगीतिगीतं
यातं वितानकमिवाऽम्बरगं वहन्तम् ॥ ३ ॥
क्वचित्तरत्तारतरङ्गभङ्गं
क्वचिद्द्विषद्भूरिविराविभृङ्गम् ।
क्वचिद्गभीरामलवारिसुप्तं
क्वचित्सरोजोज्ज्वलपुष्पगुप्तम् ॥ ४ ॥
कणाणुमुक्ताजलतापटालं
तीरेषु सिंहे सुलतासुटालम् ।
तरङ्गनिर्धूतशिलोग्रकच्छं
महीतलाकाशमनन्तकच्छम् ॥ ५ ॥
तडित्प्रकाशोदरमस्य मेघ-
नुन्नाब्जजातोत्थरजःप्रभाभिः ।

दिशाओंके मध्यभागोंको बर्फमय बना रहा है, खिले हुए नीलकमल और साधारण कमलोंकी राशियोंके बीचके पुष्पपरागसे चारों ओर पीला बना है, सुगन्धिसे मस्त हुए भौंरों और सारस, क्रौञ्च आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणों द्वारा गीतोंसे इसका यश गान किया जाता है, ऊपर तने हुए चँदवेके समान आकाशस्थ बादल और कुहरेको परछांईके व्याजसे धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

देखिये, कहींपर इसमें लम्बी, लम्बी लहरें तैर रही हैं, कहींपर भँवर अधिक मस्तीसे आपसमें लड़ते हुए गुनगुना रहे हैं, कहींपर यह गहरे और स्वच्छ जलसे—निश्चलतावश—सोया हुआ-सा है एवं कहींपर कमलों और कुमुदोंसे सोखा हुआ-सा आच्छन्न है ॥ ४ ॥

मोती-ऐसे छोटे-छोटे जलबिन्दुओंसे यह लोगोंके सन्तापकी निवृत्ति करता है, तटभूमिमें सिंहकी प्रतिबिम्बरूप अन्य सिंहकी आशङ्कासे जल पीनेमें होनेवाली झिझकको वृक्षकी चोटीसे लेकर जलतक लटकी लताओं द्वारा प्रतिबिम्बके दर्शनमें रुकावट डालकर भली भाँति निवृत्त करता है, तरङ्गोंने इसके आसपासके पत्थरों और कीचड़से भरे दलदलोंको साफ-सुथरा बना दिया है एवं यह असंख्य बादलोंसे अनन्त कच्छवाला (जलप्रायदेशवाला) आकाश ही मानो भूतलमें उतरा है ॥ ५ ॥

मेघोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाले वायुसे कम्पित कमलोंकी राशियोंसे गिरे हुए पराग-पुञ्जकी आभासे इसका मध्यभाग बिजलीके प्रकाशसे पूर्ण-सा मालूम होता है,

पृपङ्कुरध्वान्तमयैकदेशं
सन्ध्याम्बराभोगमिवाऽऽप्रकाशम् ॥ ६ ॥
वातावकीर्णशरदम्बुदखण्डखण्डं
व्योमेव केवलसमीरणमावृताङ्गम् ।
हंसैर्लसद्विसलताकवलालसांसै
कालेन संचयकृतैरिव चन्द्रबिम्बैः ॥ ७ ॥
आमोदमन्दमकरन्दकरालवात-
व्याधूतपङ्कपुटपाटनपाटवेन ।
उद्यन्महापटपटा वयतीव लेखा-
क्षुभ्यत्खगाश्रितलतोज्झितपुष्पवर्षम् ॥ ८ ॥
वेल्लन्महाकमलपल्लवतालवृन्त-
संवीजितं वलितचामरचारुफेनम् ।
राजायमानमलिकोकिलगीतगीतं
सद्वृत्तपङ्कजलतालतिताङ्गनौघम् ॥ ९ ॥

इसलिए एक ओर जलकणोंसे भरा हुआ तथा दूसरी ओर अन्धकारपूर्ण यह सरोवर सन्ध्याकालके आकाशकी तरह चारों ओर प्रकाशवाला या अल्प प्रकाशवाला है ॥६॥

अपने बच्चोंके लिए घोसलोंमें ले जाये जा रहे कमल-नाल, कमल-कन्दरूपी ग्रासोंके भारसे थके कन्धेवाले हंसोंसे, जो काल द्वारा इकट्ठा किये गये चन्द्रबिम्ब जैसे हैं, घिरकर मन्दता, सुगन्धि, शीतलता आदि गुणोंसे रहित केवल वायुयुक्त भी यह वायुसे जिसके शरत्कालके मेघ छिन्नभिन्न किये गये ऐसे आकाशकी तरह शोभ रहा है यदि यह मन्दता, सुगन्धि, शैत्य आदि गुणोंसे सम्पन्न वायुसे युक्त होता तो फिर इसकी शोभाका क्या ठिकाना था ॥ ७ ॥

इस तालाबकी लहरी, सुगन्धिके भारसे मानो मन्दगामी तथा पुष्परसके संसर्गसे नम वायुओं द्वारा कम्पित जलमिश्रितपंकभागके पंकको नीचे दबाकर जलसे पृथक् करनेकी चतुराईवश जिससे शीघ्रतासे पट-पट शब्द हो रहा है, अपनी ध्वनिसे खिन्न होकर उड़े हुए पक्षियोंकी निवासभूत लताओं द्वारा छोड़ी गई पुष्प वृष्टिका विस्तार करती है ॥ ८ ॥

राजन्, इस सरोवरका राजाका सा ठाट-बाट है । देखिये न, वायुवश हिल रहे महाकमल और पल्लवरूपी पङ्खोंसे यह संवीजित (झला गया) है, सुन्दर फेन ही इसके

भृङ्गाग्रभाजनमनोहरहारिगीतं
राजीवरेणुरणकीर्णपिशङ्गतोयम् ।
डिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरपुण्डरीक-
खण्डोपमण्डिततटोपवनावतंसम् ॥ १० ॥
विविक्तहृदयाम्भोजं हृदयाह्लादनं परम् ।
रसवत्स्वादु भातीदं सरः सत्संगमोपमम् ॥ ११ ॥
बिम्बितेन मरुव्योम्ना भातीदं सौम्यनिर्मलम् ।
शास्त्रार्थपरिणामेन महतामिव मानसम् ॥ १२ ॥
किंचिल्लक्ष्यमपश्यामं पृषत्परुषमारुतम् ।
हिमाभ्रमिव भातीदं सरः सरससारसम् ॥ १३ ॥

डुलाये गये चँवर हैं, भौंरे और कोयल अपने गीतोंसे इसका गान करते हैं तथा कमललतारूपी सुरूप, सुडौल, सच्चरित्र तथा सुन्दरी अनेक ललनाओंसे यह घिरा है ॥ ९ ॥

भँवररूपी श्रेष्ठ सत्पात्र मनोहर गुणियोंका इसमें मनोज्ञ गाना होता है, इसका जल कमलपरागोंके सम्पर्कसे व्याप्त अतएव सुनहला है और इसने तटवर्ती उपवनकी मस्तकालङ्कारभूत पुष्पराशिको फेनपिण्डोंके समान सफेद कमलराशिसे सुशोभित कर रक्खा है । १० ॥

पवित्र हृदयके समान निर्मल कमलोंसे भरा हुआ हृदयको अत्यन्त आनन्द देनेवाला जलपूर्ण यह मधुर सरोवर पवित्र (निर्मल) हृदयकमलवाले, हृदयको अत्यन्त आह्लादित करनेवाले, प्रीतिपूर्ण तथा अत्यन्त मधुर सत्संगके तुल्य है ॥ ११ ॥

हे सौम्य, जैसे ब्रह्माकार वृत्तिसे (चरम साक्षात्कारवृत्तिसे) महात्माओंका निर्मल मन शोभित होता है वैसे ही यह निर्मल सरोवर अपनेमें प्रतिबिम्बित मरुदेशवत् निर्जल आकाशसे शोभित है ॥ १२ ॥

हेमन्तऋतुमें इस सरोवरकी कैसी दशा होती है ? इस प्रश्नपर कहते हैं—'किञ्चित्' इत्यादिसे ।

हेमन्तऋतुमें सुन्दर सारसोंसे पूर्ण यह सरोवर हेमन्त ऋतुके मेघोंकी तरह शोभित होता है, कुहरेसे चारों ओर घिरे रहनेके कारण कुछ-कुछ दिखाई देता है, कुहरा इसे अपने रंगमें रंग लेता है, अतएव इसकी कालिमा (श्यामलता) चली जाती है और जलबिन्दुओंसे इसकी हवा अति कठोर बन जाती है ॥ १३ ॥

यथेदं ब्रह्मणो दृश्यमविकारादि नेतरत् ।
यथाऽम्भसि तरङ्गादि राजन् पृथगिव स्थितम् ॥ १४ ॥
आत्मनैवोह्यमानानां चक्रावर्तविधायिनाम् ।
जडाशयानां विषमा हा कल्लोलपरम्परा ॥ १५ ॥
कूपवापीसरोब्धीनां दृश्यते यादृगन्तरम् ।
नारीपुरुषतोयानां विज्ञेयं तादृगन्तरम् ॥ १६ ॥
जन्तोरिवाऽस्य मनसो जलजातिबन्ध-
जीर्णस्य जर्जरदशालहरीभ्रमेण ।
आवर्तवृत्तिवलितान्यतिसंततानि
को नाम संकलयितुं कमलानि शक्तः ॥ १७ ॥

हे राजन्, जैसे विकारादिशून्य यह जगत् कूटस्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्ममात्र ही है, तथापि ब्रह्मसे पृथक्-सा प्रतीत होता है। वैसे ही जलमें तरङ्ग आदि जलमात्र ही हैं फिर भी पृथक्से मालूम होते हैं ॥ १४ ॥

जैसे अपने ही जलसे बहाये जा रहे तथा चक्राकार भँवर बनानेवाले जलाशयोंके कल्लोलोंकी परम्परा बड़ा आश्चर्य पैदा करती है वैसे ही अपने अज्ञानसे ही संसारके प्रवाहमें बहाये जा रहे सदसत्कर्मरूप भँवरोंकी रचना करनेवाले जड़ लोगोंके मनोरथोंकी परम्पराएँ आश्चर्यमें डालती हैं ॥ १५ ॥

जैसे कुआँ, बावड़ी, तालाब और सागर आदिरूप उपाधिके भेदसे जलमें तारतम्यकी (उत्कर्ष-अपकर्षकी) प्रतीति होती है, वैसे नारी, पुरुष आदिके शरीरके उत्कर्षसे उनकी आत्मामें उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यकी प्रतीति होती है, ऐसा कहते हैं—'कूप०' इत्यादिसे।

कुआँ, बावड़ी, सरोवर और सागरके जलमें उपाधि भेदसे जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होता है वैसा ही अन्तर नारी, पुरुष, बालक आदिके शरीरके (उपाधिके) उत्कर्षसे उनकी आत्मामें भी उत्कर्ष और अपकर्षका तारतम्य समझना चाहिए ॥ १६ ॥

जलमें उत्पन्न होनेवाले कमल, सेवार आदिके संसर्गसे जीर्ण हुए इस सरोवरके विविध योनियोंके सम्बन्धसे जीर्ण हुए जीवके मनकी तरह कमल आदि-की (तत्-तत् देहोंकी) जर्जर दशापर्यन्त लहरियोंके (भोगोत्सवोंके) भ्रमसे अत्यन्त व्याप्त हुए आवर्तोंके सदृश इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियोंके परिवर्तनोंकी भाँति अनगिनत कमलोंके गिननेमें कौन समर्थ है अर्थात् कोई भी नहीं ॥ १७ ॥

चित्रं विजृम्भितमहो जडसंगमस्य
पद्मोऽपि यन्निजगुणानगुणानिवैषः ।
अन्तः प्रगोपयति कण्ठतले निवेश्य
सर्वस्य दर्शयति दुर्भगकण्टकौघम् ॥ १८ ॥
सच्छिद्रैरदृढैः सूक्ष्मैर्गोपितैर्जाड्यसंयुतैः ।
अनल्पैरपि निःसारैः पद्मस्येव गुणैरलम् ॥ १९ ॥
महतां कुलपद्मानां गुणसौन्दर्यशालिनाम् ।
प्रभावं नाऽस्ति संख्यातुं वासुकेरपि शक्तता ॥ २० ॥
हरिवक्षोगता लक्ष्मीरपि शोभार्थमेव यत् ।
बिभर्ति कमलं हस्ते काऽन्या शंसाऽधिका भवेत् ॥ २१ ॥

यहाँसे पद्मोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—'चित्रम्' इत्यादिसे ।

अहा ! यह आश्चर्यकी बात है कि जिस कमलकी लोकमें सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि सद्गुणोंकी खानके रूपसे प्रसिद्धि है, वह भी मुकुलितावस्थामें जो सौगन्ध्य, सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुणोंको दोषोंकी तरह गलेमें निगलकर अन्दर छिपाता है और कुरूप काँटोंको बाहर सबको दिखलाता है, यह जलकी (जड़—मूर्खकी) संगतिकी बलिहारी है । यदि मूर्खकी संगति न होती तो ऐसा क्यों करता ? [यहाँसे लेकर प्रायः सभी श्लोक अन्योक्तिमय हैं] ॥ १८ ॥

जो कमलके गुणशब्दसे पुकारे जानेवाले तन्तु हैं उनके तुल्य दोष-युक्त गुणोंकी सर्वत्र उपेक्षा ही करनी चाहिये, यों प्रसंगवश कहते हैं---'सच्छिद्रैः' इत्यादिसे ।

जो गुण कमलके गुणोंके (तन्तुओंके) तुल्य छेदवाले (सदोष), कच्चे, ऐसे सूक्ष्म कि मालूम भी न पड़ें, छिपाये हुए, जड़तापूर्ण, थोड़े और निस्सार (तुच्छ) हों उनकी सर्वथा उपेक्षा करना ही ठीक है । वे कदापि उपादेय नहीं हैं ॥ १९ ॥

सुगन्धि, सुन्दरता आदिसे शोभित होनेवाले बड़े बड़े उत्कृष्ट कमलोंके (यश-रूपी सुगन्धिसे अपने कुलको प्रख्यात करनेवाले महान् पुरुषोंके) प्रभावका बखान करनेकी सामर्थ्य शेषनागमें भी नहीं है ॥ २० ॥

भगवान् श्रीहरिके वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली सकल सौन्दर्योंकी अधिदेवी लक्ष्मीजी जिस कमलको शोभाके लिए ही अपने हाथोंमें धारण करती हैं, उसकी इससे बढ़कर दूसरी प्रशंसा क्या हो सकती है ॥ २१ ॥

सितासिताभ्यां रूपाभ्यां कमलोत्पलखण्डयोः ।
वैसादृश्यं भवेत् किन्तु समा जडजडैतयोः ॥ २२ ॥

साम्यं न फुल्लविपिनेन सरःसु याति
व्योम्ना न तारकयुतेन न चेन्दुवृन्दैः ।
नृत्यद्वधूविहसिताननशोभयैति
फुल्लस्य पङ्कजवनस्य नवोदिता श्रीः ॥ २३ ॥

येषां पुष्पलतास्वादैरनन्यमनसां गतम् ।
भृङ्गाणामायुरायामि त एव सुभगोत्तमाः ॥ २४ ॥

चूतचारुचमत्कारं चञ्चरीकाश्चरन्ति ये ।
त एव सचमत्कारा इतरे जातिपूरणम् ॥ २५ ॥

कमल और नीलकमलकी केवल सफेद और काले रूपोंसे ही परस्पर विलक्षणता है, किन्तु इनकी जलसे जड़ (अचेतन) चन्द्रसूर्यद्वेषरूप मूर्खतास्वरूप वृत्ति समान है ॥ २२ ॥

तालाबोंमें खिले हुए कमलोंकी नवोदित शोभाकी फूले हुए पारिजात वनसे तुलना नहीं की जा सकती, तारोंसे भरे हुए आकाशसे और अनेक चन्द्रबिम्बोंसे भी उसकी बराबरी नहीं हो सकती है । यदि उसकी बराबरी हो सकती है, तो नाच रही बहूके चाँदके टुकड़े ऐसे मन्द मुस्कानयुक्त मुखशोभासे ही हो सकती है ॥ २३ ॥

फूल और लताओंको छोड़कर अन्यत्र कभी भूलकर भी मन न लगानेवाले जिन भँवरोंको लम्बी आयु फूल और लताओंका ही आस्वाद लेनेमें बीती, सचमुच वे ही सौभाग्यशालियोंमें श्रेष्ठ हैं । या 'सुभग उत्तमा' दो पृथक् पद भी हो सकते हैं । वैसी स्थितिमें हे सुभग, वे भृङ्ग ही उत्तम हैं, ऐसा अर्थ है ॥ २४ ॥

जो भ्रमर और कोयल आमकी सुगन्धि, मकरन्द और पल्लवोंका कषाय रस चखते हैं, उन्हींका जीवन चमत्कारपूर्ण है, औरोंका तो केवल आयु विताना है या योनि भोगनामात्र है ॥ २५ ॥

पद्मोंके मकरन्दको चखनेवाले भ्रमर पद्मसे अतिरिक्त वनोंमें आसक्त भ्रमरोंका मानो परिहास करते हैं, ऐसा कहते हैं—'मत्ता' इत्यादिसे ।

मत्ता मधुमदामोदैः पुष्करेषु रणन्ति ये ।
तुष्टानामितरस्वादैर्भ्रमराणां हसन्ति ते ॥ २६ ॥
येनोषितं विरुतमुल्लसितं प्रसुप्तं
पद्मोदरेषु शशिकोटरकोमलेषु ।
भृङ्गः स एष शिशिरे विरसेषु भावं
कष्टं करिष्यति कथं तरुपुष्पकेषु ॥ २७ ॥
अफुल्लमल्लिकोद्दामसुकुलोपरि षट्पदः ।
दृश्यते कालरुद्रेण शूले प्रोत इवाऽन्धकः ॥ २८ ॥
आस्वादयन् विविधपुष्पमधूनि भृङ्ग
नित्यं भ्रमन्सकलशैललतागृहेषु ।
नाद्याऽपि तुष्यसि किमङ्ग दुराशयोऽसि
मन्ये न सारमुपगच्छसि वा वनेभ्यः ॥ २९ ॥
कमलकुलकवलकोविद
गच्छ सरो मधुप मा रूढम् ।

जो भ्रमर कमलमधुमदसे उत्पन्न आनन्दसे मस्त होकर कमलोंपर गूँजते हैं, वे मानो अन्य फूलोंके आस्वादोंसे सन्तुष्ट भँवरोंका परिहास करते हैं ॥ २६ ॥

जो भ्रमर शरदादि ऋतुओंमें चन्द्रमाके कोटरके तुल्य कोमल (सुन्दरतम) कमलोंके अन्दर रहा, खेला, सोया और गूँजा, हा खेद है, वही यह बेचारा भ्रमर शिशिर ऋतुके आनेपर अन्य नीरस वृक्षोंसे कैसे प्रीति करेगा ॥ २७ ॥

मालतीकी कहींसे भी तनिक भी न फूली हुई शूलसदृश कठोर कली के ऊपर बैठा हुआ भ्रमर कालरुद्र द्वारा शूलपर पिरोया हुआ अन्धकासुर-सा मालूम पड़ता है ॥ २८ ॥

अरे भ्रमर, तुम भाँति-भाँतिके फूलोंके रस चखते हुए सब पर्वतोंके निकुञ्जोंमें नित्य चक्कर लगाते हो, आजतक तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ। पुष्परसलम्पट होनेके कारण सचमुच तुम्हारा आशय शुद्ध नहीं है। मालूम पड़ता है, आजतक तुम्हें वनोंसे सार प्राप्त नहीं हुआ। यदि सार वस्तु तुम्हें मिल जाती, तो तुममें असन्तोष न रहता और तुम्हारे इस तरह भटकनेकी भी संभावना न रहती ॥ २९ ॥

कमलवनोंमें मकरन्द चखनेमें प्रवीण हे भ्रमर, तुम कमलोंसे भरे सरोवरमें

बदरदरीषु विदीर्णं
देहं कुरु कण्टकक्रकचैः ॥ ३० ॥
अतसीकुसुमे कुवलय-
दलवलये विकसिते च तापिच्छे ।
परभागमेहि मधुना
तासु विसद्दशीव पण्डितः पुरुषः ॥ ३१ ॥
पश्यैषा नाभिनलिनीकेसरैः पालिता श्रिया ।
हंसमालामलावल्ली सामगायनकूजिता ॥ ३२ ॥
दोलाकमलनीलस्थां दृष्ट्वा खे प्रतिबिम्बिताम् ।
हंसो हंसीमनुसरन् मण्डले नेह चेतति ॥ ३३ ॥

जाओ मकरन्दसे परिपुष्ट अपने शरीरको बेरोंकी झाड़ियोंमें काँटेरूपी आरोंसे मत चीरो ॥ ३० ॥

जैसे पण्डित पुरुष अपने अनुरूप प्रभु, समाज आदि न मिलनेपर विद्वान् प्रभुकी प्राप्तिके लिए अयोग्य (मूर्ख) प्रभुके समीप भी बस जाता है, किन्तु किरातोंके बीचमें वास नहीं करता वैसे ही हे भ्रमर, जिन ऋतुओंमें—हेमन्त, शिशिर आदिमें—तुम्हें कमल नहीं मिलते उन ऋतुओंमें भी अपने रंगसे मिलते-जुलते अलसीके फूलोंमें, नीलकमलसमूहमें तथा फूले हुए तमालमें यथावसर प्राप्त हुए मधुसे अपनी गुजर करो, जीवननिर्वाह करो ॥ ३१ ॥

कोई पार्श्वचर हंसश्रेणीका वर्णन करता हुआ उसे राजाको दिखलाता है—'पश्य' इत्यादिसे ।

राजन् देखिये, सरोवरोंकी नाभिरूप नलिनियोंके उपभुक्त केसरोंसे उनके समान कान्तिवाली शोभासे पालित यह हंसश्रेणिरूपी सुन्दर लता है, इसकी ध्वनि सामगायनके समान गंभीर है ॥ ३२ ॥

राजन् देखिये, आकाशमें हंसीका पीछा कर रहा हंस इस सरोवरके मध्यमें प्रतिबिम्बित, झूलेके सदृश कमलरूप घोसलेमें स्थित हंसीको देखकर उसके गिरने और डूबनेकी आशङ्कासे मूर्च्छित हो गया है ॥ ३३ ॥

हंसकी-सी स्त्रीव्यसनिताकी (स्त्रीलम्पटताकी) कोई अनुचर निन्दा करता है—'मा भूत्' इत्यादिसे ।

मा भूत्कस्यचिदेवैषा राजन् व्यसनिता भृशम् ।
पश्यैतां बिम्बितां हंसो हंसीमनुसरन्मृतः ॥ ३४ ॥
हेलया राजहंसेन यत्कृतं कलकूजितम् ।
न तद्वर्षशतेनाऽपि जानात्याशिक्षितुं बकः ॥ ३५ ॥
समानेष्वाकराकारजातिचेष्टाशनादिषु ।
हंसस्य राजहंसस्य दूरमत्यन्तमन्तरम् ॥ ३६ ॥
शुक्लपक्षस्थितो व्योम्नि कुमुदाकरभासकः ।
आह्लादयति चेतांसि हंसश्चन्द्र इवोत्थितः ॥ ३७ ॥
उन्नालनलिनीनालकदलीस्तम्भसंकुले ।
वने विहरतां लक्ष्मीं हंसानामेति कः खगः ॥ ३८ ॥

हे राजन्, अत्यन्त स्त्रीलम्पटता किसीकी भी न हो । देखिये न, तालाबमें प्रतिबिम्बित इस हंसीका अनुसरण कर रहे (पीछा कर रहे) बेचारे हंसने प्राण गँवा दिये ॥ ३४ ॥

राजन्, राजहंसने अनायास जो मनोमोहक मधुर कूजन (ध्वनि) किया उसे बगुला पूरे सौ वर्षोंमें भी बोलना नहीं सीख सकता ॥ ३५ ॥

राजहंस और हंसका जन्मस्थान, आकृति, जाति, चेष्टा, आहार, नाम और रंग सब कुछ समान है । फिर भी साधारण हंस और राजहंसमें महान् अन्तर है, महान् अन्तर है । राजहंस सुवर्ण पद्मोंमें विचरते हैं, समुद्रमें गोता मारकर मोती चरते हैं एवं जहांपर किसी भी पक्षीकी पहुँच नहीं है ऐसे आकाशके ऊपरी भागमें उड़ते हैं, साधारण हंसोंमें यह बात कहाँ है ? यह भाव है ॥ ३६ ॥

सफेद डैनोंसे आकाशमें स्थित तथा कुमुदाकरकी शोभा बढ़ानेवाला हंस उदित हुए चन्द्रमाके समान लोगोंके चित्तोंको आह्लादित करता है * ॥ ३७ ॥

ऊपरको उठे हुए नालदण्डवाली नलिनियोंके नालरूपी कदलीस्तम्भोंसे भरे हुए कमलवनमें विहार कर रहे हंसोंकी शोभाको कौन दूसरा पक्षी पा सकता है ? यह सरलार्थ है । योगसे जिसके नाल ऊपरको की गई है ऐसी हृदयकमलरूपी नलिनीके—प्राणायामाभ्याससे—विकासवश कदलीस्तम्भवत् स्तम्बसे व्याप्त हृदय-

---

* चन्द्रमा भी शुक्लपक्षमें आकाशमें स्थित होता है तथा कुमुदाकरको खिलाता है, यों दोनोंका साम्य है ॥

तरङ्गवलयालोलसीकरोत्करहारिणी ।
कुमुदोत्पलकह्लारपुष्पसंभारसुन्दरी ॥ ३९ ॥
भृङ्गलोलालकलता रणत्सारसनूपुरा ।
वर्तुलावर्तनाभीका चलद्वीचिविलोचना ॥ ४० ॥
प्रतीक्षमाणा दयितं रसपूरकरं धरम् ।
नारीव सरसी चारुहंसकाभ्यां विराजते ॥ ४१ ॥

हे हंस मद्गुबककाकशरारुसारे
मा त्वं सरस्यविरतं कुरु वासमेकः ।
आपद्यपीह समशीलवयोवचोभिः
श्रेयःफला भवति संगतिरात्मवर्गैः ॥ ४२ ॥

पादाक्रान्तमहेभमस्तकतटः पद्माकरैकालयः
कह्लारोत्पलकुन्दचम्पकलतासंभोगसौभाग्यवान् ।
भृङ्गोऽप्येष विधेर्वशेन शिशिरे लोष्टं तृणं स्वादयन्
शीते शुष्कवकत्यहो नु विपदा दैन्ये मनो दीयते ॥ ४३ ॥

कमलत्वरूप वनमें त्रिविधतापहारी निरतिशय आनन्दके आस्वादसे सदा विहार कर रहे यतियोंकी जीवन्मुक्तिसुखसाम्राज्यरूप सम्पत्तिको कौन देवता पा सकता है ? यह गूढार्थ है ॥ ३८ ॥

यह सरसी (तालाब) जैसे नारी नूपुरोंसे विराजमान होती है वैसे ही हंसके बच्चोंसे सुशोभित हो रही है । तरङ्ग ही इसके कंकण हैं, चञ्चल जलकणराशि ही इसका हार है, कुईं, नीलकमल, लालकमल आदि फूलोंके संभारसे यह सुन्दर है, भँवर ही इसके चञ्चल कुन्तल हैं, कूज रहे सारस ही नूपुर हैं, गोल भँवर ही नाभि है तथा चञ्चल तरङ्ग ही नेत्र है, यह मनोरथको पूर्ण करनेवाले (जलके प्रवाहको बढानेवाले) पर्वतरूप पतिको देख रही है ॥ ३९-४१ ॥

हे हंस, जलकाक, बगुला, कौआ आदि हिंसकोंसे भरे तालाबमें सदा अकेले मत रहो, क्योंकि इस आपत्तिमें भी समान शील, अवस्था और बोलीवाले अपने वर्गके साथ संगतिसे अच्छा ही फल होता है ॥ ४२ ॥

अपने पैरोंसे गजराजके मस्तकपर आक्रमण करनेवाला एकमात्र पद्माकरमें रहनेवाला तथा रक्तकमल, नीलकमल, कुन्द और चम्पकलताओंके भोगरूप सौभाग्यसे

पुत्रस्येह दलोदरे द्युतितरत्तारं चिरं संस्मृतं
हंसस्यांऽम्पविनुन्ननालगहने संचारिणा भो मया।
शुक्लासारमिवाऽब्जिनी विकिरति स्वं वारिबिन्दूत्करं
मध्याह्ने शिशिरं विकासि सहसा मूर्ध्नि स्फुटं दृश्यताम् ॥ ४४ ॥
व्योम्नीन्दोरिव सौम्यवारिणि चिरं निःशब्दकं सर्पतो
हंसस्यांसहताब्जनालवलनानिष्कम्पटङ्कक्षतैः ।
गङ्गावारिवदत्र पुष्करपुटाद्ब्राह्मादिवाऽस्योपरि
भ्रष्टा ये जलबिन्दवो जलचरा हृष्टाः पिबन्त्याशु तान् ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अविद्यो० विप० पद्मभ्रमरहंसवर्णनं नाम सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७ ॥

युक्त यह भँवर भी भाग्यवश हेमन्त और शिशिर ऋतुमें ढेले और पत्थर चाटता हुआ स्थलमें रहनेवाले बगुलेके तुल्य आचरण करता है। अहा ! विपत्तिके समय महान् पुरुष भी दीनतामें मन लगाते हैं, दीन-हीन बन जाते हैं ॥ ४३ ॥

हे राजन्, मैंने हंसके परोंसे चीरे गये कमलवनमें प्रविष्ट होकर देदीप्यमान कमलके अन्दर बैठे हुए हंसके बच्चेका अपने पिताके प्रति निकल रही जो जोरकी चीत्कार थी, उसका स्मरण किया। उसका वह वचन था, हे तात ! कमलिनी जैसे सफेद मोतीके तुल्य जलबिन्दुओंकी वृष्टि करती है वैसे ही आकाश जलबिन्दुओंकी राशि बरसाता है, ऊपर सिरपर दोपहरके समयमें भी खूब जवानीको पहुँचे हुए बर्फको प्रत्यक्ष देखिये ॥ ४४ ॥

हे राजन्, इस सरोवरमें, आकाशमें चन्द्रमाकी तरह प्रसन्न (स्वच्छ) जलमें चुपचाप चिरकाल तक तैर रहे हंसके परोंसे प्रताडित कमलनालोंके संबलनरूप निष्कम्प टङ्काघातोंसे ब्रह्माके आसनभूत कमलपुटके समान कमलपुटसे जो जलबिन्दु इसके ऊपर गिरे, उन्हें मछली आदि जलचर बड़ी प्रसन्नतासे गङ्गाजलके तुल्य शीघ्र पीते हैं ॥ ४५ ॥

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग समाप्त

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सहचरसहचर्यः क्रमेणोचुः

निर्गुणस्य बकस्याऽस्य गुण एकोऽस्ति दृश्यताम् ।
यत्प्रावृषं स्मारयति प्रावृट्प्रावृडिति ब्रुवन् ॥ १ ॥

बक हंस इवाऽऽभासि सरःस्थो मद्गुसौहृदम् ।
नृशंसत्वं च वाणीं च त्यक्त्वा हंसो भव स्फुटम् ॥ २ ॥

गम्भीरं वारिगर्भं प्रसृतजलचरं ये प्रविश्य प्रविश्य
प्राङ्मत्स्यान्प्रोतचञ्च्वश्चतुरतर परं जग्धवन्तो विदग्धाः ।
ते केनाऽप्यद्य दिष्ट्या मृततिमिगमिताः कालयुक्ते महिम्ना
नाऽऽक्रामन्ति क्रमस्थाः सुहरमपि पुरः पङ्गवो मद्गवोऽमी ॥ ३ ॥

एक सौ अठारह सर्ग

[बगुले, जलकाक, मोर, वियोगी पथिक, मछली और चातकोंके चरित्रका वर्णन]

सहचर और सहचरियोंने क्रमसे कहा—देखिये, यह बक यद्यपि प्रायः निर्गुण है तथापि इसमें एक गुण है, वह यह कि प्रावृट् प्रावृट् कहता हुआ यह प्रावृट्का (वर्षा ऋतुका) स्मरण कराता है ॥ १ ॥

अरे बगुले, तालाबमें बैठा हुआ तू रंगसे (सफेद परोंसे) हंस-सा मालूम पड़ता है । कौओंके साथ मित्रता, क्रूरता (मछलियोंपर निर्दय प्रहार करना) और कटु वाणीका त्यागकर तू सच (असली) हंस बन जा ॥ २ ॥

हे चतुरश्रेष्ठ, मछलियोंको मारनेमें अत्यन्त प्रवीण जिन जलकौओंने जल-जीवोंसे परिपूर्ण गम्भीर जलके अन्दर बार-बार प्रवेश कर पहले (निगलनेके समय) मछलियोंसे चोंचें भर कर मछलियाँ खाईं, वे ये कौए जिनके गलेमें भाग्यवश किसी कारण मरे हुए 'तिमि' जातिकी मछलियोंके भक्षणसे रोग उत्पन्न हो गया है, अत्यन्त क्षुधासमयमें (आक्रमणके समयमें) तीरमें कतार बाँधकर स्थित हुए भी, पङ्गु होनेके कारण, अपने सामने तटपर आई हुई, अनायास पकड़में आने योग्य मछलियोंपर आक्रमण नहीं करते, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ३ ॥

एवं विहन्यते लोकः स्वार्थेनेति प्रदर्शयन् ।
मद्गुर्मद्गुरुतां यात इत्येवं स्तौति दुर्जनः ॥ ४ ॥

उत्कन्धरो विततनिर्मलचारुपक्षो
हंसोऽयमत्र नभसीति जनैः प्रतीतः ।
गृह्णाति पल्वलजलाच्छफरीं यदाऽसौ
ज्ञातस्तदा खलु बकोऽयमितीह लोकैः ॥ ५ ॥

अतिबहुकालविलोला-
नवलोक्य बकांस्तपोदम्भान् ।
अत्रैवाऽतिमिरस्थां-
स्तटवनिता विस्मिता धूर्तान् ॥ ६ ॥

अत्र जले हिमहेलाः
पश्यैता अपहरन्ति सितपद्मान् ।

दुर्जनोंने लोकहिंसा द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि करना जलके कौओंसे सीखा, ऐसा प्रकारान्तरसे कहते हैं—'एवम्' इत्यादिसे ।

इसी तरह (जलकौएके समान ही) अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए लोगोंका गला घोटना उचित है, इस बातको दर्शाता हुआ जलकौआ मेरा गुरु बन गया है, यों दुष्ट जन कौएकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

आकाशमें यह सामने खड़ा बगुला, जिसने सुन्दर गर्दन ऊँची कर रक्खी है और सफेद सुन्दर पर फैला रक्खे हैं, हंस ही है यों लोगों द्वारा निर्णीत हुआ, जब यह भूमिमें कीचड़से भरी छोटी तलैयामें मछलियाँ पकड़ता है, तब लोग यह बगुला है, ऐसा निश्चय करते हैं ॥ ४ ॥

कीचड़से भरी छोटी-सी तलैयामें मछलियोंको पकड़नेके लिये चिरकाल तक चञ्चलता दिखला चुके इसी सरोवरमें तपका ढोंग बाँधे हुए बगुलोंको देखकर धूर्तोंके चरित्रको भली भाँति जाननेवाली कोई तीरप्रदेशस्थित महिला बगुलोंके समान ही अन्यत्र चिरकाल तक विषयलम्पटतावश चञ्चलतावाले यहींपर तपस्याका ढोंग बाँधनेवाले रात्रिकी प्रतीक्षा कर रहे धूर्तोंको देखकर आश्चर्यमें पड़ गई ॥ ६ ॥

पथिककी स्त्री कमल तोड़नेवाली महिलाओंको देख रहे अपने पतिके (पथिकके) प्रति कहती है—'अत्र' इत्यादिसे ।

हे प्रियतम, जलमें शीतको कुछ भी न ग्रामीण स्त्रियोंको देखो,

इच्छसि ता अनुगन्तुं
नाऽहं ते बल्लभा व्रजामीति ॥ ७ ॥
कुपितां तामनुनेतुं
यत्नपरः पान्थ एष पथि कान्ताम् ।
अवलोकय नरनायक
कुसुमलताकुहरकेलितीरवने ॥ ८ ॥
इति हावभावविलसित-
विवलनकोपार्धदृष्टिहसितानि ।
कुर्वाणा वरवनिता
कथयति ते दृश्यतां राजन् ॥ ९ ॥
बकमद्गुशरारूणां नित्यमेकौकसामपि ।
संकरोऽस्ति मिथो बुद्धेर्न मूर्खविदुषामिव ॥ १० ॥
चञ्च्वग्रे खञ्जरीटस्य कीटः किटिकिटायते ।
दौर्भाग्यस्य पुराणस्य पताकेवोच्छ्रितोन्नते ॥ ११ ॥

ये सफेद कमलोंको ले जाती हैं। तुम इनका अनुगमन करना चाहते हो इसलिये मैं तुम्हारी प्रिया नहीं हूँ, अतएव मैं जाती हूँ ॥ ७ ॥

हे नरनाथ, पूर्वोक्त वचन कहनेवाली रूठी हुई अपनी प्रियाको मनानेके लिए यह बटोही मार्गके पुष्पलता-निकुञ्जोंसे भरे क्रीडातटवनमें बड़े जतनसे अपनी प्रेयसी का अनुनय-विनय करता है, कृपया आप देखिये ॥ ८ ॥

कोई पार्श्वचर इसी पथिक जोड़ेके (स्त्री-पुरुषोंके) चरित्रको ढिठाईके साथ कह रही वेश्याको राजाके लिये दिखलाता है—'इति' इत्यादिसे।

हे राजन् हाव, भाव, विलास, शरीरको मटकाना, कोप, कटाक्ष, और हास कर रही वेश्या उक्त पथिक जोड़ेका चरित्र कहती है, कृपया आप देखें ॥ ९ ॥

बगुला, जलकाक और दूसरोंपर घात करनेवाले मछुए आदि नित्य एक ही जगह रहते हैं, फिर भी मूर्ख और विद्वानोंकी बुद्धिके समान इनको बुद्धिका आपसमें मेल नहीं है ॥ १० ॥

खञ्जनकी चोंचमें फतींगा पर फड़फड़ाता है, काँपता है। उसका पर फड़फड़ाना क्या है मानो वह पूर्वजन्मसंचित पापकी ऊँचो जगहमें पताका है ॥ ११ ॥

तारं तीरतरौ स रौति तरलो यावद्बकः प्रोल्लसं-
स्तावत्पल्वलगोष्पदेऽम्बुकलिले यावद्बलाद्देहकम् ।
मज्जन्त्या प्रियवक्षसीव निपुणं त्रातं शफर्या भया-
द्धृद्भङ्गेन महापदीह हि मृतेर्नान्यद्भवेत्सौख्यदम् ॥ १२ ॥

बकाजगरमद्गूनां हृदि या प्राणिनां धृतिः ।
अचर्वितनिगीर्णानां मन्ये निद्रोपमैव सा ॥ १३ ॥

आसन्नमद्गुबकगृध्रबिडालसर्प-
दृष्ट्या भयं भवति यत्सलिलाशयानाम् ।
तस्याऽग्रतस्तृणमिवाऽशनिपातभङ्गो
जातिस्मरेण विदुषोक्तमदः पुरा मे ॥ १४ ॥

इह सरोवरतीरतरोस्तले
कुसुमशालिनि मुग्धमृगान्पुरः ।

छोटी तलैयाके तटके वृक्षपर उल्लासके साथ वह चपल बगुला जब जोरसे बोलता है तब थोड़ेसे जलसे गीले तलैयारूपी गोखुरमें पूर्णशक्तिसे—प्रेमसे प्रियतमकी छातीमें जैसे—भयसे चिपट रही बेचारी मछलीने मरकर भी अपने शरीरकी रक्षा की। इस संसारमें महा आपत्ति प्राप्त होनेपर हृदय फटनेसे हुई मृत्युसे बढ़कर दूसरा सुखप्रद शरण नहीं है। मरकर भी जो उसने अपने शरीरकी रक्षा की, वह भी उचित ही किया ॥ १२ ॥

बगुला, अजगर और जलकाकके पेटमें बिना चबाये निगले हुये मछली आदि प्राणियोंकी जो चित्तस्थिति है, मैं समझता हूँ वह सुषुप्ति-सी (गहरी नींद-सी) या मूर्छा-सी होती होगी ॥ १३ ॥

जलचर मछली आदि जीवोंको समीपमें जलकौआ, बगुला, चील, बिलार, साँप देखनेसे जो भय होता है उस भयके आगे वज्रपातसे हुआ भय तृणके समान नगण्य है। यह रहस्य बात जातिस्मरणसे मछली आदि जलजीवोंकी योनियोंके दुःखका स्मरण करनेवाले विद्वान् पुरुषों द्वारा अनुभूत है, इसे असत्य नहीं समझना चाहिये ॥ १४ ॥

हे राजन्, फूलोंकी राशिसे सुशोभित यहाँ सरोवरके तटके पेड़के नीचे सामने भ्रमर रहनेपर नयन और कानोंकी शोभासे नूतन नील कमल और केतक बिखेर रहे भोले-भाले सुन्दर मृगोंको प्रियाको दिखलाइये ॥ १५ ॥

समवलोकय लोकमलौ बला-
त्समवकीर्णनवोत्पलकेतकान् ॥ १५ ॥
बर्ही प्रोन्नतचित्तत्वात्तोयमिन्द्रं प्रयाचते ।
स पूरयति तेनाऽस्य महात्मा निखिलां महीम् ॥ १६ ॥
मेघानुसरन्त्येते मयूरास्तनपा इव ।
मलिनो मलिनस्यैव पुत्र इत्यनुमीयते ॥ १७ ॥
मृगानालोक्य पथिकश्चिन्तयन्दयितेक्षणे ।
पुरःस्थेषु पदार्थेषु यन्त्रपुत्रिकतां गतः ॥ १८ ॥
शिखी वार्यपि नाऽऽदत्ते भूमेर्भुङ्क्ते बलादहिम् ।
दौरात्म्यं तन्न जाने किं सर्पस्य शिखिनोऽथवा ॥ १९ ॥
सज्जनाशयनीकाशं त्यक्त्वा बर्ही महत्सरः ।
पिबत्यम्ब्वभ्रनिष्ठ्यूतं मन्ये तन्नतिभीतितः ॥ २० ॥
लसत्कलापजलदाः पश्य नृत्यन्ति बर्हिणः ।
धुन्वानाः पिच्छकान्तीन्दुं प्रावृषः पोतका इव ॥ २१ ॥

मोर क्षुद्राशय न होनेके कारण इन्द्रसे जल माँगता है, अत्यन्त उदार इन्द्र अक्षुद्रचित्तत्वरूप गुणसे सन्तुष्ट होकर मोरकी प्रसन्नताके लिये सारी पृथ्वीको जलसे पूर्ण कर देता है ॥ १६ ॥

ये मोर बछड़ेकी तरह मेघोंके पीछे-पीछे चलते हैं, मलिन मलिनका ही बच्चा है, ऐसा अनुमान होता है ॥ १७ ॥

पथिक मृगोंको देखकर सामनेकी वस्तुओंमें प्रियाके नेत्रोंका चिन्तन करता हुआ कलसे चलनेवाली गुड़िया-सा बन गया है ॥ १८ ॥

मोर भूमिका जल तक ग्रहण नहीं करता, किन्तु साँपोंको जबरदस्ती खा डालता है, यह सर्पका दौरात्म्य है अथवा मोरकी दुष्टता है, यह मैं नहीं जानता ॥ १९ ॥

मोर सज्जनोंके हृदयके समान स्वच्छ महान् सरोवरको छोड़कर मेघ द्वारा थूका हुआ जल पीता है, मालूम पड़ता है उसका मेघका जलपान सरोवरको नमस्कार करना पड़ेगा, इस भयसे है ॥ २० ॥

हे राजन् देखिये, ये मयूर, जिनके पररूपी मेघ चमक रहे हैं जो पिच्छ (परोंके चन्द्रक) रूपी चन्द्रमाको कँपा रहे हैं, वर्षाऋतुके बच्चोंकी नाईं नाचते हैं ॥ ॥

दसने वनवातविसारिणां
चपलचन्द्रकचारुतरङ्गिणाम् ।
इह पयोनिधिरेव कलापिनां
विसृतमुक्ततयेव विलासनः ॥ २२ ॥
चर तृणानि पिबाऽम्बु वनावनौ
कलय विश्रमणं कदलीवने ।
चकितचातक पावकदूषिता
नहि सुखाय भवत्यतिमानिता ॥ २३ ॥
नाऽयं मयूर मकरालयवारिपूर-
पूर्णोदरो जलधरोऽम्बरमारुरुक्षुः ।
दावाग्निदग्धवनपादपकोटराग्र-
धूमावलीवलय उत्थित एष शैलात् ॥ २४ ॥
येनाऽब्देन शरद्विधावपि शिखी संतर्पितो वारिभि-
र्नो वर्षास्वपि पूरयेद्यदि सरस्तद्बाललोकोचितम् ।

यहाँपर मोतियोंको देनेके कारण सागर ही सुन्दर वनमें वनके वायुसे फैलने वाले तथा चञ्चल चन्द्रक रूपी सुन्दर तरङ्गोंसे युक्त मयूरोंको नचानेवाला होता है, मेघ नचानेवाला नहीं है, देखिये ॥ २२ ॥

हे चकित चातक, तुम्हारा वनभूमिमें गर्मीके दिन अग्निसे दूषित (सदा अग्निकी संभावनावाले) सूखे पेड़के खोखलेमें निवासके आग्रहसे सूचित अति अभिमानिता सुखके लिए नहीं है। तुम केलेके वनके समीपवर्ती शीतल हरे तिनकों को चरो, नहर आदिमें जल पीओ एवं केलेके वनमें विश्राम लो ॥ २३ ॥

हे मयूर, यह सागरके जलसे भरा हुआ अतः आकाशमें चढ़नेकी इच्छावाला मेघ नहीं है, यह तो पर्वतसे उठी हुई वनाग्निसे जले हुए वनवृक्षोंके खोखलेकी अग्निकी धूमराशि है ॥ २४ ॥

अनावृष्टिके समय भूमिका जल न पीनेवाले मयूरके आशयका कोई अनुचर वर्णन करता है--'येना' इत्यादिसे ।

जिस मेघने शरत् ऋतुमें भी मयूरको जलधाराओंसे तृप्त किया वह वर्षा ऋतुमें भी तालाबको न भरे ऐसा उसका जो चरित्र है, वह बालजनोचित (क्षुद्रोचित) है, उस महान्‌के योग्य नहीं है। उदारताके समयमें भी की गई इस अनुदारताको देखकर पामरों

आरब्धं समवेक्ष्य सज्जनजनो हासेन दुःस्थो भवे-
द्धीत्यात्मतृषैव नेतुमखिलं कालं समभ्युद्यतः ॥ २५ ॥
स्फटिकविमलं पीत्वा तोयं घनोदरनिर्गतं
पिबति न पुनर्मार्गे क्षुभ्यंस्तृषाऽपि शिखी जलम् ।
स्फुरति च घनं स्मृत्वा स्मृत्वा न चाऽपि विपद्यते
गुणवति जने बद्धाशानां श्रमोऽपि सुखावहः ॥ २६ ॥
इहाऽतिवाहयन्त्येते मार्गदौस्थ्यं घनागमे ।
कथाभिः पथिकाः प्रायो विमूढा जीवितं यथा ॥ २७ ॥
पश्याऽत्र नाथ सरसः
कमलोत्पलकुमुदबिसमृणालानाम् ।
कह्लारपत्रपयसां
भारानादाय बालिकाश्चलिताः ॥ २८ ॥

द्वारा किये गये उपहाससे वह सज्जन दुःखी होगा, यह सोचकर मयूर सदाके लिए अपनी प्यास ही न बुझानेके लिए तैयार हो गया ॥२५॥

शङ्का—तो क्या मयूर अनुचितकारी है ?

समा० नहीं, मेघके पेटसे निकला हुआ, स्फटिकसा स्वच्छ जल पीकर मोर प्याससे पीड़ित होकर भी फिर मार्गमें गिरा हुआ कीचड़वाला जल नहीं पीता ।

शङ्का—तब तो वह मारे प्यासके मर जाता होगा ?

समा० नहीं, नहीं, वह मेघका स्मरणकर हर्षित होता है और मरता भी नहीं । क्योंकि गुणवान् पुरुषपर आशा बांधे हुए लोगोंका परिश्रम भी सुखकारी होता है, दुःखद नहीं होता ॥ २६ ॥

यहाँपर ये पथिक लोग बरसातमें कथा-वार्ताके आलाप द्वारा मार्गमें होनेवाली शोचनीय दशाको (वियोगको) वैसे ही बिताते हैं जैसे कि प्रायः मूर्खजन अपना जन्म यापन करते हैं । कान्ताविरही पथिकोंका वर्षा ऋतुमें कहींपर कथालाप आदि-से कष्टपूर्वक वैसे ही समययापन होता है जैसे कि आत्मज्ञानशून्य मूर्खोंका जन्मयापन होता है, यह भाव है ॥ २७ ॥

हे राजन्, यहाँपर तालाबसे कमल, नीलकमल, कुईं, सफेद कमल, भसींड, कमलनाल, रक्तकमल, पत्ते और जलके बोझको लेकर युवतियाँ चलीं ॥ २८ ॥

किमिदं न यथेति ततः
पृष्टाभिस्ताभिरुक्तमेतस्य ।
व्यसनज्वरतप्तायाः
पथिक वयं बालसख्य इति ॥ २९ ॥
अथ रागरक्तहृदयाः
स्तनभरविनता विलासललिताङ्ग्यः ।
पथिकानां स्मरणपथं
भूयोऽप्यनयन्प्रियाः स्वगेहस्थाः ॥ ३० ॥
सा नूनं मम कान्ता
दृष्ट्वा सुस्निग्धघनतमःश्यामम् ।
गगनं च शून्यगहनं
प्रलपति भुवि पतति विस्खलति ॥ ३१ ॥
भृङ्गावलीकुवलयावलिताब्जपात्र-
संप्रर्यमाणनलिनीमधुपानमत्तः ।

इसके बाद इन कमल आदिके बोझोंको क्यों ले जाती हो, यह पूछनेपर उन्होंने पूछनेवालेको (मुझको) यह उत्तर दिया—हे पथिक, हम लोग वियोगरूपी दुःखके ज्वरसे सन्तप्त नायिकाकी बालसखियाँ हैं और उसके उपचारके लिए कमल आदिके बोझोंको ले जाती हैं ॥ २९ ॥

तदुपरान्त प्रेमपूर्ण हृदयवाली, स्तनोंके भारसे नत (झुकी हुई) तथा विविध हावभावोंसे मनोहर अङ्गोंवाली वे ललनाएं देख रहे पथिकोंको उनके घरकी प्रियाओं-का बार-बार स्मरण कराती हैं ॥ ३० ॥

वहाँपर कोई पथिक अपनी प्रियाका स्मरण कर कहता है—'सा' इत्यादिसे ।

वह मेरी प्रिया जलसे भरे मेघरूपी अन्धकारसे काले आकाशको चिकने तथा मेघ और अन्धकारके समान काले शून्यवनको देखकर प्रलाप करती होगी, भूमिपर गिरती होगी तथा चलते-चलते ठोकर खाती होगी ॥ ३१ ॥

हाय, भ्रमरश्रेणी तथा नीलकमलोंसे परिवेष्टित कमलरूप पानपात्रसे (पीने-के बर्तन—कटोरेसे) उड़ेले जा रहे कमलिनीके मधुको पीनेसे मस्त हुआ और तट-

हा वाति तीरतरुपल्लवलास्यलब्ध-
संमुग्धशब्दगणगीतगुणो नभस्वान् ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० हरिणमयूरकमुग्धादिवर्णनं नामाष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा ऊचुः

कथयत्येष पथिकः पश्य मन्दरगुल्मके ।
प्रियायाश्चिरलब्धाया वृत्तां विरहसंकथाम् ॥ १ ॥
एकत्र शृणु किंवृत्तमाश्चर्यमिदमुत्तमम् ।
दातुं त्वन्निकटे दूतमहं चिन्तान्वितोऽवदम् ॥ २ ॥

भूमिपर उगे हुए वृक्ष, लता आदिके पल्लवोंके नृत्यसे प्राप्त हुई मधुर गंभीर शब्द-राशिसे प्रख्यापित शीतलता, मृदुता, सुगन्धि आदि गुणोंसे पूर्ण वायु बहता है ॥ ३२ ॥

एक सौ अठारह सर्ग समाप्त

एक सौ उन्नीस सर्ग

[पथिकका अपनी प्रियासे भेंट होनेपर उसके आगे उसके वियोगसे हुई अपनी मरणान्त दशाका वर्णन]

सहचरोंने कहा—राजन्, देखिये, मन्दरकी झाड़ीमें यह पथिक चिरकालके पश्चात् प्राप्त हुई अपनी प्रियाके आगे भूतपूर्व अपनी विरह-कथा कहता है ॥ १ ॥

प्रियाके आगे उससे वर्णित विरहकथाका वर्णन करनेके लिए भूमिका बाँधता है—**'एकत्र'** इत्यादिसे ।

हे प्रिये, तुम्हारे वियोगकी अवस्थामें मेरी एक दिन हुई आश्चर्यपूर्ण दुर्घटनाको सुनो । तुम्हारे समीप अपना समाचार भेजनेके लिये दूतका विचार करते-करते विचारमग्न हुए मैंने यह कहा ॥ २ ॥

अस्मिन्महाप्रलयकालसमे वियोगे
यो मां तयेह मम याति गृहं स कः स्यात् ।
नैवाऽस्त्यसौ जगति यः परदुःखशान्त्यै
प्रीत्या निरन्तरतरं सरलं यतेत ॥ ३ ॥
आ एष शिखरे मेघः स्मराश्व इव संयुतः ।
विद्युल्लताविलासिन्या वलितो रसिकः स्थितः ॥ ४ ॥
भ्रातर्मेघ महेन्द्रचापमुचितं व्यालम्ब्य कण्ठे गुणं
नीचैर्गर्ज मुहूर्तकं कुरु दयां सा बाष्पपूर्णेक्षणा ।
बाला बालमृणालकोमलतनुस्तन्वी न सोढुं क्षमा
तां गत्वा सुगते गलज्जललवैराश्वासयाऽऽत्मानिलैः ॥ ५ ॥
चित्ततूलिकया व्योम्नि लिखित्वाऽऽलिङ्गिता सती ।
न जाने क्वाऽधुनैवेतः पयोद दयिता गता ॥ ६ ॥

इस महाप्रलयकालके तुल्य वियोगमें (विरहरूप महती आपत्तिमें) यहाँपर स्थित मुझे समाचार पहुँचाने द्वारा उससे (मेरी प्रियासे) संमानित करनेके लिये जो मेरे घर जाय ऐसा दयालु दूत कौन होगा ? जो दूसरेके दुःखकी निवृत्तिके लिये प्रेमसे सरलतापूर्वक सदा प्रयत्न करे, ऐसा पुरुष संसारमें है ही नहीं ॥ ३ ॥

हाँ याद आई, सामने पर्वत-शिखरपर यह दिखाई दे रहा मेघ प्रेमसे सदा परदुःखको निवृत्त करना आदि गुणोंसे युक्त है। यह कामदेवके घोड़ेके समान शीघ्र मेरे घर जा सकता है । परोपकारमें परायण यह बिजलीकी रेखारूप विलासवती नायिकासे वेष्टित हो स्थित है ॥ ४ ॥

अरे भाई मेघ, तुम्हारे गलेमें गुण है यानी तुम गुणवान् हो । गुणशाली अपने योग्य इन्द्रधनुषको लेकर, हे सुन्दर आकाशमार्गचारी, तुम मेरी प्रियाके समीप जाकर जिनसे जलकी बूँदें गिर रही हों ऐसे अपने वायुओंसे पहले उसे ढाढस देना फिर मेरा सन्देश पहुँचानेके लिये धीरे धीरे गर्जना, क्षणभरके लिये दया करना, कारण कि तुम्हारे गंभीर गर्जनको मेरे वियोगदुःखसे अश्रुपूर्णमुखी बालकमलनालके सदृश कोमल शरीरवाली कृशाङ्गी मेरी प्रिया सहनेमें असमर्थ है ॥ ५ ॥

हे मेघ, उस प्रियाका चित्तरूपी तूलकासे हृदयरूपी आकाशपर चित्र लिखकर मैंने आलिङ्गन किया, अभी ही न मालूम वह यहाँसे कहाँ चली गई ॥ ६ ॥

इत्थं चिन्तापरवशमतेस्तन्वि सार्धं त्वयाऽसा-
वन्तर्लीनप्रसरमनसः क्वाऽपि याता स्मृतिर्मे।
संपन्नोऽहं परवशवपुः काष्ठकुड्योपमाङ्गो
भङ्गं सोढुं क इव विरहक्लेशजं नाम शक्तः ॥ ७ ॥
पश्चाज्जातः कलकलरवः संतते पान्थसार्थे
दीनालापैर्व्यसनविधुरैरालपन्ते च मेघम् ।
कष्टं पान्थो मृत इति महारम्भसंपन्न हाहा-
शब्दः प्रोद्यत्पथिकवनिताविस्मृतोरःप्रहारः ॥ ८ ॥
लोकेऽनायं मृत इति ततो बाष्पसंपूरिताक्षं
शावीं पूजां विरचितवता संचयीकृत्य दारु ।
दग्धुं नीतोऽस्म्यतिभयमहं प्रज्वलच्चित्यनन्त-
प्रोद्यत्स्फोटस्फुटपटपटारावरौद्रं श्मशानम् ॥ ९ ॥
तत्राऽहं तैः कमलवदने बाष्पपूर्णाक्षिपक्षै-
र्न्यस्तः कैश्चिच्चितिशयनके बद्धलोकालिलेखे ।

हे कृशाङ्गि, इस तरह मेघसे कहकर तुम्हारी चिन्तासे पराधीन बुद्धिवाले मेरे मनका व्यापार भीतर ही भीतर लीन हो गया, अतएव तुम्हारे ही साथ मेरी स्मृति (पूर्वापरके अनुसन्धानकी शक्ति) भी गुम हो गई। तदुपरान्त स्मृतिनाशसे मेरा शरीर बेकाबू हो गया और मेरे सब अवयव काष्ठलोष्ठके समान निश्चेष्ट हो गये। भला वियोगदुःखसे उत्पन्न पराभवको कौन सह सकता है ॥ ७ ॥

तदनन्तर मेरी वैसी अवस्था देखकर एकत्र हुए जनसमूहमें महा हाहाकार मचा और देखनेके लिये आ रही पथिकमहिलाओंका भी छाती पीटना भूलकर अहा बेचारा पथिक मर गया ऐसा कोलाहल हुआ। वहाँपर किन्हींने दुःखभारसे रुँधे हुए स्वरवाले दीनतापूर्ण आलापोंसे मेघकी निन्दा की ॥ ८ ॥

उसके पश्चात् पथिक लोगोंने यह मर गया है, ऐसा निश्चय कर आँखोंमें आँसू भर कर शवोचित पूजा (चन्दन, माला आदिसे सजावट) की तथा लकड़ियाँ इकट्ठा कर मुझे जलाने के लिये जल रही चिताओंसे निकल रहे पटपट फटफट शब्दोंसे उद्वेजक तथा अत्यन्त भीषण श्मशानमें ले गये ॥ ९ ॥

हे कमलाक्षि, वहाँपर अश्रुपूर्ण नेत्रराजिवाले कुछ पथिकोंने मुझे चितारूपी शय्या-पर रक्खा। वहाँपर चारों ओर लोकपङ्क्तियोंकी तरह जिसकी पंक्ति बँधी थी, धूम-

धूमोद्गाराविरलजटिले मस्तके मत्तमृत्यो-
श्चूडारत्नोत्तम इव कलामात्रदृश्येऽग्निहेम्नि ॥ १० ॥
अस्मिन्काले कुवलयलताकोमला धूमलेखा
नासारन्ध्रं मृदुगलबिलं मे प्रवृत्ता नियातुम् ।
उष्णा कृष्णा नकुलकलिता सत्वरं बालसर्पी
भूमे रन्ध्रं तनुमिव दराद्दैर्घ्यसंकोचकुब्जा ॥ ११ ॥
त्वत्संकल्पामृतकवचितो नाऽपविद्धस्तयाऽहं
कुन्तश्रेण्या दृढपतनया वज्रकायो यथाऽजः ।
त्वामासन्नां मदनसरितं हृद्गृहे गाहमानो
मर्मच्छेदेष्वपि विलसिता नाऽविदं वेदनास्ताः ॥ १२ ॥
एतावन्तं समयमुचितं तन्वि सार्धं त्वयाऽन्त-
र्लीलालोलं हृदि चिरतरं तन्मयाऽत्राऽनुभूतम् ।
यस्मिन्दृष्टेऽमृतहृद इवोन्मज्जनौघैर्यथाऽसौ
राज्याभोगो विशसनमिवाऽल्पाल्पमेवेति बुद्धिः ॥ १३ ॥

राशिके उद्गारसे निरन्तर जटायुक्त (व्याप्त), मदोन्मत्त मृत्युके मस्तकपर उत्तम चूड़ामणिके सदृश प्रकाशमान अग्निरूप सोनेके थोड़ी-बहुत दृश्य होनेपर नीलकमललताके समान कोमल, गरम, काली, दीर्घताके संकोचसे कुबड़ी, धूमपंक्ति कोमल गलेके सूराख और नासिकारन्ध्रमें, नकुलसे भयभीत हुई नीलकमलनालके समान कोमल, गरम, काली, दीर्घताके संकोचसे छोटी बनी हुई बालसर्पिणी छोटे भूमिके छेदमें जैसे प्रवेश करती है वैसे ही प्रवेश करनेके लिए प्रवृत्त हुई ॥ १०, ११ ॥

हे प्रिये, मैं तुम्हारे आकाररूप अमृतसे कवचित था, अतएव कवचावृत मुझको उक्त धूमपंक्तिने वैसे ही पीड़ा नहीं पहुँचाई जैसे कि वज्राङ्ग ब्रह्माजीको जोरसे छोड़ी गई मृत्युके भालोंकी श्रेणीने पीड़ित नहीं किया और हृदयरूपी गृहसमीपवर्तिनी कामनदीरूपा तुममें गोते लगा रहे मुझको अग्निदाहसे भी मर्मच्छेद होनेपर उत्पन्न हुई पीड़ा मालूम न होती केवल धुएँसे तो क्योंकर पीड़ा होती ? ॥१२॥

हे कृशाङ्गि, मूर्च्छावस्थामें इतने कालतक अपने हृदयमें तुम्हारे साथ मैंने लीलामनोहर जिस सुखका अनुभव किया, वह अभूतपूर्व था। अमृतके कुण्डमें गोते लगानेसे जैसा सुख होता है वैसा ही वह सुख था। उस सुखका अनु-

सा लीला ते विलासा वचनमपि च तत्तत्स्मितं ते कटाक्षाः
सानन्दानन्तरस्य प्रसरसमुचिता दूरमण्येकभूषा ।
तानीहारावसारावहसनचलनावेगविक्षोभितानि
किंवा तत्तन्न यत्संस्मृतममृतरसाह्लादमन्तः करोति ॥ १४ ॥

त्वत्संगमे सुरतसौख्यरसायनेन
बाले ततोऽहमतितृप्ततया श्रमार्तः ।
तत्र स्थितो मृदुनि तल्पतले शशाङ्क-
बिम्बे शरच्छिशिरनिर्मलशोचिषीव ॥ १५ ॥

अत्राऽन्तरे झटिति चन्दनपङ्कशीता-
द्दीर्घादिवेन्दुशकलादशनिः सशब्दः ।
दृष्टो मया चितितलज्वलितो हुताशः
क्षीराब्धिवाडवनिभोऽङ्गगतः स्वतल्पात् ॥ १६ ॥

भव होनेपर यह प्रसिद्ध त्रैलोक्यराज्यके आधिपत्यसे होनेवाला सुख भी पूर्ववर्णित मर्मच्छेदन दुःखके समान तुच्छ ही है, ऐसी मेरी राय है ॥ १३ ॥

हे प्रिये, तुम्हारी वह केवल स्वानुभवसे ज्ञेय निरतिशयानन्दरूप अनुपम लीला, वैसे ही भौंह मटकाना आदिरूप विलास, वैसा ही आनन्दमय वचन, वैसा ही मुस्काना, वैसे ही कटाक्ष तथा वही प्रधान अलङ्काररूप मणिमयी एकावली रहित आभ्यन्तरिक आनन्दके उचित आलिङ्गन, वैसी ही नखक्षत आदि चेष्टाएँ, वैसा ही रतिकूजित, वैसे ही हँसना, चलना, चित्तविक्षोभ आदि थे। इनमेंसे जिसका स्मरण हृदयमें अमृत-रसाह्लाद न करे ऐसा कोई न था सभी हृदयमें आह्लाद पैदा करते ही थे॥ १४ ॥

हे मुग्धे, उसके पश्चात् मैं तुम्हारे संगमसे अतितृप्त होनेके कारण थकनेसे शिथिल होकर वहांपर कोमल शय्यापर, जो शरत् ऋतुमें शीतल निर्मल किरणोंसे युक्त चन्द्रबिम्ब जैसी स्वच्छ थी, लेट गया ॥ १५ ॥

इस बीचमें एकाएक मैंने जैसे चन्दनपङ्कके सदृश शीतल विशाल चन्द्रबिम्ब-से मेघनिर्घोषके साथ वज्र निकले वैसे ही अत्यन्त असंभावनीय अपनी शय्यासे निकली अपनी देहसे स्पष्ट शब्दयुक्त चिताके नीचे जली हुई अग्निको क्षीरसागरके वडवानलके समान देखा॥ १६ ॥

सहचरा ऊचुः

इत्युक्तवति कान्तेऽस्मिन् हा हताऽस्मीति वादिनी ।
मुग्धा मौग्ध्याद्वरावर्तशङ्कया मूर्च्छिता स्थिता ॥ १७ ॥
तामेनामेष नलिनीदलवीजेन वारिभिः ।
आश्वासयंस्तथावस्थां कण्ठेकृत्वाऽत्र संस्थितः ॥ १८ ॥
पुनः पृष्टोऽनया वक्ति पश्य तामेव संकथाम् ।
एष पार्श्वगतामेनां गृहीत्वा चिबुके प्रियाम् ॥ १९ ॥
हाहा हुताश इति किंचिदिवोपजात-
खेदो वदामि खलु यावदहं त्वरावान् ।
तावच्चितिर्झटिति तैरवलुण्ठिता सा
पान्थैः क्षणात्खरखराकुलिता लसद्भिः ॥ २० ॥
पान्थास्ततस्तरलतालविलासवाद्य-
मालिङ्ग्य मामतनुशेखरपूरिताङ्गम् ।
उत्थापितस्थितिमलं परिवार्य सर्वे
नेदुर्जगुर्जहसुराननृतुर्ववल्गुः ॥ ॥ २१ ॥

सहचरोंने कहा—राजन् , उक्त प्रियके ऐसा कहनेपर 'हा मैं मरी' कहती हुई वह मुग्धा नायिका मुग्धतावश महान् प्रलयकी आशङ्कासे मूर्च्छित हो गई ॥ १७ ॥

मूर्च्छित अपनी प्रियाको यह बेचारा पति नलिनीके पत्तोंके पङ्खेसे तथा जल-सेकसे प्रकृतिस्थ करता हुआ मूर्च्छित प्रियाको गले लगाकर यहां मन्दराचलके निकुञ्जमें बैठा है ॥ १८ ॥

फिर प्रियाके पूछनेपर देखो यह उसी कथाको पासमें बैठी हुई अपनी प्रिया-से उसकी ठुड्डी पकड़कर कहता है ॥ १९ ॥

हे प्रिये, मुझे जब आगकी लपटोंसे कुछ पीड़ा हुई तो ज्योंहीं मैंने घबराहटके साथ 'अरे अरे आग' कहा त्योंही झटपट आनन्दमें मग्न हो रहे पथिकोंने खड़खड़ (चटचट) शब्दसे व्याप्त वह चिता सब लुआठियोंको हटाकर क्षणभरमें शान्त कर दी ॥ २० ॥

तदुपरान्त मरे हुएके पुनः जी जानेसे उत्पन्न हुए हर्षवश पथिक लोग चञ्चल तालियोंके विलासरूपी बाजेके साथ मुझे चितासे उठाकर बहुतसी माङ्गलिक वृक्ष-मञ्जरियोंसे मेरे शरीरको विभूषित कर, मुझे गले लगाकर, सब मेरे चारों ओर खड़े

विषमविनायकसुखदं
वलितं भस्माहिशवशिरःप्रकरैः ।
शशिधवलास्थिकपालं
वपुरिव रौद्रं श्मशानमथ दृष्टम् ॥ २२ ॥

पार्श्वच्छायां हरन्तो विचलितविदलक्लिन्नकङ्कालगन्धा-
स्तन्वन्तो भूरिभस्मप्रविततमिहिकामाधुनानाः शवानाम् ।
केशानाकाशकोशे शशिगलितशराकारिणः शाङ्कराणा-
मस्थीनां टांकृतेनाऽऽरचितखरगिरस्तत्र वाता वहन्ति ॥ २३ ॥

ज्वलदनलचितिप्रवाहनिर्य-
त्पवनहतोष्मविशुष्कपर्णवृक्षा ।
ज्वलनपवनभास्करात्मजानां
रमणगृहानुकृतिं बिभर्ति सा भूः ॥ २४ ॥

हो गये । मेरे पुनरुज्जीवनके हर्षसे सबने अट्टहास किया, गाया, सब खिलखिलाये और नाचे एवं घरको आये ॥ २१ ॥

इसके पश्चात् मैंने संहारकारी रुद्रके शरीरके समान भीषण श्मशान देखा, वह अति विकट नायकहीन पिशाच आदिके लिये सुखकारी था, राख, माँस और मुर्दोंकी खोपड़ियोंके ढेरोंसे व्याप्त था तथा चन्द्रमाके सदृश सफेद हड्डियाँ और कपाल उसमें बिखरे थे । [संहाररुद्रका शरीर भी विकट विनायक आदि गणोंको सुखदायक है, विभूति, सर्पहार और शवकपालोंसे व्याप्त है और चन्द्रकिरणोंसे शुभ्रमुण्डमालाएँ भी उसमें हैं ॥ २२ ॥

भगवान् शङ्करके आभूषणयोग्य हड्डियोंके टङ्कारसे कठोर शब्द करनेवाले वायु वहाँपर बहते थे, वे समीपवर्ती वनकी हरियालीको राख उड़ाकर हर रहे थे, गल रहे सड़े-पड़े नरकङ्कालोंकी दुर्गन्धको फैला रहे थे, प्रचुर भस्मराशिसे गाढ़ हुए कुहरेको उड़ा रहे थे, मुर्दोंके बालोंको इधर-उधर उड़ा रहे थे और आकाशरूपी तरकसमें चन्द्रमासे गिरे हुए बाणोंका-सा उनका आकार था ॥ २३ ॥

वह श्मशान भूमि, जिसके वृक्षोंके पत्ते धधकती हुई अग्निवाली चिताओंके प्रवाहरूपसे निकल रहे धुएँ और चिनगारियोंसे पूर्ण वायुसे मुरझाकर सूख गये थे, अग्नि, वायु और शनैश्चरकी क्रीड़ाके योग्य घरके तुल्य लक्षण धारण करती है ॥२४॥

दृष्टं श्मशानं तदनन्तभीमकरङ्ककङ्कालघनामगन्धि ।
माद्यच्छिवावायसकङ्कगृध्रपिशाचवेतालविरावरौद्रम् ॥ २५ ॥

आनीतनानाशवबन्धुसार्थसंरोदनाह्लादिदिगन्तकुञ्जम् ।
खगावकृष्टार्द्रशिसन्त्रतन्त्रीनिबद्धदग्धद्रुमखण्डजालम् ॥ २६ ॥

क्वचिच्चितिक्षोभकृतप्रकाशं क्वचिन्महाकेशकृताब्दवृन्दम् ।
क्वचिच्च रक्ताङ्कधरावितानं नक्तंस्तनत्यभ्रमिवाऽस्तशैलम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वा०
उ० अवि० विपश्चि० पथिकविरहवृत्तवर्णनं नाम
एकोनविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

मैंने वैसा श्मशान देखा, जो असंख्य भीषण आधे जले नरकङ्कालोंसे अत्यन्त दुर्गन्धिपूर्ण था और मतवाले सियारों, कौओं, चीतों, गीधों, पिशाच और वेतालोंकी चिल्लपोंसे भयङ्कर था ॥ २५ ॥

वहाँपर जलानेके लिये लाये गये नाना मुर्दोंके बन्धु-बान्धवोंके रोनेधोनेसे उसके दिगन्त और झाड़ियाँ गूँजती थी, उसमें कौए, चील आदिसे खींची गई गीली अँतड़ियोंसे अधजले पेड़ और लताएँ बँधी थीं ॥ २६ ॥

कहींपर चिताओंके संचालनसे महान् प्रकाश हो जाता था, कहींपर बहुत बड़ी केशराशि द्वारा वहाँ बादलके समूहसे बनाये गये थे, कहींपर पृथिवीतल रुधिरधारासे लथपथ था, अतएव रात्रिके समय शैलशून्य वह गरज रहे मेघसा शब्द करता था ॥ २७ ॥

एक सौ उन्नीस सर्ग समाप्त

विंशाधिकशततमः सर्गः

सहचरा ऊचुः

एवंप्राया: कथाः कुर्वत्पश्यैनन्मिथुनं महत् ।
पानं प्रवृत्तवत्सारं पातुं पद्मनिभेक्षण ॥ १ ॥
कदलीकन्दलीस्वच्छगुच्छाच्छोटनपण्डिताः ।
विविधा वायवो वान्ति पुष्पकेसरमण्डिताः ॥ २ ॥
वान्ति वाता वनोद्वान्तविविधामोदमांसलाः ।
पीतघर्मकणाः कान्तललनालकलालकाः ॥ ३ ॥
कुलाचलगुहागेहवलनोद्यन्मृगाधिपाः ।
सरन्त्यसुरसंरम्भैर्लवणार्णवमारुताः ॥ ४ ॥
तमालतालतरललीलान्दोलनलालिताः ।
अनिला जलकल्लोलोत्क्रान्तकोमलपल्लवाः ॥ ५ ॥

एक सौ बीस सर्ग

[वायु, वृक्ष, भ्रमर, वनराजि, देवाङ्गना, समुद्रकी लहर, सुवर्णचूड पक्षी आदिका वर्णन]

सहचरोंने कहा—हे कमलनेत्र इस तरहकी वियोगकालिक कथाएँ कह रहा यह स्त्री-पुरुषका जोड़ा इस समय उत्तम आसवपान करनेके लिये प्रवृत्त है, इसे आप देखिये ॥ १ ॥

कोई सहचर विविध वायुओंका वर्णन करता है—'कदली' इत्यादिसे ।

केलेके गोफोंके सुन्दर गुच्छोंको फुलानेमें पण्डित तथा फूलोंके परागोंसे विभूषित ये अनेक प्रकारके वायु बहते हैं ॥ २ ॥

वनोंसे निकली हुई भाँति-भाँतिकी सुगन्धियोंसे हृष्टपुष्ट, स्वेदबिन्दुओंका पान करनेवाले तथा ललनाओंके इधर उधर बिखरे हुए कुन्तलोंको (मुँहकी ओर लटके केशोंको) नचानेवाले वायु बहते हैं ॥ ३ ॥

कुछ पर्वतोंके गुफारूपी गृहोंमें पैठकर घूमनेमें उद्योगी सिंहोंकी तरह क्षारसमुद्रके वायु, राक्षसोंके-से सुमेरुशिखराक्रमणके उद्योगोंसे बहते हैं ॥ ४ ॥

तमाल और ताड़के पेड़ोंमें चञ्चल बच्चोंकी तरह क्रीड़ाके झूलनोंसे झुलाये गये, जलतरङ्गोंसे उछलकर वृक्षाग्रोंके कोमल पल्लवोंपर आक्रमण करनेवाले तथा नाच रही

ललन्नवलतावान्तपुष्पधूलिविधूसराः ।
सरन्ति मरुतो मन्दमुद्यानेषु नृपा इव ॥ ६ ॥
मधुरं वंशविश्रान्तो गातुमेष वनानिलः ।
प्रवृत्तः पाण्डुनगरनारीभिरिव शिक्षितः ॥ ७ ॥
निकारः कर्णिकारेण पवनस्य यदा कृतः ।
तदा परिहरन्त्येनं भ्रमरा अपि दूरतः ॥ ८ ॥
न ददाति फलं किंचिदर्थिने न च पल्लवम् ।
तालः स्तम्भतयाऽऽरम्भं ह्यरूपैव विनाऽऽकृतिः ॥ ९ ॥
राग एव हि शोभायै निर्गुणानां जडात्मनाम् ।
राजेव राजते राजन्रागेणैवैष किंशुकः ॥ १० ॥
आगच्छ कर्णिकारोऽयं विकारस्यैव भाजनम् ।
निरामोदः किमेतेन निर्गुणेनेव जन्तुना ॥ ११ ॥

नवीन लताओंसे निकली हुई पुष्पधूलियोंसे धूसर वायु उद्यानोंमें राजाओंकी तरह मन्दगतिसे चलते हैं ॥ ५,६ ॥

बाँसोंके वनमें विश्राम लेता हुआ यह वनवायु हस्तिनापुरकी नारियोंसे सिखलाया गया हुआ-सा मीठा गाना गानेके लिए तयार हुआ है ॥ ७ ॥

जबसे कर्णिकारने सुगन्धि, पराग आदि न देकर वायुका तिरस्कार किया तभीसे भ्रमर भी इसका (कर्णिकारका) दूरसे त्याग करते हैं, इसके समीप नहीं जाते हैं ॥ ८ ॥

तालका पेड़ खम्भेकी तरह सीधा होता है, अतः उसपर कोई चढ़ नहीं सकता। इसीलिए वह किसी अर्थीको न फल देता है और न पल्लव ही देता है। इनकी अति उन्नत भी आकृति अर्थियोंके अभिलाषकी पूर्तिके बिना शोभा नहीं देती ॥ ९ ॥

उदारता आदि गुणोंसे रहित मूर्खोंकी वस्त्र, अलङ्कार आदिके आडम्बरसे शरीरकी सजावट ही शोभाके लिए होती है, अन्य कुछ नहीं। राजन्, यह फूला हुआ पलाशका पेड़ फूलोंकी सजावटसे ही राजाके तुल्य मालूम पड़ता है ॥१०॥

आओ, यह सुगन्धिरहित कर्णिकार विषादरूप चित्तविकारका ही पात्र है, व्यर्थ ही हमने इसका आश्रय लिया है। निर्गुण जीवके तुल्य इसके अनुसरणसे क्या लाभ है ?॥ ११ ॥

विलोलमञ्जरीजालतडित्सङ्गस्थितोऽसितः ।
चातकस्याऽम्बुदभ्रान्तिं तमालः कुरुते मुधा ॥ १२ ॥
पत्राला घनसंघाताः सच्छायावृतभूभृतः ।
गुणानां महतां योग्या वंशा वंशा इवोन्नताः ॥ १३ ॥
हेमसान्वासनस्थोऽग्र्यो वातव्याधितटोऽम्बुदः ।
तडित्पीताम्बरं धत्ते क्षुब्धं हरिरिवोद्धवः ॥ १४ ॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रतरत्खगशिलीमुखः ।
प्रफुल्लकिंशुको भाति वीरो रक्त इवाऽसृजा ॥ १५ ॥
मन्दारमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्भोदमन्दिरे ।
महेन्द्रमस्तके मत्ताः सुप्ता गन्धर्वकामिनः ॥ १६ ॥

चञ्चल मञ्जरीराशिरूपी बिजलीके संगसे युक्त तथा काला तमालवृक्ष चातकको व्यर्थ हो मेघकी भ्रान्ति कराता है ॥ १२ ॥

ये ऊँचे बाँस उन्नत कुलके समान हैं। उन्नत कुलके लोग पर्णोंसे (बाहनोंसे-रथ, हाथी, घोड़े आदिसे) विभूषित होते हैं तो ये पर्णोंसे (पत्तोंसे) विभूषित हैं। उन्नत कुलोंका संघ दुर्भेद्य होता है तो इनका भी संघ दुर्भेद्य है, उन्नत कुलके जन सज्जनोंके उपकारके लिए राजाओंका आश्रय स्वीकार करते हैं, तो इन्होंने उत्तम छायाओंसे पर्वतोंको आच्छादित कर रक्खा है। उन्नत कुलके जन सन्मान आदि महान् गुणोंके योग्य होते हैं, तो ये (बाँस) धनुषावस्थामें प्रत्यञ्चारूप गुणोंके योग्य हैं। यों इन बाँसोंकी उन्नत कुलोंके साथ पूर्णरूपेण समता है ॥ १३ ॥

जैसे सुवर्णमय शिखररूप आसनपर बैठनेवाला अतएव अग्निमें स्थित होनेवाला वायुरूप व्याधिसे युक्त ओर-छोरवाला यह मेघ बिजलीसे पीले आकाशको क्षुब्ध करता है वैसे ही सुवर्णमय शिखरके तुल्य आसनपर बैठनेवाले, सर्वश्रेष्ठ, बात-व्याधिसे (उद्धवसे) युक्त सन्निधिवाले उत्कृष्ट ऐश्वर्यसम्पन्न हरि चमचमा रहे बिजलीके सदृश पीताम्बरको धारण करते हैं यों हरि और मेघकी समानता है ॥ १४ ॥

प्रवेश और निर्गममें उतावलीवाले पक्षी और भ्रमररूपी बाण जिसमें संचार कर रहे हैं ऐसा यह फूला हुआ पलाशका वृक्ष रुधिरसे लथपथ वीरके तुल्य मालूम पड़ता है ॥ १५ ॥

महेन्द्रपर्वतके शिखरपर मन्दारमञ्जरियोंकी राशियोंसे पीले मेघरूपी मन्दिरमें ये कामी गन्धर्व मद्यपानसे मत्त होकर सोये हैं ॥ १६ ॥

कल्पद्रुमवनच्छायाविश्रान्ता विततान्विताः ।
पश्य पार्थिव गायन्ति सिद्धविद्याधराध्वगाः ॥ १७ ॥
पश्य कल्पद्रुमस्याऽस्य पल्लवे पल्लवे वने ।
विश्रान्ताः सुरसुन्दर्यो गायन्ति च हसन्ति च ॥ १८ ॥
मन्दिरं मन्दपालस्य मन्दरे मृदुमन्दिरे ।
मुनेरिदमुदारस्य भार्या सा यस्य पक्षिणी ॥ १९ ॥
अन्योन्यामतसिंहेभनकुलोरगकेलिकाम् ।
पश्य मुन्याश्रमश्रेणिं सर्वर्तुकुसुमद्रुमाम् ॥ २० ॥
विद्रुमद्रुममिश्राणामम्भोधितटवीरुधाम् ।
बिम्बितार्काः क्वचन्त्येते पल्लवेषूदबिन्दवः ॥ २१ ॥
वीचयो रत्नमाणिक्यपदेष्वावर्तवृत्तिभिः ।
विलसन्ति विलासिन्यो वक्षःस्विव विलासिनाम् ॥ २२ ॥
नागलोकेन्द्रलोकस्त्रीगमनागमनोद्भवः ।
दिव्यो भूषणझांकारः श्रूयते नभसः शृणु ॥ २३ ॥

हे राजन् देखिये, कल्पवृक्षोंके वनकी शीतल छायामें विश्राम कर रहे, उत्तम उत्तम वीणा आदि बाजोंसे युक्त ये सिद्ध और विद्याधर गाते हैं ॥ १७ ॥

महाराज देखिये, इस कल्पद्रुमके वनमें पल्लव पल्लवपर बैठी हुईं (विश्राम कर रहीं) देवाङ्गनाएँ गाती हैं और हंसती हैं ॥ १८ ॥

सुन्दर सुन्दर मन्दिरोंसे भरे हुए मन्दराचलपर मन्दपाल मुनिका यह मन्दिर है, जिस उदार मन्दपालकी वह प्रसिद्ध जरिता नामकी गृध्री भार्या है ॥ १९ ॥

राजन्, ये मुनिजनोंके आश्रम, जिनपर जातिवैरका परित्यागकर आपसमें गाढ़ा स्नेह रखनेवाले सिंह-हाथी, नकुल-साँप आदि प्रेमक्रीड़ा करते हैं तथा ये सब ऋतुओं-में फूल देनेवाले वृक्षोंसे पूर्ण हैं, देखिये ॥ २० ॥

मूँगोंके वृक्षोंसे उलझी हुई सागरतटकी लताओंके पल्लवोंपर जलबिन्दु, जिनपर सूर्यका प्रतिबिम्ब है, शोभित होते हैं ॥ २१ ॥

रत्न और मणियोंकी खानोंमें लहरें बार बार परिवर्तनों द्वारा वैसे ही क्रीड़ा करती हैं जैसे कि हाव-भाववाली युवतियाँ अपने विलासी पतियोंके वक्षस्थलोंपर बारबार परिवर्तनोंसे क्रीड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

राजन् सुनिये, नागलोक और इन्द्रलोककी स्त्रियोंके गमनागमनसे होनेवाला

श्रवणोपान्तविभ्रष्टमदमत्तालिनीस्वरैः ।
ऐरावणस्नानभुवो गायन्तीव गुहा गिरेः ॥ २४ ॥
हसतोऽनुदिनं कृष्णपक्षे कृष्णान्तलेखिकाः ।
दृश्यन्ते कृशगात्रस्य वास्तुकावलयोऽम्बुधेः ॥ २५ ॥
आमोदगन्धश्वसना सच्छायाशीतलाङ्गिका ।
एकान्तदर्शिताकारा नानाकुसुमपूरिता ॥ २६ ॥
वनविन्यासवसना निर्झरामलहासिनो ।
आस्तीर्णपुष्पास्तरणा धन्या वनविलासिनी ॥ २७ ॥
रमन्ते नन्दनोद्याने न तथोदारबुद्धयः ।
यथोपशान्तशब्दासु शुद्धासु वनभूमिषु ॥ २८ ॥
सुविरक्तं मुनेश्चेतो रक्तं च विषयार्थिनः ।
रमयन्ति समं रम्या विजना वनभूमयः ॥ २९ ॥

मनोहर आभूषण-झङ्कार आकाशसे सुनाई देता है ॥ २३ ॥

ऐरावतके गण्डस्थलसे गिरे हुए मदजलसे मस्त हुई भ्रमरियोंकी गुञ्जारध्वनियोंसे ऐरावतके स्नानस्थानरूप पर्वतकी गुफाएँ मानो गाती हैं ॥ २४ ॥

कृष्णपक्षमें दिनपर दिन घट रहे अतएव कृशकाय सागरको कृष्णान्तरेखारूप पङ्क्तियाँ निवास स्थानरूप वेलातटपर दिखाई देती हैं ॥ २५ ॥

कोई सहचर दो श्लोकोंसे वनोंका ही विलासिनीके (स्त्रीके) रूपसे वर्णन करता है—**'आमोद०'** इत्यादिसे ।

वनरूपी विलासिनी धन्य है । वनका मनोहर गन्ध ही इसका सुगन्धित निश्वास है । सुन्दर घनी छाया ही शीतल अङ्ग हैं, यह (वनभूमि) एकान्तमें भगवदाकारको दिखलानेवाली है (और नायिका एकान्तमें अपने रूपको दिखलानेवाली है)। भाँति-भाँतिके आभूषणरूप पुष्पोंसे भरी है, वृक्षोंका निविड़ विन्यास ही इसके वस्त्र हैं । निर्झर (झरना) ही निर्मलहास है एवं इसने फूलोंकी सेज बिछाई है । [वनभूमि और विलासिनी दोनोंमें सब विशेषण लगाने चाहिये] ॥ २६, २७ ॥

उदारमति देववृन्द आदि नन्दनवनमें वैसा आनन्द नहीं लेते जैसा कि सुन-सान (शब्दशून्य) शुद्ध वनभूमियोंमें आनन्द लूटते हैं ॥ २८ ॥

अत्यन्त विरक्त मुनिके चित्तको और अनुरक्त विषयी पुरुषके चित्तको मनोहर-निर्जन वनभूमियाँ एकसा आनन्द देती हैं ॥ २९ ॥

सलिलाधौतवप्राणामम्बोधितटभूभृताम् ।
नूपुरैरिव रत्नौघैः पादा भान्ति ध्वनन्ति च ॥ ३० ॥
पुंनागनगविश्रान्ताः कान्तकाञ्चनकान्तयः ।
हेमचूडाः खगा भान्ति दिवि देवगणा इव ॥ ३१ ॥
भ्रमराम्भोदधूमाढ्याः फुल्लचम्पककाननाः ।
कम्पन्ते पश्य वातेन ज्वलिता इव पर्वताः ॥ ३२ ॥
कुर्वन्तं करवीराग्रलतान्दोलावदोलकम् ।
कोकिलं कोकिलाऽऽलिङ्ग्य लोला लापयति प्रियम् ॥ ३३ ॥
लसत्कलकलारावमेता लावणसैन्धवीः ।
पूर्णास्तटभुवो भूपैः पश्योपायनपाणिभिः ॥ ३४ ॥
आ पूर्वादा परस्माल्लवणजलनिधेरोत्तरादक्षिणाद्वा
देवोदग्राजिशिष्टा इह नरपतयः पादपीठीक्रियन्ताम् ।

सागरके तटवर्ती पर्वतोंके, जिनके तट जलतरङ्गोंसे धोये साफ सुथरे हैं, पाद (तलैटियाँ) समुद्रीय रत्नराशियोंसे नूपुरोंके समान शोभित होते हैं और शब्द करते हैं ॥ ३० ॥

पुंनागके वृक्षोंपर विश्राम कर रहे सुन्दर सुवर्णकी-सी कान्तिवाले हेमचूड़ नामके पक्षी (एक प्रकारका पीला पक्षी) स्वर्गमें देवताओंके समान शोभा पाते हैं ॥ ३१ ॥

भ्रमर और मेघ रूपी धुँएसे पूर्ण फूले हुए चम्पकोंके वन जब वायुसे हिलते हैं तब जल रहे पर्वतसे मालूम पड़ते हैं, देखिये ॥ ३२ ॥

उत्कण्ठित कोयल (मादा) कनेरके पेड़की ऊपरकी शाखारूपी झूलेमें झूल रहे अपने प्रिय कोयलका आलिङ्गन कर मधुर गाना गा रही है ॥ ३३ ॥

हे राजन्, कलकलध्वनिपूर्वक उपायन (भेंट) हाथमें लिये हुए राजाओंसे पूर्ण क्षारसमुद्रकी इन तटभूमियोंको देखिये ॥ ३४ ॥

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर क्षारसागर तक इस जम्बू द्वीपमें भीषण युद्धमें बचे हुए नरपतियोंको अपने चरणोंके आसन बनाइये अर्थात् उनके मस्तकपर पदार्पण द्वारा उनपर अनुग्रह कीजिये । और तत्-तत् मण्डलोंकी पृथिवीका प्रत्येक दिशामें चिरकाल तक रक्षाके लिए शास्त्रानुसार (नीतिशास्त्रमें वर्णित प्रकारसे) समाधान-

दीयन्तां मण्डलानां दिशि दिशि च यथाशास्त्रमस्त्राण्यवन्या
रक्षायै क्षान्तिपूर्वं चिरमतुलबलं शान्तया शासनानि ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठ० वाल्मीकीये मोक्षो० निर्वा० उ० अवि०
विपश्चि० दिगन्तरवृत्तिवाय्वादिवर्णनं नाम
विंशत्यधिकशततमः सर्गः

एकविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

अथ तेष्वर्णवतटेष्वेते भूमौ विपश्चितः ।
उपविश्यैतदखिलं चक्रू राज्यप्रयोजनम् ॥ १ ॥
तदा तत्रैव ते वासभूमिं कृत्वा यथाक्रमम् ।
तस्थुर्मण्डलमर्यादां स्थापयामासुरक्षताम् ॥ २ ॥
अथ वर्णयितुं श्रीमांस्तत्प्रतापमिवाऽगमत् ।
संप्रविश्य समुद्रान्तरन्यलोकान्तरं रविः ॥ ३ ॥

पूर्वक शान्त बुद्धिसे शासन दीजिये, उसके पश्चात् अस्त्र-शस्त्र दीजिये और उसके पश्चात् विशाल सेना दीजिये ॥ ३९ ॥

एक सौ बीस सर्ग समाप्त

एक सौ इक्कीसवाँ सर्ग

[मण्डलमर्यादाकी स्थापना कर अग्निकी शरणमें गये हुए विपश्चितोंका अग्निके वरदानसे दिगन्तोंके दर्शनका उद्योग]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे रघुनायक, इसके बाद उन समुद्रतटोंपर भूमिपर बैठ कर चारों विपश्चितोंने पहले मन्त्रियों द्वारा निवेदित मण्डलमर्यादास्थापनरूप सारा राज्य-प्रबन्ध किया ॥ १ ॥

उस समय पदके क्रमके अनुसार निवासभूमि बनाकर उन्होंने वहींपर निवास किया और मजबूत मण्डलमर्यादाकी स्थापना की ॥ २ ॥

इसके बाद श्रीमान् सूर्य मानो उनके (विपश्चितोंके) प्रतापका वर्णन करनेके लिए समुद्रके अन्दर प्रवेश कर अन्य लोकको (ज्योतिषियोंके मतसे पाताल लोकको

आययौ यामिनीश्यामा मेघलेखेव तानवम् ।
संपादिताहर्व्यापारास्तस्थुः स्वशयनेषु ते ॥ ४ ॥
आसमुद्रं नदीवाहा इव दूरादुपागताः ।
इदं संपादयामासुर्विस्मयाकुलचेतसः ॥ ५ ॥
अहो नु दूरमध्वानं प्राप्ता वयमयत्नतः ।
प्रभावाद्देवदेवस्य वह्नेर्दिव्यैः स्ववाहनैः ॥ ६ ॥
कियती स्यात्प्रविस्तीर्णा दृश्यश्रीरियमातता ।
इतः समुद्रास्तदनु द्वीपभूरम्बुधिः प्रभुः ॥ ७ ॥
इतो द्वीपं ततोऽम्भोधिः किमन्ते स्यात्ततोऽपि च ।
कियती कीदृशी वा स्यान्मायेयं चेत्यरूपिणी ॥ ८ ॥
तत्प्रार्थयामहे देवं हुताशं तद्वरादिमाः ।
प्रेक्षामहे दिशः सर्वा आपर्यन्तमखेदिनः ॥ ९ ॥

और पौराणिकोंके मतसे मेरुपर्वतके उत्तर भागमें स्थित दूसरे वर्षको) चला गया ॥ ३ ॥

मेघपङ्क्तिके समान काली रात्रि विस्तारको प्राप्त हुई और वे विपश्चित सारे दैनिक कृत्य पूर्ण करके सोनेके लिए शय्याओंपर आरूढ़ हुए ॥ ४ ॥

दूरसे नदियोंके प्रवाहके समान समुद्र तक पहुँचे हुए अतएव आश्चर्यमें डूबे हुए उन्होंने नीचे कही जानेवाली बातोंपर विचार किया ॥ ५ ॥

ओहो ! हम लोग देवाधिदेव अग्निके प्रतापसे बिना किसी क्लेश-आयासके बहुत दूर मार्गमें आ पहुँचे हैं ॥ ६ ॥

यह चारों ओर फैली हुई दृश्य शोभा कितनी विस्तृत होगी । यहांसे जम्बू-द्वीपके बाद क्षार समुद्र है, क्षार समुद्रके बाद फिर प्लक्षद्वीप-भूमि है, उसके बाद फिर महान् (क्षार समुद्रसे दुगुना बड़ा) इक्षुरसका समुद्र है, इक्षु-समुद्रके बाद कुशद्वीप है, कुशद्वीपके बाद सुराका सागर है । इस तरह क्रमसे सात समुद्र और सात द्वीपोंके बाद अन्तमें क्या होगा ? फिर उसके बाद क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया कितनी बड़ी और कैसी विचित्र वस्तुओंवाली होगी ॥ ७, ८ ॥

यह सब देखनेके लिए हम श्रीअग्निदेवकी प्रार्थना करें, उनके वरदानसे इन

इति संचिन्त्य ते सर्वे यथास्थानमवस्थिताः ।
सममेवाऽऽह्वयामासुर्भगवन्तं हुताशनम् ॥ १० ॥
बभूव भगवानेयामथ दृश्यो हुताशनः ।
आकारवान्वरं पुत्राः प्रगृह्णीतेत्युवाच ह ॥ ११ ॥

विपश्चित ऊचुः

पञ्चभूतात्मकस्याऽस्य दृश्यस्याऽन्तं सुरेश्वर ।
देहेन मन्त्रदेहेन तमन्ते मनसाऽपि च ॥ १२ ॥
यावत्संवेदनं यावत्संभवं यावदात्मकम् ।
पश्येम इति नो देव दीयतामुत्तमो वरः ॥ १३ ॥
आसिद्धगम्यमध्वानं पश्येम वपुषा वयम् ।
तदन्ते मनसैवाऽथ दृश्यं पश्येम भो प्रभो ॥ १४ ॥
आ सद्धगम्यमध्वानं मृत्युरस्माकमस्तु मा ।
अध्वन्यसंभवद्देहे मन एव प्रयातु नः ॥ १५ ॥

सब दिशाओंको बिना परिश्रमके अन्त तक देखें । चार सागरोंके तटोंपर बैठे हुए उन सबने यह विचार कर एक ही साथ भगवान् अग्निका आह्वान किया ॥ ९, १० ॥

इसके अनन्तर भगवान् अग्नि उनके सन्मुख आकार धारण कर दृश्य हुए और उन्होंने उनसे कहा—'हे पुत्रो, वर माँगो' ॥ ११ ॥

विपश्चितोंने कहा—हे देवाधिदेव, पञ्चभूतरूप इस दृश्यका अन्त—जहांतक इस शरीरसे जाना संभव हो इस शरीरसे, इस शरीरसे अगम्य स्थानमें वैदिक मन्त्रोंके प्रभावसे संस्कृत इसी शरीरसे, उससे अगम्य स्थानमें मनसे प्रत्यक्षके योग्य सब पदार्थ, अनुमानगम्य सब पदार्थ तथा श्रुति आदि गम्य सकल पदार्थ[१]—जैसे हम देखें हे नाथ, वैसा उत्तम वरदान हमें दीजिये ॥ १२, १३ ॥

हे प्रभो, योगप्रभावसे गम्य मार्गतकके दृश्यको हम इस देहसे देखें इसके पश्चात् योगियों द्वारा योगप्रभावसे अगम्य दृश्यको मनसे ही देखें ॥ १४ ॥

योगियोंके योगप्रभावसे गम्य मार्गमें चल रहे हम लोगोंकी मृत्यु न हो, जिस मार्गमें देहका संभव नहीं यानी दक्षिणायण तथा उत्तरायण मार्गरूप मर कर ही जाये जा सकने योग्य पथमें हमारा मन ही गमन करे ॥ १५ ॥

---

१ या सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च, सकल सूक्ष्म प्रपञ्च और सकल कारण प्रपञ्च ।

वसिष्ठ उवाच

अथैवमस्त्विति प्रोच्य पावकः सहसाऽगमत् ।
क्षणादौर्वतया यातुं समुद्र इव सत्वरः ॥ १६ ॥

अग्निर्जगामाऽथ समाजगाम
निशा विलम्ब्याऽथ जगाम साऽपि ।
समाजगामाऽपि रविर्जगाम
तेषां च धीराऽर्णवलङ्घनेहा ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० विप० विपश्चिन्निर्णयो नामैकविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ १२१ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, वर मांगनेके पश्चात् बड़वानलरूपसे समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए त्वरा कर रहे अग्निदेव 'ऐसा ही हो' कहकर क्षणभरमें सहसा चले गये ॥ १६ ॥

इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये, तदनन्तर रात्रि आई वह भी कुछ देर ठहरकर चली गई, तदुपरान्त सूर्य भगवान् आये और उनकी विशाल सागरको लाँघनेकी इच्छा भी आई ॥ १७ ॥

एक सौ इक्कीस सर्ग समाप्त

द्वाविंशत्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

ततः प्रभाते प्रसभं पृथिव्याः
कृत्वा यथाशास्त्रमलं व्यवस्थाम् ।
आविष्टदेहा इव ते रसेन
निषेध्यमाना इव मन्त्रिमुख्यैः ॥ १ ॥
निवार्य सर्वं परिवारमात्र-
माक्रन्दमानं वदनै रुदद्भिः ।
निरस्य चाऽस्नेहतयाऽभिमान-
मात्सर्यलोभाभिभवैषणादि ॥ २ ॥
दिगन्तमालोक्य समुद्रपारे
क्षणात्समायाम इति ब्रुवन्तः ।
स्वमन्त्रशक्त्योत्तमतां गतैस्तै-
रब्धिः पदैरेव तदा प्रविष्टः ॥ ३ ॥

एक सौ बाईसवाँ सर्ग

[सागरके तरङ्गोंमें पैरोंसे चल रहे चारों विपश्चित् तरङ्गरूपी मगरोंको चीरकर समुद्र पार गये, यह वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, तदुपरान्त प्रातःकाल मन्त्रियोंके न चाहनेपर भी जबरदस्ती नीतिशास्त्रके अनुसार पृथिवीके राज्यविभाग, राज्य-परिपालनके उपायोंका उपदेश, मर्यादास्थापन आदिकी भली भाँति व्यवस्था कर दिगन्तके दर्शनकी उत्कट उत्कण्ठासे ग्रह, भूत आदिके आवेशसे युक्तसे तथा साक्षात् निषेध न कर सक रहे श्रेष्ठ मन्त्रियों द्वारा इशारेसे रोके जा रहे वे चारों विपश्चित् रो रहे अतएव अश्रुपूर्ण मुखोंसे युक्त सब परिजनोंको निवृत्तकर, स्नेहशून्य होनेके कारण अभिमान, डाह, लोभ, शत्रुओंके पराभवकी इच्छा, राज्य, स्त्री, पुत्र आदिकी इच्छाका त्यागकर हम लोग समुद्रपारमें दिगन्तको देखकर शीघ्र ही आते हैं यों परिजनोंकी तसल्लीके लिए कहते हुए गये। अग्निदेवकी प्रसन्नतासे प्राप्त मन्त्रकी सामर्थ्यसे ही भूमि, जल आदि भूतोंपर विजय पानेसे उत्तमताको (सिद्धताको) प्राप्त हुए उन्होंने उस समय पैरोंसे ही समुद्रमें प्रवेश किया ॥ १-३ ॥

विपश्चितस्ते दिशिदिश्यनल्पै-
भृत्यैः समुद्रं प्रविशद्भिरेव ।
भृत्यैश्च कैश्चित्त्वनुगम्यमाना
ययुर्यथा वारिणि पद्भिरेव ॥ ४ ॥

तरङ्गजालेषु पदानि कृत्वा
पृष्ठे स्थलस्येव जलस्य चाऽन्तः ।
चत्वार एकैकतयैव युक्ता
भृशं वियुक्ता निजसेनया ते ॥ ५ ॥

पदक्रमेणैव महार्णवान्त-
स्तावत्प्रविष्टा अवलोकितास्ते ।
तटस्थितैर्यावददृश्यभावं
शरन्नभो मेघलवा इवाऽऽपुः ॥ ६ ॥

तमध्वानमथोहुस्ते जलधौ पादचारिणः ।
वितताध्यवसायेन बद्धकक्षाहरा इव ॥ ७ ॥

उन्नतावनतामद्रिसमारोहावरोहणैः ।
श्रियं वारितरङ्गाणां हरन्तो हरिमूर्तयः ॥ ८ ॥

वे चारों विपश्चित् स्नेहकी अधिकतासे प्रत्येक दिशामें समुद्रमें प्रवेश कर रहे बहुतसे प्रजाजनों (पालनीय लोगों) तथा भृत्योंसे (सेवकोंसे) अनुगम्यमान होते हुए स्थलके समान जलमें भी पैरोंसे ही गये ॥ ४ ॥

भूमितलके समान जलके अन्दर तरङ्गराशियोंमें भी पैर रखकर अकेले ही उद्यत हुए वे चारों विपश्चित् अपनी सेनासे अत्यन्त वियुक्त हो गये ॥ ५ ॥

चरणोंके विन्याससे ही महासागरके अन्दर प्रविष्ट हुए उन्हें तटपर खड़े हुए लोगोंने तबतक देखा जबतक कि वे शरत्कालके आकाशमें प्रविष्ट हुए मेघखण्डके समान अदृश्यताको प्राप्त हुए ॥ ६ ॥

पीलवानरूपी दृढ़निश्चयसे प्रेरित हुए समुद्रमें पैदल चलनेवाले उन चारों विपश्चितोंने पीठपर बाँधे हुए महान् भारको ढोनेवाले हाथियोंके तुल्य उस मार्गको व्यतीत किया ॥ ७ ॥

पर्वतके सदृश उतार और चढ़ावसे ऊँची और नीची जलतरङ्गोंकी शोभाको,

आवर्तेषु तृणानीव भ्रान्ता विगतसंभ्रमम् ।
चिरं चञ्चलमत्ताभ्रचन्द्रमण्डलशोभिषु ॥ ९ ॥

मन्त्रविद्याबलौजोभिर्दुर्जयाः शस्त्रपाणयः ।
क्वचित्प्रमत्तैर्मकरैर्निगीर्णोद्गीर्णदेहकाः ॥ १० ॥

जलकल्लोलविश्रान्तवातोत्सारितमूर्तयः ।
नीतानीताः क्षणेनैव योजनानां शतं शतं ॥ ११ ॥

जलकल्लोलमातङ्गतुङ्गिताङ्गतया तया ।
दधाना निजराज्येभपृष्ठरोहस्थितिश्रियम् ॥ १२ ॥

विस्तीर्णोर्मिघटापट्टपाटपट्टनपाटवैः ।
दर्शयन्तो जलाम्भोदनिष्क्रान्तिं मारुता इव ॥ १३ ॥

स्वयं भी उसका ग्रहण करनेसे, हर रहे अतएव भगवान् श्रीहरिकी-मूर्तिके तुल्य[1] मूर्तिवाले उन्होंने मस्तमेघ-घटामें प्रविष्ट हुए चन्द्रमाके समान अपने प्रवेशसे शोभायुक्त हुए आवर्तोंमें (जलभँवरोंमें) किसी प्रकारके भय-विस्मयके बिना चिरकाल तक तृणोंके समान भ्रमण किया ॥ ८, ९ ॥

वे मन्त्र, विद्या, बल और तेजस्वितासे दुर्जय थे तथा हाथमें शस्त्र लिए हुए थे, अतएव कहींपर मस्त मगरोंने पहले उनके शरीरोंको निगला फिर पचानेकी शक्ति न होनेसे उगिल दिया ॥ १० ॥

जलतरङ्गोंमें विश्राम ले रहे वायुओंसे गेंदकी तरह उछाले गये शरीरवाले वे एक ही क्षण में सो सो योजन पहले पहुँचाये गये फिर वापस लाये गये ॥ ११ ॥

जलतरङ्गरूपी हाथियों द्वारा की गई अपूर्व चमत्कारकारिणी तुङ्गदेहता (उन्नतशरीरता) से वे अपने राज्यमें हाथियोंके पीठकी सवारीकी शोभा धारण कर रहे थे ॥ १२ ॥

बड़ी विस्तृत तरङ्गराशिरूपी ~~फलकों~~ घटाओंको तोड़ने और उलटनेमें पटुताओंसे, वायुओंने उद्दीपित बिजलियोंकी तरह जलरूपी मेघसे (निकलना) दिखला ॥ १३ ॥

---

१ हरिमूर्तिने भी मन्थाचलसे मन्थनकालमें जलतरङ्गोंके आरोह और अवरोहोंसे उन्नत-अवनत लक्ष्मीको हरा ऐसी प्रसिद्धि है ।

तरत्तरलमातङ्गतरङ्गौघविघट्टिताः ।
अत्यजन्तो निजं धैर्यं वेलावरतटा इव ॥ १४ ॥
महोर्मिमुक्तामाणिक्यमण्डलप्रतिबिम्बिताः ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ १५ ॥
पाण्डुडिण्डीरपिण्डेषु कुर्वन्तो लाघवात्पदम् ।
श्वेतपद्मपरिक्रान्तराजहंसश्रियं दधुः ॥ १६ ॥
घननिर्घातनिर्घोषभीषणार्णवघुंघुमात् ।
न भीता भूभृतस्तत्र वेलावलयजृम्भितात् ॥ १७ ॥
अभ्रंलिहजलाद्रीन्द्रपातोत्पातविघट्टिताः ।
क्षणं पातालमाजग्मुः क्षणमर्कास्पदं ययुः ॥ १८ ॥
अशङ्कितोत्पतद्वारिपूरपातपटावृताः ।
उत्पातपातनिपतद्वितानकवृता इव ॥ १९ ॥

यद्यपि वे तैर रहे चञ्चल गजोंकी तरह तरङ्गराशियोंसे विघट्टित (धक्का-मुक्कीसे पीड़ित) हुए थे तथापि उन्होंने तीरभूमिके प्रसिद्ध सुन्दर पथरीले तटोंके समान अपना धैर्य नहीं खोया ॥ १४ ॥

बड़ी बड़ी लहरोंमें मोतियों और मणियोंकी राशियोंमें प्रतिबिम्बित हुए वे एकाकी होनेपर भी चारों ओर पुरुषोंके समूहसे परिवृत जैसे मालूम होते थे ॥१५॥

शीघ्रतासे सफेद फेनके पिण्डोंपर पैर रख रहे उन्होंने सफेद कमलोंपर चढ़े हुए राजहंसोंकी शोभा धारण की ॥ १६ ॥

मेघके घोर गर्जनकी ध्वनिके सदृश भयंकर सागरके घुम घुम शब्दसे, जोकि तटभूमिमें टकरानेसे और तेज हुआ था, वे राजा होनेके कारण[1] बिलकुल नहीं डरे ॥ १७ ॥

आकाशको छूनेवाले जलमय पर्वतराजोंके उछलने और गिरनेसे धक्कामुक्कीमें पड़े हुए वे क्षणभरमें पाताल पहुंचते थे और क्षणभरमें सूर्यमण्डलमें पहुँच जाते थे ॥ १८ ॥

अचानक ऊपर गिरे हुए जलप्रवाहरूपी वस्त्रसे ढके हुए वे उत्पातोंकी प्राप्ति होनेपर गिर रहे मेघरूपी चंदवेसे ढके हुए-से मालूम पड़ते थे ॥ १९ ॥

---

१ भूभृत् शब्द श्लिष्ट है इसके राजा और पर्वत दो अर्थ हैं, पर्वत समुद्रकी तरङ्गोंसे भयभीत नहीं होता भूभृत् होनेसे वे भी नहीं हुए ।

प्रक्रान्तास्तेऽम्बुराशौ सहचरमकराः शूरनक्रैः कुलीरै-
र्व्याप्ताऽऽवर्ताविवृत्ताः सलिलतरुलतासीकरैरन्तरालैः ।
कुर्वन्तः कान्तियुक्तं वपुरिव कुसुमैर्भ्रान्तमाणिक्यमुक्तै-
र्व्यक्ताऽव्यक्तांशुजालैः प्रतिपदमितरैरभ्ररूपैरदभ्रैः ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-
प्रकरणे उत्तराध अवि० बि० बलपरिभ्रंशो नाम
द्वाविंशाधिकशततमः सर्गः ॥ १२२ ॥

त्रयोविंशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

इत्येते दृश्यरूपाया अविद्याया विचारणे ।
प्रवृत्ताः पादचारेण समुद्रद्वीपगामिनः ॥ १ ॥

विशाल मेघोंसे प्रकट और अप्रकट किरणराशिवाली घूम रही मणियों और मुक्ताओंकी राशियोंसे तथा बीचमें जलमय वृक्षलतातुल्य तरङ्गोंके जलकणोंसे फूलोंकी तरह अपने शरीरको विभूषित कर रहे, बड़े बड़े बली मगर और केकड़ोंसे व्याप्त तरङ्गोंमें चारों ओरसे घिरे हुए तथा मगर ही हैं सहचर (मित्र) जिनके ऐसे वे विपश्चित् समुद्रमें पैरोंसे चले ॥ २० ॥

एक सौ बाईस सर्ग समाप्त

एक सौ तेईस सर्ग

[द्वीप और समुद्रोंमें गये हुए विपश्चितोंकी पश्चिमकी ओर गये हुएके क्रमसे विविध दशाओंका वर्णन]

इस रीतिसे समुद्र और द्वीपोंमें जानेवाले वे चार विपश्चित पैदल दृश्यप अविद्याके अन्तके विचारमें प्रवृत्त हुए ॥ १ ॥

अब्धेर्द्वीपं पुनर्द्वीपादब्धिं द्वीपं गिरिं वनम् ।
लाघवाल्लङ्घयामासुश्छेदभेदविवर्जिताः ॥ २ ॥

पीतो विपश्चित्पाश्चात्यो मीनेनाऽमरमानिना ।
विष्णुमीनकुलोत्थेन वितस्तावाहनौजसा ॥ ३ ॥

क्षीरोदं प्राप्य मत्स्येन तेनोद्गीर्णः सुदुर्जरः ।
तेन क्षीरोदमुल्लङ्घ्य गतो दूरं दिगन्तरम् ॥ ४ ॥

दक्षिणो यक्षनगरे संप्रेक्ष्येक्षुरसार्णवे ।
शिक्षादक्षिणयाऽऽक्षिप्य यक्षिण्या कामुकीकृतः ॥ ५ ॥

पूर्वो मकरमाक्रम्य यदा गङ्गां निकृत्तवान् ।
गङ्गया स तदानीय कान्यकुब्जे समुज्झितः ॥ ६ ॥

शरीरके छेद-भेदसे रहित विपश्चितोंने समुद्रसे द्वीपको, द्वीपसे समुद्रको इस प्रकार द्वीप, पर्वत और वनको शीघ्रतासे लाँघा ॥ २ ॥

उन चार विपश्चितोंमें से पश्चिम दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित्‌को अपनेको अमर समझनेवाली विष्णुमीन कुलमें उत्पन्न मछली, जिसका वेग अत्यन्त शीघ्र बहनेवाली व्यास नदीकी नौकाके सदृश अत्यन्त तीखा था, निगल गई ॥ ३ ॥

उसे पचाना सरल न था, अतएव उस मछलीने क्षीरसागरमें पहुँचकर उसे उगल दिया । तदनन्तर क्षीरसागरको लाँघकर वह दूर दिगन्तरको गया ॥ ४ ॥

दक्षिण दिगन्तको देखनेके लिये प्रवृत्त विपश्चित्‌को इक्षुरससागरमें स्थित यक्षनगरमें वशीकरणविद्याकी शिक्षामें निपुण यक्षिणीने देखकर अपने विद्याबलसे अपनी ओर आकृष्ट कर अपना प्रेमी बना लिया ॥ ५ ॥

पूर्व दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित्‌ने गङ्गाके हजार मुहानोंको एक-एक करके देखते हुए जब कहींपर मगरको, जो उसे निगलना चाहता था, खींचकर उसके उद्धारके लिए उसे गङ्गामें ले जाकर चीर डाला, तब गङ्गाजीने उसे पीछे वापस लाकर कान्यकुब्ज नगर (कन्नौज) में छोड़ दिया ॥ ६ ॥

उत्तरस्तूत्तरकुरूनाराध्य प्राप्तवाञ्छ्रियम् ।
तं तयैनं न बाधन्ते दिगन्ते मृतभीतयः ॥ ७ ॥

तया मकरमातङ्गनिगीर्णोद्गीर्णमूर्तिमान् ।
अतिचक्राम सुबहून्द्वीपान्तरकुलाचलान् ॥ ८ ॥

पश्चिमः पृष्ठमारोप्य हेमचूडेन पक्षिणा ।
कुशद्वीपे कुशाङ्गश्रीस्तरसा तारतोऽर्णवान् ॥ ९ ॥

क्रौञ्चद्वीपाचले पूर्वो निगीर्णो रक्षसा वने ।
तद्रक्षः पाटितं तेन हृदयेऽन्त्रविकर्तनैः ॥ १० ॥

उत्तर दिगन्तको देखनेके लिए प्रवृत्त विपश्चित्ने उत्तर कुरुदेशमें श्रीदेवीजी-के साथ लीला कर रहे भगवान्की आराधना कर अणिमा, महिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त किया। अतएव उक्त विपश्चित्को ऐश्वर्यके प्रतापसे दिगन्तमें व्याप्त मरणप्रयुक्तभय दुःख नहीं देते अर्थात् वह अमर हो गया ॥ ७ ॥

उक्त अणिमा आदि ऐश्वर्यके प्रतापसे ही मगर और जलगजों द्वारा पहले निगली फिर उगली गई मूर्तिवाला वह अनेकानेक द्वीप-द्वीपान्तरके कुलशैलोंको लाँघ गया ॥ ८ ॥

फिर पश्चिम दिगन्तकी ओर प्रवृत्त विपश्चित्के वृत्तान्तका वर्णन करते हैं—**'पश्चिमः'** इत्यादिसे ।

पश्चिमकी ओर चले विपश्चित्को, जिसकी अङ्गशोभा कुशकीसी थी, पक्षि-राज गरुड़ने अपनी पीठपर बैठाकर वेगसे कुशद्वीप और अनेक सागरोंको पार कर दिया ॥ ९ ॥

फिर पूर्व विपश्चित्का समाचार कहते हैं—**'क्रौञ्च०'** इत्यादिसे ।

क्रौञ्चद्वीप पर्वतपर वनमें राक्षस पूर्व विपश्चित्को निगल गया। तदनन्तर उस राक्षसको विपश्चित्ने आँतड़ियोंके छेदन द्वारा चीर डाला ॥ १० ॥

फिर दक्षिण विपश्चित्का वृत्तान्त कहते हैं—'दक्षिणः' इत्यादिसे ।

दक्षिणो दक्षशापेन यक्षतामागतः क्षणात् ।
शाकद्वीपे शतेनाऽसौ वर्षाणां मोक्षमागतः ॥ ११ ॥

उत्तरस्तरसोत्तीर्णताराबरतरङ्गिणः ।
महार्णवसुवर्णोर्व्यां सिद्धशापाच्छिलां गतः ॥ १२ ॥

ततो वर्षशतेनाऽसौ प्रसादाज्जातवेदसः ।
तेनैवोन्मोचितस्तत्र सिद्धेन रतिमाप्तवान् ॥ १३ ॥

वर्षाण्यष्टावभूद्राजा नालिकेरनिवासिनाम् ।
पूर्वः परमधर्मिष्ठः प्राप्तवान्प्राक्स्मृतिं ततः ॥ १४ ॥

कल्पवृक्षवने मेरोरुत्तरेऽप्सरसा सह ।
उवास दशवर्षाणि नालिकेरफलाशनः ॥ १५ ॥

शाकद्वीपमें दक्षिणकी ओर चला हुआ विपश्चित् दक्षके शापसे एक क्षणमें यक्ष बन गया एक वर्ष तक यक्ष बने रहनेके बाद उसकी मुक्ति हुई ॥ ११ ॥

फिर उत्तरकी ओर चले विपश्चित्का वृत्त कहते हैं—'उत्तर०' इत्यादिसे ।

उत्तर विपश्चित् वेगसे बड़े-बड़े और छोटे-मोटे नदी-नाले तथा समुद्र पार कर स्वादुजलवाले महासागरके आगे प्रसिद्ध सुवर्णभूमिमें सिद्धके शापसे शिला बन गया ॥ १२ ॥

तदुपरान्त एक सौ वर्ष बाद अग्निदेवके अनुग्रहसे वहाँ उसी सिद्धने उसे शापसे मुक्त कर दिया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥ १३ ॥

फिर पूर्व विपश्चित्का वृत्तान्त कहते हैं—'वर्षाणि' इत्यादिसे ।

परम धर्मात्मा पूर्व विपश्चित् कान्यकुब्ज देशसे उत्तरकी ओर गया । वहाँ आठ वर्ष तक प्रधानरूपसे नारियलोंकी उत्पत्तिवाले देशमें रहनेवाले लोगोंका राजा बन गया । तदुपरान्त उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो गया ॥ १४ ॥

नारियलके फलोंपर निर्वाह करनेवाला वह मेरुपर्वतके उत्तर तरफ स्थित कल्प-वृक्ष वनमें दश वर्ष तक अप्सराके साथ रहा ॥ १५ ॥

विहगाऽऽश्वासतत्त्वज्ञः शाल्मलिद्वीपशाल्मलौ ।
पश्चिमः पक्षिणीनीडे क्रीडया न्यवसत्समाः ॥ १६ ॥

मन्दराऽद्रौ मृदुतले मन्दारतरुमन्दिरे ।
किंनरी मन्दरीनाम्नी दिनमेकमसेवत ॥ १७ ॥

क्षीरोदबेलावनकल्पवृक्षवनावलीनन्दनदेवताभिः ।
सार्धं समाः सप्ततिमप्सरोभिर्निनाय कामाकुलितोऽथ पूर्वः ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषुनिर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे अवि० वि० दिग्विहरणं नाम त्रयोविंशाधिक-शततमः सर्गः ॥ १२३ ॥

पश्चिम विपश्चित् पक्षियोंकी वशीकरणविद्यामें पारंगत था, अतएव पहले उसे गरुड़ने पीठ पर बैठाकर समुद्र पार किया था। वह शाल्मली द्वीपके शाल्मली पेड़पर पक्षीके घोंसलेमें उसके साथ क्रीडावश दस वर्षतक रहा ॥ १६ ॥

कोमल लताओंसे भरे हुए मन्दराचल पर, मन्दार वृक्षोंके निकुञ्जरूप गृहोंमें मन्दरी नामकी किन्नरीने उस पश्चिम विपश्चित्का एकदिन तक सेवन किया ॥१७॥

इसके उपरान्त पूर्व विपश्चित् नारियलके वनसे क्षीरसागरके तटपर गया। वहाँकी कल्पवृक्षके वनोंकी पङ्क्तियोंमें नन्दनवनकी देवियों—अप्सराओं—के साथ कामाकुल इसने सत्तर वर्ष बिताये ॥ १८ ॥

एक सौ तेईस सर्ग समाप्त